क्यों ?

(पूर्वार्द्ध मात्र)

भूमिका लेखक —

अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज

ग्रन्थ लेखक —

श्री पं० माधवाचार्य्य शास्त्री

तथा—

विद्याभास्कर, व्याकरणाचार्य, हिन्दी प्रभाकर

श्री पं० श्रीकण्ठ शास्त्री

प्रकाशक :—

माधव पुस्तकालय

धर्मधाम कमला नगर, देहली

मुद्रक—धर्मप्रेस कमला नगर, देहली

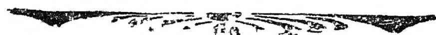
समर्पण —

अनन्य शरण !

'यत्करोषि—कर मुझे समर्पण'—
नाथ ! आपका विदित निदेश ।
पालन हित—यह तुच्छ भेंट ले,
आया शरण भक्त–हृदयेश ! ॥
तेरे ही वर का 'प्रसाद' यह,
अपना है क्या मेरे पास ?
तेरे वरद हस्त में अर्पित,
इसे संभालो ! रमा-निवास ! ॥

दासानुदास :—
माधव

उपहार



श्री .. ..

.. .. महोदय।

१)

एक 'मगर' से ग्रस्त डूबते गज को हरि ही सके उबार,
बहुविध अगर मगरसे निगलित, सम्प्रति नव शिक्षित ससार।
ननु-नच किन्तु परन्तु नक्र का, करने को सहसा संहार,
वज्रसार यह 'क्यों' माधव का चक्र सुदर्शन सुनिशित धार॥

२)

मानस मानसरोवर वासी, राजहंस चिद् अश उदार,
जिज्ञासा प्रियतमा सहचरी, दिव्य दयित दम्पति अविकार।
तत्सम्भूत तनय 'क्यों ?' नामक, प्रश्नरूप निगमागम सार,
नीर क्षीर विवेक अर्थ, अवतरितभेंट यह नव उपहार॥

समर्पक—

.. ..

.. ..

'क्यों ?' के सम्बन्ध में—

श्रीमन्नारायणकी अनुकम्पासे आज हम जिस चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ को पाठकों की भेंट कर रहे हैं, इसका सम्पादन तो बहुत पहिले हो चुका था, परन्तु धर्म प्रचार कार्यमें अतीव व्यस्तताके कारण चाहते हुए भी हम इसे प्रकाशित न कर सके थे। यद्यपि इस लम्बे अर्सेमें पाठक एक दिन भी 'क्यों ?' को नहीं भूले, अनेक धर्म प्रेमियों ने इसके शीघ्र छपजाने की उत्सुकता प्रकट की, सख्त तकाजे उपालम्भ और दीर्घसूत्रता के लिये प्रेमपूर्ण तानों से भरे बहुत से पत्र भी लिखे, परन्तु गत वर्ष जब नित नये वायदों से ऊब कर हमारा अन्तरात्मा भी हमें लज्जित करने लगा, तब अन्य सब काम छोड़कर भी इसे छाप डालने का दृढ़ संकल्प किया। फल स्वरूप 'क्यों' का यह पूर्वार्ध मात्र आपके हाथ में है। यह कैसा है ? यह निर्णय तो हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं, परन्तु हमें दुःख है कि इसका वह उपयोगी अंश—जिसकी कि सूची हम अगले पृष्ठों मे दे रहे हैं--अभी प्रकाशित नहीं कर पाये। जिसके लिये पाठकों को अभी कुछ समय तक और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

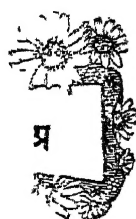
इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन महानुभावों के लेखों किंवा विचारों से हमे कुछ भी सहायता मिली है, हम उन ज्ञात और अज्ञात सभी सज्जनों के अत्यन्त आभारी हैं, विशेषकर अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज के—जिन्होंने अनेक धर्म सेवाओं में अधिक व्यस्त होते हुवे भी भूमिका लिखकर ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है। इस ग्रन्थ मे जो मननीय है वह वेदादि शास्त्रों का है और दोष सब हमारे हैं। भगवान् हमें बल दे कि हम 'उत्तरार्ध' भेंट कर सकने में शीघ्रही समर्थ हों। तथास्तु !!

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
संवत् २००६

—माधवाचार्य



[अभिनव—शङ्करा चार्य्य, विश्ववन्द्य, अनन्त श्री विभूषित **स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती 'करपात्री' जी महाराजने** हिमाचल यात्रा के एकान्त वास में इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण स्वय पढ़कर तथा लेखक से सुनकर भूमिका स्वरूप नीचे लिखी पक्तिये अपने करकमलों द्वारा लिखने की अनुकम्पा की है। जो देखने में सक्षिप्त किन्तु भाव गाम्भीर्य्य में 'गागार में सागर' को भरते हुवे मीमांसा आदि दर्शनों की सर्व तन्त्र पद्धति से प्रस्तुत ग्रन्थ के मथितार्थ को प्रकट करती हैं, पाठक एक एक अक्षर को मनोयोग देकर मनन करे--लेखक]


प्रख्यात-प्रवक्ता, विश्रुत-कीर्ति, सनातन-धर्म स्तम्भाय मान, शास्त्रार्थ-महारथ, श्री माधवाचार्य्य जी के **'पुराण- दिग्दर्शन'** आदि विद्वत्ता पूर्ण अनेक ग्रन्थ प्रकाशित होकर जनता का महान् उपकार कर रहे हैं। उन्हीं का यह प्रस्तुत ग्रन्थ **'धर्म दिग्दर्शन'** है जो जनता में **'क्यों ?'** इस नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है।

इस मे शास्त्रों एवं शास्त्र-सम्मत तर्कों के द्वारा भी सनातन-धर्म के विभिन मर्मों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के विभिन्न प्रकरण बड़ ही रोचक ढङ्ग से परिष्कृत, आधुनिक भाषा मे अपनी भावाभिव्यञ्जना में सफल हुवे है।

यद्यपि धर्म प्रत्यक्षानुमानादिका अविषय है, केवल अनादि अपौरुषेय शास्त्रों के द्वारा ही उसका अवगम होता है। जो उपाय, प्रत्यक्षानुमान द्वारा नहीं ज्ञात हो सकते उनका गमक होने से ही वेदों का वेदत्व सम्प्रति-पन्न होता है, जैसे चक्षुरादि के अविषय, शब्द का बोधक होने से ही श्रोत्र की सार्थकता होती है वैसे ही प्रत्यक्षानुमानाविषय धर्मबोधक होने से ही वेदों की सर्थकता और धर्म ब्रह्म की वेदैक-वेद्यता सिद्ध होती है। इन में भी ब्रह्म, 'भूत-' अर्थात्—सिद्ध वस्तु है उस में तर्क को अवकाश हो सकता है परन्तु धर्म तो भव्य' अर्थात्—क्रिया निर्वृत्त होता है अतः उस में तर्कादि को अवकाश नहीं रहता। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक आदिकों ने अनुमान के द्वारा ईश्वर सिद्ध किया है और ईश्वर कर्तृक होने से वेदों का प्रामाण्य माना है तथापि मिमांसको ने उन तर्कों का सर्वथा खण्डन कर दिया है, उनका कहना है कि 'पहिले तो ईश्वर साधक अनुमान, अनेक उपप्लवों से युक्त है, अनुमान सिद्ध ईश्वर मान भी लिया जाए तो वह 'ईश्वर-सामान्य' ही सिद्ध होगा 'ईश्वर-विशेष' नहीं। जैसी युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेगा वैसी ही युक्तियों से अन्यान्य वादी भी स्वाभिमत ग्रन्थ कार या आचार्य्य को ईश्वर सिद्ध करेगा, ऐसी दशा में वेदकार के ईश्वर होने में कोई विशेष वाचोयुक्ति नहीं होगी, अतः अपौरुषेय वेदों से ही धर्म ब्रह्म की सिद्धि होती है। इस तरह धर्म ब्रह्म दोनों ही वेदैक-वेद्य हैं, यही—

(क) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'

(ख) 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'

(ग) 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'

—इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है। अतः वेद-शास्त्राविरोधि तर्कों से ही धर्म का अनुसन्धान करना मनु भी कहते हैं।

विज्ञान का आंशिक प्रवेश वाह्य भौतिक तत्वों में ही होता है सूक्ष्म वस्तु तक अभी उसका प्रवेश नहीं, केवल प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षायित ज्ञान ही विज्ञान की सीमा है, उस में भी अभी तक उसकी कहीं स्थिरता नहीं हुई, उसके पीछे अनादि, अपौरषेय, अपास्त-समस्त-पुंदोष-शङ्का- कलङ्क, वेदादि शास्त्रों को दौड़ाना अनुचित ही है। प्रत्यक्षवादी चार्वाक को भी दूसरों के सशय, विपर्य्यय, अज्ञान, जिज्ञासा आदि जानने के लिये अनुमान या शब्द का ही सहारा लेना पड़ता है। क्यों कि दूसरों के संशयादि का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव ही नहीं या तो उनके वचनों से या मुखाकृति विशेष आदि से ही उनका ज्ञान सम्भव है। तर्क युक्ति तो स्वय प्रमाण नहीं है, किन्तु व्याप्तिग्रहादि का अनुग्राहक होने से अनुमान में उपयोगी होते हैं परन्तु कितने ही ऐसे अचिन्त्य भाव हैं जहां अनुमान का प्रवेश नहीं होता।

(क) **'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'**

(ख) **नैषा तर्केण मतिरापनेया'** इत्यादि अनेक प्रमाण साक्षी हैं।

तार्किक-शिरोमणि-न्याय भाष्य-कार वात्स्यायन, वार्तिककार भारद्वाज उद्योतकर और वार्तिक-तात्पर्य्य-कार वाचस्पति मिश्र सब एक स्वर से कहते हैं कि आगम विरुद्ध अनुमान चाहे कितना भी निर्दुष्ट हो पर वह अनुमानाभास ही होता है। यथा—

'नरशिरः कपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खशुक्तिकादिवत्, यह अनुमान-**'नारं सस्नेहमस्थि स्पृष्ट्वा सचैलोजलमाविशेत्'** ——इस आगम वचन से विरुद्ध होने के कारण ही अनुमाना-

भास है अन्य कोई दोष नहीं है। यदि आगमार्थ भी तर्कानुमान से सिद्ध ही होता तब तो सत्प्रतिपक्ष आदि दूषणों से ही पूर्वोक्त अनुमान दूषित हो जाता, फिर 'आगमविरुद्धत्वात्' हेतु से उसे अनुमानाभास कैसे कहा जा सकता ? तभी जैसे प्रत्यक्षागम्यावगमार्थ अनुमान अपेक्षित होता है वैसे ही प्रत्यक्षानुमानागम्यावगमार्थ ही आगम की अपेक्षा होती है, अपरीक्षित अनुमान और अतत्पर आगम से प्रत्यक्ष प्रबल होता है, प्रत्यक्ष से साध्याभावादि निश्चित होने से अनुमान की दूष्यता प्रसिद्ध है। 'आदित्यो यूपः' इत्यादि स्वार्थ में अपर्य्यवसित आगम भी प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से गौणार्थक मान लिये जाते हैं, परन्तु परीक्षित अनुमान से भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का ही वाध होता है, जैसे चन्द्र सूर्य आदि का प्रादेशमात्र परिमितत्व और स्थिरत्वादि अनुमान से वाधित होते ही हैं।

उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्गों द्वारा स्वार्थपर्य्यवसायी तत्पर आगम से प्रत्यक्षानुमान सबका ही वाध हो जाता है, अग्निहोत्र-होम और स्वर्ग का कार्यकारणभाव प्रत्यक्षानुमान से विरुद्ध होने पर भी तत्पर आगम की प्रबलता से प्रत्यक्षानुमान का ही वाध होता है। आगम विरुद्ध, अस्थि-शुचित्वानुमान का वाध भी दिखलाया जा चुका है, वेदान्त में ऐसे सहस्रों उदाहरण मिल सकते हैं।

तथापि तत्त्व को बुद्ध्यारूढ़ करने के लिये यथा सम्भव तर्क का उपयोग दूषित नहीं है इसीलिये 'श्रोतव्यः' इस वाक्य से ब्रह्म साक्षात्कारार्थ श्रवण का विधान करके 'मन्तव्यः' इस वचन से श्रुत अर्थ के व्यवस्थापनार्थ उपपत्तियों का आदर किया गया है।

नैयायिकों का कहना है कि यह न्यायचर्चा 'श्रवणानतरागत' ईश्वर की उपासना ही है ।

धर्म के सम्बन्ध में अनेक उपपत्तिया ब्राह्मण ग्रन्थों मे मिलती हैं । यद्यपि वहां भी उपपत्ति का प्रवेश जिस अश में होता है वह अंश शास्त्र तात्पर्य का विषय नही समझा जाता अत. तद् बोधक वेद वाक्यों को भी अनुवादक होने से स्वार्थ में अप्रमाण ही माना जाता है, क्योंकि तात्पर्यार्थ अवश्य ही सर्वथा मानान्तरागम्य है तथापि उतने से ही लोक बुद्धि मे तत्त्वारूढ़ कराने के लिये उपयोगी होने से तर्क का आदर होता है ।

इसी तरह अनेक उपासनाओं, कर्मकाण्डों, सदाचारों, तीर्थों, तथा व्रतों आदिकों का शास्त्रैक-समाधि-गम्य अर्थ तर्कादि से अगम्य ही है फिर भी उनके वाह्य और गौण स्वरूप के सम्बन्ध मे तर्क श्रवण करने से ही दुस्तर्कों का समाधान होता है, पुन सूक्ष्म वस्तु में आस्था हो जाती है, एतदर्थ ही विद्वान् लोग, तर्कप्रिय या तर्क-रसिक लोगों के सन्तोषार्थ तर्क या विज्ञान का नाम लिया करते हैं । वाह्य गौण वस्तुओं की प्रत्यक्षायित ज्ञान सिद्धता मात्र से वैज्ञानिकता की चर्चा भी की जाती है । इस दृष्टि से आजकल के तर्कतत्त्वानभिज्ञ, तर्काभासप्रिय आधुनिक नवशिक्षित समाज को भी वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख करने के लिये तर्कविज्ञान आदि का प्रयोग किया जाता है, इत्यादि अनेक दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है, इससे आधुनिक जगत् का अधिकाधिक उपकार सम्भव है । निश्चित ही इसके द्वारा शास्त्र मर्म ज्ञान की ओर जनता की प्रवृत्ति बढ़ सकती है । तथास्तु !

इन्द्र-प्रस्थ
श्रावणी २००६ —करपात्र स्वामी



सिद्धान्ताध्यायः

[पहिला अध्याय ३२ से ११२ तक]

अहोरात्रचर्याध्याय

[दूसरा अध्याय पृष्ठ ११३ से २९६]

जीवनचर्याध्याय

[तीसरा अध्याय पृष्ठ २६७ से ६६२]

संकीर्णाध्याय

चौथा अध्याय पृष्ठ ६२३ से ६८० तक

'क्यों ?' उत्तरार्ध

विषय--सूची

(१) परमात्म विज्ञान—ईश्वरसद्भावे किं मानम्। ईश्वर कहां रहता है, कैसा है, दीखता क्यों नहीं ? रूप, रङ्ग, तोल, वजन, निराकार है या साकार ? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र क्या हैं ? देवता क्या हैं, दीखते क्यों नहीं ? दिव्य नेत्र क्या ? न दीखने का दार्शनिक हेतु। आर्य समाज में देवता। तेतीस करोड़ पूरे गिनवाइये।

(२) उपासना विज्ञान—अन्य मतों में उपासना विधि। उपासना विवेचन। उपासना क्यों करनी चाहिये ? उपासना मानसिक रोगों की चिकित्सा। आध्यात्मिक रोगों की अनुभूति क्यों नहीं ? क्या कामादि रोग हैं ? उपासना की इच्छा क्यों नहीं होती ? उपासना से आधि शान्ति कैसे ? शब्द स्फोट का प्रत्यक्ष प्रभाव। विभिन्न देवताओं की उपासना क्यों ? १—ब्रह्मा स्वरूप विज्ञान—चार मुख, वेद-माला-कमण्डलु-कमलासन-हंसवाहन क्या क्यों ?। (२) विष्णु स्वरूप विज्ञान—शेषशायी-पद्मनाभ क्षीर सागर. शंख, चक्र, गदा, पद्म, कौस्तुभमणि, गरुड़वाहन क्या क्यों ?। (३) शिव स्वरूप विज्ञान—श्मशान वास, नर मुण्डमाल, सर्प भूषण, गङ्गाधर, नीलकण्ठ, वृषभ वाहन। (४) शक्ति स्वरूप विज्ञान--महिषासुर मर्दिनी, सिंह वाहिनी, अष्टभुजी क्यों ?। (५) कालभैरव स्वरूप विज्ञान--कुत्ता विज्ञान। (६) कार्तिकेय स्वरूप विज्ञान--देव सेनानी, षण्मुख, शक्तिधर, मयूरवाहन, षाण्मातुर कुमार क्या क्यों ? (७) शीतला स्वरूप विज्ञान—बासी

भोजन, गर्दभ वाहन, नग्ना, झाड़ू, कलस, छाज, उठाए क्यों ? (८) सरस्वती विज्ञान–वीणा, पुस्तक, हंस वाहन क्यों ? पचोपासना क्यों ? प्रतिमा पूजन क्यों ? प्रतिमा अनिवार्य्य क्यों ? शिवलिङ्ग शालिग्राम के हाथ पांव क्यों नहीं ? आरती विज्ञान–शंख बजाने और उसका जल छिड़कने का हेतु ? चरणामृत क्यों ?

अवतार विज्ञान- क्या 'अज' अवतार ले सकता है ? सूक्ष्म से स्थूल और निराकार से साकार कैसे ? एक ही समय मे अनेक भगवान् ? ईश्वर अपने आप ही क्यों आता है ? ईश्वर कच्छ मच्छ वाराह क्यों बना ? मत्स्य कूर्म और वाराह के मन्दिर क्यों नहीं ? क्या भगवान् खाते हैं ?

मांस भक्षण विचार–मांस क्यों नहीं खाना चाहिये ? क्या शास्त्र में मांस भक्षण का विधान है ? अश्वमेध–विज्ञान। घोड़े की काय पलट ? राजसूययज्ञ ? बुद्ध का असफल अहिंसा वाद ! श्री गान्धी जी का अशास्त्रीय अहिंसावाद ! क्या गोमेध और नरमेध भी होते थे ? क्या श्राद्ध में मांस ग्राह्य है ?

वर्ण व्यवस्था विज्ञान–अहिन्दुवों में भी पांचों भाग अनिवार्य्य ? **अस्पृश्यता विज्ञान**– क्या अस्पृश्यता घृणामूलक है ?

शुद्धि विवेचन–पतितों को वापिस लेने की मर्य्यादा। नौ करोड़ मुसलमान बनने का दायित्व ? सहभोज क्यों न हो ?

हिन्दू शब्द विवेचन–क्या हिन्दू नाम चोर का है ?

तीर्थ महिमा–चार धाम और सात पुरी, ज्योतिर्लिङ्ग और स्वयभूलिङ्ग ? सूर्य ग्रहण में कुरुक्षेत्र क्यों ? चन्द्र ग्रहण में काशी क्यों ? गया में श्राद्ध क्यों ? कुम्भ पर्व विवेचन।



श्री गणेशाय नमः

क्यों ?

(धर्म-दिग्दर्शन)



धर्म-दृढ-बद्ध-मूलो, वेद-स्कन्धः पुराण-शाखाढ्यः ।
क्रतु-कुसुमो मोक्ष-फलो, मधु-सूदन-पादपो जयति ॥१॥

ये वै पुरातन-महर्षिवरा नृलोके,
प्राप्तं विचिन्त्य कलिकालमनर्थमूलम् ।
शङ्का-कलङ्क-कलुषं परिमार्ष्टु कामा,
ग्रन्थान् प्रणिन्युरिह ते नितरां प्रणम्याः ॥२॥

मन्दोऽप्यहं यत्कृपया गभीरं
सद्धेतु सिन्धुं मथितुं प्रवृत्तः ।
प्रणाम्य तत् श्री गुरुपादपद्मं
'श्री धर्मदिग्दर्शन' मातनोमि ॥३॥

चार्वाक–व्रात–दम्भ,–द्रुम–दव–दहनो, बौद्ध–यज्ञाङ्ग–यूप[1],
ईसाई–सर्प–तार्क्ष्यो, यवन–घन–मरुत्, कापडेयेभसिंहः[2]।
मौशल्येष्टान्धकार[3]–क्षपण–दिनकरः, काम्यनिष्ठाद्रि[4]-वज्रः—
ग्रन्थो वेदार्थहृद्यो, जगति विजयते, 'धर्म–दिग्दर्शनाख्यः॥४॥

आम्नाय–वाङ्मय–विधावकृतश्रमाणां,
नाना–कुतर्क–मल–दूषित–मानसानाम्!
पाश्चात्य–शिक्षण–कषायित–मस्तकानां
मोहान्धकार–हरणं भवतादनेन॥५॥

कृतिर्ममैषा विदुषां समाजे,
स्यात्कीर्तनीया बत! निन्दिता वा।
नूनं पुनर्धर्म–विदूषकाणां
कृते भवेदुग्रविभीषिकेयम्॥६॥

जन्मतो मृत्युपर्य्यन्ताः याः क्रिया धर्म–सम्मताः।
ता एवात्र निरूप्यन्ते हेतु—वाद परिष्कृताः॥७॥

ये पालयन्ति मनुजा निजधर्मकृत्यान्,
सद्विद्यया प्रतिभया च धनेन वापि।
तेषां कृते लघुतरो हि मम प्रयासो
ज्ञेयास्त एव विबुधा अधिकारिणोऽस्य॥८॥

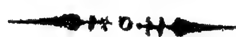
टिप्पणी—(१) याज्ञीय पशु (२) कापड़ी वंशोद्भव-दयानन्द मतावलम्बी (३) मोशलिस्ट (४) कम्यूनिस्ट।

सिद्धान्ताऽध्यायः

(पहिला अध्याय)

—— o ——

अनन्तपारं, शास्त्राब्धिं, नानाशङ्कोर्मि-सङ्कुलम् ।
सिद्धान्त-पोतमारुह्य, तरन्तु तरणोत्सुकाः ॥



वेद में 'क्यों' वाद



जिस प्रकार मुसलमान ईसाई अपने पन्थों के तत्तत् अनुष्ठानो की इतिकर्तव्यता को अवैज्ञानिक एव कपोल-कल्पित होने के कारण 'क्यों ?' की कसौटी पर कसने में घबड़ाते हैं और ऐसे जिज्ञासु को 'काफिर' कह कर टाल देते हैं, ठीक इसी प्रकार कुछ हमारे अनुयायी भी वेद शास्त्रों की आज्ञाओ में 'क्यों ?' का अड़ङ्गा लगाना अनुचित अनुभव करते हैं, हम जहां इन महानुभावों की प्रमाण प्रतिष्ठापक प्रवृत्ति का आदर करते है, वहां यह भी नम्रता-पूर्वक कह देना चाहते हैं कि जब स्वयं वेद मे ही बडे विस्तार से 'क्यो ? वाद' भरा पड़ा है, तब आपको अहिन्दुओ की भांति अपनी धार्मिक व्यवस्थाओं को 'क्यों' की कसौटी पर कसते हुए देखकर भयभीत होने की आवश्यकता नहीं । सोने के भाव मुलम्मा बेचने वाले व्यक्ति को तो यह भय हो सकता है, कि यदि मेरे

इस मुलम्मे को अग्नि में तपाया गया,या कसौटी पर कसा गया, तो इसकी पोल खुल जायेगी, अतः वह केवल कसमें खाकर ग्राहक को विश्वास दिलाना चाहा करता है और परीक्षा से भयभीत हुआ करता है, परन्तु जिसके पास खरा सोना हो, उसे परीक्षा से घबड़ाने की क्या आवश्यकता ? वह तो भरी सभा में अपने खरे सोने को आग में तपाने और कसौटी पर कसने की खुली छुट्टी देता है। चैलेञ्ज करता है !! ललकारता है !!! ठीक इसी प्रकार अहिन्दू घबड़ाए तो घबड़ाए। क्यों कि वे जानते हैं कि वैज्ञानिक कसौटी पर हमारा मजहब खरा साबित नहीं हो सकता, इसीलिये उनके यहां 'बाइबिल या कुरान पर यकीन लाओ। अथवा खुदाके इकलौते बेटे ईसा पर या अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद पर यकीन लाओ' का बोलबाला रहता है। ईसाई जगत् तो मजहब को केवल चर्च की चाहर दिवारी के अन्दर २ ही चर्चा करने योग्य वस्तु मानता है। चर्च मे बैठो तो कहो 'खुदा ने सिर्फ छ दिन में कुल दुनिया बनादी'। साइन्स रूम में जाओ तो कहो 'दुनिया के बनने मे करोड़ों वर्ष से कम समय नहीं लग सकता।' सो, 'नहीं सांच को आंच' के अनुसार, जब मैं जानता हूं, कि सनातन धर्म खरा सोना है ग्राहक जैसे चाहे वैसे परीक्षा कर देखे, तब मुझे नास्तिक को 'क्यों' की कसौटी पर कसने का खुला अवसर देते हुए आपत्ति क्या ?

विरोधी भी शरण में—

नि:सन्देह हम प्रमाणवादी हैं, परन्तु संसार के समस्त पुरुषों को खुला निमन्त्रण देते हैं, वे जैसे चाहें हमारे धर्म की परीक्षा कर देखें। हमें सोलहों आने विश्वास है, कि वे जब परीक्षा करने के

लिये प्रवृत्त होंगे, तो कुछ दिनों में स्वयं सनातन धर्म की सत्यता के विश्वासी बन जायेंगे। यह हम स्वयं अनुभव कर चुके हैं।

(१) एक बार लायलपुर (पंजाब) में और नैरोबी (अफ्रीका) में श्रीमद्भागवत पुराण की कथा करते हुए, मैंने आर्यसमाज के जिम्मेवार व्यक्तियों को स्वयं इस लिये निमन्त्रण दिया, कि वे कथा सुनते हुए शङ्कास्पद बातों को नोट करें और कथा के अन्त में पूछें, उत्तर दिया जाएगा। प्रथम दिन वे बड़े जोश के साथ आए, दसों बातें नोट कीं, अन्त में उत्तर दिया गया। दूसरे तीसरे दिन शङ्काओं की संख्या कम होने लगी- दो चार बातें ही पूछीं। एक सप्ताह के बाद ऐसा अवसर आ गया, कि वे नित्य की भाँति कागज पैन्सिल तैय्यार किये बैठे रहे परन्तु नोट कुछ नहीं किया। जब अन्त में पूछा गया कि आज कुछ क्यों नहीं नोट किया तो उनके मुखिया ने कहा, कि शङ्का की दृष्टि से कथा सुनते हुए कथा का रस भंग हो जाता है, आज मुझे ऐसा आनन्द आया कि रस में तन्मय हो गया. आज से आगे कागज पैन्सिल ही न लाऊंगा। इस शांतिपूर्ण मार्ग का तो मुझे आज ही पता लगा है, खाक डालो शङ्काओं के सिर पर। बस, उस दिन से वे सब लोग एक सच्चे कथाश्रोता की भांति आने लगे। आर्यसमाज में इसकी बहुत चर्चा चली। कई कट्टर कठमुल्लाओं ने इसमें आर्यसमाज की 'तौहीन' अनुभव की। मिटिंग बुलाकर प्रस्ताव पास कर दिया कि 'पुराणों की कथा में समाज का कोई सदस्य सम्मिलित न हो'— परन्तु वह पार्टी नहीं हटी। नगर के सुप्रतिष्ठित सज्जन होने के कारण उन पर अनुशासन का शस्त्र न चल सका।

(२) शिमले की पहाड़ियों में आज भी एक मिस्टर स्टाक नाम के अंग्रेज निवास करते हैं। वे लार्ड खानदान के सज्जन

मिश्नरी बनकर ईसाई मत के प्रचारार्थ भारत मे आये थे। ❀ दशों वर्ष काम करने पर उन्हे यह अनुभव हुआ कि कोई भी हिन्दू ईसाई धर्म को श्रेष्ठ समझ कर उसमे प्रविष्ठ नहीं हुआ। उन्हें यदि ईसाई बनने के लिये कुछ लोग मिले भी, तो वे नौकरी चाकरी या अन्य किसी लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये इस मत मे दीक्षित होने वाले पिछड़ी जाति के लोग थे। उन्होने अपने किसी हिन्दू मित्र से यह चर्चा की, तो मित्र ने विनोद मे कहा कि जब तक आप हमारे धर्म में कोई दोष न बतायेंगे तो मैं अपने धर्म को छोड़कर आपके मत मे क्यों आने लगा? पादरी स्टाक को यह बात जच गई। तब उन्हें यह जानने की आवश्यकता पड़ी कि 'हिदू धर्म क्या है'? इसे समझने के लिये कौन ग्रन्थ पढ़ा जाए, क्यों कि हिन्दू धर्म को समझ कर ही उससें छिद्रान्वेषण किया जा सकता है। इसके लिये भी उसे किसी जानकार हिन्दू ने बताया कि यों तो सनातन धर्म के वेदादि बहुत ग्रन्थ हैं जिन्हें तुम जीवन भर में भी पूरे नही पढ पाओगे, परन्तु थोडे मे ही यदि हिन्दू धर्म का भेद जानना हो तो इसके लिये 'श्रीमद्भगवद्-गीता' पढ़ लेनी पर्याप्त होगी। यह छोटी सी पुस्तक हिन्दू धर्म की सच्चिप्त 'डायरैक्टरी' कही जा सकती है।

पादरी अपने मिशन की सफलता के लिये दोष दर्शन के विचार से गीता पढने मे प्रवृत्त हुआ। मिसेज एनीबेसेन्ट का अङ्गरेजी अनुवाद पढने लगा। अभी चार पाच महीने ही गीता पढ़ते हुए हुए थे कि उसके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगा और गीता की पहिली आवृत्ति ही समाप्त होते होते वह लार्ड कृष्ण और हिन्दू धर्म के महत्व का विश्वासी बन गया। इस समय

❀पता चला है कि वे तो परलोक गामी हो गए, परन्तु उनका परिवार है।

उक्त पादरी के परिवार के चार दर्जन से अधिक मनुष्य यहां थे। उसने सब को इकट्ठा करके एक दिन कहा कि तुम सब मिल कर या तो मुझे 'इसाइय्यत' समझादो अन्यथा मुझ से हिन्दू धर्म समझलो, अब इस परिवार के आदमी या ईसाई रहेंगे या हिन्दुओ की तरह शेष जीवन बितायेंगे। खूब कसमकस हुई। घर वालों ने अनेक बडे २ पादरी बुलाकर मि० स्टाक की तसल्ली करनी चाही, परन्तु फल विपरीत हुआ, क्योंकि घर वाले भी जब स्टाक तथा अन्य पादरियों की बहस (वादानुवाद) सुनते थे तो इन्हें ईसाई पन्थ की निर्बलता और हिन्दू सिद्धांतों की सत्यता का सुस्पष्ट अभास होता था। अन्त में इस सारे के सारे परिवार ने अपने को हिंदू घोषित कर दिया। इनकी अपनी बहुत सी जमीन है, शिमले के किसानों में अच्छे प्रतिष्ठित जमींदार रईस माने जाते है। घर में लार्ड कृष्ण का मन्दिर बना है, सब गीता पाठ करते हैं। नित्य प्रातः सांय दोनो समय 'लार्ड कृष्णा लार्ड कृष्णा' का कीर्तन होता है। आर्यसमाजी आदि किसी प्रपञ्ची से इस परिवार ने 'शुद्धि' का अभिनय नहीं रचाया। न ये लोग खान पान के लिये किसी हिन्दू को अपने सम्पर्क में आने देने के इच्छुक हैं, किन्तु गीता के 'येऽपि स्युः पापयोनय.' सिद्धांत के अनुसार अपने आपको इसी कोटि का हिन्दू मानते हैं।

(३) इसी तरह से एक फ्रांसीसी सज्जन काशी मे रहते हैं वे भी हिन्दू धर्मानुसार अपने आपको अन्त्यज मानते हुए अपना सात्विक जीवन बिता रहे है। आप अपना हिन्दू नाम 'शिव शरण' बतलाते हैं और हिन्दी के साप्ताहिक पत्र 'सिद्धांत' (बनारस) में इसी नाम से धार्मिक लेख लिखते भी है।

इन दृष्टांतों का तात्पर्य केवल यह है कि सनातन धर्मियों

को अन्यान्य पन्थो की भांति 'क्यों' से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं, अपितु सर्व साधारण को खूब- 'क्यों ? क्यों ?' पूछने की खुली छुट्टी देनी चाहिये और उनकी, दार्शनिक रीति से तथा वर्तमान भौतिक विज्ञान से-भली भांति तसल्ली करनी चाहिये। हमारा अनुभव है कि इस मार्ग के अवलम्बन से हम अधिक से अधिक नास्तिको को प्रमाण विश्वासी सनातन धर्मानुयायी बना सकने मे कृतकार्य हो सकेंगे।

यहा पाठकों को हमारे प्रत्येक समाधान मे प्रयुक्त 'विज्ञान' शब्द को देखकर इस प्रकार की आशका नहीं करनी चाहिये कि जब वेद स्वतः प्रमाण है तब वेदोक्त भावों के भी समर्थन के लिये 'वैज्ञानिक विवेचन' करना मानों वेदों के प्रामाण्य मे संदेह करना है- जो किसी भी आस्तिक को अभीष्ट नहीं हो सकता- परन्तु यह शका व्यर्थ है क्योंकि स्वयं वेद, विज्ञान द्वारा अपने को समझने का आदेश देता है यथाः—

विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति इमञ्चलोक ममुञ्च विज्ञान ब्रह्म त्युपास्ते (छान्दोग्य ७।७।१।२)

अर्थात्—विज्ञान से ऋग्वेद को जानता है, विज्ञान से ही इस लोक और परलोक का रहस्य जाना जा सकता है विज्ञान साक्षात् ब्रह्म है यह जानकर विज्ञान की उपासना करनी चाहिये।

वैदिक 'क्यों' का नमूना

अब हम वेद के कतिपय ऐसे प्रमाण उद्धृत करते हैं, जिनमें वैदिक सिद्धान्तों की 'क्यों' जानने का सुस्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त २, ७ और ८ के कुछ मन्त्रांश मननीय हैं यथा :—

(क) केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य ? केन मांसं सम्भृतं ?
केन गुल्फौ ? केनाङ्गुलीः ? पेशनीः केन खानि ?
केनोच्छ्लङ्खौ ? मध्यतः क प्रतिष्ठाम् ॥१॥

(ख) कति देवाः ? कतमेत आसन् ? कति स्तनौ व्यदधुः ?
कः कफोडौ ? कति स्कन्धान् ? कति पृष्टीर-
चिन्वन् ? ॥४॥

(ग) क उ तच्चिकेत ? ॥७॥
दिवं रुरोह कतमः स देवः ? ॥८॥

(घ) प्रिया प्रियाणि वहुला स्वप्नं संवाध तन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रहो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ? ॥९॥

(ङ) कोऽस्मिन् रूपमदधात् कश्चरित्राणि पूरुषे ? ॥१२॥
कोऽस्मिन्प्राणं ? कोऽपानं ? व्यान व्यानमुः ? समान-
मस्मिन्को देवः ।
कोऽस्मिन्सत्यं ? कोऽनृतं ? कुतोमृत्युः ?
कुतोऽमृतम् ? ॥१४॥

(च) कोऽस्मिन्वासः पर्यदधात् ? कोऽस्यायुरकल्पयत् ?
वलं कोऽस्मिन् प्रायच्छत् ? कोऽस्या कल्प-
यज्जवम् ? ॥१५॥

(छ) केन पर्जन्यमन्वेति ? केनास्मिन्निहितं मनः ? ।१६।
(अथर्व १० । २ । १—१६)

(ज) कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते-मातरिश्वा ? (अथर्व १० । ७ । २)

(झ) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उतच्चिकेत ? तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला-अविचाचला ये (अथर्व १० । ८ । ४)

अर्थात्—(क) मनुष्य की एड़ियें मांस से क्यों भरी होती हैं ? टखने अङ्गुली इस प्रकार की क्यों होती हैं ? सब इन्द्रियों के छिद्र क्यों खुले रहते हैं ? दोनों शङ्खास्थियों के बीच मे चीर क्यों रहता है ? (ख) देवता कितने होते हैं ? और वे कौन से हैं ? स्त्रियों के स्तनाशय क्यों होता है ? कोहनी आदि जोड़ मुड़ते तुड़ते क्यों हैं ? कन्धों और पीठ की रचना इस प्रकार की क्यों है ? (ग) इन सब तत्वों का जानने वाला कौन है ? वह कौन शक्ति है जो यह सब कुछ रचकर स्वय द्यौलोक मे चढ गया ? अर्थात् अदृश्य हो गया। (घ) यह मनुष्य स्वप्न मे प्रिय और अप्रिय पदार्थ क्यों देखता है ? तथा उससे आनन्द या दुःख क्यों अनुभव करता है ? (ङ) पुरुष में रूप सौन्दर्य कहां से आता है ? और इसके चरित्रों का अधिष्ठान क्या है ? मानवपिण्ड मे प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान किसने फूंके ? सत्य और झूठ का आधार क्या है ? तथा मृत्यु और अमरत्व हेतु क्या है ? (च) मानव समाज को वस्त्र पहिनाना किसने सिखाया ? और इस आयुष्य की अवधि का क्या रहस्य है ? बल और वेग दोनों क्या

वस्तुएं हैं ? (छ) बादल क्यों बरसता है ? मन के लगने न लगने का क्या आधार है ? (ज) अग्नि का प्रकाश चुन्धियाने वाला क्यों होता है ? वायु की सरसराहट अज्ञात किन्तु सुनिश्चित सी क्यों होती है ? (झ) बारह पर्वों वाला एक चक्र=पहिया है, परन्तु उसकी नाभि तीन क्यों हैं ? यह तत्त्व कौन जानता है ? उसमें तीन सौ साठ कीलें ठुकी हैं जो निरन्तर चलती फिरती क्यों रहती हैं ? अर्थात्--बारह महीने का एक वर्ष गाड़ी के पहिये की भांति घूमता है परन्तु गर्मी, सर्दी और वर्षा ये तीन प्रकार की उसकी नाभ उत्तरायण दक्षिणायन और विषुवत् रेखा पर आश्रित क्यों है ? वर्ष के तीन सौ साठ दिन छोटे बड़े क्यों होते हैं ?

अथर्ववेद के दसवें काण्ड में कई सूक्त 'क्यों' से भरे पड़े हैं। यदि हम चारो वेदों के केवल प्रश्नात्मक मन्त्रों का सग्रह करे तब तो हमारे 'क्यों ?' ग्रन्थ से भी कई गुणा बड़ा एक स्वतन्त्र महाग्रथ ही तैयार हो जाय, फिर यदि उसके उत्तरो का शब्दानुवाद मात्र भी लिखने बैठे, तो रेलवे की एक छत्तीस टन की गाड़ी भर जाय। विवेचन और व्याख्यान की कथा तो कथा ही है। 'केन उपनिषद्' का नाम ही उसके 'क्यों' होने का प्रमाण है यही बात 'प्रश्नोपनिषद्' के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये।

इस प्रघट्ट से हम पाठको को नास्तिकों की 'क्यों' का सदैव उत्तर देने के निमित्त कटिबद्ध रहने के लिये प्रोत्साहित करना चाहते हैं। भगवत् कृपा से सनातन धर्म के पास सब क्योंओं का उत्तर देने की विपुल सामग्री विद्यमान है, वे जब जो चाहें सो पूछे, परन्तु यह ध्यान रहे कि यदि हमने किसी नास्तिक से एक भी क्यो पूछ ली, तो सात जन्म तक भी उसका उत्तर देने में समर्थ न हो सकेंगे, इतने पर भी यदि किसी को अपनी तर्कशीला

बुद्धि का अधिक भरोसा है तो वह नीचे के कतिपय प्रश्नों पर आजमाइश कर देखे, और जरा बताएं कि—

१—बेर के वृक्ष की समान टहनी में जो कांटे होते हैं उनमें से एक सीधा और दूसरा टेढ़ा क्यों ?

२—ढाक के सदैव तीन पात क्यों ?

३—मीठे नदी नदों का जल समुद्र में पहुँचते ही खारा क्यो ? और वही पुन बादल से बरसने पर मीठा क्यों ?

४—सर्प के कान एव पांव, मेढक के जीभ और चिमगादड़ के गुदा क्यों नहीं ?

५—सोने में गन्ध, ऊख में फल, चन्दन ने फूल, करीर के पत्ते और कक-(गोघड़, नामक श्वेत रग की चील) में चहचहाना क्यों नहीं ?

बस, इन्हीं प्रश्नों के उत्तर के लिये 'मर्यादा शतवार्षिकी'

—(८)—

धर्म निर्णय में 'क्यों' का स्थान

('युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः)

'हेतुवाद' किंवा 'तर्कवाद' धर्म निर्णय का अन्यतम साधन है, वैदिक वाङ्मय मे यत्र तत्र 'क्यों' मूलक प्रश्नों का समावेश है इसका दिग्दर्शन पीछे कराया ही जा चुका है। स्वभावत. मानवबुद्धि में प्रत्येक विषय की 'क्यों' जानने की जिज्ञासा रहती है। स्तनन्धय बालक जब से कुछ बोलना सीखता है, तब से लेकर आयु भर नवीन वस्तु को देखते ही 'किं' शब्द की मुहारणी रटने लगता है। खासकर बच्चे तो 'यह क्या' 'यह क्यों' 'यह

कैसे' और 'यह किस लिये' आदि प्रश्नों का तांता बांधते हुए अपने अभिभावकों के नाकों दम कर डालते हैं। हमारे पूर्वज महर्षियों ने जहां अन्यान्य मानसिक प्रवृत्तियों को उच्छृङ्खलता के दायरे से निकालकर मर्यादित एवं नियन्त्रित करने का पुनीत प्रयत्न किया है, वहां हेतुमूलक जिज्ञासा प्रवृत्ति की भी इयत्ता स्थिर करके धर्म निर्णय में इनका उचित मूल्य निर्धारित किया है। तदनुसार शास्त्र कहते हैं कि :—

(क) आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते ।

(अमृतनादोपनिषद् १७)

(ख) आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

(मनु १२ । १०६)

(ग) योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

मनु २ । ११)

अर्थात्—(क) आगम शास्त्र का विरोध न करके जो समझने की चेष्टा करता है उसे तर्क कहते हैं। (ख) महर्षियों द्वारा समाधि लब्ध वेद और तदुपदिष्ट स्मृत्यादि अनुमोदित धर्म का वेद शास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा, जो व्यक्ति अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं। (ग) जो द्विज हेतुशास्त्र के आश्रय से=कुतर्कों के बल से-धर्म की मूलभूत श्रुति और स्मृति का अपमान करता है, वह नास्तिक एवं वेद निन्दक होने के कारण सज्जन पुरुषों द्वारा वहिष्कार करने योग्य है।

महर्षि व्यास वेदान्त- दर्शन (२ । १ । ११) में सुस्पष्ट लिखते हैं कि :—

तर्क अप्रतिष्ठानात् ।

अर्थात्—धर्माधर्म निर्णय में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक श्री भर्तृहरि ने अपने महा महिम ग्रन्थ वाक्य पदीय मे तर्क की प्रामाण्यता की सीमा सुतरा निर्धारित की है, यथा :—

(क) न चागमादृते धर्मः (१ । १३)

(ख) वेदशास्त्राविरोधी च तर्कः (१ । १३६)

अर्थात्—(क) आगम शास्त्र प्रमाण के अतिरिक्त धर्म निर्णय मे अन्य कुछ प्रमाण नहीं है। (ख) वेद शास्त्र के अविरुद्ध तर्क भी मान्य है।

महर्षि चरक—जो कि भारतीय आयुर्वेद के मन्त्र द्रष्टा ऋषियों मे प्रमुख हैं—शारीरिक रोगों का प्रधान कारण पूर्व जन्म कृत पाप मानते हुए स्वास्थ्य-सवर्द्धन के निमित्त नास्तिक बुद्धि के परित्याग का परामर्श देते हैं। यथा :—

बुद्धिमान् नास्तिकबुद्धिं जह्यात्

(चरक सूत्र स्थान ११-७-८

अर्थात्—बुद्धिमान् पुरुष को नास्तिक बुद्धि का परित्याग कर देना चाहिये। तत्व यह है कि हेतुवाद किंवा तर्कवाद धर्म निर्णय का अन्यतम साधन होते हुए भी धर्माभिमानियों के निकट गौण साधन है। ऋषियों की सम्मति में हमें अपनी जीवन रूपी गाड़ी वेद रूपी इञ्जन के पीछे जोड़ देनी चाहिये। वह,

तर्कवाद रूप पहियों के आधार पर तो अवश्य लुढ़के किन्तु उसका पथ प्रदर्शक प्रमाणवाद होना चाहिये। यही सनातन धर्म का आदर्श है।

आज भले ही वेदाभिमानी होने का दावा करने वाले आर्य समाजी, वेद रूपी गाड़ी को अपने तुच्छ तर्क रूपी इञ्जन के पीछे खींचने का उपहासास्पद प्रयास करते हों और इस तरह तर्क को वेद ज्ञान का अन्यतम साधन मात्र न मानकर उसे वैदिकत्व परखने की खरी खासी कसौटी समझते हों एवञ्च जिन अनुभवैक वेद्य विषयों के याथातथ्य निर्णय मे वह तर्क कुण्ठित होता दीख पड़ा कि झट उस विषय पर अवैदिकता की मुहर लगाने की धृष्टता कर सकते हों परन्तु पुरातन काल से कल तक के सभी आस्तिक महानुभावो ने तो एक स्वर से—प्रत्यक्षानुमानोपमानादि सर्वप्रमाणान्तर से सर्वथा अविज्ञात विषय का, 'इदमित्थं' ज्ञान प्रदान करना ही वेद का 'वेदत्व' प्रकट किया है, यथा—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात्—प्रत्यक्ष में किंवा अनुमान से अथवा अन्य प्रमाण से जो उपाय नहीं विदित हो सकता है उसे वेद से जाना जा सकता है' यही वेद का 'वेदत्व' है।

संसार की प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिये तीन अंग आवश्यक होते हैं। संस्कृत साहित्य में उन्हें क्रमशः—पक्ष, हेतु और दृष्टांत कहा जाता है। लौकिक भाषा में—दावा, दलील और मिसाल कह सकते हैं, हम इस ग्रन्थ की भाषा मे इन्हीं तीनों अङ्गों को क्रमशः 'क्या' 'क्यों' और 'कैसे' ? कहेंगे।

धर्म क्या है ? यह जानना हो तो यह तत्व वेद और धर्म शास्त्रों द्वारा विदित होगा, अत हम श्रुति और स्मृति को संक्षिप्त शब्दों में 'क्या' ? कह सकते है ।

तत्तद् धर्म क्रियाएं तथैव क्यों आचरणीय हैं—यह तत्व दर्शन शास्त्रों से विदित होता है, इसलिये उन्हें हम एक शब्द में 'क्यो' कह सकते हैं ।

'क्या' रूप धर्म की 'क्यों' रूप कारणावली को समझ लेने पर प्रत्येक धर्मानुरागी के मन में स्वभावत' यह जिज्ञासा उत्पन्न होगी, कि तादृश धर्मानुष्ठान की इति कर्तव्यता का, किस व्यक्ति को क्या क्या लाभ हुआ यह कैसे जाना जाए—इस तत्व का निरूपण पुराणेतिहास ग्रन्थों से जाना जा सकता है । इसलिये उन्हे हम 'कैसे' कह सकते हैं ?

इस प्रकार सनातन धर्म की सिद्धि के लिये आर्य साहित्य में तीनों अङ्ग विद्यमान हैं । वेद ने कहा—'सत्य वद' अर्थात् सत्य बोलो—यह दावा है । दर्शन शास्त्र ने कहा—सत्यप्रतिष्ठायां सर्वव्यवहारसिद्धि' अर्थात् सत्य के आश्रय से समस्त व्यवहार सिद्ध हो जायेंगे—यह दलील है । पुराणेतिहास ने साक्षी दी–जैसे राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य की उपासना के बल से अपना और अपनी प्रजा का कल्याण किया । यह मिसाल है ।



अन्यमत और क्यों ?

इस प्रकार सनातन धर्म दावा, दलील और मिसाल तीनों प्रकार के शास्त्रो से सम्पन्न होने के कारण सर्वाङ्गपूर्ण है, परन्तु

ईसाई मुसलमान आर्यसमाजी आदि सभी मतों मे केवल दावा मात्र है। किसी २ अश में यथाकथञ्चित् मिसाल भी मिल जाती है, परन्तु दलील का सर्वथा अभाव है। यदि हम किसी मुसलमान से पूछें कि वह दाढी रखता हुआ भी मूछों को क्यों कटा डालता है? और खुदा को निर्विशेष रूप से सर्वत्र मानता हुआ भी केवल काबे की ओर मुख करके ही निमाज क्यों पढ़ता है? तो वह यही कहेगा कि हमारे कुरान और हदीसों में ऐसा करने का हुक्म है— यदि पुन पूछा जाय कि ऐसा हुक्म क्यों है? तो वह कुछ भी हेतु =दलील देने में असमर्थ होने के कारण बिगड़कर यही कहेगा कि 'तू काफिर है' जो मजहब में 'क्यों' का अडङ्गा लगाता है। इसी भांति किसी ईसाई से पूछिये, कि आपका पादरी कमर को रस्सा क्यों बांधता है? और गले में लकड़ी का बना क्रास चिन्ह क्यो लटकाता है? तो वे भी यही कहेंगे— हमारे धर्मग्रन्थ अजील और तौरेत मे लिखा है। पुनश्च यदि पूछा जाय कि ऐसा क्यों लिखा है? तो वे भी पूछने वालों को 'काफिर' कहने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते।

भारतीय सम्प्रदायों में आर्यसमाज भी एक ऐसा मत है कि जो कहने को तो बड़ा तार्किक बनता है और वह अपना जन्म ही शिव लिग पर चढ़े चूहे को देखकर—'जब यह प्रतिमा अपने ऊपर चढ़े चूहे को भी नही हटा सकती तो यह हमारी रक्षा कैसे कर सकेगी'—इस तर्क या कुतर्क के आधार पर मानता है। अन्यान्य सभी साम्प्रदायों की धार्मिक क्रियाओं का उपहास उड़ाने में भी अपने तर्क तोमर की तीव्र धार का बड़ी बेरहमी से प्रहार करता है, परन्तु स्वय इतना दकियानूस और 'दादा वाक्यं प्रमाणम्' की दल-

दल में आकण्ठ मग्न है कि अनेक सर्वथा मिथ्या और कपोल कल्पित बातों को भी केवल इसलिये हठात् पकडे बैठा है कि वे बातें दयानन्दी टकसाल के सांचे में ढली हैं। उदाहरणार्थ—

समाजियों से पूछिये कि हवन क्यों करते हो ? तपाक से उत्तर देंगे—वायु शुद्ध करने के लिए। पुन प्रश्न कीजिए कि वायु शुद्धि तो अग्नि में यथा तथा सुगन्धित द्रव्य डालने मात्र से हो सकती है फिर आप साथ २ मन्त्र क्यों बोलते हो ? उत्तर मिलेगा कि-इस बहाने से वेद मन्त्र भी कण्ठस्थ हो जायेंगे। पुनश्च पूछिए कि यदि मन्त्र कण्ठ करने मात्र के ही अभिप्राय से बोले जाते हैं—तो अकल का तकाजा है कि जब अमुक २ मन्त्र कण्ठ हो जायें तो पुनः नये २ मन्त्र बोलने चाहियें। परन्तु तुम तो अन्यून एक शताब्दी से वही स्वा० दयानन्द संग्रहीत 'हवन मन्त्राः' नामक साढ़े सात मन्त्रों के ट्रैक्ट को रटते हो—सौ वर्ष मे भी यदि ये साढ़े सात मन्त्र कण्ठस्थ न हो पाये, तो इस सुस्त रफ्तार और इतनी कुन्द जहनियत से एक लक्ष मन्त्र वाले वेदों का पूरा परायण तुम से सहस्र जन्मों में भी नहीं हो सकेगा। बस, यह सुनते ही दयानन्दियों की दलीलों का दीवाला निकल जायगा और शास्त्रार्थ को शस्त्रार्थ बनाने के प्रयत्न मे तत्पर हो जायेंगे।

वास्तव मे उन सभी पन्थों के पास 'क्यों ?' बताने के साधन-भूत ग्रन्थ ही नहीं हैं। आर्य समाज भी यदि किसी एक भी दर्शन को मानले तो उसकी रेती की दीवार तत्काल धम्म से गिर जाए। सभी दर्शनों मे मूर्ति पूजा, ईश्वर का अवतार, मृतश्राद्ध, जन्मना-वर्ण व्यवस्था, तीर्थ और छूआछूत आदि वैदिक विषय ओत प्रोत हैं। अत वह 'केवल वेदानुकूल और प्रक्षेप रहित अंश हमें मान्य

हैं' इस बहाने से उन्हें न सर्वांश में मान सकता है न छोड़ सकता है—'भई गति सांप छछुन्दर केरी'।

अस्तु, अन्य मत वाले 'क्यों' से वहुत घबड़ाते हैं। 'क्यों' पूछा कि प्रश्नकर्ता को 'काफिर' की उपाधि मिली। वस्तुतः ये सब सम्प्रदाय 'क्यों' का उत्तर देने में विवश हैं ! लाचार हैं !!

सनातन धर्म और क्यों ?

'क्यों' की समस्या एक उदाहरण से अच्छी तरह समझ में आ सकती है। आपने देखा होगा कि बड़े २ रेलवे स्टेशनों बैंकों और आफिसों में सार्वजनिक जिज्ञासाओं की निवृत्ति के लिये पूछताछ (Enquary) का दफ्तर होता है। यहां लम्बे २ वेतन लेने वाले सुयोग्य व्यक्ति केवल इसी काम के लिये महकमे की ओर से नियुक्त रहते हैं, कि वे जनता की पूछताछ का उचित उत्तर दें जनता उनसे सौ बार भी पूछे तो वे बुरा नहीं मानते, बराबर उचित उत्तर देते रहते हैं। कुछ लोग तो ऐसे अनावश्यक ऊलजलूल भी प्रश्न करने हैं कि जिन्हें सुनकर सर्व साधारण को भी झुंझलाहट सी होती है परन्तु इस कार्यालय के इन्चार्ज अजीब मिट्टी के पुतले होते है अत. उनके धैर्य का बांध नहीं टूटता। तथैव मुस्कराते हुए सौ बार कहा सुना उत्तर पुनरपि अन्वादेश= (रिपीट) कर देते हैं; परन्तु यदि किसी ऐसे व्यक्ति से—जो कि वस्तुतः पूछताछ का अध्यक्ष नहीं—कोई प्रश्न किया जाए तो वह प्रश्न का उत्तर देने के लिये वाध्य न होगा। एक बार यदि उपकार दृष्टि से कुछ बता भी दे तो पुनः पूछने पर झुंझलाकर डांट ही बताएगा। ठीक इसी प्रकार सनातन धर्म रूप इस महान् आफिस में एक दो नहीं पूरे छ, पूछताछ के कार्यालय खुले हैं । ससार भर की

जिज्ञासाओं = 'क्यों' को छः भागों में विभक्त करके एक एक क्यों का सर्वांग पूर्ण उत्तर देने के लिये एक एक प्रधान अध्यक्ष और उसके अनेक सहकारी शिष्य प्रशिष्य नियत हैं। प्रधानाध्यक्षों के नाम हैं—कपिल, गोतम, कणाद, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास।

इन महात्माओं ने अपने २ विभाग की सर्वांगपूर्ण दर्शन सञ्चिका = डायरैक्टरी तैयार कर रक्खी है, जिनके नाम हैं, क्रमशः—सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा और वेदान्त। आप पूछिये कि यह संसार क्या है? तो झट कपिल जी महाराज अपने शास्त्र सांख्य दर्शन को खोलकर उत्तर देंगे, कि केवल २५ ही तो मूलतत्व हैं जिनसे यह अनन्त प्रपञ्च दीख पड़ता है। बस, इसी तरह पदार्थ की दृष्टि से प्रश्न करने पर गोतम जी प्रमाण प्रमेय आदि केवल सोलह पदार्थ समझाकर आपकी जिज्ञासा का समाधान करेंगे। यदि आप इसी बात को और भी सक्षेप में पूछना चाहें तो श्री कणाद जी बात की बात में द्रव्यगुणादि केवल सात ही पदार्थों के वर्णन से शार्ट मे समझा देंगे। अपनी देह के अस्तित्व और उसमें होने वाली अज्ञात शक्तियों को विकसित करके, सदेह लोकान्तरगमन, परकाय-प्रवेश, सर्व-भूत-रुत-ज्ञान, क्षुत्पिपासा निवृत्ति, आदि अनन्त सिद्धियों का भेद जानना चाहते हों तो इस 'क्यों?' का उत्तर महर्षि पतञ्जलि प्रदान कर देंगे। यज्ञ यागादि अनेक धार्मिक क्रियाओं की इतिकर्तव्यता से सम्बन्ध रखने वाली समस्त शंकाओं का समाधान श्री जैमिनि जी करेंगे। अन्त में अथ से लेकर इति पर्यन्त सब प्रपञ्च के जन्म स्थिति निलय से सम्बन्ध रखने वाले समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण द्वैपायन बादरायण व्यास, नर को नारायण तक पहुंचाने का मार्ग परिष्कृत कर देंगे।

आपके उल्टे सीधे जितने भी प्रश्न होंगे उन सब के सर्वाङ्ग पूर्ण उत्तर देने के लिये उक्त ग्रन्थों के अनेक भाष्यकार टीका टिप्पणीकार और प्रस्थानत्रयी के उदार भाष्यकार तैयार बैठे है। इन धुरन्धर महानुभावों के पास जाते हुए यदि आप अपनी अयोग्यता के कारण भयभीत होते हैं तो 'सिया राम मय सब जग जानी' के अनुसार आपमें भी अपने इष्ट देव की बांकी झांकी देखने वाले सौम्यमूर्ति गोस्वामी तुलसीदास जी, के ही सम्पर्क में आजाइये, वे ही आपके तुच्छ से तुच्छ और बड़े से बड़े दार्शनिक प्रश्न का आपकी ही भाषा मे अकाट्य समाधान कर डालेंगे। क्या आपको शङ्का है कि निर्गुण कहा जाने वाला भगवान् सगुण कैसे हो जाएगा ? तो सुनिए गोस्वामी जी क्या कहते हैं—

जो गुण रहित सगुण सो कैसे ?
जल हिम उपल विलग नहीं जैसे ॥

यदि उतने पर भी आप, जल और हिम उपल के तारतम्य को समझने में असमर्थ हैं तो आपकी हिमालय प्रख्यबुद्धि की बलिहारी ! आप भूलकर भी—'एक दारुगत देखिए एकू। पावक युग सम ब्रह्म विवेकू'—के पचड़े में मत पड़िये।

हां, तो सनातन धर्म में ये सब महात्मा 'क्यों' कार्यालय के अवैतनिक अध्यक्ष हैं। सम्भवत: क्या—निश्चित ही, आपको इन तक पहुंचने का कष्ट भी न होने दिया जाएगा। मादृश कई स्वय—सेवक उक्त महानुभावों के द्वार पर ही जिज्ञासुओं की सुव्यवस्था के लिये निरन्तर खडे पायेंगे—आपकी शङ्काओं के समाधान का तो हमी प्रबन्ध कर सकेंगे। खबरदार ! कुतर्कों और ननु, नच, किन्तु, परन्तु, से परिपूर्ण हुज्जतों का पुलिन्दा व्यर्थ ही साथ न उठा लाना; क्योंकि ऐसी आपत्ति जनक सामग्री का यहां प्रवेश

निषिद्ध है। हम लोग द्वार पर इसीलिये तैनात हैं। यदि हमें आपके पड़ौस मे भी उक्त वस्तुओं की दुर्गन्ध आगई तो लेने के देने पड़ जायेंगे। कुतर्कों का ऐसा कचूमर निकाला जाएगा। —ननु, नच को नोच नोचकर ऐसा चकनाचूर किया जाएगा—किन्तु परन्तु की ऐसी तुन तुनी तोड़ी जायगी, कि हुज्जतें हाय हाय करती हुई जहन्नुम रसीद हो जायेंगी।

इसलिये हम उपर्युक्त स्थापना द्वारा डंके की चोट यह घोषित करते हैं कि जिस भी तार्किक को अपनी क्यों का गर्व हो वह सनातन धर्म के सामने आए! जिज्ञासु के स्वागत में हम पलके बिछायेंगे और हुज्जतबाजों को खरीखरी—किन्तु सभ्य भाषा में सुनायेंगे। सो जिस 'क्यों ?' के पचड़े से पागल हुए पादरी 'प्लायताम्' के पाठ की प्रैक्टिस करने लग जाते हैं और जिस 'क्यों' के मारे मुल्ला मौलाना मेमने की तरह मिमयाते हुये मगज-मारी के मरीज बन जाते हैं—तथा बड़े से बडे बौद्ध विद्वान् जिस 'क्यों ?' को 'बुद्धिवाह्य' बताकर बातें बनाना भूल जाते हैं—एव जिस 'क्यों ?' की दहाड़ से विदीर्ण हृदय होकर दादा वाक्य को वेद माननें मे दिलेर दकियानूस दयानन्दी अपनी 'सुध बुध' का दिन दहाड़े दीवाला निकाल डालते हैं—अथ च दूसरी सारी समाज सोसाटियों के सदस्य भी जिस 'क्यों ?' की सनक सवार हो जाने से सदा के लिये सन्देह सागर में समा जाते हैं—उसी, कल्पित पन्थों को डराने वाली महाकाली 'क्यों ?' को सनातन धर्म रूप शङ्कर ने अपनी अर्धाङ्गिनी बना छोड़ा है। ऐसी स्थिति में—ब्रह्म का अपनी अभिन्न छाया माया से, धर्म का— शास्त्र समस्त तर्क से, और 'क्या' का—'क्यों' से वही सम्बन्ध है जो कि सती

साध्वी अनुगामिनी अर्धाङ्गिनी का अपने सर्वस्व प्राणाधार पति से होता है।

यह बात सर्वविदित है कि आजकल सनातन धर्म की प्रत्येक बात पर चारों ओर से 'क्यों ?' का कोलाहल मचाया जाता है! यह भी आपको मालूम ही है कि पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित जन समुदाय को हमारा रहन सहन, हमारी उठ बैठ, हमारा जीवन मरण, गर्ज है कि हमारी ऐहलौकिक और पारलौकिक समग्र दैनन्दिनी चर्या अथ से लेकर इति पर्यन्त कोरी पोप लीला ही जचती है!! इसलिये कथित बुद्धिवादी भी धर्म पराङ्मुख न हों, उनकी भी धर्म मे प्रवृत्ति बनी रहे एतदर्थ—गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त संस्कारों की इति कर्तव्यता का, प्रातः जगने से लेकर पुनःशयन की आह्निक क्रियाओं का, चारों वर्णों और चारों आश्रमों के विभिन्न अनुष्ठेय कर्मों की इयत्ता का, अमुक अमुक पदार्थों के स्पृश्यास्पृश्य, ग्राह्याग्राह्य और भक्ष्याभक्ष्य होने की व्यवस्था का,—गर्ज है कि सनातन धर्म की प्रत्येक रीति और नीति का सप्रमाण सयौक्तिक एवं वैज्ञानिक रहस्य प्रकट करने के लिये, आस्तिक समाज के एक मात्र धर्म्माधर्म्म निर्णायक सर्वथा और सर्वदा शिरोधार्य शब्द प्रमाण के साथ प्रत्यक्षवादी किंवा बुद्धिवादी कहे जाने वाले लोगों को यथा कथञ्चिद् सन्तोष दिलाने वाली 'क्यों ?' अर्थात्—हेतुवाद—का भी धर्म निर्णय में विशेष स्थान है। इसलिये जहां पातञ्जल महाभाष्य के शब्दों में 'शब्द—प्रामाणिका वयम्' कहते हुए वेद प्रतिपादन को प्रमाण मानने वाले कहलाने मे गर्व अनुभव करते हैं वहां 'युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' कहते हुए 'युक्तिवाद' का भी यथेष्ठ आदर करते हैं। यही सनातन धर्म में 'क्यों ?' का स्थान है।

'क्यों ?' ग्रन्थ प्रयोजन और अधिकारी

प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने मे हमारा एक ही तात्पर्य है और वह यह कि मुट्ठी भर शास्त्र श्रद्धालु आस्तिक तो धर्मानुष्ठान के अदृष्ट फल मे विश्वास रखते हुए नित्य नैमित्तिक कर्मों का सम्यग् अनुष्ठान कर सकते है परन्तु आज के युग मे बहु सख्यक मनुष्य समाज इतना प्रच्छन्न नास्तिक बन गया है कि वह पदे पदे अमुक अमुक धर्मानुष्ठान का प्रत्यक्ष फल देखकर ही उसमे प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं, ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक हो गया है कि सर्वसाधारण के कल्याण के निमित्त ततत धर्मानुष्ठानों से होने वाले प्रत्यक्ष लाभों का भी दिग्दर्शन कराया जाए जिससे ऐसे मनुष्यों की भी धर्म मे अभिरुचि बढ़े।

हमारा यह दावा कदापि नही कि इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है वह सर्वथा और सवदा 'ब्रह्म वाक्य' है, परन्तु मेरा यह निजी अनुभव अवश्य है कि लगातार तीस वर्ष पर्यन्त धर्म प्रचार करते हुए जब कभी भी मैंने उक्त रहस्यों का निरूपण किया है, तो जिज्ञासु कि वा जिगीषु, दोनों प्रकार के लोगों ने सतोष अनुभव किया है और बहुत से लोग तो उस दिन से धर्म पथ के पथिक बन गए हैं।

यहां यह कह देना आवश्यक न होगा कि उत्तम श्रेणी के आस्तिक विद्वान् तो सकेत मात्र से सब कुछ समझ सकते हैं और उन्हे समझाया भी जा सकता है अतः वे महानुभाव उक्त ग्रन्थ के अधिकारी नहीं, और ना ही मध्यम श्रेणी के वे अर्ध विदग्ध—अधकचरे सज्जन ही इसके अधिकारी हैं जिनको समझाने में मै प्राय अकृतकार्य रहा हूँ और जिनको लक्ष्य करके श्रीभर्तृहरि

सरीखे महाकवियों को भी—झख मारकर कहना पड़ा है कि—

'ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति ।

अर्थात्—ज्ञान के लवमात्र से जो बुरी तरह पाण्डित्य के अभिमान में भुना बैठा हो उसको तो ब्रह्मा भी नहीं रिझा सकता ।

हां । तीसरी श्रेणी के कोरे नास्तिकों से जब जब भी हमारा वास्ता पड़ा तभी तब हम उनको समझा सकने में सोलहों आने सफल हुए । हमें स्मरण नहीं कि कभी कोई नास्तिक शङ्का समाधान मे कि वा जिज्ञासा पूर्ति में सतुष्ट न हुआ हो ! इसलिये जब कभी हमें पाश्चात्य रग में रगा हुआ और पश्चिमी सभ्यता तथा आज के भौतिक विज्ञान का अभिमान रखने वाला श्रोता मिला, तो हम ने उसे उपयुक्त पात्र समझा और उसे पाकर हमें बहुत सतोष भी हुआ, क्योंकि थोड़े से प्रयास से ही हमने उसे उसके ही शस्त्रास्त्रों से काबू कर लिया, सो इस ग्रन्थ के अधिकारी वे ही तीसरी श्रेणी के महाशय हो सकते हैं । भारत में आज ऐसे ही लोगों का आधिक्य है । उन्हीं के लिए यह ग्रन्थ रामबाण सिद्ध होगा, यह मेरा अनुभव है ।

'क्यों ?' निर्णायक दार्शनिक पद्धति

भारतीय पद्धति के अनुसार इस प्रकार के आलोचनात्मक ग्रन्थों को दर्शन नाम से स्मरण करने की पुरानी परिपाटी प्रसिद्ध है । सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत विषयों के प्रख्यात दर्शन भारतीय साहित्य की निधि हैं। शाण्डिल्य और नारद प्रणीत भक्ति-सूत्र भी दर्शन नाम से प्रसिद्ध हैं। उक्त

आस्तिक दर्शनों की भांति नास्तिक दर्शन भी पाये जाते हैं, सो इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम भी 'धर्म दिग्दर्शन' है—जो सर्व साधारण में 'क्यों ?' नाम से अधिक प्रख्यात हो जाने के कारण हमने भी नामान्तर के रूप में स्वीकार कर लिया है। सो हमने 'धर्म दिग्दर्शन' नाम को अन्वितार्थ करने के लिये इस ग्रन्थ का मूल ढांचा भी सूत्रों में निबद्ध किया है, जिससे थोड़े मे ही ग्रन्थ का सब तात्पर्य सूत्र रूपेण हृदयङ्गम हो सकता है। आशा है पाठक हमारे इस प्रयास से सन्तुष्ट होंगे।

धर्म दिग्दर्शन सूत्र माला

(थोरेउ में सब कहौं बुझाई ❀ जाते सकल मोह भ्रम जाई)

अथातो धर्मजिज्ञासा। १।

अर्थ—(अथ) [संसार की बढ़ती हुई अशान्ति अन्य किसी भी उपाय से शान्त नहीं हो रही है]-यह अनुभव करने के अनन्तर (अतः) [धर्म ही एक मात्र सब दुःखों को दूर करके प्राणिमात्र का कल्याण करने में समर्थ है]=इस हेतु से, 'धर्म जिज्ञासा'=धर्म जानने का उपक्रम किया जाता है।

प्रेरकश्रुत्युपादिष्टो धर्मः। २।

अर्थ—['अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिये—इस प्रकार की] प्रेरक श्रुतियों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व धर्म है।

प्रेरणं न निष्प्रयोजनम्। ३।

अर्थ—वेद, जिन कर्मों को करने के लिये और जिन कर्मों को न करने के लिये प्रेरणा करता है— वह प्रेरणा बिना प्रयोजन नहीं है।

दृष्टादृष्टफलश्रवणात् । ४ ।

अर्थ—वेद विहित कर्मों के करने से और वेद निषिद्ध कर्मों के त्याग से दृष्ट=देखा जा सकने योग्य प्रत्यक्ष लाभ और अदृष्ट=चर्म चक्षुओं से न देखा जा सकने योग्य पारलौकिक कल्याण—दो प्रकार का फल मिलता है। यह वेदादि शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है।

साक्षात्कृतधर्मभिरदृष्टफलस्मरणात् । ५ ।

अर्थ—समाधि में जिन महर्षियों ने धर्म का साक्षात्कार किया है उनहीं मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने—धर्म सेवन का 'अदृष्ट फल' स्मृतियों में कहा है यथा—'धर्मानुगो गच्छति एकमर्त्यः'। इसलिये उसकी सत्ता पर सन्देह नहीं हो सकता।

दृष्टफलदर्शनाच्च । ६ ।

अर्थ—और धर्मानुष्ठान का 'दृष्टफल' दर्शन शास्त्रों में प्रकट किया गया है, यथा—'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' इसलिए वह तो प्रत्यक्ष ही है।

नाऽव्यवहार्यम् । ७।

अर्थ—वेदादि शास्त्रों में ऐसा कोई विधि निषेध नहीं है मनुष्य, जिसका पालन न कर सकता हो।

ऐतिह्याख्यानात् । ८ ।

अर्थ—क्योंकि इतिहास और पुराणों में ऐसे आख्यान देखे जाते हैं कि जिनमें धर्म के तत्तद् अङ्गों का हमारे पूर्वजों द्वारा अनुष्ठान करना और उससे लाभान्वित होना सिद्ध होता है।

उपर्युक्त आठ सूत्रों मे धर्म विषयक सभी तत्वों का समावेश

हो जाता है। आज ससार में फैले हुए अनर्थों को सभी दूर करना चाहते हैं, परन्तु अर्बों रुपया खर्च करने और अनेक शिर तोड़ प्रयत्न करने पर भी वे अनर्थ घटने के बजाय बढ़ते जा रहे हैं। सन् १६१४ का महायुद्ध=ग्रेटवार—शान्त भी न हुआ था कि दूसरा महायुद्ध शिर पर आ पड़ा। वह अभी पूरी तरह समाप्त भी न हो पाया है कि तीसरे प्रलयङ्कर युद्ध की सम्भावनाएं दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही हैं। ऐसी दशा में अब संसार अपने त्राण का दैवी अमोघ उपाय ढू ढने में प्रयत्न शील है। सो सब अनर्थों को दूर करने का अव्यर्थ उपाय धर्मानुष्ठान ही है। अतः उसकी जिज्ञासा ही सर्व साधारण का कल्याण कर सकती है।

आज भले ही मानव समाज धर्म के स्थान में अपनी कल्पना से तत्काल घड़े हुए धर्माभास को ही हठात् धर्म्म बनाने के लिये 'अंधेरे में डले ढोने का प्रयत्न' करता हो, परन्तु—वस्तुतः धर्म का अन्तिम निर्णय वेद शास्त्र ही कर सकता है—यह अमिट तथ्य है। इसे मानव समाज चाहे आज समझले—और चाहे शताब्दियों और सहस्राब्दियों पर्यन्त ठोकरें खाने के बाद समझे,—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय !

वेद शास्त्रों में जो धार्मिक विधान है वे निष्फल नहीं हैं किन्तु उनसे ऐहलौकिक उन्नति='अभ्युदय' और पारलौकिक कल्याण='नि श्रयस्' दो फल प्राप्त होते हैं। सो जो लोग 'प्रयोजन बिना मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात्—बिना प्रयोजन तो मूर्ख भी किसी कार्य में—प्रवृत्त नहीं होते—इस सिद्धांत के कट्टर पक्षपाती हैं उनके लिये भी डबल फल दायक होने के कारण धर्म, सर्वथा और सर्वदा अनुष्ठेय है।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने धर्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करके स्मृति ग्रन्थों में उसका और उसके पारलौकिक फलों का विशद निरूपण किया है। जैसे– आयुर्वेदोक्त विषों को विष ही समझा जाता है, इसमे सदेह करके स्वय प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये विष खाने का प्रयत्न नहीं किया जाता और ऐसी मूर्खता करना निश्चित मृत्यु का आवाहन करना ही है; ठीक इसी प्रकार उन्हीं आयुर्वेद प्रणेता महर्षियों की बताई हुई पाप पुण्य व्यवस्थायें भी सर्वथा विश्वसनीय हैं। उनका उल्लघन करके हानि लाभ का स्वय परीक्षण करने वाला व्यक्ति भी नि.सन्देह खतरा खरीदता है।

कदाचित् मूर्खता वश, सर्व साधारण, धर्म के अदृष्ट फलों में आस्था न भी रक्खे, तो भी दर्शन-शास्त्रों में तत्तद् धर्मानुष्ठानों के प्रत्यक्ष दृष्ट फलों का भी निरूपण किया गया है। एतावता दृष्टफला-ग्रही मनुष्यों के लिये भी धर्म सर्वथा अनुष्ठेय है।

बहुत से लोग धर्मानुष्ठान से इस भ्रम से जी चुराते हैं कि यह बहुत ही कठिनतम व्यापार है। उनकी सम्मति में धर्म, केवल ग्रन्थों में लिखने और कहने सुनने मात्र का ही विषय है, व्यवहार जगत् में उसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्तियों को यह समझना चाहिये कि महाभारत रामायण और पुराणादि ग्रन्थों में धर्म परायण आस्तिकों की जो अनेक कथाए आती हैं उनमें बहुत से ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे जाना जाता है कि मनुष्यों को साधारण धार्मिक अनुष्ठान से भी अतुल सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है यथा—

(क) क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।

(ख) स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

अर्थात—(क) झटपट धर्मात्मा बन जाता है और उसे कभी नष्ट न होने वाली चिर शान्ति प्राप्त हो जाती है। (ख) धर्म की थोड़ी सी भी की हुई रक्षा, मनुष्य को महान् भय से बाल बाल बचा देती है।

अजामिल, व्याध, गज, गणिका आदि इसके अनेक निदर्शन हैं सो अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष को श्रवण कीर्तन आदि सरलतर धर्मानुष्ठानों द्वारा ही अपना मार्ग निष्कण्टक बनाना चाहिये।

अमुक धर्मानुष्ठान से अमुक फल प्राप्त होता है--इसका उल्लेख तो इस ग्रन्थ में तत्तद् अनुष्ठानों के वर्णन प्रसंग में किया जाएगा, परन्तु अमुक क्रिया इसी रूप में 'क्यों ?' की जाती है ?-इसके हेतु भूत सिद्धान्तों का वर्णन एक पूरे अध्याय में किया गया है। उक्त सिद्धान्तों के मूल सूत्र यहां अङ्कित किए जाते हैं—

फलमनुद्दिश्य प्रवृत्तेरभावात्फलजिज्ञासा । ६ ।

अर्थात्— फल के उद्देश्य विना प्रवृत्ति नहीं होती इस हेतु से फल जानने का प्रयत्न किया जाता है।

कलियुग-अविद्या-नास्तिक्य-दारिद्र्य-आलस्यादि सन्निधानान्नादृष्टफले सामान्यजन-आस्था। १० ।

अर्थात्--कलियुग के प्रभाव से, पठन पाठन की कमी के कारण, नास्तिकता बढ़ जाने से, रोटी के ही प्रश्न में उलझे रहने के कारण और आलस्य दोष से, धर्म के अदृष्टफल में अब सर्व-साधारण की आस्था नहीं रही।

सर्वकल्याण-कामनया दृष्टफल-समारम्भः । ११ ।

अर्थात्--सर्व विध मनुष्यों के कल्याण की कामना से इस ग्रन्थ मे धर्म के दृष्ट-प्रत्यक्ष लाभों के निरूपण का प्रयत्न किया गया है।

नामूलम् । १२ ।

अर्थात्--दृष्टफल कल्पना निर्मूल नहीं है।

ज्ञानविज्ञान—प्रमाणोपन्यासात् । १३ ।

अर्थात्--क्योंकि इस ग्रन्थ में ज्ञान-मोक्ष विषयक वेदादिशास्त्रों के और विज्ञान--शिल्प शास्त्र आदि भौतिक विज्ञान के प्रमाणों का सर्वत्र उल्लेख किया गया है।

नाहैतुकं षोडसवाद-प्रमाणात् । १४ ।

अर्थात्--दृष्टफल कल्पना बिना हेतु की नहीं है किन्तु उसमें वक्ष्यमाण सोलह 'वाद' प्रमाण हैं।

जड़-चेतनसमन्वयात् । १५ ।

अर्थात्--जड़ और चेतन दो विभिन्न तत्वों का समन्वय करने से [अनेक धार्मिक अनुष्ठानों की तादृश इतिकर्तव्यता के कारणों का ज्ञान हो सकता है]।

स्थूल-सूक्ष्मसमीक्षणाद् । १६ ।

अर्थात्--स्थूल और सूक्ष्म के भली प्रकार जानने से-

दृष्टादृष्टदर्शनात् । १७ ।

अर्थात्--दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के पदार्थ देखने से-

शाश्वत-विपरिणामि-विश्लेषणात् ।१८।

अर्थात्—सदैव रहने वाले और क्षण मे बदलने वाले द्विविध पदार्थों का विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करने से—

अनादिसादिवीक्षणात् । १९ ।

अर्थात्—अनादि और सादि दो प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व होने से—

अनन्त–सान्त–निरीक्षणात् । २० ।

अर्थात्—अनन्त और सान्त द्विविध पदार्थों की विद्यमानता से—

प्रत्यक्ष–परोक्षपरीक्षणात् । २१ ।

अर्थात्—इन्द्रियों से अनुभूत और इन्द्रियों से अननुभूत द्विविध तत्वों का परीक्षण करने से—

अण्ड–पिण्डसाम्यात् । २२ ।

अर्थात्—ब्रह्माण्ड और शरीर पिण्ड की तुलनात्मक स्थिति से—

पाप–पुण्यपरिज्ञानात् । २३ ।

अर्थात्— अमुक कृत्य पाप है और अमुक कृत्य पुण्य है—ऐसी सर्व वादि सम्मत व्यवस्था के परिज्ञान से—

भावना–भावात् । २४ ।

अर्थात्— सर्व कार्यों की सिद्धि असिद्धि में भावना का साम्राज्य होने से—

शौचाशौच–व्यवस्थापनात् । २५ ।

अर्थात्—शुचि और अशुचि द्विविध वस्तु जात की व्यवस्था से—

देश–काल–वस्तु-जाति-वैशिष्ट्यानुरोधात् । २६ ।

अर्थात्—देश, काल, वस्तु, और जातिगत नाना विध वैचित्र्य होने से—

यहां हमने जान बूझकर ही इन सूत्रों का साधारण अर्थ किया है क्योंकि उक्त हेतु सूत्रों की ही विशेष व्याख्या अनुपद तत्तद्वादों के रूप में अगले प्रघट्ट में ही दी जा रही है। आशा है पाठक, दार्शनिक प्रक्रिया से तत्तद् धामिक क्रियाओं की 'क्यों ?' समझने मे उक्त सताइस सूत्रों की नक्षत्र माला का सदुपयोग करेंगे।



आधारभूत मौलिक सिद्धान्त

ब्रह्माण्ड में अगणित वस्तु जात की जुदा जुदा परीक्षा और समीक्षा करना सर्वथा असम्भव है। मनुष्य जीवन में विभिन्न वस्तुओं के वैलक्षण्य का निरन्तर अनुभव होते ही तत्काल यह 'क्या ?' यह 'क्यों ?'—की परम्परा की भी कोई सीमा नहीं, ऐसी स्थिति में त्रिकाल दर्शी महर्षियों ने थोड़े में सब कुछ समझ लेने की जिस परिपाटी का आविष्कार किया था उसका नाम—'सिद्धान्त वाद' है, एक मात्र इसी नाव के सहारे अनन्त पार दुस्तर तर्क-सागर को पार किया जा सकता है। इसलिये हम इस अध्याय में प्रकृति के कुछ ऐसे अटल नियमों का उल्लेख करना चाहते हैं कि कि जिनको समझ लेने पर बहुत सी शङ्काओं का अपने आप समाधान हो जाता है। यह प्रघट्ट पढ़ने में बड़ा अटपटा प्रतीत होगा और साथ ही अनावश्यक सा भी जान पड़ेगा, परन्तु जैसे किसी भी ऊचे प्रासाद की आधार भित्ति (नींव) टेढ़े मेढ़े बिना

घड़े बेडौल पत्थरों की होती हुई भी उस प्रासाद की मूल आधार होती है। उसका एक पाषाण निकाल लेने पर समस्त ऊंची अट्टालिकाएं धराशायी हो सकती हैं, ठीक इसी प्रकार इस प्रघट्ट को भी उक्त ग्रन्थ की रीढ़ समझना चाहिये। पाठक यदि सावधानी से एक एक अक्षर का मनन करेंगे तभी वे आगे के समाधान को समझ पायेंगे।

जड़ और चेतनवाद-

(उभयं वा एतत् प्रजापतिः)

संसार में पत्थर मिट्टी पानी आदि वस्तुओं को 'जड़' कहा जाता है और पशु पक्षी मनुष्य आदि को 'चेतन' कहा जाता है परन्तु विचार पूर्वक यदि जड़ और चेतन का विश्लेषण किया जाय तो ऐसी एक भी वस्तु उपलब्ध नहीं होती जिसे केल 'विशुद्ध-जड़' या केवल 'शुद्ध-चेतन' कहा जा सके। विधाता का यह सब का सब प्रपञ्च ही जड़ चेतन दोनों तत्त्वों के विमिश्रित-सङ्घात का विपरिणाम है। यह हो सकता है कि पाषाण आदि में जड़ तत्व का बाहुल्य है और चेतन तत्व उसमे विकसित नहीं हो पाया है परन्तु—वह सर्वथा और सर्वदा चेतन सत्ता से शून्य हो—विज्ञानवेत्ता यह स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वर्तमान युग के भौतिक शास्त्रवेत्ताओं ने सनातन धर्म के पुरातन सिद्धान्त 'वृक्ष वनस्पति चैतन्य' को तो स्वीकार कर ही लिया है। श्री जगदीश चन्द्र वसु आदि भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने यन्त्रों की सहायता से चैतन्य के लक्षण—देखना, सूंघना, सुनना, आदि क्रियायें वृक्षों में सुस्पष्ट दिखलादी है। जीवित पाषाण भी चेतनांश से अशून्य हैं इसके अनेक निदर्शन तो आर्य साहित्य में उपलब्ध होते हैं

परन्तु भौतिक यन्त्रों द्वारा पाश्चात्य जगत् को विश्वास दिला सकने की परिस्थिति मे हम नहीं हैं। पाषाण शब्द के साथ 'जीवित' विशेषण देखकर पाठक अवश्य चकित होंगे परन्तु उनको यह समझना चाहिये कि जैसे जीवित मनुष्य और उसका प्राणशून्य शव=लाश विभिन्न दो वस्तुए है ठीक इसी प्रकार हरे भरे वृक्ष और कटे सूखे लक्कड़, वृक्षों के जीवित और मृत कलेवर समझने चाहिये। इसी प्रकार पहाड़ के परिवर्द्धनशील पाषाण और उससे पृथक् हुए शिला बट्ट आदि समझने चाहिये।

कहना न होगा कि जड़ और चेतन दोनों तत्त्वों के विमिश्रण का नाम ही संसार है, गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में 'जड चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार' कहते हुए प्राचुर्य्य विकार और प्राधान्य अर्थ सूचक 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग करके इस रहस्य को प्रकट किया है। अर्थात्—यह विश्व जड़ और चेतन तत्त्वों का 'आवास' मात्र नहीं किन्तु यह तो उक्त दोनों तत्त्वों की प्रचुरता विकृति और प्रधानता के कारण 'तन्मय' है। इसलिये यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि विश्व में किसी भी वस्तु को केवल जड़ या केवल चेतन नहीं कहा जा सकता किन्तु यहां प्रत्येक जड़ चेतन से अधिष्ठित है और प्रत्येक चेतन जड़ का अधिष्ठान है। जिस वस्तु मे उक्त दोनों में से जिस किसी एक तत्व-का अधिक विकाश हुआ है उसी तारतम्य से 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार उसका वैसा नाम पड़ गया। जैसे हलवाई की दुकान में मैदा, घी, खांड, पानी, पत्तल, दोना, लक्कड़, कड़ाही, थाल अनेक तरह का सामान रहता है तथापि उसे व्यवहार मे हलवा+ई=हलवे वाले की दूकान कहा जाता है। तथा चिड़िया, मोर, सिह, व्याघ्र, ऊंट, घोड़े बनमानुस आदि

अनेक प्रकार के जीवों से सकुल अद्भुतालय को 'चिड़िया घर' कहा जाता है ठीक इसी प्रकार स्थूलांश की अधिकता के कारण पाषाण वृक्षादि को जड़, और सूक्ष्मांश की अधिकता के कारण मनुष्य पशु आदि को चेतन कहने की परिपाटी पड़ गई है। वस्तुतः जड़ से चेतन को और चेतन से जड़ को पृथक नहीं किया जा सकता। ये दोनों तत्व प्रत्येक वस्तु में अपरिहार्य रूप से विद्यमान रहते हैं। मुर्दा देह में भी, प्राणवायु का सञ्चार बन्द होते ही 'धनञ्जय' नाम का वायु उसमें व्याप्त हो जाता है, इसी प्रकार 'जीव' भी पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर को छोड़ते ही तत्काल 'वायुभूतो दिगम्बरः' के अनुसार दिव्य अथवा यातनामय शरीर से सम्पन्न हो जाता है। उस लिये विश्व की प्रत्येक वस्तु जड़ चेतन मय है।

स्थूल सूक्ष्म-वाद—

(अणोरणीयान्महतो महीयान्)

जड़ और चेतन की भांति संसार की प्रत्येक वस्तु में स्थूल और सूक्ष्म ये दोनों भाव भी समान रूप से पाये जाते हैं। मनुष्य देह स्थूल है परन्तु उसका चेतन आत्मा सूक्ष्म है। फूल स्थूल है किन्तु उसमें रहने वाला गन्ध सूक्ष्म है। लड्डू, पेड़ा मिश्री स्थूल है किन्तु इन सबमें रहने वाला रस—स्वाद सूक्ष्म है। चुम्बक पत्थर स्थूल है उसमें रहने वाला आकर्षण सूक्ष्म है। संखिया वत्स नाभ आदि विष स्थूल द्रव्य हैं किन्तु उनमें रहने वाली मारण सामर्थ्य सूक्ष्म है। उसी प्रकार अन्यान्य स्थूल पदार्थों में अन्यान्य सूक्ष्म तत्व पाये जाते हैं।

प्रत्येक पदार्थ के स्थूलांश मे आकार, प्रकार, रंग, रूप, तोल

वजन प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, परन्तु सूक्ष्मांश में आकार प्रकार रंग रूप तोल वजन कुछ नहीं रहता। उदाहरणार्थ—मनुष्य, शारीरिक दृष्टि से काला गोरा और मन सेर पौंड रत्तल भार का कहा जा सकता है परन्तु उस देह में रहने वाला चेतन जीव काला गोरा टन मन सेर तोला माशा रत्ती भर का नहीं कहा जा सकता। सेर भर पेडे चटकर जाने वाले चौबा जी यह बताने मे असमर्थ हैं कि पेड़े मे रहने वाले स्वाद, लम्बा चौड़ा गोल तिकोन चपटा-आदि किस आकार प्रकार का है? और श्वेत श्याम रक्त पीत में से किस रंग का होता है? एवं टन मन तोला रत्ती किस परिणाम का है। कल्पना कीजिए कि गुलाब का स्थूल फूल गुलाबी रंग, मण्डलाकार, और चार तोले का है, तो भी उसके सूक्ष्म भाग गन्ध का आकार रंग और तोल नहीं बतलाया जा सकता।

प्रकृति का यह अटल सिद्धांत है कि संसार की प्रत्येक स्थूल वस्तु में एक सूक्ष्म तत्त्व भी रहता है इसलिये स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों अंशों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। संसार की प्रत्येक स्थूल वस्तु सूक्ष्म से अधिष्ठित है और प्रत्येक सूक्ष्म वस्तु स्थूल का अधिष्ठान हैं। स्थूल और दोनों तत्त्वों के अपरिहार्य संघात का विपरिणाम तत्तत्पदार्थ है।

दृष्ट और अदृष्टवाद

(एको देव. सर्व भूतेषु गूढः)

संसार में जिन पदार्थों का, घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से साक्षात्कार हो सकता है वे सब पदार्थ दृष्ट कहे जाते हैं, परन्तु जिन तत्वों का मन बुद्धि = अन्त.-करण द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है उन्हें अदृष्ट कहते हैं।

नेत्र, मोदक के केवल रंग रूप को ही देखने में समर्थ हैं, उसके रसास्वादन के साक्षात्कार मे समर्थ नहीं। जिह्वा यद्यपि अन्धकार में भी मोदक के रसास्वादन में निपुण है किन्तु उसका रंग रूप जानने की इसमें सामर्थ्य नहीं। एतावता चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी मोदक के रस की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता और रासायनिक प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी मोदक के तादृश रूप रंग का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से अननुभूत किन्तु 'ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति य योगिन.' के अनुसार मानस साक्षात्कार के विषयभूत तत्त्व का अपलाप नहीं हो सकता। सुतरां अवाङ्-मनसो गोचर तत्व भी 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या' के अनुसार समाधिनिष्ठ योगियों को हस्तामलक की भांति भासता है। इसलिये जैसे दृष्ट पदार्थों के रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द के प्रत्यक्ष में तत्तत् ज्ञानेन्द्रियें प्रमाण हैं उसी प्रकार अदृष्ट अंश के साक्षात्कार में भी मन बुद्धि=अन्त करण प्रबल प्रमाण हैं। तभी तो 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय' यह आभाणक सुप्रसिद्ध है।

शाश्वतवाद और विपरिणामवाद—

(विनश्यत्स्वविनश्यन्तं य पश्यति स पश्यति)

जो तत्व सर्वदा निर्लेप निरञ्जन निर्विकार और सदैव स्व स्वरूप में अवस्थित रहता है उसे शाश्वत या सनातन कहते है। वेदान्तवेत्ताओं का ब्रह्म, श्रीमद्भगवद्गीता वर्णित जीव और नैयायिक के परमाणुरूप-पृथ्वी, अप, तेज, वायु आदि पदार्थ शाश्वत कोटि में परिगणित किए गए हैं। इसके सर्वथा विपरीत जो

तत्त्व क्षण क्षण में बदलता हो—कुछ का कुछ बन जाता हो—उसे विपरिणामी कहते हैं। निरुक्तकार यास्क ने लिखा है कि—

"षड् भावविकारा भवन्ति,—अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यति" (निरुक्त। १। १। २।)

अर्थात्—प्रत्येक वस्तु मे ६ भाव विकार होते हैं, जैसे—सत्ता, उत्पन्न होना, बढ़ना, पकना, घटना और नष्ट हो जाना।

सो विश्व में जड़ चेतन स्थूल सूक्ष्म और दृष्ट अदृष्ट पदार्थों की भाति शाश्वत और विपरिणामी इन दोनों तत्वों का संघात भी सर्वत्र दीख पड़ता है।

अनादिवाद और सादिवाद--

(अनादि मत्परं ब्रह्म, जन्माद्यस्य यतो मतम्)

विश्व प्रपञ्च में कुछ पदार्थ अनादि माने जाते हैं। यद्यपि उनकी संख्या में तत्तत्सम्प्रदायानुरोध से कुछ अन्तर पाया जाता है तथापि अनादि तत्त्व की सत्ता आनास्तिक सभी सम्प्रदाय एक स्वरेण स्वीकार करते हैं इसलिये अनादि तत्व सर्ववादिसम्मत है। अमुक पदार्थ को अनादि मान लेने पर तदतिरिक्त अन्य पदार्थ स्वभावत. सादि सिद्ध हो जाते हैं, अत. अनादि और सादिवाद सभी मतों में परिगृहीत हैं। जिसका आदि न हो अर्थात् जो 'मूले मूलाभावादमूलम्' के अनुसार स्वय मूलभूत होने के कारण अपने अन्य किसी मूल की अपेक्षा न रखता हो वह पदार्थ अनादि है। 'ब्रह्म' इसका सर्वसम्मत उदाहरण है। इसके विपरीत 'जिसका आदि हो' अर्थात् जो एक दिन अमुक कारण से उत्पन्न हुआ हो वह 'सादि' है। 'दृश्य जगत्' इसका निदर्शन है।

कहना न होगा कि यह दृश्य जगत् भी केवल विपरिणाम की दृष्टि से ही सादि कहा जा सकता है, किन्तु 'हरिरेव जगद् जगदेव हरिः' के अनुसार प्रवाह से तो अनादि ही है। 'वीजांकुर' न्याय से पहिले बीज या पहिले अकुर ? बीज के बिना अंकुर सम्भव नहीं और अंकुर के बिना वीज सम्भव नही !—ऐसी अनवस्था का एक मात्र दार्शनिक उत्तर—ससार को प्रवाह से अनादि—मानने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। सो अनादि और सादिवाद भी सर्व सम्मत हैं।

अनन्त और सान्तवाद—

(क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते)

जिन पदार्थों का कभी अन्त न हो वे 'अनन्त' माने जाते हैं और जिनका अन्त निश्चित हो, वे 'सान्त' कहे जाते हैं। परमात्मा अनन्त है और 'अन्तवन्त इमे देहाः' के अनुसार शरीर सान्त है। सभी अनादि पदार्थ अनन्त भी हों— दार्शनिक विद्वान् यह व्याप्ति मानने को प्रस्तुत नहीं। उनकी दृष्टि में—'प्रागभाव' (कार्य की उत्पति से पूर्व की अवस्था) अनादि होता हुआ भी सान्त होता है, अर्थात् घट के बनने से पूर्व जो उसका अभाव चला आता था वह अनादि तो अवश्य है परन्तु घट रूप कार्य बनते ही उस प्रागभाव का विनाश हो जाता है। अत वह अनादि सान्त है। इसी प्रकार 'प्रध्वंस' (कार्य नष्ट हो जाने के बाद की स्थिति) सादि है परन्तु है वह अनन्त, अर्थात् घट फूट जाने पर जो उसका अभाव हुआ है वह अभी घट फूट जाने के समय से आरम्भ हुआ है अतः वह 'सादि' है परन्तु अब वह अभाव कभी पूरा न हो सकेगा अतः वह 'अनन्त भी है। सो जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश

अवश्य होता है और जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसका विनाश भी कभी नहीं होता—यह जो लोक प्रसिद्ध व्याप्ति है वह दार्शनिकों की दृष्टि मे तुच्छातितुच्छ है क्योंकि प्रागभाव की कभी उत्पत्ति नहीं होती परन्तु उसका विनाश होता है इसीप्रकार प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होता है परन्तु वह कभी विनष्ट नही होता, इसलिये अनन्त और सान्तवाद का गम्भीर तारतम्य खूब समझ लेना चाहिये।

प्रत्यक्षवाद और परोक्षवाद—

(प्रत्यक्षाद् बलवच्छास्त्रम्)

नास्तिक लोग 'प्रत्यक्ष' को ही सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं, और 'प्रत्यक्षे कि प्रमाणम्' कहकर प्रत्यक्षवाद का अभिनन्दन करते हैं परन्तु देवता—विद्वान् प्रत्यक्ष को अनेक भ्रान्तियों का आगार एवं कोरी धोखे की टट्टी समझते हैं। अतः उससे द्वेष रखते हैं और परोक्ष—इन्द्रियातीत शब्द प्रमाण का आदर करते हैं। इसलिये वेदादि शास्त्रों का यह डिण्डिम घोष है कि—

परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

अर्थात्- देवता परोक्ष को प्यार करते हैं और प्रत्यक्ष के शत्रु हैं। वह किस प्रकार धोखे से भरा है यह बात एक दो दृष्टान्तों से भली भांति समझ में आजाती है। सूर्य देखने में प्रत्यक्ष हमें थाली के बराबर दीख पड़ता है परन्तु विज्ञान और गणित के अनुसार है वह हमारी पृथ्वी से भी बड़ा। कोई भी प्रत्यक्षवादी गंवार इस प्रत्यक्षवाद के धोखे में आकर सूर्य की वास्तविक विशालता के ज्ञान से वञ्चित रह सकता है।

इसीप्रकार सूर्य आदि ग्रह प्रत्यक्ष तो पूर्व से पश्चिम की ओर जाते दीख पड़ते हैं परन्तु वस्तुतः वह इसके सर्वथा विपरीत पश्चिम से पूर्व की ओर जा रहे हैं। शुक्ला दूज के चांद की छोटी सी कला पश्चिम से निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ते बढ़ते पौर्णिमा को ठीक उदयाचल पर प्रतिष्ठित हो जाती है। इस निदर्शन से अन्यान्य ग्रहों का भी पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ना भली प्रकार समझा जा सकता है।

चन्द्रमा, प्रत्यक्ष तो श्वेतिमासम्पन्न दीख पड़ता है परन्तु जब वह सूर्य और पृथ्वी के ठीक मध्य में समानान्तर रेखा पर पड़कर सूर्य को ढांप लेता है तो हम उसके वास्तविक काले भयङ्कर रूप से परिचित होते हैं और उसे सूर्य-ग्रहण के नाम से याद करते हैं। कवि लोगों की कल्पना प्रत्यक्षवाद पर अवलम्बित होकर ही नायिका को चन्द्रमुखी कहनेमें चरितार्थ होती है, अन्यथा चन्द्रमाका वस्तुतः काला कलौटा कलेवर यमराज और उसके भैंसे की उपमा का ही पात्र है।

प्रत्यक्ष में वृक्षों की पत्तियें हरी भरी हैं। कैरव कुमुद चम्पा का फूल श्वेत है, कौव्वा कोयल—काले, एवं शुक हरित रंग के दीख पड़ते हैं, परन्तु विज्ञान की गवेषणा के अनुसार ब्रह्माण्ड भर की कोई वस्तु स्वयं रंगीन नहीं होती किन्तु जैसे सूर्य का प्रकाश समुद्र जल में पड़कर अपनी परछाहीं से चांद के अभास्वर गोले को श्वेतिमा प्रदान करता है और स्वच्छ स्फटिक के निकट किसी भी रंगीन वस्तु की छाया उसे रंजित कर डालती है तथा अतिस्वच्छ समुद्रजल अपनी गहराई के अनुपात से उत्तरोत्तर अधिकाधिक काला दीख पड़ता है एवं शून्य आकाश प्रत्यक्ष नीला मालूम होता है— वैसे ही

संसार की रंग रहित तत्तत् वस्तुएं एकमात्र सूर्य के विभिन्न रंगों के तारतम्य से रंगीन मालूम पड़ती हैं।

हमारे वेदादि शास्त्रों मे तो सूर्य को सप्तरश्मि, प्रभाकर, विभाकर, चित्रभानु, त्विषांपति, आदि नामों से स्मरण किया ही गया है, जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि सूर्य सात प्रकार की किरणों वाला है, विभिन्न आभाओं का आगार है, चित्र विचित्रता का हेतु है एवं समस्त कान्तियों का एक मात्र आधार है, परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक भी यह घोषणा कर चुके हैं कि संसार की कोई वस्तु रंगीन नहीं होती किन्तु सूर्य की सात किरणों में ही वस्तुतः सात रग रहते हैं। सूर्यनिष्ठ सात रंग ही तत्तत् वस्तुओं को अमुक रंग में आभासित करते हैं, जो वस्तु जिस रंग की दीख पड़ती है वास्तव में वह वस्तु सूर्य के सात रंगों मे से अमुक रंग को ग्रहण कर सकने की योग्यता रखती है—यही उसकी विशेषता है। जिस वस्तु को हम श्वेत=सफेद समझते हैं लौकिक दृष्टि में वह रंगहीन समझी जाती है, परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में—सातों रग जब जीवित दशा में समान रूप से सम्मिलित हो जाते हैं तब श्वेत बनता है और यदि यही सातों रंग मृत अवस्था में समान रूप से सम्मिलित हो जाएं तो काला रंग बन जाता है। सफेद और काला दोनों ही सात रंगों के समान सम्मेलन का परिणाम है, अन्तर केवल जीवित और मृत रगों का है। यही कारण है कि श्वेत वस्तु में सातों रंगों में से किसी भी एक को प्रकट किया जा सकता है परन्तु कालापन मृत रंगों का परिणाम होने के कारण पुन. किसी एक रग को प्रगट करने की योग्यता नहीं रखता, इसीलिये—'सूरदास खल काली कमलिय चढ़त न दूजो रग'—यह कहावत चरितार्थ होती है।

पाठकों ने वर्षा ऋतु में कई वार इन्द्र धनुष को अवश्य देखा होगा, वह सूर्यबिम्ब की ठीक सामने की दिशा में गोलार्ध आकृति में दीख पड़ा करता है। शून्य आकाश मे क्रमश सातों रंगो की यह सुहावनी रेखायें किसी भी भावुक के मन को मुग्ध किये बिना नहीं रहतीं। ये सातों रंग सूर्य की किरणों से ही प्रतिफलित होकर आकाशस्थ जलीय वाष्प पुञ्ज के निरोध के कारण दीख पड़ा करते हैं। जल प्रपात और फव्वारों मे तथा पिचकारी द्वारा छोड़े हुए जल संघात में भी इन्द्र धनुष का आभास देखा जा सकता है। बालकों की क्रीड़ा की साधन कांच की सफेद गोलियों में भी सातों रंगों का आभास दीख पड़ता है। इन सब लम्बे चौडे दृष्टांतों का यही आशय हुआ कि संसार की प्रत्यक्ष में रगीन दीख पड़ने वाली समस्त वस्तुएं वास्तव मे रंगीन नहीं होती किन्तु वे सूर्य-किरण-गत सात रंगों में से अमुक अमुक एक या एक से अधिक रंगों को व्यक्त=कैच—कर सकने की योग्यता के कारण ही रगीन दीख पड़ती है। यह प्रत्यक्ष के द्वारा उपस्थित होने वाला सुस्पष्ट धोखा है। इसलिये सर्वदा प्रत्यक्षवाद का ही विश्वास करके परोक्ष प्रमाण=आगम प्रमाण को नहीं झुठलाना चाहिये किन्तु आगम को प्रत्यक्ष से अधिक विश्वसनीय समझना चाहिये। यही एक मात्र 'निष्कण्टक मार्ग' है।

अण्डपिण्डवाद—

(ब्रह्माण्डरूपी भगवान्नरपिण्डकृतालयः)

अकारण-करुण, करुणावरुणालय परमात्मा ने जीवों के उद्धार के निमित्त चौरासी लाख योनियों में सर्वोपरि जो सर्वाङ्ग-पूर्ण मानव शरीर [illegible] में उसे ही पिण्ड और

सूर्य गोलक से चारों ओर व्याप्त पचास कोटि योजन (योजन = चारकोश या आठ मील) परिधि वाले आकाश प्रदेश को ब्रह्माण्ड कहेंगे। ब्रह्माण्ड **में**—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, सितारे, संय्यारे, आकाश गङ्गा, धूमकेतु और उल्का पिण्डों के अतिरिक्त पृथ्वी अप तेज वायु आकाश=पञ्चभूतों का विस्तृत प्रपञ्च विद्यमान है। श्रीमन्नारायण भगवान् प्रकृति के द्वारा ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का नियमन कराते हैं, ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के नियमों मे बन्धी हुई आज्ञाकारी सेवक की भांति बिना ननु नच किये ठीक ठीक शाश्वत मर्यादा मे स्थिर है। इसी शाश्वत मर्यादा का नाम 'धर्म' है, यवनादि इसे ही 'कुदरत कानून' कहते हैं। आधुनिक विज्ञानवेत्ता इसे ही 'ला आफ नेचर' के नाम से स्मरण करते हैं।

जैसे एक माता के दो पुत्र हों, एक बड़ा युवक–जो सर्वगुण सम्पन्न और अपने पांवों पर खड़ा होकर अपने हानि लाभ को सोचने समझने तथा तादृश आचरण कर सकने की सामर्थ्य के साथ २ दुर्दैव से सम्भावित आपत्तियों का प्रतिकार कर सकने की भी क्षमता रखता हो, दूसरा छोटा—स्तनन्धय–जो स्वयं अपना हानि लाभ सोचने समझने में अकृतकार्य, तादृश आचरण करने की योग्यता से शून्य और अपने किसी भी कष्ट का प्रतिकार कर सकने में असमर्थ, एक मात्र माता की कृपा पर निर्भर !, माता बड़े बेटे से प्रेम करती है उसका कल्याण भी चाहती है, परन्तु उसकी संरक्षा के लिये चौबीसों घन्टे पीछे पीछे डोलना व्यर्थ समझती है, क्योंकि वह स्वयं अपनी संरक्षा का दायित्व सम्भालने की क्षमता रखता है। स्तनन्धय=दुध मुंहा बालक एकमात्र मातापर निर्भर है।

वह आग में हाथ डालना चाहता है, सर्प को पकड़ने दौड़ता है; भरे रिवाल्वर को खिलोना समझकर हथियाना चाहता है—यदि माता थोड़ी भी उपेक्षा करे, लापरवाही से काम ले—तो दिन में बीसों बार वह मृत्यु का ग्रास बन सकता है। अतः माता हर समय उसकी रक्षा में सचेष्ट रहती है अमुक बुराई से स्वयं रोकती है अमुक भलाई में स्वयं नियुक्त करती है ।

ठीक इसी प्रकार प्रकृति माता के भी दो पुत्र है। बड़ा पुत्र—बुद्धिजीवी मनुष्य—, और छोटा--दुधमुंहा बच्चा परमुखापेक्षी पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च। प्रकृति, तिर्यञ्चों को पापमार्ग मे प्रवृत्त होने से स्वयं रोकती है और उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करती है। हम सब अच्छी तरह जानते है कि बैल ऊंट घोड़ा आदि कोई भी पशु गर्भाधान के काल के बिना अनृतु अवस्था में व्यवाय—मैथुन में प्रवृत्त नहीं होता किन्तु नासिका से गर्भाशय को सूंघकर पहिचान लेता है और स्वयं ही उपरत हो जाता है। घूंटकर जल पीने वाला कोई पशु कभी मांस नहीं खाता फिर चाहे वह कितना ही क्षुधित क्यों न हो। गाय भैंस वानर आदि अनेक जीव इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रकृति ही इनको इस पापाचार से रोकती है। इसी लिये वेद में सुस्पष्ट लिखा है कि—

'यस्य व्रतं पशवो यान्ति सर्वे'

अर्थात्—सब पशु भगवान् के नियन्त्रण मे रहते हैं।

सभी पक्षी निरन्तर प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त में जगकर भगवद् गुणानुवाद में प्रवृत्त हो जाते हैं। कुक्कुट जैसा मलभोजी पामर जीव भी इस नित्य कर्म मे कभी आलस्य नहीं करता। यह सब श्रेय प्रकृति माता को ही है।

इस प्रकार सभी तिर्यञ्च प्रकृति की देख भाल में और उसी के नियन्त्रण मे मर्यादित जीवन बिताते हैं, परन्तु प्रकृति माता ने मनुष्य रूप ज्येष्ठ पुत्र को बुद्धिजीवी प्राणि समझकर अपने नियन्त्रण की कैद से सर्वथा उन्मुक्त कर दिया है; उसे यथेष्ट स्वतन्त्रता प्राप्त है। यद्यपि मनुष्य, प्रकृति की इस अहैतुक अनुकम्पा से अनुचित लाभ उठाता हुआ अत्याचार, अनाचार, दुराचार और व्यभिचार के गहरे गर्त में आंखें बन्द करके कूद पड़ता है और उसे अन्त मे इस जघन्य स्वेच्छाचारिता का कुपरिणाम--'ये कपूयाचरणास्ते कपूयां योनिमापद्येरन्'— के अनुसार मनुष्य पद से भ्रष्ट होकर सूकर कूकर आदि योनियों में जन्म लेने के रूप मे भुगतना पड़ता है तथापि तात्कालिक सुखाभास के प्रयास में ही सुर दुर्लभ मनुष्य जीवन का अपव्यय करना 'प्रवृत्ति रेषाभूतानाम्' बन गई है।

कदाचित् कोई मनुष्य अपना उद्धार करना भी चाहे तो अनेक कल्पित पन्थों का ऐसा जटिल जाल उसके चारों ओर बिछा हुआ है कि वह वास्तविक कल्याण मार्ग ढूंढने में कृतकार्य नहीं हो पाता।

'सत्य क्या है? असत्य क्या है?'—इस समस्या को हल करने का प्रथम उपाय—ततद् सम्प्रदायों के ग्रन्थों का गुरु मुख से स्वाध्याय करके पुनः तुलनात्मक अनुसन्धान से सत्यासत्य का विश्लेषण करना—कहा जा सकता है, परन्तु यह मार्ग सुवर्ण का सुमेरु होते हुए भी सर्वथा दुष्प्राप्य है क्योंकि प्रथम तो इस छोटी सी आयु में सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों को पढ़ सकना ही सर्वथा असम्भव है। केवल एक वेद-संहिता मात्र पढ़ने के निमित्त ही प्रथम—'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' की खैबर घाटी पार करना

सर्व साधारण के लिए कठिन कार्य है । यदि कोई आग्रही ग्रन्थों के पठन पाठन और अनुसन्धान में ही समस्त आयु बिता भी डाले तो उमर भर पत्थर कूटते २ मर जाने वाले कुली की भांति मोटर में बैठकर सड़क पर सुगमता पूर्वक चलने का तो उसे कभी अवसर आ ही नहीं सकता। सड़क केवल पत्थर कूटने के लिए नहीं होती किन्तु गाडी चलाने के लिए होती है, ठीक इसी प्रकार ग्रन्थों का स्वाध्याय केवल तोता रटन = रिसर्चमात्र के लिए नहीं होता किन्तु उनमें लिखे सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को सयत बनाकर जीवन्मुक्त होने के लिए होता है। सो यदि समस्त आयु केवल सत्य की खोज में ही व्ययित हो जाए तो फिर इस सत्य पर आरूढ़ होने का अवसर कब मिलेगा ? इसलिये सत्य के अन्वेषण के निमित्त ग्रन्थों का तुलनात्मक स्वाध्याय करते करते आयु बिता डालना बड़ा लम्बा और कण्टकाकीर्ण मार्ग है। फिर ढलती अवस्था के, कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को, किंवा सर्वथा अपठित देहातियों को तो सत्य की खोज के लिए समस्त सम्प्रदायों के ग्रन्थों का तुलनात्मक स्वाध्याय करने का परामर्श देना मानो उनको एक प्रकार से टालना ही ठहरा ।

धर्माधर्म निर्णय का अन्तिम उपाय शास्त्रार्थ भी कहा जा सकता है। प्राय समझा जाता है कि अमुक २ सम्प्रदायों के मध्य मे यदि शास्त्रार्थ हो तो उसे सुनकर सत्यासत्य का पता लगाया जा सकता है। प्राचीन समय मे यह मार्ग भले ही प्रशस्त रहा हो परन्तु अब शास्त्रों के नाम पर होने वाले अनेक वाग्युद्धो मे स्वयं प्रवृत्त होकर एक भुक्त भोगी की भाति अधिकार पूर्वक यह कहा जा सकता है कि आज के शास्त्रार्थों को शास्त्रार्थ कहना ही वाद समारोह का घोर अपमान करना है। आज पहिले से ही दोनों पक्ष

अपनी अपनी बात को सिद्ध करना और दूसरे की बात का खण्डन करना अपना २ ध्येय बना लेते हैं। यही कारण है कि ऊंट चाहे किसी करवट बैठे परन्तु 'पचो का कहना सिर माथे पर' होते हुए भी पैनाला जहां का तहां रहता है। अब न श्री शङ्कराचार्य और मण्डन मिश्र जैसे सत्यनिष्ठ वादी प्रतिवादी होते हैं और नांही श्रीविद्यावती और भारती जैसे निष्पक्ष मध्यस्थ मिल सकते है। कहीं कहीं तो आर्यसमाज आदि मतों के हठ के कारण जनता को ही मध्यस्थ मान लेने का उपहासास्पद नियम स्वीकार करना पड़ता है; सो आज के शास्त्रार्थों को सत्यासत्य का निर्णायिक मानना कोरी विडम्बना है ऐसी स्थिति में धर्माधर्म का निर्णय कैसे हो यह विकट समस्या है।

हम पीछे कह आये हैं कि परम कारुणीक भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य को उसके कल्याण के निमित्त सर्वाङ्गपूर्ण स्वावलम्बी बनाया है। पूर्व जन्म के पापों के कारण विकलांग हुए कुछ अपवाद-भूत मनुष्यों को छोड़कर अन्य सब के सब मनुष्य अपनी ही आंखों देखते हैं, अपनी ही जिह्वा से चखते हैं; अपनी ही नाक से सूंघते और अपने ही कानों सुनते हैं। अर्थात्—तत्तद् वस्तुओं के याथातथ्य को समझने के लिये वे अन्य किसी के दास नहीं। यदि कोई धूर्त, दूध का रंग हरा या काला बतलाये—और कोयल तथा कौव्वों को श्वेत बतलाये तो मैं अपनी आंखों से स्वयं उन्हें इसके विपरीत देखता हुआ उस वंचक की सौ युक्तियों तथा सहस्रों शपथों पर कभी विश्वास नहीं कर सकता फिर चाहे वह कितना ही प्रतिष्ठित धर्माचार्य मुल्ला और लाट पादरी क्यों न हो। जब कि मैं स्वयं अपनी जिह्वा से चखकर नमक और मिश्री की परीक्षा कर सकता हूं तब कोई भी धूर्त मुझे मिश्री के स्थान में नमंक की

कांकर देकर पथभ्रष्ट नहीं कर सकता। अर्थात्—एक ओर मेरी अपनी ज्ञानसाधन निर्विकार इन्द्रियें—और दूसरी ओर समस्त ससार के वचकों की युक्ति, प्रत्युक्ति, मन्तक, दलील तथा वाग्जाल। सो जिस प्रकार तत्तद् पदार्थों को जानने में प्रभु ने मनुष्य को स्वावलम्बी बनाया है ठीक इसीप्रकार धर्म्माधर्म के निर्णय में भी उसे किसी अन्य का दास नहीं बनाया किन्तु आ चाण्डाल आ-ब्रह्मर्षि, और आ-काला अक्षर भैस बराबर—आ-वेद-निष्णात, सभी को समान रूप से अपना कल्याण मार्ग स्वय परिष्कृत कर सकने योग्य बनाया है।

हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि प्रकृति के नियन्त्रण से ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु सुतरां मर्यादित है और ब्रह्माण्ड व्याप्त उन्हीं प्राकृतिक नियमों का नाम धर्म है; सो जैसे जिन नियमों से ब्रह्माण्ड का नियमन होता है ठीक उसी प्रकार और उन्हीं नियमों से मानव पिण्ड का भी नियमन होना चाहिये, इसी समता का नाम 'अण्ड-पिण्ड' सिद्धान्त है। वेद का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि—

यद् अण्डे तत् पिण्डे

अर्थात्—जो ब्रह्माण्ड मे है सो ही पिण्ड में है। हम साढ़े-तीन हाथ के मानव पिण्ड को एक अरब योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड का सर्वांगपूर्ण संक्षिप्त संस्करण कह सकते हैं। जैसे विस्तृत भूगोल का समस्त संस्थान छोटे से चित्र=नकशे में अङ्कित रहता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड की सब वस्तुओं की सत्ता पिण्ड में विद्यमान है और पिण्ड की वस्तुओं का मूल श्रोत ब्रह्माण्ड में विद्यमान है।

ब्रह्माण्ड यदि पृथ्वी, अप, तेज वायु, आकाश, इन पञ्च

महाभूतों के पञ्चीकरण का विपरिणाम है तो पिण्ड भी इन्हीं के सघात का परिणाम है। ब्रह्माण्ड में सूर्य है तो पिण्ड में सूर्य का प्रतिनिधि आत्मतत्त्व विद्यमान है, ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा है तो पिण्ड में इसका प्रतीक मनः है। अण्ड मे मगल नामक रक्त रग का ग्रह विद्यमान है तो पिण्ड में विभिन्न रंगों के खाए हुए भोजन के रस से यकृत् और प्लीहा (जिगर और तिल्ली) यन्त्र द्वारा रंजित, पित्त के रूप में परिणत होने वाला रक्त=रुधिर=खून विद्यमान है। अण्ड में बुध, बृहस्पति शुक्र और शनि नामक ग्रहों की सत्ता है तो पिण्ड में इन सबके प्रतिनिधि क्रमशः-वाणि, ज्ञान, वीर्य (काम चेष्टा) और दुःखानुभूति विद्यमान हैं। पर्वत स्थानीय अस्थि, वृक्ष लता गुल्मादि के प्रतीक केश रोम, नदी नदों की भांति नस, नाड़ी-और धमनियों का जाल-गर्ज है कि अण्ड की समस्त वस्तुएं पिण्ड मे याथातथ्येन विद्यमान हैं।

हमारी उपर्युक्त स्थापना को सीधे शब्दों में यूं कहा जा सकता है—'ब्रह्माण्ड' विराट् का शरीर है और 'पिण्ड'—उसी के अंशभूत जीव का शरीर है। हमारी पिण्ड से घनिष्ठता है इसलिये यदि हम थोड़ा सा परिश्रम करके पिण्ड के संगठन और उसके स्वाभाविक कार्य कलाप का अन्तर्मुख होकर अध्ययन करें तो ब्रह्माण्डवर्ती तत्तद् शक्तियों तथा उनकी विलक्षण सामर्थ्य का बहुत कुछ भेद जान सकते हैं। इसलिये ब्रह्माण्ड को समझने के लिये पिण्ड का मनन करना चाहिये, और पिण्ड की इतिकर्तव्यता जानने के लिये ब्रह्माण्ड के संस्थान पर ध्यान देना चाहिये।

'जो अण्ड में है सो पिण्ड मे' यह हमारी कोरी कल्पना नहीं है। वेदादि शास्त्रों में इसके प्रतिपादक अगणित प्रमाण भरे पड़े हैं। यथा—

यावान्वा अयं आकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेण समाहिते, उभौ अग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्। (छान्दोग्य ८। १। ३)

अर्थ—यह जितना आकाश है उतना ही अन्दर यह हृदयाकाश है। इस पिण्ड में द्यौ और पृथ्वी अन्दर समाहित हैं। अग्नि वायु सूर्य चन्द्रमा बिजली नक्षत्र—गर्ज है कि जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ इस पिण्ड में समाया है। यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा का ३१ वां समस्त अध्याय—'सहस्रशीर्षा,—से लेकर—'सर्वलोक म ईषाण'— पर्यन्त सूर्य चन्द्रादि समग्र ग्रहोपग्रहों का, तथा पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतों का विराट् के तत्तद् अङ्गों के रूप में वर्णन करता है। सो जैसे कोई सार्वजनिक धार्मिक स्थान अनेक विभिन्न दानियों द्वारा दी गई—भूमि, ईंट, चूना, सिमेन्ट, पत्थर, लोहा, लक्कड़, आदि सामग्री से बनाया जाता है और अन्यान्य दानी उसमें बिजली का प्रकाश, पानी का नल, घड़ी, पखे, बिछात, फरनीचर, आदि वस्तुएं प्रदान करके उसे आवश्यक संभार सम्पन्न बना देते हैं, ठीक इसीप्रकार हमारा यह मानव पिण्ड भी गर्भाधान संस्कार के समय माता पिता द्वारा की गई प्रार्थना रूप अपील पर दानी होने के कारण ही 'देवता' कही जाने वाली ब्रह्माण्ड व्याप्त विभिन्न शक्तियों की उदारता से दी गई विभिन्न सामग्री से ही संघटित हुआ है। किस देवता ने कौन वस्तु प्रदान की है इसका विवरण विगत अंश से यथाकथञ्चित् समझ में आ सकता है। एतदर्थ कुछ अन्य प्रमाणों का यहां उल्लेख करना अनावश्यक न समझा जायगा तद्यथा--

(क) यस्य पृथिवी शरीरम्। यस्य ० आपः ० अग्निः०
वायुः ० आकाशः ० शरीरम् । (शत १४ । ६ । ७ । ३)

(ख) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋक्)

(ग) कालात्मा दिनकृन्मनश्चहिमगुः सत्वं कुजो ज्ञो गिरा।
जीवो ज्ञानमथो मितश्च मदनो दुःखं दिनेशात्मजः ॥
(सूर्य सिद्धान्त)

(घ) अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। (अथर्व)

अर्थात्—(क) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश जिस विराट् का शरीर है। (ख) सूर्य जंगम और स्थिर समस्त पदार्थों का आत्मा है। (ग) सूर्य आत्मा है, चन्द्र मन है, भौम सत्व= बल किंवा रक्त है, बुध वाणि है, बृहस्पति ज्ञान है, शुक्र =वीर्य= काम सञ्चार है, शनि दुःखानुभूति है। (घ) आधार चक्र से लेकर सहस्रार चक्र पर्यन्त (गुदा से मस्तिष्क तक) आठ चक्र और (दो आंख, दो कान, दो नासाछिद्र, मुख, लिंग, और गुदा) इन नवद्वारों—छेदों वाला यह मानव देह काल द्वारा (युद्ध में न जीती जा सकने योग्य) देवताओं की नगरी है।

अस्तु, यह मानव पिण्ड देवताओं की दान दी हुई सामग्री से बना एक पंचायती मकान है। पंचायती धर्मशाला की संरक्षा के निमित्त जैसे पंचायत किसी प्रबन्धक—मैनेजर को नियुक्त करती है, ठीक इसी प्रकार हमारा यह जीव इस देह रूपदेव-नगरी का देवताओं की ओर से नियुक्त देखभाल संरक्षा करने वाला प्रबन्धक मात्र है, सर्वाधिकार सम्पन्न स्वामी=वाहिद मालिक नहीं।

पंचायती धर्मशाला का मैनेजर यदि प्रबन्धक समिति द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करता हुआ ठीक ठीक देखभाल संरक्षा करता रहे तो वह निश्चित वेतन के अतिरिक्त उचित पुरस्कार का भी पात्र हो सकता है, परन्तु यदि वह मूर्खतावश स्वयं इस पंचायती मकान का मालिक बनकर इस पर अनुचित अधिकार करना चाहे और वास्तविक दाता = प्रबन्धक = ट्रस्टियों को धता बताए तो वे सब मिलकर सरकार के सहयोग से इसे कान पकड़कर तत्काल निकाल डालेंगे। ठीक इसी प्रकार जब जीव—'कर्ताहमिति मन्यते' के अनुसार अपने आपको ही सब कुछ समझने की मूर्खता का शिकार हो जाता है, तब देवसत्ता के रोष से वह भी इस पिण्ड से निकाल दिया जाता है।

पाठकों को इस अण्डपिण्डवाद का खूब मनन करना चाहिये क्योंकि आगे चलकर इस ग्रन्थ मे बहुत सी शङ्काओं का निराकरण इसी के आधार पर किया जायगा।

पाप और पुण्यवाद—

(पुण्येन पापमपनुदति)

प्राय. सभी सम्प्रदायों में पाप और पुण्य की भावना का सन्निवेश है। चाहे पाप और पुण्य की परिभाषा और उनकी इति-कर्तव्यता में आकाश और पाताल का अन्तर पाया जाता हो परन्तु—अमुक कार्य हेय है, क्योंकि यह पाप है और अमुक कार्य करणीय है, क्योंकि यह पुण्य है—इस प्रकार की विधि निषेधात्मक परम्परा सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है। संस्कृत साहित्य में ही जब पाप और पुण्य शब्द के अनेक पर्याय पाये जाते हैं तब अन्यान्य देशों और अन्यान्य भाषाओं में इनके

नामान्तर होना स्वाभाविक ही है। पाप और पुण्य शब्द के पीछे जो भावना एक हिन्दू के हृदय में बंधी है ठीक वही भावना अनार्य म्लेच्छ के हृदय में 'गुनाह' और 'सवाब' शब्द के साथ सम्बद्ध है।

आज के बहुत से कथित साम्यवादी (कम्युनिष्ट) और कथित समाजवादी (सोशलिस्ट) तथा उनके मानस पुत्र भारतीय कांग्रेसी, कहने को चाहे अपने अपने शासनों को धर्म निरपेक्ष राज्य (सैक्यूलर स्टेट) घोषित करने का साहस करें परन्तु वस्तुतः जो विधान बनते हैं और उनमें अमुक अमुक कार्यों की जो हेयोपादेयता स्थिर की जाती है वह धर्म्माधर्म और पाप पुण्य की प्राकृतिक भावनाका ही धुंधला किन्तु सुस्पष्ट चित्र है। जिसे आज की परि-भाषा में कानून और व्यवस्था कहा जाता है, उसका ही प्राचीन नाम धर्म और शास्त्र है। कानून और व्यवस्था को अल्पज्ञ जीवों की कल्पना कोटि से बाहिर निकालकर सर्वथा और सर्वदा सुनि-श्चित मानव हित की दृढ़ चट्टान पर सुस्थिर करने को ही—उसे धर्म और शास्त्र के सांचे में ढाला जाता है। जो हो सो हो! नास्तिक से नास्तिक पुरुष भी लोक व्यवस्था के निमित्त पाप और पुण्य को मानने के लिये वाध्य हैं फिर भले ही वह पाप को अपराध—अभियोग—जुर्म नाम से याद करें और पुण्य को राज-भक्ति-नागरिकता-वफादारी-रवादारी-लायलटी नामों से पुकारे।

यद्यपि पाप और पुण्य की सीधी परिभाषा यह कही जा सकती है कि वेद विहित हेयकर्म पाप और वेद विहित उपादेय कर्म पुण्य! परन्तु एतावता आज के मानव वर्ग को संतोष नहीं होता और तत्तत् सम्प्रदायवादी वेद के स्थान में अपने २ मान्य ग्रन्थ—कुरान हैदीस अजील, तौरेत आदि के विधान को पाप पुण्य की कसौटी नियत

करने का दुराग्रह करते हैं ऐसी स्थिति में पाप पुण्य की कोई प्राकृतिक कसौटी नियत करना अनिवार्य हो गया है।

कल्पना कीजिए—एक गाड़ी चलती है वह बराबर आगे बढ़ना चाहती है, परन्तु जब कभी वह कीचड़ कान्धे में धंसने लगे तो जो व्यक्ति उसे आगे को ढकेलकर सहायता पहुँचाता है, गाड़ीवान की दृष्टि में वह बड़ा उपकारी है वह उसे धन्यवाद देता है। इसके विपरीत यदि कोई रोडे पत्थर लक्कड़ डालकर गाड़ी की प्रगति को रोकने की चेष्टा करे तो वह व्यक्ति गाड़ीवान् की दृष्टि मे खटकता है वह उसे कोशता है और शक्ति भर दण्ड देना चाहता है। ठीक इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के नियन्त्रण में प्रगति शील है। प्रकृति का अविछिन्न प्रवाह उसे बराबर आगे बढ़ा रहा है। जब तक वह वस्तु उन्नति की चरम सीमा पर न पहुँच जाए तब तक यह प्रवाह निरन्तर जारी रहता है।

मान लीजिए एक बकरी है, वह नित्य आधा सेर दूध देती है, उसने अपने पहिले ही प्रसव में दो बच्चे जने हैं अब यदि घास फूस पानी आदि जीवनोपयोगी सामग्री मिलती रहे तो वह अपने जीवन मे सहस्रों सेर दूध देकर और अनेक बच्चे जनकर संसार की समृद्धि में चार चांद लगा सकती है। जो पुरुष इसके जीवन प्रवाह को प्रचलित रखने के लिये अनुकूल चेष्टाये करता है वह प्रकृति की इस लुढ़कती हुई गाड़ी को आगे बढ़ाने में उचित सहायता करता है, प्रकृति की गाड़ी का अधिष्ठाता—गाड़ीवान् भगवान, पुरुष की इस चेष्टा पर अवश्य प्रसन्नता अनुभव करेगा, परन्तु यदि कोई व्यक्ति इसके विपरीत उस बकरी का गला काटकर उसके मांस से अपनी या अपने परिवार की चन्द घण्टे के लिये

क्षुधा शांत कर लेता है, अथवा क्षणिक जिह्वालौल्य पूरा कर लेता है तो उसने निःसन्देह इस बढ़ते हुए प्रकृति प्रवाह में रोड़े का काम किया है, अब वह बकरी सहस्रों सेर दूध और कई बच्चे जन सकने की स्थिति में नहीं रही। प्रकृति की इस गाड़ी को रोकने का उत्तरदायित्व एकमात्र इस हत्यारे पर है। इसके इस कुकृत्य पर गाड़ीवान् भगवान् अवश्य रुष्ट होगा। वह अप्रतिहत-शक्ति एवं कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथा-कर्तुं-समर्थ है अतः इस कुकृत्य का दण्ड इस व्यक्ति को अवश्य देगा।

उपरोक्त समस्त दृष्टान्त का सार यह है कि प्रकृति के बढ़ते हुए प्रवाह के अनुकूल समस्त क्रियाएं=हलचल 'पुण्य' हैं और प्रकृति प्रवाह में प्रतिरोध—रुकावट डालने वाली सम्पूर्ण चेष्टायें 'पाप' हैं। भूखे को अन्न देना और प्यासे को पानी पिलाना इसीलिये पुण्य है कि ये चेष्टायें, अन्न और जल के बिना मृत्यु का ग्रास बन सकने वाले प्राणी के जीवन प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के अन्यतम साधन हैं। इसीप्रकार किसी की हत्या इसीलिये पाप है कि इस कृत्य से अमुक जीव का जीवन प्रवाह अकाण्ड में ही परिसमाप्त हो जाता है। पाप पुण्य में विश्वास रखने वाला कोई भी मनुष्य इससे अच्छी सर्ववादीसम्मत परिभाषा नहीं बना सकता। इस परिभाषा में जहां सभी सम्प्रदायों के मान्य ग्रन्थों का मथितार्थ आ जाता है वहां धर्मयुद्ध में प्राणीवध, नर्मविवाहादि में अनृतभाषण—और ऋतुकाल में दारोपगम आदि २ सब अपवाद भी भलीभांति आ सकते हैं।

प्रकृति प्रवाह के अनुकूल हलचल का सुपरिणाम और प्रकृति प्रवाह के प्रतिकूल आचरण करने का कुफल संसार में भी प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। चलती रेलगाड़ी पर इञ्जन की ओर

मुख करके स्वयं भी साथ २ चलते हुए ऊपर चढ़ना और इसी भांति उतरना रेलवे गार्ड के बांये हाथ का काम है परन्तु इञ्जन को पीठ देकर प्रवाह के प्रतिकूल चढ़ने उतरने की चेष्टा करना मृत्यु को निमन्त्रण देना है। सैकड़ों देहाती इस भूल से जख्मी होते देखे जाते हैं। आयल इञ्जनों के संचालक—मिस्तरी इञ्जन के घूमते हुए चक्कर पर उसके प्रवाह का अनुगमन करते हुए नित्य पट्टे चढाते ही हैं परन्तु तद् विपरीत जरा सा भी सस्पर्श हो जाने पर अङ्ग भङ्ग हो जाने का खतरा खरीद बैठते हैं।

कौन कृत्य प्रकृति प्रवाह की अविछिन्न धारा की प्रगति में सहायक है? और कौन कृत्य उसमें विघातक है? इस प्रश्न का अन्तिम समाधान यद्यपि वेद शास्त्र ही हैं क्योंकि परिमित मानव बुद्धि इस इन्द्रियातीत समस्या का 'इदमित्थं' हल नहीं ढूंढ सकती, तथापि कथित बुद्धिवादी अर्धनास्तिक भी अपनी पाप पुण्य विषयिणी जिज्ञासा का यथा कथञ्चित् समाधान कर सकें, एतदर्थ यहां 'पाप पुण्यवाद' पर प्रकाश डाला गया है।

भावनावाद—

(भावे हि विद्यते देव.)

श्रद्धा और विश्वास की निरन्तर उपासना का सुपरिणाम 'भावना' है। प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न भावनाओं का ही मूर्तिमान् पुतला है। श्रीमद्भगवद्गीता में सुस्पष्ट लिखा है कि—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात्—यह पुरुष श्रद्धामय है इसलिये जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वैसा ही होता है।

इस नग्न सत्य का अपलाप नहीं किया जा सकता कि दृढ़भावना

के कारण बहुत सी असम्भव बातें प्रत्यक्ष सम्भव देखी जाती हैं। शिव शंकर तो भगवान् ही ठहरे परन्तु उनके भक्त प्रह्लाद मीरा जैसे अनेक व्यक्ति भी सहर्ष कालकूट को घूंट गए तथापि उनका बाल बांका नहीं हुआ। भगवती सीता का अग्नि परीक्षा में सफल होना पुरानी कहानी कही जा सकती है, प्रह्लाद के विचित्र चरित्र में भी उसका धधकती होली की गोद में जीवित रह जाना—पुरातन आख्यान कहकर टाला जा सकता है परन्तु केवल चन्द शताब्दी पूर्व—पतिव्रता के शाप प्रभाव से भयभीत हुए अग्नि की ज्वाला में कल्लोल करते हुए स्तनन्धय बालक को देखकर—राजा भोज की 'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतल:'—वाली ऐतिहासिक उक्ति की तो अभी तक स्याही भी नहीं सूख पाई है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्यारम्भ काल तक भी अग्नि परीक्षा के अनेक उदाहरण कर्नल टाड आदि विदेशी इतिहासकारों ने अपने अपने ग्रन्थों में लिखे हैं। कहना न होगा ऐसी सब अघटित घटनायें तादृश भावनाओं का ही सुपरिणाम कही जा सकती हैं।

उस दिन हमारे ही हरियाणा प्रान्त के एक छोटे से ग्राम में एक किसान के यहां दही पूर्ण भाड—बिलौनी में विषधर काला सर्प घुस बैठा और किसान पत्नी ने अनजान में ब्रह्ममुहूर्त में ही उसे मथानी से मथ डाला। कुछ बटोही उस विषपूर्ण छाछ को भर पेट पीकर यथास्थान चले गए। तीन दिन तक उनका बाल भी बांका न हुआ। दिन चढ़े प्रकाश में बिलौनी में सर्प का अस्थिपञ्जर देख कर उसे उठा फैंका परन्तु छाछ पी जाने वाले यात्रियों के जीवन के सम्बन्ध में बहुत चिन्ता हुई, तीन दिन के बाद जब पुनः वे ही बटोही अचानक छाछ पीने आ पहुँचे तो

किसान पत्नी ने उस दिन की सर्प मन्थन वाली मठ्ठकी सब घटना उनको कह सुनाई और उनके स्वस्थ रहने पर प्रसन्नता प्रकट की, परन्तु फल विपरीत निकला, जिन्हें तीन दिन तक उस अज्ञात विष-पान से कुछ भी हानि न पहुंची थी अब वे सुनकर सहम गए। एक तो तत्काल वहीं ढेर हो गया, शेष भी बहुत चिकित्सा के बाद महीनों में ठीक हो पाए।

हमारे पड़ोस के एक चरवाहे की वन में सिंह से मुठभेड़ हो गई। सीधे साधे उस युवक चरवाहे को यह ज्ञान नहीं था कि यह सिंह है, अतः उसने केवल अपने पशु हांकने वाले डण्डे से ही बड़ा परिश्रम करके सिंह को मार डाला, रात को घर आया, किसी जानवर से मुठभेड़ हो जाने की घटना का अन्य साथियों के सामने वर्णन किया। वे सब, जानवर का हुलिया सुनकर तो उसे 'सिंह' समझते थे परन्तु एक व्यक्ति के डंडे मात्र से मारे जाने की बात पर विश्वास नहीं होता था। आखिर अगले दिन जब सब मिलकर इस घटना का अनुसन्धान करने वन में गए तो सचमुच मरे हुए शेर को देखकर चकित हुए और एक स्वर से बोल उठे— ओहो! बड़ा भारी शेर था भई!' बस! यह सुनते ही मारने वाला युवक अतीत खतरे की भय भावना से तत्काल मूर्छित हो गया। कई दिन की चिकित्सा के बाद स्वस्थ हुआ।

उस दिन होली फाग के दिन वह बूढ़ा दादा मर ही जाता—यदि उसका नाती रंग से भरे हुए अपने लोटे के लुढ़कने की शिकायत करता हुआ घर में कोहराम न मचाता। कहा जाता है कि होली के दिन रंग से खेलते हुए बालक ने सायंकाल हो जाने के कारण अपना लाल रंग से भरा लोटा आंगन में रख दिया। बूढ़े दादा प्रातः उठे उसी लोटे को उठा टट्टी चले गए। हाथ धोने पर टट्टी में

बिखरा लाल रंग देखकर उसे खूनी बवासीर के प्रकोप से निकला अपना खून मानकर मूर्छित हो गए। वैद्य डाक्टर चिकित्सा करने लगे परन्तु असली रोग- किसी को विदित नहीं हुआ। अन्त में जब नाती जगा और उसने अपने रंग भरे लोटे को खाली पाया तो वह कोहराम मचाने लगा। जब दादा के कान में यह भनक पड़ी तो वह उठ बैठा और सब मामला समझकर अपनी भ्रमपूर्ण भावना पर पश्चाताप करने लगा।

भावना की चमत्कार पूर्ण घटनाओं के सहस्रों प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। आजकल का 'मैस्मरेजम' दृढ़ भावना सम्पादन का ही आधुनिक संस्करण है, पाश्चात्य जगत् 'विल पावर' की सत्ता से इन्कार नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में ऋषि मुनि और योगियों की प्रसव भूमि भारतवर्ष में यदि भावनामय जीवन का अधिक उल्लेख मिले तो इसे असम्भव कहकर उपेक्षित करना हृदय-शून्य मूसलचन्दों का ही काम कहा जा सकता है। भावना के बिना सामने खड़े भी भगवान् नहीं सूझ सकते। वस्तुतः भाव ही भगवान है, धनुष तोड़ने के समय रंग-भूमि में खड़े एक ही राम भगवान्, और कंस विध्वस के लिये अखाडे में खड़े एक ही श्रीकृष्ण, दर्शकों को अपनी २ भावना के वैचित्र्य के कारण ही विभिन्न प्रकार के दीख पड़ते थे—तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस भावनामय ससार का चित्र चित्रण करते हुए अपनी रामायण में सुस्पष्ट लिखा है, कि—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

इसलिये कहना न होगा कि भावना के चमत्कार, कौतुकपूर्ण होते हुए भी ससार में अपनी विशेष सत्त। रखते हैं।

शुचि और अशुचिवाद –

(शौचे यत्न सदा कार्यः)

अमुक वस्तु स्वच्छ साफ और सुथरी है तथा अमुक वस्तु मलिन और गन्दी है—यह लोक व्यवहार तत्तत् वस्तुओं के केवल वाह्य स्थूल स्वरूप पर निर्भर है परन्तु शुचिता और अशुचिता का सिद्धान्त केवल वाह्य स्थूलता से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु वह तत्तद् वस्तुओं के अदृष्ट सूक्ष्म तत्वों पर अवलम्बित है—आज के युग में इस पथ्य तथ्य को समझने की बहुत आवश्यकता है।

एक वस्तु स्वच्छ-साफ-सुथरी हो सकती है परन्तु वह शुचि शुद्ध = पवित्र भी हो यह आवश्यक नहीं। गधा कुत्ता और कौव्वा कितना ही नहलाया धुलाया साफ सुथरा क्यों न हो परन्तु वह गोबर कीच मे सनी गाय भैंस और घोड़ी के मुकाबले में अपवित्र ही माना जायगा। विलायत मे बनी हाड़ चाम की चमकीली चीजे अपने चाकचिक्य से कितनी ही चमत्कृत करने वाली क्यों न हो परन्तु हैं सब वे सर्वथा अशुद्ध।

भारतीय संस्कृति में 'स्वच्छता' को बहुत आवश्यक समझा गया है परन्तु उसे ही सब कुछ मानकर 'शुचिता' की उपेक्षा नहीं की गई है। प्रत्येक वस्तु 'स्वच्छ' और 'शुद्ध' होनी चाहिये—यही भारतीय संस्कृति का आदर्श रहा है।

पाश्चात्य सस्कृति मे 'शुचिता' को कोई स्थान नहीं बल्कि स्वच्छता के अतिरिक्त शुचिता नाम के किसी पदार्थ का भी अस्तित्व है-यह उन्हे विदित नहीं। यही कारण है कि वे साफ धुले कपड़े पहिने खानसामा द्वारा सजाई प्लेटों को चट कर जाने में विलम्ब नहीं करते फिर चाहे खानसामा के हाथ = शरीर, विट् भोजी शूकर और

सिणक, थूक, खकार, खाने वाले कुक्कुट और मत्स्य के अशुचि मांस से ही क्यों न वने हों, और प्लेटों मे भी चाहे इन्हीं मल भक्षक जीवों का मांस क्यों न परसा हो।।

आज भारत में भी पाश्चात्यों की देन इस मानसिक दासता का वोलवाला है। साफसुथरे धुले कपडे मात्र पहिन कर कोई भी ऐरा गैरा देव स्थानो की मर्यादा विगाड़ने का परमिट पा सकता है उपहार-गृहों, भोजन-शालाओं और प्याऊ के स्थानों पर धड़ल्ले से सर्वसाधारण को अपनी अशुचिता का प्रसाद (?) बांट सकता है।

यद्यपि कानून के डण्डे के वल पर फैलाई हुई इस मूर्खता पूर्ण धाधली का प्रत्यक्ष फल—(राजयक्ष्मा, तपेदिक, दन्तरोग-पायोरिया नेत्र रोग आदि) संक्रामक रोगों के वाहुल्य के रूप में दिनों दिन यत्र तत्र सर्वत्र बढ़ता हुआ देखा जा सकता है परन्तु—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्,—का क्या उपाय वन सकता है।

हां, तो स्वच्छता और पवित्रता दो विभिन्न तत्व हैं। भारतीय ऋषियों ने वेद शास्त्र की दूरबीन लगाकर इन तत्वों को हस्तामलक की भाति अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कार किया है। यद्यपि आज के बहुत से भौतिक विज्ञान वेत्ताओं ने भी ऐसे बहुत से तत्वों का स्वय निरीक्षण परीक्षण अनुसन्धान करके भारतीय ऋषियों की खोज की सत्यता को प्रमाणित किया है तथापि अभी दिल्ली दूर है; कल की अबोध बालिका पश्चिमी सायन्स, युग युगों और कल्प कल्पान्तरों की वैदिक खोज के अटल सिद्धान्तों को जानने में सहस्त्राब्दियों मे नहीं तो शताब्दियों में अवश्य कृत कार्य हो सकेगी।

अब हम यहां कुछ ऐसे पदार्थों का उदाहरण देना चाहते हैं—

कि जिन पदार्थों को भारतीय ऋषियों ने भी शुचि- पवित्र माना है और आज के वैज्ञानिक भी इस मान्यता का समर्थन करते हैं।

गंगा जल पवित्र है- यह बात प्रत्येक हिन्दू सदा से मानता आ रहा है। पीने से ही नहीं बल्कि स्नान दर्शन ध्यान और नाम स्मरण करने मात्र से भी वह पाप नाशक है—यह वेदादि शास्त्रों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

काशी में एक वार विशूचिका = हैजे का बड़ा प्रकोप हुआ वहां के एक पाश्चात्य डाक्टर को—हैजे से मरे शवों को गगा में फैका देखकर और सहस्त्रों पुरुषों को वही गंगा जल पीने पर भी स्वस्थ देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। अन्त में जब उसने उन शवों का परीक्षण किया तो मालूम हुआ कि हैजे के कीटाणुओं से परिपूर्ण लाश, गंगा जल में डालने पर उत्तरोत्तर विशुद्ध होती जा रही है। अर्थात् = गगाजल के संसर्ग से हैजे के कीटाणु बड़ी तेजी से विनष्ट हो रहे हैं। उसी शव को जब अन्य जल में डाला गया तो विशूचिका के कीटाणु बढ़ने लगे और अन्त में वह सब जल ही कीटमय हो गया।

गो दुग्ध भी हिन्दू-शास्त्रों मे पवित्र माना गया है, अनेक रोग केवल गोदुग्ध के सेवन मात्र से विनष्ट हो जाते हैं। गाय का दूध जहां संग्रहणी शोष आदि अनेक असाध्य रोगों की अचूक औषधि है वहां न केवल कृशता की ही अपितु स्थूलता और मेदोवृद्धि की भी अव्यर्थ महौषधि है। पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक परीक्षणों के बाद इस तत्त्व को खूब समझा है, इसलिये अब वे गोदुग्ध के स्थान मे अन्य किसी पशु के दूध का सेवन नहीं करते। खासकर भैंस के दूध को तो अपने किसी रोगी को पीने के लिए नहीं बतलाते।

पीपल वृक्ष भी हिन्दू ग्रन्थों में पवित्र माना है यही कारण है कि एक आस्तिक हिन्दू पीपल की रक्षा के लिये अपना शिर कटाने को सहर्ष उद्यत हो जाता है। अब पाश्चात्य वनस्पति विज्ञान-वेत्ताओं ने बडे अनुसंधान के बाद यह तथ्य प्रकट किया है कि पीपल ही एक मात्र ऐसा वृक्ष है जो अहर्निश प्रभूत मात्रा में जीवनोपयोगी आक्सीजन का विसर्जन करता है। सहस्रों द्रव्य राशि खर्च करने पर भी एक 'धर्मार्थ औषधालय' मानव समाज का जितना उपकार नहीं कर पाता उससे कहीं अधिक उपकार एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष अपने संसर्ग मात्र से कर देता है।

औषधालय तो नियमानुसार दवाई खाने वाले रोगियों के ही उद्भूत रोगों को विनष्ट कर सकता है, परन्तु पीपल के पेड़ से संस्पृष्ट वायु का प्रवाह तो दूर २ तक संसर्ग में आने वाले लोगों को चुपके २, बीमारी से आक्रन्त ही न होने देने की क्षमता प्रदान करता है, इस लिये दूसरे लोग जहां चोर को मारते हैं तो हम ऐसी वनस्पति के पूजन सेवन की शिक्षा देकर चोर की मां को ही मार डालते हैं।

इसी तरह तुलसी-दल, शङ्ख-ध्वनि, सूर्य-साष्टाङ्ग, (सनबाथ) आदि वैदिक-विज्ञान प्रसूत हिन्दू मान्यताएं पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अनुसन्धानानन्तर लाभप्रद समझकर परिगृहीत की है और करते जा रहे हैं।

प्रसङ्गोपात्त अब कुछ ऐसी मान्यताओं का भी यहां उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि जो वैदिक संस्कृति में तो शुचिता और अशुचिता के कारण हेय किं वा उपादेय स्वीकार की गई है परन्तु पाश्चात्य जगत् अभी पूरी तरह उनका तत्त्व न समझ सका है और अभी तक अन्धेरे में ही चान्दमारी कर रहा है।

सर्व साधारण मृत जीवों की अस्थि अशुचि हैं, यदि उनसे हाथ भी छू जाए तो सचैल स्नान किया जाता है परन्तु शङ्ख—जो कि एक समुद्र कीट का अस्थिमय कलेवर है—देव मन्दिरों में मुख से फूंका जाता है, हाथी दांत सीप और कौड़ी का अनेक वस्तुओं में उपयोग होता है; मृगशृंग, यज्ञों में यजमान द्वारा अपने शरीर की कण्डु—खुजली खुजलाने के कार्य में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त श्वास कास आदि अनक रोगों में भस्म बनाकर खाने के काम में भी आता है। यह सब वस्तुएं अस्थि होते हुए भी शुचि हैं।

सर्व साधारण मृत जीवों का चमड़ा अशुचि है; किसी भी देव पितृ-कार्य में वह स्पर्शानर्ह है परन्तु सिंह व्याघ्र और मृग का चर्म यज्ञ पूजन अभिषेक आदि धार्मिक कृत्यों में उपादेय है। गैण्डे के चर्म का पात्र तो पितृ तर्पण में प्रशस्ततम है अत. ये सब जात्या, चर्म विशेष होते हुए भी शुचि हैं।

सर्व साधारण जीवों के केश और नख देह से पृथक् होते ही अशुचि हैं—अस्पृश्य हैं, परन्तु चमरी के पुच्छ से निर्मित चंवर, ऊन से बने हुए शाल, कम्बल और कालीन केश निर्मित होते हुए भी शुचि हैं देव पूजा आदि धार्मिक अनुष्ठान में ग्राह्य हैं।

गोमाता शुचि है, परन्तु उसका मुख अपवित्र है। यदि कांसी का बर्तन गाय के मुख से छूजाय तो वह अशुचि हो जाएगा उसे घोड़ी के मुख से स्पर्श कर के इक्कीस दिन तक मिट्टी में दबाने से शुचि माना जाएगा।

पीपल शुचि है परन्तु उसके पत्तों से बनी पत्तल पर परसा हुआ भोजन अशुचि है जो उसे खायेगा वह चान्द्रायण व्रत करने से शुचि हो सकेगा।

ताम्र पात्र में रखा हुआ जल गंगोदक के समान शुचि है, परन्तु उस पात्र को मुख से उच्छिष्ट करके खाया पीया जाय तो वह अशुचि है, चान्द्रायण व्रत से ही भोक्ता शुचि हो सकेगा।

पत्थर चीनी मिट्टी और कांच के बने बर्तन देखने में साफ सुथरे अवश्य होते हैं परन्तु वे एक बार उच्छिष्ट हो जाने पर प्रयोग मे आने योग्य नहीं रहते। मिट्टी के शिकोरे और कुल्हड़ों की भांति वह भी फैकने योग्य ही हो जाते हैं। पाश्चात्य देशों मे पायोरिया आदि दन्त रोगों की अधिकता इन्हीं अशुचि पात्रों के प्रयोग से बढ़ रही है। केवल चुल्लुभर जल में झूठ मूठ उक्त बर्तन को धोने का अभिनय करना, होटलो और चाय स्टालों पर तो एक ही वालटी मे सौ बार प्लेटो और प्यालो को स्नान कराने मात्र से साफ मान लेना जनता के स्वास्थ्य को विनाश करने का खुला प्रयास है, परन्तु—अंधेर नगरी चौपट राजा! कौन रोक थाम करे।

यह शुचिता और अशुचितावाद निरा ढकोसला ही हो सो बात नहीं, आज भले ही दकियानूस दयानन्दी इस वैदिक विज्ञान को पोपलीला कहकर उपहास करते हों परन्तु ज्यों २ वर्तमान भौतिक विज्ञान भी इस दिशा में अनुसन्धान करता है त्यों त्यों वह इसका सर्वात्मना समर्थन करता है।

सखरा निखरा चौका चुल्हा और छूआछूत की सब समस्याए उक्त वैदिक शुचि और अशुचिवाद पर निर्भर हैं। हम यथास्थान इन सब पर सप्रमाण प्रकाश डालेंगे। यहां तो केवल इतना समझ लेना आवश्यक है कि केवल वाह्य चाकचिक्य मात्र से ही किसी पदार्थ को साफ सुथरा समझकर ग्राह्य मान लेना खतरे से खाली नहीं किन्तु वाह्य स्वच्छता के साथ २ उसकी शास्त्रिय शुचिता और अशुचिता का भी विज्ञानपूर्ण विचार सामने रखते हुए ही उसकी

हेयोपादेयता का निर्णय करना चाहिये।

भारतीय शुचिता का मूल है तत्तद् पदार्थों में व्याप्त विद्युत् शक्ति-जो अदृष्ट होती हुई भी वातावरण के निर्माण में विशेष स्थान रखती है। जल से असपृष्ट भुना हुआ चना बहुत दिन तक तथैव बना रहता है पेड़ा वर्फी और कलाकन्द आदि उस से कुछ कम समय तक निर्विकार रह सकते हैं, घृतपक्व, मिठाई आदि उससे कम, स्नेह = अन्यान्य तेलों में तला उनसे कम, रोटी उनसे कम और भात सबसे कम समय तक निर्विकार रह सकता है यह प्रत्यक्ष है। अर्थात् षड्-भाव विकार की अविछिन्न धारा उपर्युक्त पदार्थों पर समान प्रभाव नहीं डाल सकती किन्तु एक पदार्थ दूसरे पदार्थ की अपेक्षा शुचि या अशुचि माना जाता है। भात और भुने हुए चणे के सखरे और निखरेपन की व्यवस्था का यही तारतम्य है। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थों की शुचिता और अशुचिता के रहस्य का भी अनुमान किया जा सकता है। पाठकों को इस प्रबन्ध का खूब मनन करना चाहिये।

लोक परलोकवाद—

(आब्रह्मभुवनाल्लोकाः)

कूपमण्डूक की भांति यह मानकर बैठे रहना कि हमारी इस भूमि के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं—भयङ्कर मूर्खता है, वेदादि शास्त्रों में तो स्वर्ग नर्क आदि अनेक लोकों का न केवल वर्णन मात्र ही मिलता है अपितु उनका संस्थान, पृथ्वी से दूरी, वहां के निवासी जीवों का शारीरिक संघटन एवं विशिष्ट रहन सहन और शक्ति के अतिरिक्त मानव समाज से उनका संपर्क आदि २ विचित्र रहस्यों का भी सर्वांगपूर्ण वर्णन आता ही है, परन्तु साम्प्रतिक वैज्ञानिकों ने भी मङ्गल आदि ग्रहों और कई नक्षत्रों के

विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की है, वहां के निवासी मनुष्यों के विषय में बहुत से तथ्य आए दिन समाचार पत्रों में छपते रहते हैं। कहना न होगा कि हमारी पृथ्वी की भांति अन्यान्य अनेक लोक इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं। तत्तत् लोकों में विलक्षण शरीरधारी प्राणी निवास करते हैं। हमारी पृथ्वी पर हमारे पार्थिव शरीर हैं इसलिये हम पृथ्वी पर ही जीवित रहते हैं; अग्नि में जल जाते हैं, जल में डूब जाते हैं, अन्धड़ में घबड़ा जाते हैं और निरवलम्ब आकाश में ठहर नहीं सकते। इसी प्रकार अन्य लोकों में रहने वाले प्राणियों का विलक्षण वर्णन और मनुष्यातिशायिनी शक्तियों का उल्लेख दीख पड़े तो वह बुद्धिमान् पुरुषों के लिये सन्देह का कारण नहीं हो सकता। आर्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द जी ने भी 'सत्यार्थ प्रकाश' अष्टम समुल्लास पृष्ठ २४२ में सूर्य चन्द्र तारों में विलक्षण शरीर धारी मनुष्यादि का आवास स्वीकार किया है। महर्षि कणाद तो सुस्पष्ट ही (आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि) कहते हुए लोकान्तर में जलीय, अग्निमय और वायुभूत शरीरधारी प्राणियों की सत्ता स्वीकार करते हैं।

देश वैचित्र्यवाद-

(सर्वतीर्थानि पुण्यानि)

काश्मीर के ही परिमित क्षेत्र में केसर क्यों उत्पन्न होती है ? हरियाणे—खासकर नागौर—के ही गाय बैल क्यों उत्तम होते हैं ? सिंध-अरब के घोडे क्यों सर्व श्रेष्ठ समझे जाते हैं ? मीठे जल से भरे नदी नद, समुद्र में गिरते ही खारे क्यों हो जाते हैं ? खारा समुद्र जल, सूर्य किरणों से आकृष्ट होने पर पुनः मीठा बनकर क्यों बरसता है ? जापान आदि पूर्व प्रदेशों के मनुष्य पीले रंग के,

अफरीका के हबशी काले रंग के, यूरोप आदि पाश्चात्य देशों के श्वेत वर्ण के और अमेरिका के लाल वर्ण के क्यों होते हैं? भारतीय मनुष्य उक्त (पीला काला श्वेत और लाल) चारों रंगों के संमिश्रण से बने पक्के रंग के क्यों होते हैं? हिमालय में बर्फ, मलयागिरि में चन्दन, जांजीबार में लौंग, इसीप्रकार तत्तत् स्थानों में ही तत्तद् पदार्थ क्यों उत्पन्न होते हैं? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है कि सब देशों की भूमि, वहां का जलवायु और वहां का वातावरण समान नहीं होता किन्तु एक दूसरे की अपेक्षा अनेक प्रकार के वैचित्र्य से परिपूर्ण होता है। वस्तुत. सत्व रजः तम इन तीन गुणों के वैषम्य का परिणाम ही संसार है। ज्यो ज्यों यह वैषम्य परिसमाप्त होते होते समता आ जायगी त्यों ही प्रलय हो जायगा, सो प्राकृतिक गुणों का वैषम्य सृष्टि है और साम्यावस्था प्रलय है।

वेद में देश वैचित्र्यवाद—

अथर्ववेद में ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ स्थान के अमुक अमुक प्रदेशों को पवित्र और अमुक अमुक स्थानों को सुस्पष्ट अपवित्र कहते हैं, यथा—

(क) ये पृथिव्यां पुण्यलोकास्तानेव ते नावरुन्द्धे।

(ख) ये अन्तरिक्षे पुण्यलोका ये दिवि पुण्यलोकाः।

(ग) ये पुण्यानां पुण्यलोका य एवा परिमिताः पुण्यलोकाः।

(अथर्व १५। १३। २—१०)

अर्थात्—(क) जो पृथ्वी में पवित्र लोक=प्रदेश है (अतिथि सेवा से) वे प्राप्त होते हैं। (ख) अन्तरिक्ष में जो पवित्र लोक हैं—

द्यु लोक में जो पवित्र लोक हैं। (ग) जो पुण्य से भी पुण्यलोक हैं और अपरिमित पुण्यलोक हैं।

पृथ्वी के अमुक अमुक प्रदेश स्वभावतः ही पवित्र माने जाते है जिन्हें तीर्थ कहते हैं जैसे जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारकाधीश और बदरीनारायण आदि चारों धाम, अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका द्वारका—यह सातों पुरी और कुरुक्षेत्र पुष्कर आदि अनेक स्थान।

कुछ प्रदेश स्वभावतः कीकट = अमेध्य होते हैं जैसे कर्मनाशा नदी, भारत के अङ्ग बङ्ग कलिंग सौराष्ट्र और मगध नामक प्रान्त तथा अन्यान्य म्लेच्छ देश।

जैसे मानव शरीर में भी नाभि से ऊपर का भाग उत्तरोत्तर मेध्य है और नाभि से अधोभाग उत्तरोत्तर अमेध्य है—यह मन्वादि धर्मशास्त्रों में कहा गया है, ठीक इसीप्रकार अमुक अमुक भूभाग के मेध्य और अमेध्य होने की व्यवस्था है। महाभारत में वर्णन आता है कि—

यथादेशाः शरीरस्य केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः।
तथा पृथिव्या देशाश्च केचित्पुण्यतमाः स्मृताः।
प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

(महाभारत शान्तिपर्व)

अर्थात्—जैसे मानव शरीर के अमुक अंग पवित्र होते हैं इसी प्रकार पृथ्वी के भी अमुक अमुक प्रदेश पवित्र होते हैं। (उनके पवित्र होने में तीन हेतु हैं) प्रथम—भूमि का अद्भुत प्रभाव, दूसरा—वहां के जल का विशेष तेज, और तीसरा—मुनिजनों का

वहां रहना, इन्ही तीन कारणों से तीर्थों की पुण्यता है।

सूर्य ग्रहण में कुरुक्षेत्र, चन्द्र ग्रहण में काशी, कार्तिकी पौर्णिमा को पुष्कर कपाल मोचन और गढ़मुक्तेश्वर से लेकर गंगा सागर पर्यन्त अनेक गंगा घाट—क्यों सेवनीय है ? यह तो यथा स्थान निरूपण किया जायगा परन्तु इस प्रघट्ट को पढ़कर तो पाठकों को केवल यह संस्कार दृढ़ कर लेना चाहिये कि पृथ्वी के सभी देश समान नहीं होते किन्तु अमुक २ प्रदेशों मे कई प्रकार का वैचित्र्य भी होता है।

काल वैचित्र्यवाद—

(भूतानि कालः पचतीति सत्यम्)

देश वैचित्र्य की भांति काल में भी विचित्रता पाई जाती है। जैसे प्रातःकाल नास्तिक से नास्तिक पुरुष का हृदय भी प्रायः अपेक्षाकृत-सत्व गुण सम्पन्न रहता है। मध्याह्न मे रजोगुण=काम काज में तत्परता और रात्रि में तमोगुण=आलस्य निद्रा तन्द्रा का आधिक्य प्रत्यक्ष देखा जाता है ठीक इसीप्रकार सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के तादृश होने का सुतरां अनुमान किया जा सकता है।

अमुक काल मे अमुक स्नान, दान, जप और अनुष्ठान करना चाहिये और अमुक मुहूर्त मे ही अमुक कार्य होना चाहिए यह सब शास्त्र व्यवस्थाएं काल वैचित्र्य पर ही अवलम्बित हैं जिसका परिज्ञान ग्रह नक्षत्र और तारा मण्डल की अनुकूल परिस्थिति के वैज्ञानिक आधार पर स्थिर किया गया है। अथर्ववेद के १६ वे काण्ड का ५३ वां पूरा का पूरा सूक्त 'काल सूक्त' है जिसमें काल की

लोकोत्तर महिमा का वर्णन करते हुए यहां तक कहा गया है कि काल प्रजापति ब्रह्मा का भी पिता है, यथा—

कालो हि सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ।

अर्थात्–निश्चित ही काल समस्त चराचर का नियन्ता है जो प्रजापति ब्रह्मा का भी पिता है ।

प्रत्यक्ष में भी किसान अमुक काल मे ही अमुक अन्न बोना आवश्यक समझता है। यदि ऋतु का विचार न करके गेंहू धान ईख और मकई आदि अन्न बो दिये जांए तो वे कभी फलाधायक नही हो-सकते । मृगशिर नक्षत्र जब पूर्व मे उदित होने लग जाए तो फिर किसान धान का बीज डालना व्यर्थ समझते हैं, इस विषय मे देहाती कृषिशास्त्र की कहावत बहुत प्रसिद्ध है—

हिरणी कढ्ढे कन्ना, मूरख बोवे धन्ना ।

प्रात. काल यदि किसी चुटीले स्थान पर आक का दूध लगा दिया जाए तो वह तुरन्त ही समस्त शरीर मे व्याप्त हो जाएगा—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, परन्तु यदि मध्याह्नोत्तर इस का प्रयोग किया जाए तो विष नहीं चढ़ता अपितु उस चुटीले स्थान की पीड़ा को लाभ पहुँचता है ।

अमा पौर्णिमा और अष्टमी को समुद्र में ज्वार और भाटे का प्रभाव, शिशिर में पतझड़, वसन्त में लहलही लतिकाओं में नव किसलयों का प्रादुर्भाव, दिन में कमलिनी और रात में कुमुदिनी का विकाश, सूरजमुखी और रात की रानी का क्रमश दिन और रात मे महकना–ये सब प्राकृतिक चमत्कार 'काल वैचित्र्य' के ही कौतुक-पूर्ण निदर्शन हैं। भारतीय ऋषियों ने कालवैचित्र्य के केवल स्थूल प्रभावों का ही नहीं, बल्कि अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा मनः बुद्धि आत्मा पर पड़ने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभावों का भी मनन किया था ।

आज के सभ्य कहे जाने वाले पाश्चात्य जटिलमैन और उनका अन्धानुकरण करने वाले अपटुडेट भारतीय, प्रातः मल मूत्र त्याग से पूर्व ही लार से सने मुख से बिस्तर पर बैठे २ चाय उड़ाते हैं। यवन म्लेच्छ आदि भोजन के बाद दोपहर मे दातौन करते है तथा सभी पाश्चात्य सभ्यतानुयायी महा रात्रि मे शयन से पूर्व स्नान करना आवश्यक समझते हैं। उनकी यह सब चेष्टाए काल वैचित्र्य-जन्य लाभों के न जानने का ही परिणाम हैं, जिस से वे चित्रकुष्ट, पायोरिया और अनिद्र रोगों के प्राय. शिकार हो जाते हैं।

इस लिये भारतीय सस्कृति के पुजारियों का परम कर्तव्य है कि वे 'काल वैचित्र्य वाद' को ध्यान में रखते हुए शास्त्र प्रतिपादित ठीक समय पर ही तत्तद् कर्मों का अनुष्ठान किया करें।

वस्तु वैचित्र्यवाद

(ग्रह भेषज जल पवन पट, पाई सुयोग कुयोग।
होहि कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहि सुलक्षण लोग ॥)

देशकाल की भांति तत्तद् वस्तुओं में भी बहुत से वैचित्र्य पाए जाते हैं। वस्तु वैचित्र्य के स्थूल प्रभाव को प्रायः सभी देशों ने यथा कथञ्चिद् स्वीकार किया है। भारत का आयुर्वेद शास्त्र, यूनानियों की हिकमत और श्वेत देशों की एलोपैथिक तथा होम्यो-पैथिक चिकित्सा पद्धतियें 'वस्तु वैचित्र्यवाद' पर ही अवलम्बित हैं; परन्तु जहां भारत को छोड़कर अन्यान्य देशों के वैज्ञानिकों ने केवल शरीर पर पड़ने वाले तत्तद् वस्तुओं के प्रभावों की सीमा तक ही 'वस्तु वैचित्र्यवाद' से लाभ उठाया है; मनः बुद्धि और आत्मा पर किस वस्तु का क्या प्रभाव पड़ता है—यह बात वे अभी तक नहीं जान पाए हैं, वहां भारतीय ऋषियों ने न केवल

'वस्तु वैचित्र्यवाद' का मनन मात्र ही नही किया था अपितु अपने जीवन में भी तत्तद् वस्तुओं का उपयोग करके अनेक प्रकार के लाभ उठाने का भी प्रयत्न किया था।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासियों का पांवों में लकड़ी की खूंटीदार खड़ाऊं पहिनना, धार्मिक अनुष्ठानों में कुशासन का प्रयोग और अनामिका अंगुली मे कुशा की पवित्री धारण करना, गले में तुलसी, रुद्राक्ष आदि की मालाएं पहिनना, एवं मस्तक मे मृत्तिका चन्दन, कुकुम, हरिद्रा, किंवा भस्म धारण करना तथा सधवा का ललाट में बीचों-बीच सिन्दूर, तथा अलङ्कार धारण करना केवल जंगलीपन के चिन्ह नहीं है, अपितु 'वस्तु वैचित्र्यवाद' की वैज्ञानिक भित्ति पर स्थिर, अनेक लाभों से परिपूर्ण तथ्य हैं जिनकी विशद व्याख्या यथा-स्थान की जायेगी। यहां तो केवल इतना मनन कर लेना परमावश्यक है कि तत्तद् वस्तुओं के दर्शन स्पर्शन और सेवन से न केवल तत्तद् शारीरिक रोग मात्र की निवृत्ति और प्रवृत्ति नहीं होती अपितु मन बुद्धि और आत्मा के पतन और उत्थान मे भी इनका बहुत कुछ दखल है।

भांग, चरस, अफीम और मद्यपान से केवल नशा मात्र ही नहीं होता किन्तु शनैः २ बुद्धि का भी दीवाला निकल जाता है। शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते

(शार्ङ्गधर—४—२१)

अर्थात्—जितनी नशीली चीजें हैं वे सब बुद्धि का लोप करने वाली हैं।

तम्बाकू खाने पीने और सू घने से केवल शिर ही नहीं चकराता

अपितु हृदय भी क्षीण होता है। आज के बढ़ते हुए हृद्गति-निरोध (हार्टफेल) रोग का मूल यही दुर्व्यसन है।

इसलिये आस्तिकों को उचित है कि वे 'वस्तु वैचित्र्यवाद' पर अवलम्बित धर्मशास्त्रों के विधान का सर्वात्मना पालन करते हुए कल्याणभाजन बनें।

जाति वैचित्र्यवाद—

(अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानन जोग)

इस प्रघट्ट में 'जाति' शब्द की परिभाषा 'समानप्रसवात्मिका जातिः' अभीष्ट नहीं अपितु किसी एक ही जाति विशेष में दीख पड़ने वाली परम्परागत वे विशेषताएं हैं जिनको आज कल 'नस्ल' के नाम से याद किया जाता है। पाश्चात्य जगत् आज पशु पक्षी और वृक्षों की नस्लों को सुरक्षित रखना और उनकी अभिवृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करना तो अपना कर्तव्य समझता है परन्तु मनुष्यों की भी कोई खास नस्ल होती है और उसकी रक्षा करना भी आवश्यक है,—दुर्भाग्यवश यह तथ्य अभी तक इन लोगों की खोपड़ी में नहीं बैठ पाया है।

यह सभी जानते हैं कि कहने मे 'आम' एक साधारण वृक्ष है, परन्तु उस मे कलमी, लंगड़ा, सफेदा, बम्बई, मलगोबा, तोतापरी और सिन्दूरी आदि अनेक विशेष जातिये पाई जाती हैं, जिन का रंग रूप और स्वाद एक दूसरे से सर्वथा विचित्र होता है, इसीप्रकार प्रयाग मे अमरूद की, नागपुर में संतरे की, और बम्बई में केले की जो नस्लें विद्यमान हैं वे अपने वैचित्र्य के कारण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होतीं। पशुओं में खास कर बैलों और घोड़ों की कई विशेष नस्लें पाई जाती हैं। अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में हरियाणे के गोवंश की नस्ल की सुरक्षा के लिए एक बड़ी गोशाला स्थापित की

थी जो अभी भी सुरक्षित है। अंग्रेजों की ओर से युद्ध मे दिया जाने वाला सब से बडा पदक = 'विक्टोरिया क्रास' विगत युद्ध मे भारत के एक बैल को भी प्राप्त हुआ था—यह सभी समाचार पत्र पाठकों को विदित होगा। वह बैल इसी नस्ल का कहा जाता है।

आज कुत्तों की नस्ल को सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। 'बुलडाग' और 'पपीडाग' जनने वाली कुतिया को अन्य जाति के कुत्तों के संसर्ग से बचाने के लिए खास प्रबन्ध किये जाते हैं। रबड़ के जांघिये तक पहिनाये जाते हैं परन्तु यह कितने आश्चर्य और शोक का स्थान है कि आज मानव नस्ल की सुरक्षा की न केवल उपेक्षा की जा रही है अपितु जातिगत विशेषताओं की रक्षा के दुर्ग—जन्मना वर्ण व्यवस्था, गोत्र प्रवर विचार, जातियों उप जातियों मे विवाह सम्बन्ध तथा भोजन सम्बन्ध आदि २ वैज्ञानिक विधानों की धज्जिये उड़ाई जा रहीं हैं, भारत ही एक मात्र ऐसा देश है और हिन्दू जाति ही एक मात्र ऐसी जाति है कि जिसने स्व-वर्ण में ही 'यौन सम्बन्ध' को अभी तक यथा तथा तत्परता पूर्वक सुरक्षित रक्खा है। सात सौ वर्षों के मुस्लिम शासन काल में केवल 'यौन सम्बन्ध' को लेकर राजपूतों ने अनेकों युद्ध लडे, अगणित बलिदान दिये, सहस्रों राजपूत रमणियें जौहर व्रत धारण कर सहर्ष चिता पर चढ़ गई, काल कूट को घूंट गई परन्तु अकबर महान् की साम दाम भेद पूर्ण और औरंगजेब की दण्ड पूर्ण सारी नीति व्यर्थ सिद्ध हुई, इस के लिए यदि अपने ही घर के राजा मानसिंह जैसे वीरों का भी सामाजिक बहिष्कार करना पड़ा तो वह भी हृदय पर पत्थर रख कर किया परन्तु आर्यललनाओं की विशुद्ध कोख को, गोमांस भक्षक अनार्यों के संसर्ग से दूषित नहीं होने दिया, फल स्वरूप हिन्दुपति राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी

महाराज, श्री गुरु गोविन्दसिंह और वीर बन्दा वैरागी जैसों की नस्ल सुरक्षित रह सकी।

आज भी पाकिस्तान के जन्मकालीन हत्याकाण्ड के समय अनेकों देवियें अपने सतीत्व की रक्षा के लिये हंसते २ चिताओं पर चढ़ गईं, पूरे गांव के गांव सती हो गए। इन कष्ट पूर्ण कथाओं ने जहां हमारे हृदयों को भस्म कर डाला वहां इन बलिदानों के प्रकाश में एक आशा की किरण भी सुस्पष्ट झलक पड़ी। आस्तिक जगत् को पुनः यह निश्चित समझने का अवसर मिला कि हिन्दू जाति की 'नस्ल' अभी सुरक्षित है। सीता सावित्री और पद्मिनी का परम्परागत रक्त आज भी हिन्दू नारियों में ठाठें मार रहा है, जब तक हमारी यह नस्ल सुरक्षित है, तब तक हिन्दू जाति का बाल बांका नहीं हो सकता—इस प्रकार के उदात्त विचार एक बार फिर हमारे हृदयों में उद्बुद्ध हुए। यदि यह नस्ल समाप्त हो गई तो फिर यहां भी जर्मनी के प्रसिद्ध नाजी नेता फील्ड मार्शल कहे जाने वाले गोयरिंग की विधवा पत्नी की भांति, वीरगति प्राप्त पति की लाश पर फिल्मस्टार के रूप में थिरक कर, पति के जानी दुश्मन अंग्रेज अमेरिकन और रसियन सैनिकों से "वंस मोर हियर २" की दाद चाहने वाली नटियें देखने में आयेंगी। मानवता का दीवाला ही निकल जायगा। आज भी हम सभ्य कहे जाने वाली समस्त अहिन्दू जातियों को खुला चैलेञ्ज कर सकते हैं—वे अपनी जाति में उत्पन्न हुए किसी व्यक्ति का नाम बताएं जो राम सा आदर्श शासक, भरत लक्ष्मण सा आदर्श भ्राता, सीता उर्मिला सी धर्मपत्नी, शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र और कर्ण सा दानी, भीम अर्जुन सा आदर्शवीर और बृहस्पति शुक्र विदुर कामन्दक एवं चाणक्य सा राजनीतिज्ञ हुआ हो।

ईसाई जगत् केवल ईसा पर अभिमान कर सकता है परन्तु वह भी पूरे तीस वर्ष तक भारतीय वैष्णवों के सम्पर्क में रहकर और उनकी शिष्यता स्वीकार करके ही 'क्राइस्ट' बंगला टोन में 'कृस्टा' और वस्तुत: कृष्ण बन पाया था यह रहस्य पाली भाषा में उपलब्ध एक प्राचीन जीवन चरित्र से सिद्ध हो चुका है। कल तक प्रत्येक पादरी ईसा का तीस वर्ष तक अज्ञातवास तो मानते थे परन्तु वे तीस वर्ष कहां बीते थे यह रहस्य किसी को विदित नहीं था ! अतः ईसा भी कलमी आम की भांति भारत की विशुद्ध नस्ल की मानसिक पेवंद का ही परिणाम है।

मुस्लिम संसार भी हजरत मोहम्मद पर तभी तक अभिमान कर सकता है जब तक कि उसे यह विदित न हो कि वह भारत के शैव मतानुयायी सन्यासियों की शिक्षा दीक्षा मे रहकर ही 'उम्मी' = ओमी अर्थात ओंकारोपासक बन पाया था। मक्के में प्रतिष्ठापित 'संगे असवद' नाम का काला शिवलिंग और पञ्चकोण तारे वाला अर्धचन्द्र = त्रिपुण्ड अभी तक मुस्लिम जगत् का आदरणीय चिह्न बना हुआ है।

कहना न होगा कि भारतीय ऋषियों ने जाति गत विशेष गुणों के संरक्षण और उनके संवर्द्धन के निमित वैदिक विज्ञान के आधार पर जो व्यवस्थाएं सुस्थिर की थीं यह उनका ही प्रत्यक्ष फल है कि अर्बों वर्ष पुरानी हिन्दु जाति अभी तक संसार में अपनी सत्ता को रख सकी है। अन्यथा इस से पीछे उत्पन्न हुई सिथियन, हून, बैबोलियन, शक, और ग्रीक आदि अनेक जातियों केवल इतिहास के पृष्ठों में ही ढूंढी जा सकती हैं। अब संसार में उनका अस्तित्व भी शेष नहीं रह सका है।

दो विभिन्न असमान जतियों के सांकर्य का परिणाम विनाश ही

होता है। घोड़े और गधे के सांकर्य से उत्पन्न खच्चर आगे वंश नहीं बढ़ा सकता। कलमी आम के गुठ्ठल से कभी आगे आम पैदा नहीं हो सकता। यथास्थान इन सब बातों पर विशेष प्रकाश डाला जाएगा। यहां तो केवल वह तथ्य मस्तिष्क में बैठा लेना चाहिये कि 'जातिगत वैचित्र्य' का भी संसार की समृद्धि में विशिष्ट स्थान है। जो जाति इस तथ्य को हठात् मिठाना चाहेगी उस का अस्तित्व भी सहस्राब्दियों से अधिक संसार में सुस्थिर नहीं रह सकेगा।

इस प्रकार हम इस अध्याय में समस्त 'क्यों ?' समूह का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक उत्तर दे सकने में काम आने वाले मूल भूत सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराते हुए पाठकों से साग्रह अनुरोध करेंगे कि वे इस अध्याय का एक एक अक्षर भली प्रकार मनन करके सभी वादों को हृदयङ्गम करलें क्योंकि 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' के अनुसार न शास्त्र निर्दिष्ट विधि निषेधों—की कोई इयत्ता है और नांही तद् विषयक जिज्ञासाओं की ही कोई गणना है। इसलिये एक एक करके यदि जीवन भर में भी हम उन समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करने चलें तो पार पाना कठिन है। जो पाठक हमारे इस अध्याय पर विषेश ध्यान देंगे वे न केवल इस ग्रन्थ में लिखी मात्र 'क्यों ?' को जानने में कृतकार्य हो सकेंगे, अपितु अनुक्त क्योंओं का भी उपर्युक्त वादों के अनुसार समाधान करन मे समर्थ हो सकेंगे।

शास्त्र सागर है अमित अपार, विविधशंका-तरंग आगार।
मिले सिद्धान्त पोत से पार, यही अध्याय प्रथम का सार ॥

प्रथम अध्याय समाप्त

अहोरात्र-चर्याऽध्यायः

(दूसरा अध्याय)

—(०)—

वर्णानां मान्तरालानां, या हि दैनन्दिनी क्रिया।
शास्त्रोक्ता हेतुबहुला, सुतरां मात्र कथ्यते ॥

प्रस्तुत अध्याय मे हम प्रातः जागरण से लेकर शयन पर्यन्त तक की शास्त्र निदिष्ट समस्त क्रियाओं की वैज्ञानिकता पर विचार करेंगे और बतलायेंगे कि भारतीय ऋषियो ने जीवन के प्रत्येक क्षण को अमूल्य समझते हुए मानव जगत् के सन्मुख जो दैनिक कार्यक्रम रक्खा है उसके पालन से पुरुष न केवल शतायु होकर सुख पूर्वक जीवन यात्रा निर्वाह कर सकता है, बल्कि इससे भी अधिक 'सहस्रायु' सुकृतश्चरेयम' का पात्र भी बन सकता है।

नियमित दिनचर्या 'क्यों ?'

हमारी दिनचर्या नियमित है। प्रात जागरण से लेकर शयन तक की समस्त क्रियाओं के लिए शास्त्रकारों ने अपने दीर्घ कालीन अनुभव से ऐसे नियमों का निर्माण किया है जिनका अनुसरण करके मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकता है।

अन्यान्य मत मतान्तरों का केवल विचारों से ही सम्बन्ध है, आचार से नहीं। इसीलिये वे अपने सदस्यो के स्वेच्छाचार पर

कोई नियन्त्रण नहीं रखते परन्तु विचार का थोड़ा सा भी स्वातन्त्र्य इनके यहां अक्षम्य अपराध समझा जाता है। जैसे एक मुसलमान-स्त्री हत्या, बाल हत्या, सामूहिक हत्या, सुरापान, खुदा के नूर का सफाया आदि २ कुकृत्य करता हुआ भी—पक्का मोमिन माना जा सकता है, बशर्ते कि वह पैगम्बर और कुरान पर यकीन रखता हो। उदाहरण के लिये नादिर, चंगेज़, मुहम्मद बिन कासिम, औरङ्गजेब और अकबर आदि का नाम लिया जा सकता है। इतिहास साक्षी है कि इनमें से अकबर को छोड़कर बाकी पूर्वोक्त सभी लोग कितने अत्याचारी शासक हुए हैं। अकबर का दाढ़ी मुंडा चित्र इस्लाम के अपमान का जीता जागता प्रमाण है। यवन शासन में 'सुराही' और 'पैमाना' तो हुक्के की तरह बादशाहत का एक अनिवार्य अङ्ग समझा जाता था, तभी तो मुगलिया खानदान के अधिकांश बादशाहों के तत्कालीन चित्रों में ये तीन वस्तुएं प्राय: साथ २ अंकित रहती हैं। यह सब कुछ होते हुए भी मुस्लिम सम्प्रदाय में उक्त सभी लोग इस्लाम की नाक समझे जाते हैं, परन्तु परम विद्वान्, उपनिषदों को अर्बी फारसी में अनूदित कराने वाला दाराशिकोह, सदाचारी मुराद और वेदान्तनिष्ठ शमस्त अबरेज़ आदि सज्जन केवल स्वतन्त्र विचारों के कारण कत्ल करा दिये गये और इस्लामी इतिहासकारों की दृष्टि में वे आज तक 'काफिर' समझे जाते हैं।

यही बात न्यूनाधिक अन्यान्य सभी पन्थों में पाई जाती है, परन्तु सनातन धर्म में इसके सर्वथा विपरीत, विचारों पर इसप्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं है। एकेश्वरवादी समाधिनिष्ठ योगी से लेकर —'भूतानि यान्ति भूतेज्या:'—के अनुसार भूतपूजा में विश्वास रखने वाला व्यक्ति तक—सभी अपने अपने स्वतन्त्र

विचार रखते हुए भी निर्विशेष सनातन धर्मी माने जाते हैं। परन्तु हम 'आचार स्वतन्त्र्य' अर्थात्—स्वेच्छाचार के लिए अपने सदस्य को कभी आज्ञा नहीं देते क्योंकि हमारा धर्म केवल विचारों से ही संबद्ध नहीं है किन्तु हमारा छोटा बड़ा सभी प्रकार का आचार सर्वथा और सर्वदा धर्म से सुसंम्बद्ध है। सीधे शब्दों में बल्कि यूं कह सकते हैं कि 'आचार प्रथमो धर्मः' अर्थात्—आचार ही ही मुख्य धर्म है। सो सनातन धर्म ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कि केवल मृत्यु के बाद ही उपयोग में आता हो परन्तु सनातन धर्म तो वह तत्व है जिसका कि हमारे खान पान रहन सहन जीवन और मरण—गर्ज है कि प्रत्येक आचरण से साक्षात् सम्बन्ध है।

कुछ लोग हम पर आक्षेप करते हुए कहा करते हैं कि—'इन लोगों ने धर्म को ऐसा कच्चे सूत का धागा बना रक्खा है कि जिसके जरा जरा सी बात पर टूट जाने का खतरा रहता है। इन आक्षेप-कर्ताओं की दृष्टि मे मानों धर्म ऐसी फौलादी चट्टान है कि उस पर चाहे कुछ भी अनाप शनाप दुराचार अनाचार अत्याचार और व्यभिचार किया जाय किन्तु वह तथैव दृढ़ बनी रहती है। शायद यह आक्षेप करते हुए वे यह भूल जाते हैं कि जङ्कशन स्टेशन पर रेलवे लाइन जब एक दूसरे से पृथक् होती हैं तो कांटा बदलने के स्थान पर पहिले पहल केवल सूई की नोक के बराबर ही अन्तर पड़ता है परन्तु अन्त में एक दूसरी से इतनी पृथक् हो जाती हैं, कि एक कलकत्ता पहुँचती है तो दूसरी पेशावर। गाजियाबाद रेलवे स्टेशन पर एक ही लाइन पर पूर्वाभिमुख खड़ी फ्रांटियर मेल और कलकत्ता मेल को देखकर यह दृष्टान्त खूब समझा जा सकता है। सो सनातन धर्म का जहां तक आचार से सम्बन्ध है वह निःसन्देह कच्चे सूत के धागे से भी अत्यधिक नाजुक, शिरीष के

पुष्प की पखड़ियों के समान अतीव कोमलतम है। इसलिये अनाचार की वायु मात्र के स्पर्श से भी उसको ठेस पहुँचती है। उसके सर्वथा बिखर जाने का पूरा पूरा खतरा है। वाली ने भगवान राम को 'मारेउ मोहि व्याध की नाईं' कहते हुए केवल मुख से ही 'व्याध' कहा था, परिणाम स्वरूप पुनर्जन्म में स्वयं 'जरा' नामक व्याध ही बनना पड़ा था। इसलिये यह निश्चित हुआ कि सनातन धर्म की प्रत्येक क्रिया का धर्म से सम्बन्ध है, अर्थात्—हमारे यहां खाना पीना सोना जागना, रोना धोना, जीना और मरना आदि सभी बातों की इतिकर्तव्यता की विधि विद्यमान है। यदि अमुक काम उस विधि के अनुसार किया जाय तो वह 'धर्म' कहा जाता है और विधिविहीन मनमाने ढंग से किया जाए, तो उसे ही पाप कहा जाता है।

यथा विधि करने से क्या लाभ ?

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अमुक पुरुष विष खाने से मर गया और कदाचित् उपचार करने पर, न भी मरा तब भी शास्त्र दृष्टि से वह पापी है और अदालत में भी आत्महत्या करने के उद्योग के अपराध मे उसे उचित दण्ड दिया जाता है। कदाचित् उस विषकाण्ड में यह सिद्ध हो जाए कि विष अमुक ने खिलाया था और अमुक से खरीदा गया था तब वे सब व्यक्ति भी 'आत्म हत्या' में सहायक होने के कारण दण्ड भागी होंगे। इस प्रकार लोक और शास्त्र दोनों में ही विष का खाना और खिलाना अक्षम्य अपराध माना जाता है, परन्तु सभी चिकित्सक नित्य प्रति अपने रोगियों को नाना विध विष खिलाते हैं और रोगी बराबर खाते हैं तथापि वे गिरफ्तार नहीं किये जाते, किन्तु इसके विपरीत वैद्यों को वेतन–शुल्क

और अनेकविध पुरस्कार मिलते हैं, और रोगी भी स्वास्थ्य प्राप्त कर के दीर्घजीवी बनते हैं। कहना न होगा कि इस उदाहरण में प्रथम विष-काण्ड से सम्बद्ध सब व्यक्ति अपराधी क्यों समझे गए ? और द्वितीय विष-काण्ड के सब व्यक्ति पुरस्कारार्ह क्यों माने गए ? इन दोनों प्रश्नों का सही उत्तर यही हो सकता है कि प्रथम काण्ड में एक व्यक्ति मरने के लिये मनमाने ढंग से विष भक्षण करता था और अन्य सब संबद्ध व्यक्ति उस की मृत्यु में सहायक बने थे अत वे अपराधी थे दण्ड के योग्य थे। परन्तु द्वितीय काण्ड में रोगी मनुष्य, जीवन-वृद्धि के लिए—विषशोधन की शिक्षा में निष्णात वैद्य की व्यवस्था के अनुसार यथाविधि विष खाता है, अत वह विष मृत्यु का कारण न बनकर 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार शरीरस्थ अनेक विषों को दूर करने के लिये 'अमृत' का कार्य करता है अतः उसे पुरस्कारार्ह समझना स्वाभाविक है।

ठीक, इसीप्रकार संसार के सब विषयोपभोग हालाहल विष के तुल्य हैं जो व्यक्ति मनमाने ढंग से इनका सेवन करता है वह अनेक बार मरता है, परन्तु यदि उन्हीं विषय रूप विष-समूह को शास्त्र निष्णात गुरु रूप वैद्य की धर्म व्यवस्था के अनुसार यथा-विधि सेवन किया जायगा तो (पुनर्जन्म का सिलसिला ही समाप्त हो जाने के कारण बार बार) मरना न पड़ेगा। इसलिये मनुष्य को अपने समस्त कार्य शास्त्र विधि के अनुसार करने चाहियें।

क्या विधि-विधान व्यर्थ ढकोंसला है ?—

रोटी के खाने से पेट भरता है यही रोटी खाने का उद्देश्य है, फिर इसमें—'यूं खाओ, यूं न खाओ' का अड़ङ्गा लगाना व्यर्थ है। क्या तथाकथित विधिके अनुसार खानेसे डबल पेट भर जाता है ?

है? इसीप्रकार अन्यान्य बातों में भी विधि विधान का पचड़ा लगाना क्या कोरी पोपलीला नहीं है ?

ऐसी आशङ्का करने वाले व्यक्ति शायद यह भूल जाते है कि मनुष्यों और पशु पक्षियों में आहार निद्रा भय मैथुन—खाना पीना सोना सन्तान उत्पन्न करना आदि चेष्टायें तो समान ही हैं; दोनों ही पेट भरते हैं, दोनों ही सोते हैं और दोनों ही सन्तान उत्पन्न करते हैं, परन्तु इस प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता कि पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च, मनुष्य की अपेक्षा जल्दी मर जाते हैं। बैल और भैंसा, मनुष्य की अपेक्षा कई गुना अधिक खाता है, उसका शरीर भी मनुष्य की अपेक्षा बहुत ही सुसंगठित एवं दृढ़ होता है। तदनुसार बल भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह आयुष्य में मनुष्यों से बहुत कम जीता है। प्रकृति का यह नियम है कि जो पिण्ड जितने काल में सर्वांगपूर्ण उन्नत होगा वह उससे चार पांच गुणा अधिक काल तक जी सकेगा।

जैसे मनुष्य शरीर बीस वर्ष की आयु में सर्वाङ्गपूर्ण उन्नत हो जाता है, अर्थात् आयुर्वेद के—'बाल्यं वृद्धिश्छविर्मेधा त्वग् दृष्टि शुक्रविक्रमौ' के अनुसार क्रमशः प्रथम दश वर्ष तक बालकपन रहता है इससे आगे नहीं रहता। अगले दश वर्षों तक वृद्धि = अंगों का बढ़ना चालू रहता है इससे आगे नहीं। इसी प्रकार अगली दशाब्दियों में कान्ति बुद्धि त्वचा दृष्टि वीर्य और पराक्रम समझ लेने चाहियें यही मानव शरीर के विकास का कच्चा चिट्ठा है। सो, बीस वर्ष में युवा होने वाला मनुष्य साधारणतया सौ वर्ष तक जी सकता है। इसीप्रकार कुत्ता दूसरे वर्ष में युवा हो जाता है और अन्यून आठ वर्ष जीता है। बैल और घोड़ा प्रायः तीन वर्ष के बाद पूर्णाङ्ग हो जाता है तदनुसार उसकी पूर्णायु भी बारह चौदह

वर्ष होती है। ऊंट ६ वर्ष का युवा होता है तो वह पच्चीस तीस वर्ष जी सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हाथी घोड़ा ऊंट सभी तिर्यञ्च जीव, मनुष्य की अपेक्षा अन्य सब बातों में उन्नत होते हुए भी आयु के उपभोग में उससे पिछड़ जाते हैं। इसका क्या कारण है ?

यदि विचार पूर्वक इस समस्या का मनन किया जाय तो एक मात्र यही समाधान समझ में आ सकता है कि उक्त जीव खाते पीते सोते और सन्तान उत्पन्न अवश्य करते हैं परन्तु वे पशु होने के कारण उक्त सब कृत्यों की विधि नहीं जानते। मनमाने ढंग से स्वेच्छावश जब जो चाहा खाया, जब जहां चाहा मल मूत्र का त्याग किया। जब जैसे चाहा सोते रहे और जब जहां चाहा सन्तान उत्पन्न करने को प्रवृत्त हो गए। हम नित्य प्रत्यक्ष देखते हैं कि बैल भैंसा जब जिस तालाब में जल पीता है तब उसी तालाब में साथ ही साथ मूत्र का त्याग करता है, उसे यह ज्ञान नहीं कि इस तरह यह मूत्र लौटकर मेरे ही पेट में आजायगा। वह कितनी बार खाते हैं और कितनी बार गोबर करते हैं इसका कुछ नियम नहीं। दिन भर ही दोनों कृत्य चलते रहते हैं। सन्तान उत्पन्न करते समय मां बहिन जो भी सामने आ गई तत्काल वहीं व्यवाय में प्रवृत्त हो गए। बस, यह कामाचार और काम भक्षता की प्रवृत्ति ही तिर्यञ्चों की सद्यः मृत्यु का कारण है।

लोक में यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि यदि दश साल की गारन्टी वाली घड़ी खरीदकर कोई अनजान व्यक्ति उसमें उल्टी चाबी भरने लगे तो वह तत्काल ही बेकार हो जायगी। 'गारन्टी' का अर्थ तो यही हो सकता है यदि उस वस्तु को विधिवत वर्ता जाय तो वह नियत काल तक काम दे सकती है। अपने हाथों हथोड़ों से तोड़ते

समय गारन्टी-पत्र उसकी रक्षा नहीं कर सकता। ठीक इसीप्रकार मानव-पिण्ड की जीवन गारन्टी—'शतं जीवेम' के अनुसार साधारणतया अन्यून सौ वर्ष है, परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि मनुष्य की जीवनचर्य्या शास्त्रविधि पर अधिष्ठित हो। इसलिये शास्त्र विधि को ढकोंसला और पोपलीला बताकर कामाचार कामभक्ष प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना मानों, मानव समाज को 'साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीनः' बनने के लिये प्रोत्साहित करना है।

प्रातः जागरण—

हमारी दैनिक चर्या का आरम्भ प्रात. ब्रह्म मुहूर्त में जागरण से होता है। शास्त्रों की आज्ञा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत ।

अर्थात्—प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में उठना चाहिये। ब्रह्म मुहूर्त की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है—

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः ।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने ॥

अर्थात्—रात्रि के अन्तिम प्रहर का जो तीसरा भाग है उसको ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। निद्रा त्याग के लिये यही समय शास्त्र विहित है।

प्रात जागरण का यह नियम हमारी दैनिक चर्या का अत्यत महत्व पूर्ण नियम है। समस्त दैनिक क्रियाओं की सफलता या असफलता बहुत कुछ इसी पर निर्भर है, क्यों कि प्रत्येक प्रभात हमारे नये जीवन का प्रारम्भ काल है। उस में नव जीवन के निर्माण का स्फूर्तिप्रद सन्देश निहित है। यदि हम उस समय प्रमाद और आलस्य में सोते रहकर—उस सन्देश को न सुन पाए तो हम

जीवन में पिछड़े ही समझो। जो जीवन के प्रारम्भ में ही अपने साथियों से पीछे रह गया हो भविष्य में उस के आगे बढ़ने की क्या आशा ? वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञात होगा कि हमारा प्रत्येक दैनिक जीवन हमारे पचास सौ वर्ष के वृहत्तर जीवन का ही नहीं, किन्तु अर्बों खर्बों वर्षों के सृष्टि जीवन का संक्षिप्त संस्करण है। विशाल सृष्टि और प्रलय की एक हल्की सी झांकी हम अपने दैनिक जीवन में प्रतिदिन अच्छी तरह देख सकते हैं। जिस प्रकार प्रलय काल में समस्त सृष्टि, कर्म-विरत एवं चेतना-शून्य होकर निश्चेष्ट भाव से, तमोमयी कालरात्रि की गोद में समा जाती है और समय आने पर प्रकृति की प्रेरणा से उद्बुद्ध होने लगती है, उसी भांति दैनिक जीवन में भी दिन भर के परिश्रम से थके मांदे प्राणी चेतना शून्य हो कर रात्रि की गोद में विश्राम लेते हैं और प्रातः होने पर प्रकृति की प्रेरणा से पुनः प्रबुद्ध होजाते हैं। यह कितनी बड़ी विडम्बना है, कि इस प्रेरणा को, उच्छृङ्खल मानव सुन कर भी नहीं सुन पाता; जब कि प्रकृति के नियन्त्रण में रहने वाले चराचर के समस्त जीव उस के समान्य से इंगित पर अपने आप जाग जाते हैं।

कभी सूक्ष्म दृष्टि से इस समय का अध्ययन कीजिए फिर आप देखेंगे, कि उस समय का प्राकृतिक वातावरण कितना मधुर और निराला होता है। प्रातः काल होते ही कमल खिल उठते हैं भ्रमरावली गुञ्जार करने लग जाती हैं, पक्षी अपने कलरव से उपवनों और उद्यानों को मुखरित कर देते हैं, शीतल मन्द समीर अपने आवरण में मकरन्द की मादक गन्ध लिये डोलने लग जाता है; सचमुच ही समस्त सृष्टि एक नवीन जीवन की अनुभूति से खिल उठती है। और तो और, विट्भक्षी कुक्कुट सा अधम जीव भी प्रातः होने के साथ ही तार-स्वर में बांग देकर अपने जग जाने का प्रमाण देना

प्रारम्भ कर देता है। और तब, —मानव—आज का मानव।—प्रकृति को धता बता, प्रातः जागरण के वैदिक उपदेश को चन्द व्यक्तियों के लिये ही आचरणीय उपदेश समझ, सूर्य चढ़े तक बिस्तर पर करवटे लेता नहीं अघाता। उसका प्रातःकाल तो तब होता है जब ८ बजे रेडियो के मधुर स्वरों से—

जागा सब संसार उठो अब भोर भई!

की सुरीली आवाज, उसको प्रातःकाल हो जाने की सूचना देने लगती है।

प्रातः जागरण क्यों ?

यद्यपि उपरोक्त प्रश्न का वास्तविक उत्तर तो इसका आचरण करने पर ही मिल सकता है, क्योंकि किसी भी शंका का समाधान उसके उत्तर में प्रतिपादित तथ्यों की अनुभूति से ही सम्भव है, तथापि इतना जान लेना चाहिये कि यह समय शारीरिक स्वास्थ्य, बुद्धि, आत्मा, मन आदि सभी की दृष्टि से निद्रा छोड़कर जग जाने के लिए परम उपयुक्त है। इस समय प्रकृति मुक्तहस्त से स्वास्थ्य, बुद्धि मेधा प्रसन्नता और सौन्दर्य की अपार राशि लुटाती है; इस समय बहने वाली वायु के एक एक कण में संजीवनी शक्ति का अपूर्व संमिश्रण रहता है। यह वायु रात्रि में चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी पर बरसाये हुये अमृत विन्दुओं को अपने साथ लेकर बहती है। इसीलिये शास्त्रों मे इसे वीरवायु के नाम से स्मरण किया है। जो व्यक्ति इस समय निद्रा त्याग कर तथा चैतन्य होकर इस वायु का सेवन करते हैं उनका स्वास्थ्य सौन्दर्य और आयुष्य वृद्धि को प्राप्त होता है। मन प्रफुल्लित हो जाता है एव आत्मा में नव चेतनता का अनुभव होता है। आयुर्वेद कहता है—

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।
ब्राह्मे मुहूर्ते संजाग्रच्छ्रियं वा पंकजं यथा ॥ (भै० सार-६३)

अर्थात्—ब्रह्म मुहूर्त मे उठने से पुरुष को सौन्दर्य, लक्ष्मी, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु आदि की प्राप्ति होती है। उसका शरीर कमल के सदृश सुन्दर हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण रात्री के पश्चात् प्रातः जब भगवान् सूर्य उदय होने वाले होते हैं तो उनका चैतन्यमय तेज आकाश मार्ग द्वारा विस्तृत होने लगता है। यदि मनुष्य सजग होकर स्नानादि से निवृत्त हो, उपस्थान एवं जप द्वारा उन प्राणाधिदेव भगवान् सूर्य की किरणों से अपने प्राणों में अतुल तेज का आह्वान करे, तो वह पुरुष दीर्घजीवी हो जाता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त वायु का विभाग साधारणतया निम्नक्रम से किया जाता है।

आक्सीजन (प्राणप्रद्वायु)	२१ प्रतिशत
कारबन डाईऑक्साइड (दूषित वायु)	६ प्रतिशत
नाईट्रोजन (नत्रजन)	७३
	१०० ”

विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण दिन वायु का यही प्रवहण क्रम रहता है किन्तु प्रातः और सायं जब सन्धि काल होता है इस क्रम में कुछ परिवर्तन हो जाता है। साय काल जगत्प्राणप्रेरक भगवान् सूर्य के अस्त हो जाने से आक्सीजन (प्राण प्रद वायु) अपने स्वाभाविक स्तर से मन्द पड़ जाती है और मनुष्यों की प्राणशक्ति भी क्षीण हो जाती है उन्हें विश्राम की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। इसी प्रकार प्रातः काल के सूर्योदय के साथ ही उस वायु के स्तर में वृद्धि होना स्वाभाविक है। इसलिये यदि इस समय

निद्रामुक्त हो कर मनुष्य उस वायु का सेवन करे तो उस का स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जाएगा— यह बतलाने की विशेष आवश्यकता ही नहीं है। वास्तव में दीर्घजीवन का एक ही मूल मन्त्र है–जल्दी सोओ जल्दी उठो। Early to go bed early to rise, make a man Healthy Wealthy and wise अर्थात्— जल्दी सोना और जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान और बुद्धिमान बना देता है" की अंग्रेजी कहावत सर्वांश में सत्य ही है।

प्रातः जागरण और महानता का पारस्परिक योग है। सभी महान् व्यक्ति प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में ही उठते हैं, और इस समय नियम-पूर्वक प्रति दिन उठने वाले प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, शारीरिक और बौद्धिक उन्नति से विलक्षण हो जाता है इस में किंचित् भी सन्देह नहीं। विश्ववंद्य महात्मा गांधी प्रतिदिन इसी ब्रह्म मुहूर्त में उठ कर अपनी दैनिक चर्या में लग जाया करते थे। आगत पत्रों के उत्तर, समाचार पत्रों के लिये लेख तथा सन्देशादि वे इसी समय तैय्यार करते थे। लिखने पढ़ने के लिये तो वास्तव में इस से उपयुक्त समय हो ही नहीं सकता। एकान्त और सर्वथा शान्त वायुमण्डल में जब कि मस्तिष्क बिलकुल उर्वर होता है, ज्ञानतन्तु रात्री विश्राम के बाद नव-शक्ति-युत होते हैं—मनुष्य को बौद्धिक कार्य करने में विशेष श्रम नहीं करना पड़ता।

इसलिये हमें प्रकृति के इस अमूल्य वरदान से लाभ उठाना चाहिये और ऐसा अभ्यास डाल लेना चाहिये कि बिना किसी की सहायता के प्रतिदिन उठ जावें। इस के लिये एक छोटा सा उपाय कार्य में लाया जा सकता है। रात्री में सोते समय यदि व्यक्ति अपनी आत्मा से प्रातः अमुक समय पर उठने का संकल्प व्यक्त करदे तो निश्चय ही उसी समय पर नींद खुल जायगी और यदि उस समय

हमने आलस्य का आश्रय नहीं लिया तो फिर कुछ दिनों में बिना किसी की सहायता के स्वतः उठने लगेंगे।

प्रातः स्मरण—

(ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थं चानुचिन्तयेत् —मनु)

धर्मशास्त्रों ने निद्रा त्याग के उपरान्त मनुष्य-मात्र का प्रथम कर्तव्य उस कोटि २ ब्रह्माण्ड-नायक, सच्चिदानन्द-स्वरूप प्यारे प्रभु का स्मरण करना बतलाया है—जिस की असीम कृपा से अत्यंत दुर्लभ मानव देह प्राप्त हुई है, जो समस्त सृष्टि के कण २ में ओतप्रोत है, सत्य है, शिव है, सुन्दर है। जिसकी कृपा-कोर से मनुष्य सब प्रकार के भयों से मुक्त होकर--'अहं ब्रह्मास्मि' के उच्च लक्ष्य पर पहुंच कर तन्मय हो जाता है। दैनिक जीवन के प्रारम्भ में उस के स्मरण से हमारे हृदय में आत्मविश्वास और दृढ़ता की भावना ही उत्पन्न नहीं होगी अपितु सम्पूर्ण दिन मंगलमय वातावरण में व्यतीत होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने २ विश्वास और भावना के अनुसार भगवत्स्मरण करने की पूरी स्वतन्त्रता है। जो व्यक्ति विशेष कुछ नहीं जानते वे यदि श्रद्धा पूर्वक राम नाम महा मन्त्र का ही स्मरण करें तो भी कल्याण-भाजन हो सकते हैं।

उक्त विषय का विस्तार तो आह्निक सूत्रावली आदि दिनचर्या विधायक ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। हम यहां विशेष वक्तव्य योग्य एक पद्य ही उद्धृत करते हैं यथा:—

प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्तिशान्त्यै,
नारायणं गरुड़वाहनभञ्जनाभम्।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं,
चक्रायुध तरुणवारिज–पत्र–नेत्रम्॥ १॥

प्रातःस्मरणीय शिष्टाञ्जलि और उसका महत्व-

भगवत्स्मरण सम्बन्धी कतिपय पद्यों के अतिरिक्त हिन्दुओं के दैनिक पाठ मे शिष्टाञ्जलि नामक कुछ पद्यों का सन्निवेश और होता है जिसको कि प्रति दिन प्रातः काल नियम पूर्वक पढ़ा जाता है। इस अञ्जलिका अपना विशेष महत्व है, धार्मिक और राष्ट्रीय दोनों ही दृष्टि से इसका पठन प्रत्येक भारतीय के लिये अत्युपयोगी है। इस की सहायता से हम अपने इस पवित्र देश में उत्पन्न हुए, उन महापुरुषों की उज्ज्वल स्मृति को अक्षुण्ण रखते हैं जिन्होंने अपने शुभ कार्यों, अनथक प्रयत्नों और अनुपम बलिदानों द्वारा हमारे इस राष्ट्र को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाया; जिन महापुरुषों के चरित्र मानव-मात्र के लिये आदर्श रहे हैं और जिन पर आज भी हम गर्व कर सकते हैं। इस अञ्जलि में हमें अपने देश की उन पुण्य सरिताओं एवं स्थानोंकी आभारपूर्ण स्मृति मिलती है-जो धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व पूर्ण हैं। यह स्थान प्राचीन समय में भारतीय राजनीति, सांस्कृतिक-विकाश एवं धार्मिक परम्पराओं के केन्द्र रहे हैं, हमारा पूर्व का सम्पूर्ण इतिहास इन से सम्बद्ध है। पवित्र सलिला गङ्गा यमुना आदि सरिताएं-जहां वैज्ञानिक दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती हैं, वहां भारत वसुधा को लाखों वर्षों से आज तक—'सुजला सुफला शस्य-श्यामला' और समृद्ध बनाने में उन का कितना उपयोग हो रहा है यह किसी भी भारतीय से छिपा नहीं है।

भौगोलिक एवं ऐतिहासिक प्रेरणा भी इस अञ्जलि की अपनी विशेषता है। आज इतिहास एवं भूगोल, स्कूली विषय बन गए हैं। पुस्तकों के शब्द-जाल में जकड़ कर इन रोचक विषयों को ऐसा

दुरूह बना दिया है कि वे बच्चों के लिये होव्वा बन गये हैं। इतिहास के पत्रों को रटते २ बेचारों का दिमाग खाली हो जाता है, इस पर तुर्रा यह है, कि आज के नव शिक्षित युवक से आप उस के पूर्वजों ऋषि महर्षियों 'पराक्रमी राजाओं' और भारतीय इतिहास के अन्य प्रमुख पात्रों के विषय में कुछ पूछिये तो वह इन के ज्ञान से सर्वथा शून्य ही होगा। उसे इंगलैण्ड के इतिहास के हैनरी सेविन्थ, ऐलिजाबैथ आदि, भारतीय इतिहास के अकबर, जहांगीर आदि का तो ज्ञान होगा किन्तु आदि सम्राट् मनु, न्याय-परायण शिवि, भारत की नींव डालने वाले भरत आदि नाम से वह सर्वथा अपरिचित होगा।

प्राचीन समय मे इतिहास भूगोल घरेलू विषय होते थे। प्रातः-कालीन इन वन्दनाओं से ले कर समय २ पर होने वाली कथा वार्ता प्रवचन आदि द्वारा अपढ़ से अपढ़ व्यक्ति को भी दुरुह ऐतिहासिक घटनाए चुटकियों में याद हो जाती थीं इस 'अञ्जलि' मे भारतीय इतिहास के जिन उज्जवल नर रत्नों और जिन ऐतिहासिक स्थानों नदियों आदि का वर्णन है-प्रतिदिन इन श्लोकों के पाठ करने वाले व्यक्ति का, इन के विषय मे विशेष ज्ञान के लिये उत्कंठित होना स्वाभाविक है। प्रतिदिन 'पुण्यश्लोको नलो राजा' बोलने वाले व्यक्ति के हृदय में क्या यह भाव उत्पन्न न होगा कि आखिर यह नल राजा है कौन ? इसी जिज्ञासा पूर्ति के रूप में इतिहास का जन्म होता है। घर में रहने वाले बूढ़े बाबा, दादी, बालक को राजा नल और दमयन्ती की कथा सुना कर उसे बिस्तर पर पड़े २ इतिहास का पाठ पढ़ाते हैं। 'पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः' के प्रश्न पर उसे महाभारत के इतिहास का पाठ पढ़ाया जाता है। 'अयोध्या मथुरा माया—पाठी बालक के 'दादा। अयोध्या कहां है ?' जैसे भोले भाले प्रश्न के

उत्तर में दादा उसे अयोध्याका भौगोलिक परिचय देते है इसप्रकार क्रान्तदर्शी महर्षियों ने खेल २ में ही बालकों के हृदय मे भौगोलिक और ऐतिहासिक जिज्ञासा, उकण्ठा और रुचि उत्पन्न करने का यह कितना सुन्दर क्रम स्थिर किया है-इसे हम आज भूल गये हैं। इस प्रकार से हम अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखने में कितने सहायक होते हैं इस का भी विचार हम कभी नहीं करते।

इधर कुछ दिनों से राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक संघ के संचालकों ने इस की महत्ता को अनुभव किया है और अपने कार्य क्रम में इस को स्थान देकर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है-यह हर्ष का विषय है। यद्यपि इस में भाग लेने वाले स्वयं-सेवकों में संस्कृतानभिज्ञों की संख्या ही अधिक है और ऐसी दशा में इस अञ्जलि का अर्थ भी उन की समझ में न आएगा किन्तु यह निश्चित है कि निरन्तर किसी एक ही शब्द के उच्चारण से उस का अर्थबोध होने लगता है। इस लिये इस से सभी स्वयंसेवकों को महान् लाभ ही होगा इस में कोई सन्देह नहीं।

यह है इस 'शिष्टाञ्जलि' के नित्यपाठ की 'क्यों' का संक्षिप्त समाधान। आशा है इतने से ही एतद्विषयक जिज्ञासा की शान्ति हो सकेगी और हम नियम पूर्वक प्रातः काल इस का पठन अवश्य करेंगे।

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥
अहिल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक,—
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्,
पुण्यानिमान् परमभागवतान्नमामि ॥
धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन,
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन ।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन,
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः ॥
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥
मनुं स्मराम्यादि गुरुं प्रजानाम्,
भागीरथं धीरमुदग्रयत्नम् ।
भूपं हरिश्चन्द्रमभंगवाचम्
श्रीरामचन्द्रं रघुवंशसूर्यम् ॥

स्थानाभाव से हम यहां कतिपय पद्यों का ही समावेश कर सके हैं। आह्निकसूत्रावली आदि ग्रन्थों मे इसे पूर्ण रूप से देखा जा सकता है।

कर दर्शन—

भगवत्स्मरणानन्तर शास्त्रीय विधान, कर दर्शन का है।

कराग्रे वसते लक्ष्मी करमध्ये सरस्वती ।
करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम् ॥

अर्थात्—हाथ के अग्र भाग में लक्ष्मी का निवास है, हाथ के मध्य भाग में सरस्वती रहती है और हाथ के मूल भाग मे गोविन्द भगवान् रहते हैं इसलिये प्रातःकाल कर का दर्शन करना चाहिये।

उपर्युक्त श्लोक बोलते हुए अपने हाथों को देखना चाहिये। यह शास्त्रीय विधान बड़ा ही अर्थपूर्ण है। इस से मनुष्य के हृदय में आत्म निर्भरता और स्वावलम्ब की भावना का उदय होता है। वह जीवन के प्रत्येक कार्य मे दूसरों की तरफ न देख कर-अन्य लोगों के भरोसे न रह कर— अपने हाथों की तरफ ही देखने का अभ्यासी बन जाता है। संसार में मनुष्य, जो कुछ भी भला या बुरा कार्य करता है, हाथ से ही करता है। यह हाथ ही—धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की कुंजी है। मूल श्लोक में बतलाया गया है कि मानव जीवन की सफलता के लिये संसार में तीन वस्तुओं की आवश्यकता है, धन, ज्ञान, ईश्वर। इन में से एक के बिना भी जीवन अधूरा है। यह तीनों लक्ष्यभूत वस्तुएं, हमारे हाथ-जो कि कर्मका प्रतीक है-में निवास करती हैं, अर्थात् अपने हाथों द्वारा शुभाशुभ कार्य करके हम इन वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये करतल अवलोकन करते हुए श्लोक पठित भावना को आत्मसात् करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि मैं अपने जीवन में सफल व्यक्ति हूंगा, मैं किसी के सहारे न रह कर अपने हाथों के ऊपर निर्भर रहूंगा, इन से परिश्रम करके मैं दारिद्रता मूर्खता को परास्त करूंगा और अन्त में गोविन्द को प्राप्त कर जीवन्मुक्त हूंगा।

भारत माता की वन्दना—

मातृ-भूमि वन्दना भी प्रातः कालीन कृत्यों में से आवश्यक कृत्य है। कर दर्शन के अनन्तर शास्त्रकारों ने मातृ-वन्दना का विधान

किया है। निम्न लिखित प्रार्थना के साथ पृथ्वी को स्पर्श करते हुए यह वन्दना की जाती है।

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तनमण्डले।

विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।

अर्थात्— हे समुद्ररूपी वस्त्रों वाली, पर्वत-रूपी स्तनों से विभूषित, विष्णु-पत्नि ! मैं तुझे प्रणाम करता हूं, मेरे पादस्पर्श को क्षमा करना।

भारतमाताके आधुनिक पुजारियों से दो दो बातें

उपर्युक्त श्लोक में कितने सरल और संक्षिप्त शब्दों में रूपक द्वारा मातृ-भूमि का चित्र प्रस्तुत किया गया है—यह सहज ही जाना जा सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि देश प्रेम तथा मातृ-भूमि-प्रेम आदि भावनायें पश्चिम की देन हैं और विदेशी सम्पर्क से ही भारत में इनका प्रचार एवं प्रसार हुआ है। उनका कहना है कि कांग्रेस द्वारा, पराधीनता के विरुद्ध उठाये गये जन आन्दोलन से पूर्व, मातृभूमि या भारत माता की कोई कल्पना भारतीयों के सामने थी ही नहीं; यह बात सत्य से कोसों दूर तो है ही, किन्तु विदेशी प्रभुवों द्वारा प्रसारित उस शरारत पूर्ण घृणित प्रचार का भी अच्छा खासा नमूना है जो वे लोग भारतीय संस्कृति को बदनाम करने के लिये समय २ पर किया करते हैं। वन्देमातरम् का राग आलापने वाले आधुनिक देश भक्त तो खास खास समारोहों पर भारत माता की वन्दना करके ही फूले नहीं समाते, किन्तु देश मे करोड़ों की संख्या में बसने वाले और प्रतिदिन प्रातःकाल नियम पूर्वक भारत माता की वन्दना करने वाले भारत मां के सच्चे भक्तों

की मूक साधना को कितने व्यक्ति जान पाते हैं? सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित, सनातन धर्मियों के धार्मिक नित्य कृत्यों में भारतमाता वन्दना का यह विधान, उन लोगों के लिए एक खुली चुनौती है जो मातृभूमि प्रेम को आधुनिक युग की देन बतलाते है।

राष्ट्रीय चेतना का मूल मंत्र—

इस पद्य में मातृभूमि के उन सब गुणों का—जो कि एक माता में होने चाहियें—वर्णन बडे ही सुन्दर ढंग से किया गया है। ३२ अक्षर के छोटे से अनुष्टुब् वृत्त में इतनी सरलता से इतने गम्भीर अर्थों का समावेश ही इस वन्दना की विशेषता है। प्रथम पाद में भारत मां को 'समुद्र वसने' कहा गया है। इसका तात्पर्य जहां भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा—समुद्र से घिरी हुई—निर्देश करना है, वहां भारत मां की लज्जा-शीलता को भी बतलाना है। सभी पुत्र अपनी माता को बहुमूल्य वस्त्राभरणों से अलंकृत देखकर प्रसन्नता अनुभव करते हैं; यह भी हम सब की हार्दिक कामना होती है कि जननी जैसे गौरव पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कोई भी स्त्री सभी आदर्श गुणों से युक्त होनी चाहिये। उसमें स्त्री सुलभ शालीनता अवश्य हो। वस्त्रों की चर्चा करते हुए कवि ने इस वन्दना में लक्षण द्वारा भारत मां की शालीनता को भली प्रकार प्रकट कर दिया है। भारतवर्ष में दूर दूर तक फैले हुए हरे भरे वनों उपवनों को वस्त्र न कहकर 'समुद्र' को ही भारत मां के वस्त्र से उपमित करना भी रहस्य से खाली नहीं है। बहुत प्राचीन समय से ही समुद्र, विदेशी व्यापार की कुञ्जी रहा है। आज भी जिन राष्ट्रों का समुद्र पर प्रभुत्व है वे थैलीशाह बने बैठे हैं। इस 'वन्दना' की रचना के समय, समुद्र, भारत के ही अधिकार में थे, समुद्रों से

होने वाले व्यापार पर उसका पूर्ण अधिकार था, फलतः भारत मां इन समुद्रों का उपयोग उतने ही प्रेम, सावधानी और चाव से करती थी जितना कि आज भी स्त्रियें अपने बहुमूल्य वस्त्रों का करती हैं। इन वस्त्रों से उसकी लोकोत्तर शोभा होती थी जिसको देखकर विदेशी ईर्ष्या किया करते थे। हम अभागे भारतीयों ने मां के इन बहुमूल्य वस्त्रों का मूल्य न समझा जिसका परिणाम हमें भोगना पड़ा।

'समुद्र वसने' सम्बोधन से भारत माता को जहां सम्भ्रान्त महिला की भान्ति लज्जा गुण से युक्त प्रकट किया गया है वहां राष्ट्रीय दृष्टि कोण से, रत्नाकर महोदधि आदि-आज भी 'इण्डियन ओसन' या हिन्द महा सागर नाम से पुकारे जाने वाले-महा समुद्रों को भारत माता के सुतरां संरक्षणीय उपकरण प्रकट किया गया है। आज से अन्यून नौ लाख वर्ष पूर्व विदेशी रावण ने सीता माता की साड़ी को छू डाला था जिसका बदला चुकाने के लिये मानव समाज की कौन कहे, भारत के अर्ध-सभ्य कहे जाने वाले रीछ, बानर और गीध जैसे पशु पक्षियों में थलका मच गया था, शतयोजन समुद्र का पुल बांधकर सोनेकी लंका धूलमें मिलादी गई थी इसीप्रकार पांच सहस्र वर्ष पूर्व दुर्मार्गी दुःशासन ने द्रौपदी की साड़ी को छूने का दुःसाहस कर डाला था फलस्वरूप कुरुक्षेत्र के मैदान में छत्तीस लाख योधाओं के मूंड कट गए थे।

काश। दो सौ वर्ष पूर्व, जब विदेशी लुटेरे भारत मां की समुद्र रूपी साड़ी को अपने स्टीमरों से रोंदते हुए इस देश मे घुस आए थे, तब यदि उसके लाडले बेटे जान पाते कि—'उनकी माता की लाज खतरे मे है! विदेशी उसे नग्न करना चाहता है!'—तो उन्हें पराधीनता न भोगनी पड़ती।

श्लोक का दूसरा चरण 'पर्वत-स्तनमण्डले' है। माता, चाहे कितनी भी लज्जाशीला तथा कुलीना हो, किन्तु यदि वह अपने बालक का पोषण नहीं कर सकती; यदि उसके स्तनों में बालक के पोषण के लिए पर्याप्त दुग्ध न हो, तो पुत्र के लिये उस माता का होना न होना बराबर है! वह पुत्र प्रथम तो जीवित ही नहीं रह सकता, कदाचित रह भी जाय तो सदा निर्बल ही रहेगा। इस पाद में बतलाया गया है कि भारत माता जहां लज्जा-शीला है, वहां हिमालयादि पर्वत-रूपी उन सुन्दर स्तनों वाली है जिन स्तनों से निकलने वाली गंगा यमुना गोदावरी आदि सहस्रों क्षीर-धारायें देश के पैंतीस करोड़ बालकों का पालन पोषण कर रही हैं। इसके बालक, जीवन निर्वाह के लिये अन्य राष्ट्रों की तरह किसी दूसरी धाय की खुराक पर निर्भर नहीं। सभी वस्तुओं में वे स्वाश्रित हैं। यद्यपि विदेशी शासकों की कृपा से पिछले कुछ वर्षों से भारत को विदेशों से अन्न मंगाकर अपनी आवश्यकता को पूरा करना पड़ता रहा है, किन्तु इसका कारण, लाखों वर्ग मील कृषि योग्य भूमि का बन्जर पड़ा रहना है, जिसे दूर करने के लिये देश की जनता सतत प्रयत्न शील है। आशा है इस कमी के दूर होते ही अन्न के लिए भी हम पर-निर्भर न रहेंगे।

इसके अतिरिक्त उक्त विशेषण द्वारा यहां यह भी व्यक्त किया गया है कि यदि कभी संसार व्यापी महा-युद्ध के समय शत्रु देशों द्वारा नाका बन्दी का नाजुक अवसर आ पड़े तो अन्यान्य देशों की तुलना में भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो अपने देशवासियों की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। अमेरिका में रूई, कनाडा और आस्ट्रेलिया में गेहूं, मिश्र और बरमा मे मिट्टी का तेल आदि एक दो पदार्थ चाहे कितनी ही मात्रा में क्यों न उत्पन्न होते

हैं, परन्तु अन्यान्य वस्तुओं के लिये उन्हें दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो सब ऋतुओं के अस्तित्व के कारण अपने देशवासियों को खाने को अन्न, पहिरने को वस्त्र और जीवनोपयोगी अन्यान्य सभी पदार्थ प्रभूत-मात्रा में प्रदान कर सकता है। आलंकारिक शब्दों में भारत माता के हिमालय, गौरी शिखर, कंचन जंघा, धवल गिरी, कैलाश आदि ऊंचे स्तन रूप पर्वतों से बहने वाली गंगा, यमुना, सिन्ध और ब्रह्मपुत्र जैसी समुद्र गामिनी पयस्विनी धारायें प्रिय पुत्रों के पोषण करने में सर्वथा समर्थ हैं।

श्लोक के तृतीय चरण में भारत मां को 'विष्णुपत्नि' शब्द से सम्बोधित किया गया है। भारत-माता का जो काल्पनिक चित्र आज हमारे सामने उपस्थित किया गया है यदि गहन दृष्टि से देखा जाय तो वह अधूरा है। आज हम, सभी राष्ट्रिय कार्योंके प्रारम्भ में।

वन्दे मातरम्।
सुजलां सुफलां शस्यश्यामलाम् ॥

आदि गीत द्वारा भारत माता की वन्दना तो करते हैं, किन्तु इस बात को कभी स्मरण नहीं करते कि 'हमारा पिता कौन है ?" आखिर जब हमारी माता है तो कोई पिता भी तो होना ही चाहिए। पश्चिम के नास्तिक देशों में चूंकि 'अनीश्वरवाद' की प्रधानता है इसलिए वे, शूकर कूकरादि पशुओं की भांति माता मात्र का ही परिचय रखते हैं। ससार में मनुष्य का सब व्यवहार पिता के नाम के साथ ही होता है। स्कूल, कचहरी, नौकरी, चाकरी, गर्ज है—कि जन्म कालीन उल्लेख से लेकर मृत्यु-कालीन खाते पर्यन्त सर्वत्र पिता का नाम ही अनिवार्य रूप से लिखा जाता है। केवल नाने के घर में

मातामह की गोद में बैठे बालक को देखकर किसी के यह पूछने पर कि यह बालक किसका है?, नाना महाशय अपनी लड़की का नाम लेते हुए बालक का परिचय दिया करते हैं। तो क्या परमपिता ईश्वर से पराङ्मुख भारतमाता के पुत्र होने का दम भरने वाले ये आधुनिक छोकरे भारतको अपना पितृगृह नहीं समझते हैं ? क्या वे अपने आपको नाना के घर का मेहमान मानते हैं ?

उस दिन विद्यालय में प्रविष्ट होने वाले सभी कुलीन छात्रों ने अपना प्रवेश पत्र भरते हुए बड़े गर्व के साथ पितृ-नाम का उल्लेख किया, परन्तु जब मुन्नीजान के लड़के से पूछा गया तो वह लज्जा-नम्रमुख होकर पृथ्वी ताकने लगा। आखिर बाजारू औरत का लड़का पिता का परिचय दे ही क्या सकता है ?

यही हाल मातृ-भूमि के उन लाडले पुजारियों का है, जो पिता को नजरन्दाज करते हुए मां के ही गुण गा २ कर दुनिया की नजरोंमें सपूत बनना चाहते हैं। पिताके विषयमें अनजान होना बालक की मूर्खता का द्योतक तो है ही, किन्तु मां के चरित्र पर एक अपरि-मार्जनीय लाञ्छन भी है। विदेशी छाया से तैयार हुई हमारी इस काल्पनिक मातृ-वन्दना में भी, न केवल भारत अपितु समस्त विश्व के पिता—ईश्वर—का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया है। इस लिये 'वन्दे मातरम्' का यह गान नितान्त अधूरा है।

इसके विपरीत उपर्युक्त पद्य में 'विष्णु-पत्नि !' कहकर जहां भारतमाता को सौभाग्यवती बनाकर वन्दना की गई है, वहां आध्यात्मिक दृष्टि से हमारा, ईश्वर के साथ कितना घनिष्ट सम्बन्ध है—यह भी भली भांति दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त वन्दना पूर्वक भूमि स्पर्श करते हुए हम एक सत्पुत्र की भांति अपने हृदय में विद्यमान मातृ-प्रेम को प्रकट करके अपने कर्तव्य का पालन भी

करते हैं। इसलिये प्रत्येक भारतीय को जो कि भारत भू को हृदय से मातृभूमि समझता है अवश्य ही यह वन्दना करनी चाहिये।

शय्या परित्याग के बाद शौच स्नानादि नित्य कृत्य करने चाहिये। इस विषय में प्रसगवश यह भी लिख देना उचित होगा कि प्रात काल सर्व प्रथम जिन पदार्थों पर हमारी दृष्टि पड़े वे ऐसे न होने चाहियें कि उनको देखने से हमारे हृदय में ग्लानि, क्रोध, विषाद आदि भावों का उदय हो।

प्रातः दर्शनीय पदार्थ—

धर्मशास्त्रकारों ने उपर्युक्त भाव को हृदय मे रखकर प्रभात काल में दर्शनीय तथा अदर्शनीय पदार्थों का वर्गीकरण किया है जो कि सर्वथा मनोविज्ञान की भावनाओं पर अवलम्बित है। मनोविज्ञान बतलाता है कि मन की निश्चल एवं शान्त अवस्था में जो वस्तु उसके सम्पर्क में आयेगी उसका मन पर अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक संस्कार पडेगा और वह संस्कार चीर स्थायी रहेगा। प्रभात काल मे जब हम अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करके उठते हैं, उस समय मन एवं मस्तिष्क दोनों, अपेक्षाकृत हल्के स्वस्थ एवं शान्त होते हैं। मनका कार्य है मनन करना—आभ्यन्तरिक विचार सृष्टि की रचना करना। प्रात.काल उठने के बाद जो वस्तु सबसे पहिले उसे दिखाई दी, उसने उसी के बारे में मनन प्रारम्भ किया। फलतः हमारा आभ्यन्तर वातावरण उस मनन से प्रभावित होगा और दिन भर उससे मुक्त न हो सकेंगे। यदि वह वस्तु भली हुई–कल्याण कारक हुई–तो विचारों की उत्तमता अनिवार्य है यदि वह अच्छी न हुई—हृदय पर उसका अच्छा प्रभाव न पड़ा—तो या तो तत्सन्बन्धी विचारों में मन संकुचित हो जायेगा या उसकी प्रवृति बुरे ही कार्यों मे होगी।

इसलिये लोग कहा करते हैं कि—आज तो ऐसे का मुंह देखा कि रोटी भी नसीब न हुई। यह धारणा भ्रान्त नहीं, किन्तु वेदमूलक है और सर्वथा मनोविज्ञान पर आश्रित है।

छान्दोग्य परिशिष्ट में इसका वर्णन करते हुए लिखा है

श्रोत्रियं सुभगां गाञ्च अग्निमग्निचितं तथा।

प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भ्यः स विमुच्यते ॥

अर्थात्—जो पुरुष प्रातः उठकर वेदपाठी विद्वान पुरुष, सौभाग्यवती स्त्री, गौ, अग्नि तथा याज्ञिक का दर्शन करता है वह आपत्तियों से विमुक्त हो जाता है। इसके विपरीत—

पापिष्ठं दुर्भगां मद्यं नग्नमुत्कृत्तनासिकम्।

प्रातरुत्थाय यः पश्येत्तत्कलेरुपलक्षणम् ॥

अर्थात्—प्रातःकाल उठकर इन वस्तुओं का दर्शन साक्षात्कलियुग का दर्शन है—पापी पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, शराब, नंगा और नकटा पुरुष।

इन दोनों श्लोकों का सामञ्जस्य करने पर पाठक स्वयं जान सकेंगे कि यह धारणा विज्ञान संमत है या नहीं। हमें अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

मल विसर्जन—

कहा जा सकता है, कि बिना इस पुस्तक को पढ़े भी मनुष्य प्रतिदिन मलत्याग करते ही हैं, और—मनुष्यों की बात छोड़ दीजिए, पशु पक्षी भी बिना किसी रुकावट के इस प्राकृतिक आवश्यकता को पूरा कर लेते हैं फिर ऐसे घिनौने विषय पर व्यर्थ ही पृष्ठ काले करके समय का दुरुपयोग क्यों? किन्तु वास्तव में ऐसा विचार करना भूल है। दैनिक-चर्या का जो सर्वाङ्गीण विधान

शास्त्रकारों ने बतलाया है उसके ज्ञान के विना की जाने वाली समस्त क्रियाये अधूरी रहती है और लाभप्रद सिद्ध होने की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध होती हैं। इस विषय की ओर समुचित ध्यान न देने के कारण ही तीन चौथाई मनुष्य नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्यथाओं से पीड़ित रहते हैं। इसलिये यह आवश्यक है, कि ऐसे-घिनौने-किन्तु अनिवार्य और आवश्यक विषय पर भी चन्द पंक्तिये अवश्य लिखी जांय।

प्रत्येक मनुष्य को दिन मे दो बार शौच अवश्य जाना चाहिए। प्रात भगवत्स्मरण के अनन्तर, शय्या से उठते ही शौच जाना चाहिये और सायंकाल करीब ४ या ५ बजे। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से हवादार खुले मैदानों में शौच जाना, जन-स्वास्थ्य के लिए अधिक लाभकारी है, क्योंकि इससे मल के विषाक्त कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होकर हानि नहीं पहुंचा सकते और खुली वायु में श्वास लेने से शौच भी सुख पूर्वक होता है। इसके विपरीत शहरों में लोग प्रायः पाखानों मे शौच जाते हैं जो कि तङ्ग और सीलदार कोठरियों मे बने हुए होते हैं। घर के सभी पुरुष उसी गन्दे पाखाने में शौच जाने को बाध्य होते हैं। वहां हवा के साथ कीटाणु उडते रहते हैं जो श्वास के रास्ते भीतर जाकर मनुष्य के स्वास्थ्य को नष्ट कर डालते हैं। एक ही पाखाने मे जाने वाले मनुष्यों की प्रकृति प्रायः भिन्न भिन्न होती है, उनमें बहुत से रोगी हो सकते हैं। उनके रोग के कीटाणु दूसरे व्यक्तियों में संक्रामक रोगों को फैला देते हैं। इस दुरवस्था मे आज सुधार की बड़ी आवश्यकता है। सफाई की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये तभी देश के गिरते हुए स्वास्थ्य को सुधारा जा सकता है। सबसे प्रथम प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि जो लोग शहर से बाहर शौचार्थ

जा सकते हैं वे अवश्य बाहर ही जाया करें। शेष लोगों के लिये भी जो प्रबन्ध हो वह उत्तम होना चाहिये।

आप चाहे खुले मैदानों में शौच जांए या पाखानों में, किन्तु इस विषय के स्वास्थ्यसम्मत कुछ शास्त्रीय नियमों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये। आयुर्वेद में लिखा है—

शौचे च सुखमासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
शिरः प्रावृत्य कर्णौ वा मुक्तकच्छशिखोऽपि वा॥

अर्थात्—मनुष्य को चाहिये कि मल त्याग के समय शिर तथा कानों पर वस्त्र लपेट कर, शिखा तथा वस्त्र ग्रन्थी खोलकर पूर्व अथवा उत्तर दिशाभिमुख होकर सुख पूर्वक समभूमि में बैठे। इस श्लोक में तीन बातों की ओर विशेष बल दिया गया है। (१) शिर तथा कान वस्त्र से ढके हों, वस्त्रग्रन्थी तथा शिखा खुली हो। (२) पूर्व या उत्तर की ओर मुख हो। (३) सुख पूर्वक स्थिति उपरोक्त तीनों बातों का एक ही उद्देश्य है और वह है सुगमता पूर्वक मल विसर्जन। शिर तथा कानों पर वस्त्र लपेट लेने से रक्त का दबाव उर्ध्वाभिमुख न रहकर अधोमुखी बन जाता है। शिर तथा कर्ण स्थानीय उन स्नायुवों में–जिन का सीधा सम्बन्ध मलाशय के साथ है–इस प्रकार की क्रिया द्वारा उष्णता और उत्तेजना उत्पन्न होती है जिस का प्रभाव यह होता है कि मल बिलकुल साफ हो-जाता है और कोष्टबद्धता नहीं होती। आज कल के शास्त्रपराङ्मुख अपटुडेट जन्टिलमैन तथा अन्य शिक्षाशून्य मजदूर आदि, मलाशय में उष्णता तथा उत्तेजना पहुंचाने की गरज से घन्टों पाखानों में बैठ सीगरेट और बीड़ी के दम लगाया करते हैं, ऊपर से मुख का व्यापार तथा नीचे से गुदा का व्यापार चलाते २ भी बेचारों

का कोष्ठबद्धता से पिंड नहीं छूट पाता। इधर कभी आप को लार्ड मैकाले के मानस-पूत काले साहबों के यहां जाने का अवसर मिल जाये तो आप देखेंगे वे भी---

"प्रातरुत्थाय मञ्चस्थो लालाक्लिन्नमुखः पुमान्।
'टी' काफीं 'बिस्कुटं' 'केकं' सेवयेन्नित्यमेव हि" ॥

टुडेस्मृति, के इस आदेशानुसार गरम २ चाय पी कर मलाशय की हीट देते हुए शौच जाना पसन्द करते हैं। यह सब विचित्र लील. इस साधारण सी क्रिया को न जानने, तथा जान कर भी पुराने बनाम 'डर्टी' रिवाजों में परिगणित होने से त्याज्य समझने के कारण हैं।

पूर्व या उत्तराभिमुख व्यवस्था का भी अभिप्राय स्पष्ट है। प्रातः काल और सायंकाल, प्रायः वायु का प्रवाह पूर्व या उत्तर से पश्चिम तथा दक्षिणाभिमुख रहता है, पूर्व एवं उत्तर की ओर मुख करके बैठने वाले व्यक्ति को मल के दूषित कीटाणुओं का श्वास के साथ शरीर में प्रविष्ट हो जाने का भय नहीं रहता और न इस से मल दुर्गन्धी का कष्ट ही सहन करना पड़ता है, क्योंकि सामने से आने वाला वायु दुर्गन्धी को पीछे से पीछे बहा ले जाता है। अनुकूल वायु के कारण श्वासक्रम भी सुगमता पूर्वक चलता है और मल विसर्जन में कोई कष्ट नहीं होता।

सुख पूर्वक स्थिति, शौच क्रिया में सब से आवश्यक है। शहरों में अधिक व्यक्ति इसीलिये बीमार होते हैं और डाक्टरों की शरण लेते हैं कि उन्हें जिन पाखानों में जाना पड़ता है वे सुविधाजनक नहीं होते। शील तथा सड़ांद के कारण मनुष्यों का वहां बैठते ही दम घुटने लग जाता है और शंका पूरी हुए बिना ही उठ खड़े होते

हैं; इसका परिणाम होता है—कब्जी (कोष्ठबद्धता) तथा पेट की अन्य बीमारियें। ऐसा करने से अवशिष्ट मल कड़ा होकर बड़ी अन्तड़ी के बाजुओं में चिपट जाता है। कुछ दिन यही क्रम जारी रहने पर मल निरन्तर चिपटता जाता है और मल द्वार छोटा पड़ जाता है जिससे मनुष्य को बवासीर, भगन्दर जैसे भयङ्कर रोगों का सामना करना पड़ता है। संसार में अधिकांश मृत्यु कब्ज के कारण ही होती है। लोग इसे मामूली बीमारी समझते हैं और देखने में यह है भी मामूली ही, परन्तु बड़े बड़े रोगों का मूल कारण होने के कारण, इसे सबसे भयङ्कर रोग कहा जा सकता है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर टर्नर ने अपने हस्पताल में मृत्यु को प्राप्त हुए २८४ मनुष्यों की मृत्यु का कारण बतलाते हुए लिखा है कि उनमें से २८ मनुष्यों को छोड़कर बाकी सब कब्ज की बीमारी से मरे। उनकी बड़ी अन्तड़ियां फाड़कर देखी गईं तो मालूम हुआ कि वे पत्थर की तरह कठिन हो गई हैं और उनमें सूखा काला मल भरा हुआ है।'

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति को ऐसा कोई कारण उपस्थित न होने देना चाहिये जिससे कि उसे कोष्ठबद्धता जैसे भयङ्कर रोग का शिकार बनना पड़े। 'शौचे च सुखमासीन.' भी अनुभवी महर्षियों द्वारा इसी रोग के विरुद्ध बतलाया गया एक उपाय है जिस पर पूरा ध्यान न दे सकने के कारण लोग कष्ट भोगते हैं।

बोलें क्यों नहीं—

शौच लघुशङ्का आदि के समय मौन, एक सनातनी प्रथा मात्र नहीं किन्तु धर्मशास्त्रानुमोदित एवं विज्ञान समर्थित शिष्टाचार है।

प्राय' अशिक्षित, या उच्चशिक्षित होते हुए भी भारतीय संस्कारों से शून्य व्यक्तियों में इस शिष्टाचार की भी अवहेलना देखी जाती है। लघुशङ्का करते करते बातें करना, शौच बैठे २ अखबार पढ़ना ता नई पीढ़ी के बड़े लोगों के फैशन की चीज है लेकिन दूसरे अशिक्षित व्यक्ति भी बैठे • खांसना, थूकना आदि क्रियायें करते रहते हैं। यह सब आदतें जहां शिष्टजन विगर्हित हैं वहां स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा प्रभाव डालती हैं।

यह स्वाभाविक बात है कि जब हमारा शरीरस्थ वायु 'अपान' रूप धारण करके मलाशय तथा गुदा के शोधन कार्य में लगा हुआ होता है उस समय उसका 'प्राण, समान, उदान' आदि रूपों में किया जाने वाला व्यापार मन्द पड़ जाता है। हमारा कर्तव्य है कि उस समय शान्त बैठे रहकर उस वायु को अपना कार्य करने में सहायता दें। इसके विपरीत, उस समय यदि हम किसी अन्य व्यापार में लगेंगे तो परिणाम यह होगा कि वह शोधन कार्य तो मन्द पड़ जाएगा और वायु की शक्ति अन्य रूपों में विभक्त हो जाएगी। बोलने, खांसने हांपने आदि से मल के दूषित कीटाणु तो अन्दर प्रविष्ट होंगे ही साथ ही मलाशय शोधन के प्राकृतिक काम में अड़चन भी पड़ जाएगी जो स्वास्थ्य के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिये धर्मशास्त्रकारों ने कहा है—

उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने ।
श्राद्धे भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ॥

अर्थात्—मूत्र पुरीषोत्सर्ग काल में, मैथुन में, रक्तादि के प्रस्राव में, दातुन करते समय, श्राद्धकाल में और भोजन के समय मौनावलम्बन करना चाहिये। इस श्लोक में वर्जित सभी समयों में

मौन का जो महत्व है उसे तत्तत् स्थलों पर बतलाया जाएगा। यहां तो इतना ही समझ लेना चाहिये कि शौच और लघुशङ्कादि के समय अवश्य ही मौन रक्खा जाय।

पशुता की ओर—

तिष्ठन् न मूत्रपुरीषे कुर्यात् (पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात—खड़े २ मूत्र पुरीषोत्सर्ग न करे।

डार्विन साहब की पशु से मनुष्य बन जाने की विकासवाद की थ्यूरी में अगर कोई सचाई हो सकती है तो वह यही कि आज भी मनुष्य अपनी आदतों और हरकतों में पशुओं के समान है। इतना ही नहीं, शिक्षा सभ्यता सम्पन्न आज के—बीसवीं सदी के—मानव को देखकर तो यह भ्रम होने लगता है कि कहीं अब वह विकासवाद अपनी पूर्णता की सीमा पर पहुँचकर पुनः प्रत्यावर्तन के चक्कर में तो नहीं पड़ गया है और दो हाथ, दो पांव मन मस्तिष्क बुद्धि वाला मानव, कहीं फिर सींग पूंछ वाला पशु बनने तो नहीं जा रहा है?

पशुओं को भी मात करने वाले आज के मानव के मर्यादा-शून्य भक्ष्या-भक्ष्य के विषय में हम आगे के पृष्ठों में प्रकाश डालेंगे, यहां उसकी मलमूत्रोत्सर्ग की हास्यापद, पशु चेष्टाओं का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। आज स्कूलों में प्रविष्ट होते ही मानो विद्यार्थी को पहिला पाठ यह पढ़ाया जाता है कि वह गधे, घोड़े, बैल आदि पशुओं की भांति खड़े खड़े ही पेशाब किया करे, यही कारण है कि आज छोटे छोटे बच्चों में भी इस बुरी आदत का सूत्रपात हो गया है और अपने शिक्षित(?)माता पिताओं तथा आचार्यों के इस स्वभाव के अनुकरण में वे कभी पीछे नहीं रहते। ऐसा करते हुए

भले ही उनके वस्त्र तथा पांवों पर छींटें पड़ें परन्तु इसके विपरीत करके वे अपनी स्कूली शिक्षा का अपमान नहीं कर सकते ! यह बुरी आदत, शास्त्रीय नियमों की प्रत्यक्ष अवहेलना तो है ही. किन्तु सभ्यता के भी नितान्त प्रतिकूल है। रास्ते बरास्ते की कोई चिन्ता न करते हुए 'या बेशर्मी तेरा आसरा' का सहारा लेकर ऐसे मार्गों पर—जहां से दो चार भले आदमी, सभ्रान्त महिलाएं गुजरती हों खडे खड़े पेशाब करने लग जाना न सभ्यतानुकूल है और न मानवोचित ही।

एक दूसरा इससे भी बढ़ा चढ़ा सम्प्रदाय है, जो शौच जाकर पानी लेने की आवश्यकता ही महसूस नहीं करता। वह तो टुडे-स्मृति के—

द्वित्रिभि कर्गलैः पश्चाद् गुदं संशोधयेद्बुधः ।
न करेण स्पृशेन्नीरं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥

—शुद्धि विधानानुसार दो तीन कागज के टुकड़ों द्वारा गुदा को पोंछ डालना मात्र ही आवश्यक समझता है। जिस मल शोधन के लिये भारतीय चिकित्सा-शास्त्रियों ने गुदा को मिट्टी और पानी द्वारा साफ करने का विधान किया हो, उसको कागज के दो छोटे २ टुकड़े कितना साफ कर पाते होंगे यह तो वही जानें। यह सब पशुता के लक्षण नहीं तो क्या है ? अभी तक तो सभ्यता तथा शिक्षा की डींग हांकने वाले यूरोपियनों को ही हम कहते थे कि आज के समुन्नत युग मे भी वे बिलकुल जगली हैं। पेशाब और टट्टी जाने का सलीका भी उन्हें नहीं आता । जानवरों की तरह खड़े २ पेशाब टट्टी किया करते हैं। हाथ धोने की तो उन्हें कतई तमीज ही नहीं, अन्न का उपयोग भी नहीं जानते , किसी तरह कच्चा पक्का मांस खाकर अपना पेट पालते हैं आदि २, किन्तु

आज यहां क्या हो रहा है। अच्छे खासे बने बनाये मनुष्य, फिर पशु बनते जा रहे हैं—यह कम शोक की बात नहीं है। भगवान् ऐसे लोगों को सुबुद्धि दे कि वे यदि मनुष्य से उन्नति करके देवता नहीं बन सकते तो कम से कम मनुष्य तो बने रहें!

मार्ग में क्यों नहीं ?

मार्ग में शौच या लघुशङ्का करना केवल सभ्यता प्रतिकूल ही नहीं धर्मशास्त्र विरुद्ध होने से पाप भी है। भगवान् मनु ने लिखा है—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न फालकृष्टे, न जले, न चित्यां न च पर्वते ॥
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ।

अर्थात्—मनुष्य को—मार्ग में, राख के ढेर में, गोशाला में, हल से जोते हुए खेत में, पानी में, चिता में, पर्वत पर, पुराने मन्दिर और बांबी में लघुशङ्का शौचादि क्रिया न करनी चाहिये।

यह नियम नागरिक स्वास्थ्य, स्थानों की पवित्रता तथा जन सुरक्षा की दृष्टि से बनाया गया है। मार्ग में पेशाब करने से दुर्गन्धी के अतिरिक्त उसके कीटाणु तरह २ की बीमारियें फैला कर जनता के स्वास्थ्य को खराब कर देते हैं—यह प्रायः सभी को भली प्रकार विदित है। इसलिये आज भी सभी सभ्य सरकारों के यहां ऐसा करना जुर्म समझा जाता है और जो व्यक्ति सड़कों पर तथा निषिद्ध स्थानों में पेशाब करते पाए जाते हैं उनका चालान होता है। गोशाला, जल, चिता आदि को पवित्रता की दृष्टि से निषिद्ध ठहराया गया है जबकि बांबी, पुराने मन्दिर, या भवनादि

को जन-सुरक्षा की दृष्टि से, क्योंकि ऐसे स्थानों पर सांप विच्छु आदि विषैले जन्तुओं का होना सर्वथा सुसम्भव है जिससे मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ सकता है।

मिट्टी, या साबुन ?

शौचानन्तर विशुद्ध मिट्टी द्वारा हाथ तथा पात्र को मांज कर शुद्ध करना चाहिये। स्मृतिकारों ने लिखा है—

द्वे लिङ्गे मृतिके देये गुदे पञ्च करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या विट्शौचे मृतिकाः स्मृताः॥

अर्थात्—शौच के अनन्तर, २ बार लिंग पर, ५ बार गुदा पर दश बार बांये हाथ में दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगानी चाहिये।

शारीरिक शुद्धि में मिट्टी का उपयोग, भारतीय ऋषियों की गौरव पूर्ण देन है जो सर्वसुलभ होते हुए भी अत्यन्त गुणकारी है। बिना कानी कौड़ी खर्च किये प्राप्त होने वाली इस साधारण सी वस्तु में इतने उपयोगी गुण हो सकते हैं इसका हम विचार भी नहीं कर सकते। क्षार की विद्यमानता के कारण मिट्टी सब प्रकार के मल को दूर करने में समर्थ तो है ही, किन्तु वानस्पतिक तत्वों के संमिश्रण से उसमें रोगों को दूर करने की जो अद्भुत क्षमता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी गुण के कारण उसे प्राकृतिक चिकित्सा में मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है और अनेक प्रकार के प्रयोगानुभव करके चिकित्सकों द्वारा 'मिट्टी' पर लिखी हुई बहुत सी पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं। विश्ववंद्य महात्मा गांधी तो इसकी खूबियों के इतने कायल थे कि वह प्रायः सभी प्रकार के रोगों में

मिट्टी की पट्टी तथा उसके लेप का प्रयोग किया करते थे। ऐसी दशा में जब कि आभ्यन्तरिक शुद्धि के लिये मिट्टी का सफल प्रयोग सिद्ध हो चुका है तब वाह्य शारीरिक शुद्धि के लिये उससे अधिक उपयुक्त अन्य कोई वस्तु हो सकती है—यह कहना नितान्त कठिन है।

आज हम काम काज की जल्दी में, या शास्त्रीय वचनों पर अश्रद्धा के कारण स्मृतिकारों की उपर्युक्त व्यवस्था पर ध्यान नहीं देते। मिट्टी द्वारा लिंग गुदा शोधन की तो कौन कहे, हाथों पर भी जैसे तैसे एक दो बार मिट्टी लगाई, दो चार कुल्ले किये कि छूमन्तर में ही शुद्धि हो गई। देहात में रहने वाले अनपढ़ भाइयों की तो बात छोड़ दीजिए, वे तो शारीरिक सफाई के महत्व से नितान्त अपरिचित ठहरे, शहर में रहने वाले उन पढ़े लिखे बाबुओं का—जिन्होंने कि स्कूल में न जाने सफाई के बारे में कितनी पुस्तकें पढ़ २ कर फाड़ डाली हैं और न जाने कितने 'सफाई सप्ताह' मनाये हैं—भी यही हाल है।

सुजाक गर्मी बवासीर भगन्दर आदि भयङ्कर बीमारियोंमें कराहना डाक्टरों की जेब भरना और अन्त में अकाल में ही कालग्रसित हो जाना तो लोग अच्छा समझते हैं किन्तु स्मृतिकारों का यह लिंग गुदा हस्त आदि का शोधन विधान उनके लिये शिरदर्द बनजाता है। यदि वे प्रति दिन दो चार मिनट के लिये इस ओर ध्यान दे लिया करें तो शारीरिक यन्त्र के इन पुर्जों की समुचित सफाई हो जाने से उपरोक्त बीमारियों का कोई डर ही न रहे। हाथ की सफाई के प्रोग्राम में तो पांच सात मिनट का समय अवश्य ही दिया जाना चाहिये, क्योंकि सभी लोग इस बात से अच्छी तरह परिचित हैं कि वही हाथ शौचालय की परिधि से बाहर निकल कर कुछ देर बाद सभी खाद्य वस्तुओं को स्पर्श करते हैं। दुर्भाग्य से यदि उनकी

भलीभांति सफाई न हो तो वह मल, उस खाद्यसामग्री के साथ हमारे शरीरमें जाकर, कितने ही रोगों की उत्पतिका कारण बन सकता है।

इस विषय में हमें प्रत्यक्षवाद का ही आश्रय नहीं लेना चाहिये क्योंकि प्रत्यक्ष मे तो, यदि बिना मिट्टी के साधारण जल से हाथ धो लिए जांय, तो भी वे उतने ही साफ दिखाई देंगे जितने मिट्टी से साफ करने पर। मल के उन दूषित कीटाणुओं को, हम सूक्ष्म दर्शक यन्त्र (दुरबीन) की सहायता से ही भलीभांति देख सकते हैं, अन्यथा नहीं। तब उनके अस्तित्व के प्रमाणित होने की दशा में, क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं कि उनसे बचने के लिये हम भारतीय शारीरिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित नियमों का आदर के साथ पालन करें।

इधर कुछ दिनों से धार्मिक विधानों के विरुद्ध पश्चिम की ओर से जो क्रान्ति की प्रबल बाढ़ आई है, उसमें अन्य वस्तुओं के साथ बेचारी मिट्टी भी बह गई और उसके स्थान में बाबू लोगों के हाथों में साबुन नजर आने लगो है। अब तक तो उसका प्रयोग नहाने कपड़े धोने वगैरह के काम मे होता था अब शौच के हाथ धोने में भी उसका प्रयोग होने लगा है। नव प्रयोग की इस दौड़में सबसे आगे वे लोग हैं जो भारत भूमि से अनन्य प्रेम रखने का दावा करते हैं किन्तु जिन्हें यहा की प्राय. प्रत्येक वस्तु—यहां तक की मिट्टी से भी—सख्त नफरत है। वे मिट्टी से हाथ धोना शान और सभ्यता के प्रतिकूल समझते हैं। इसे हम उन लोगों की भूल के सिवाय और क्या कह सकते हैं ?

विशुद्धि करण के विषय में यदि साबुन और मिट्टी की तुलना की जाय तो आप देखेंगे कि सर्व सुलभ तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मलीय अंश का शोधन करने में समर्थ होने के कारण मिट्टी का जो महत्व

हो सकता है वह साबुन का नहीं। मिट्टी, क्षार और रूक्ष होती है, साबुन क्षार और स्निग्ध। विशुद्धि करण में सर्वदा विजातीय पदार्थ का ही प्रयोग लाभप्रद होता है। पित्त की प्रधानता के कारण मल के अन्दर एक प्रकार का लेस=चिकनाई का अंश होता है। पानी द्वारा हाथ धो लेने पर भी उस चिकनाई का सूक्ष्मांश हाथ में लगा ही रह जाता है। उस लेस को दूर करने के लिये मिट्टी जैसी क्षार और रूक्ष तत्व वाली वस्तु का ही प्रयोग होना चाहिये। साबुन में क्षार=मैल को उखाड़ने की सामर्थ्य वाला पदार्थ—तो है किन्तु वह, तेल आदि चिकनी वस्तुओं के साथ मिला हुआ है। फलतः वह सजातीय होने के कारण हाथ में लगे हुए स्निग्ध म ंश को साफ करने में कैसे समर्थ हो सकता है? आप ने देखा होगा कि यदि कपड़े पर तेल का दाग पड़ जाता है तो वह साबुन से नहीं उतरता किन्तु छानस वगैरह से साफ किया जाता है। इसलिये मिट्टी से परहेज करने वाले साबुन से हाथ धोयें और शौक से धोयें, परन्तु वह इस भुलैय्या में न रहें कि आज के कथित उन्नत युग ने मिट्टी के मुकाबले में वस्तुशोधन के लिए कोई नवीन आविष्कार किया है!

कौन मिट्टी न ली जाय?—

मिट्टी का प्रयोग करने वाले सज्जन भी इतना ध्यान अवश्य रक्खें कि वह मिट्टी कहां से ली जाय। सभी स्थानों की मिट्टी शोधनकारक हो, ऐसी बात नहीं है। अपवित्र और गन्दे स्थान की मिट्टी लाभ पहुंचाने की अपेक्षा हानिकारक ही होती है। भला, जो मिट्टी सूखे हुए मल से ही बनी हो वह हाथों को क्या पवित्र करेगी? इसलिये महर्षियों ने इसकी भी व्यवस्था की है, यथा—

अन्तर्जलाद् देवगृहाद्वाल्मीकान्मूषकगृहात् ।
कृतशौचस्थलाच्चैव न ग्राह्याः पञ्चमृत्तिकाः ॥

अर्थात्—जल के अन्दर से, मन्दिर में से, वांबी एवं चूहे के बिल में से और शौच लघुशङ्का आदि के अपवित्र स्थान से मिट्टी न लेनी चाहिये।

यह सभी व्यवस्था साभिप्राय है। पानी में पत्थर कंकर कांटा आदि न जाने क्या २ पड़ा रहता है, विविध प्रकार के कीटादि भी होते हैं इसलिए वहां से मिट्टी निकालना खतरे से खाली नहीं। सभी दर्शनार्थी यदि मन्दिर में से ही मिट्टी खोद २ कर उससे पात्र स्वच्छ करके शिवजी पर जल चढ़ाने लग जांय तो समझ लीजिए वह शिवालय तो चन्द दिनों में खण्डहर ही बन जायगा। पहिले मिट्टी जायगी फिर ईंटें उखड़ेंगी और अन्त में ....। बांबियों और बिलों में प्रायः सर्पादि भयङ्कर जन्तु रहा करते हैं सो वहां से मिट्टी लेना कभी बहुत मंहगा पड़ सकता है, मिट्टी लेते हुए यदि एक बार भी अंगुली में नाग देवता ने फूंक मारदी तो फिर आप भी मिट्टी ही बन जाएंगे। शौचस्थलादि के बारे में तो ऊपर पर्याप्त लिखा जा चुका है। आशा है इतने से इस सम्बन्ध की शङ्काओं का यथेष्ट समाधान हो सकेगा और हम महर्षिनिर्दिष्ट विधि के पालन द्वारा स्वास्थ्य लाभ कर सकेंगे।

मलमूत्र त्याग और शुद्धि के विशेष नियम—

मल मूत्र त्याग और शुद्धि के सम्बन्ध में शास्त्र में कुछ विशेष नियम भी लिखे हैं आस्तिक जनता उन अतीव उपयोगी नियमों का पालन करके अपने स्वास्थ्य को सुस्थिर रख सके एतदर्थ हम उन्हें भी यहां लिखते हैं, तद्यथा—

(क) न सोपानत्को मूत्रपुरीषे कुर्य्यात् (आचारादर्श)

(ख) न गच्छन्नापि च स्थितः (मनु)

(ग) नानन्तवामा कुर्य्यात् (शंखलिखित)

(घ) यथासुखमुखः कुर्य्यात् (मनु)

(ङ) यावत्साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते।

प्रमाणं द्रव्यसंख्या वा न शिष्टैरुपदिश्यते ।(देवल)

अर्थात्—(क) जुराब, डोरे बन्धा फुल बूट, पहिनकर मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। (ख) चलते चलते और गुदा के सहारे बैठकर या खड़े २ (ग) बहुत से कपड़ों से लदे हुए मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिये। (घ) वायु की गति और स्थान की बनावट के कारण जिस दिशा की ओर मुख करके बैठने में सुविधा हो वैसे बैठकर मलमूत्र का त्याग करे। (ङ) जब तक मन ठीक २ न माने तब तक जल मृत्तिका आदि के प्रयोग से शुद्धि करनी चाहिए। कितनी मिट्टी, कितना जल और कितनी बार ? यह नाप तोल शिष्ट सम्मत नहीं।

उपर्युक्त नियमों के लाभ स्वयं व्यक्त हैं, जुराब और सभ्य समाज में निरन्तर पहिने जाने योग्य जूते पहिने मल मूत्र का त्याग करने से अवश्य ही मलमूत्र और जल की छींटों से उनके सन जाने का अनिवार्य अवसर है इसलिए प्रायः घिसे टूटे पुराने छीतर केवल टट्टी के लिए नियत रहते हैं। चलते फिरते और खड़े होकर किंवा गुदा के बल बैठकर मलमूत्र का त्याग भली प्रकार हो ही नहीं सकता। योरपीन ढंग की ऊंची उठी टट्टियों

(कमोड) का प्रसार और खड़े २ पेशाब छोड़ने की आदत मिस्टर कुतुबुद्दीन के चेले चाटों को ही शोभा देती है। बहुत से कपड़ों से लदे २ टट्टी में तशरीफ ले जाना निस्सन्देह मकड़ी की भांति अपने तने जाल में स्वयं उलझे रहने के बराबर है। खुले जंगलों में वायु की प्रगति के विचार से अमुक दिशा की ओर मुख करने का नियम पालनीय और उपादेय है परन्तु शहरों की टट्टियों में अगत्या सुविधानुसार 'यथा-सुख-मुख' बैठना ही स्वाभाविक है। खोवा, खीर और मैदे के बने पदार्थ खाने से कभी २ कोष्ठबद्धता के कारण अपच मल, गुदा और हाथ से ऐसा संश्लिष्ट होता है कि जिसे दूर करने के लिए अधिक बार जल मिट्टी का प्रयोग करने की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, सो शुद्ध हो जाने की कसौटी तुले नपे जल मिट्टी को उतनी बार लगाना नहीं—किन्तु (मनस्तोष) की अवधि ही नियत की जा सकती है।

(क) वसाशुक्रमसृङ् मज्जा मूत्र विट्कर्णविण्णखाः।
श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदा द्वादशैते मला नृणाम्॥

(ख) आददीत मृदोपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्ध्यति (बौधायन)

अर्थात्—(क) (१) चर्बी, (२) वीर्य, (३) रुधिर, (४) मज्जा, (५) मूत्र, (६) विष्ठा,—(७) कान का मैल, (८) नाखून, (९) कफ, (१०) आंसू (११) आंख की ढीढ और (१२) पसीना ये बारह मल मनुष्य के होते हैं। (ख) इनमे पहिले ६ मलों को साफ करने के लिये जल मिट्टी दोनों का प्रयोग आवश्यक है। अन्तिम छः मल केवल जल के द्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं।

अरण्येऽनुदके रात्रौ चौरव्याघ्राकुले पथि ।
कृत्वा मूत्रपुरीषं च द्रव्यहस्तो न दुष्यति (वृहस्पति)

अर्थात्—जंगल में, जल रहित मरुभूमि में, रात्रि के समय चोर और बनेले हिंसक पशुओं के खतरे वाले मार्ग में, हाथ में सामान संभाले २ मलमूत्र का त्याग करने पर किंवा बिना धुले हाथों उठाई हुई वस्तु अशुद्ध नहीं होती। ऐसे आपद्धर्म काल में केवल सूखी मिट्टी मलने से ही, हाथ शुद्ध समझने चाहियें और अपने स्थान पर पहुँचकर शुद्धि कर लेनी चाहिये।

दन्त धावन—

औदुम्बरेण दन्तान् धावेत् । (पारस्कर गृह्यसूत्र)

अर्थात्—गूलर की दातुन से दांतों को स्वच्छ करना चाहिये।

दन्त धावन हमारी दैनिक चर्या का अंग है। प्रतिदिन प्रातः काल शास्त्रोक्त वनस्पतियों में से किसी भी वनस्पति की हरी ताजी दातुन से दांतों का स्वच्छ तथा निर्मल बनाना प्रत्येक स्वास्थ्याभिलाषी पुरुष का आवश्यक कर्तव्य है। सभी लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, कि दांतों का शरीर में विशेष महत्व है। जिस आहार से प्राणिमात्र के शरीर की रचना तथा पोषण होता है उसको पीसकर आमाशय के योग्य बनाना दांतों का ही कार्य है। चूंकि मनुष्य के लिये, आहार की आवश्यकता जीवन के अन्तिम क्षण तक है, इसलिये दांतों की आवश्यकता भी उसी क्षण तक समझनी चाहिए। इस दृष्टि से यदि इन्हें जीवन का आधार कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। शरीर रूपी दुर्ग के मुख्य द्वार के यह सचेत प्रहरी यदि जरा भी असावधानी करें तो मनुष्य

जीवन किसी भी क्षण घोर संकट में पड़ सकता है। इन्हीं विश्वस्त प्रहरियों के भरोसे मनुष्य, कच्ची पक्की, सूखी हरी, नर्म कठोर, खाद्य अखाद्य सभी प्रकार की वस्तुएं खा बैठता है और यह उन सबको पीसकर जीवनोपयोगी बना डालते हैं।

दांतों के इस सब महत्व से परिचित होते हुए भी आज, जन साधारण इनकी रक्षा और पोषण के लिये कितना प्रयत्न करते हैं इसका दिग्दर्शन—२० वर्ष की अवस्था में ही डेंटिस्टों की शरण लेकर नये दांत चढ़वाने वाले आधुनिक युवकों को देखकर भली-भांति किया जा सकता है। पहिले जहां अस्सी नव्वे वर्ष के बूढ़े दांतों से चने चबा लिया करते थे, वहां आज बीस तीस वर्ष की अवस्था में ही दांतों में पायोरिया आदि बीमारियें लग जाती हैं। दांतों से खून आने लग जाता है और देखने में अच्छे भले नव-युवक, दांतों की खराबी के कारण अन्य अनेक बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। बहुत थोड़े लोग इस बात को समझते हैं कि दांतों के खराब हो जाने का तात्पर्य है—मृत्यु की ओर एक कदम। क्योंकि दांतों के गिर जाने के बाद फिर मनुष्य का आहार बिना चबाया या कम चबाया ही पेट में पहुंचता है, जिसे रस रूप में परिणत करने के लिये आमाशय को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि कुछ दिनों बाद उसकी शक्ति मन्द पड़ जाती है और मनुष्य रोगी बन जाता है।

दांतों को बलिष्ठ और अच्छी दशा में रखना कुछ कठिन नहीं है। शास्त्रीय आदेशानुसार यदि हम प्रतिदिन नियत समय पर दन्तधावन करें तो १०० वर्ष तक भी दांतों के हिलने या गिरने का कोई सवाल ही पैदा न हो, लेकिन शर्त यही है कि वह दन्तधावन क्रिया, की जाय शास्त्रीय पद्धति से ही। आज की मनमानी विधि से

नहीं, कि प्रात बाहर टहलने निकले, वहीं से दातुन तोड़ी और करते २ घर का रास्ता पकड़ा। रास्ते में यार दोस्तों से गप्पें भी चल रही हैं, दातुन भी हो रही है और टहलना भी! एक पंथ तीन काज !! तीन काज के बजाय यहां चार काज कहदें तो ज्यादा अच्छा रहे, क्योंकि दातुन करते समय दांतों से उतरने वाला मल, पानी के कुल्ले के अभाव में बातों के स्वाद के साथ धीरे २ पेट में भी तो उतरता जाता है, जो वहां जाकर पुनः फुन्सी फोडे खुजली दाद वगैरह के सुन्दर सलोने रूप में बाहर आकर दर्शन देता है; या पेट में कीडे उत्पन्न करके भले चंगे स्वस्थ व्यक्ति को चारपाई का आश्रय लेने को विवश कर देता है।

दुर्भाग्य से हमारे देशमें एक दल और है जो दांतोंकी सफाईका महत्व तो खूब समझता है किन्तु उसके मतसे इस कार्यके लिये उपयुक्त समय प्रात काल नहीं, किन्तु भोजनानन्तर मध्याह्नकाल है। भोजनोपरान्त दातुन करना शायद इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, कि उस समय जीभ की सफाई, हलकौवा आदि करने से सब खाया पीया वमन होकर दांतों के साथ २ पेट की भी सफाई हो जाती है! या बार बार थूकने से अग्निमांद्य होकर इस असार संसार से जल्दी ही विदा हो जाने में सहायता मिलती है! इस प्रकार की सभी चेष्टायें लाभकारक तो कदापि सिद्ध नहीं होती यह निर्विवाद है। इसलिये ऊपर कहा गया है कि दन्तधावन क्रिया, तभी वास्तविक लाभकारी हो सकती है जबकि उसका आचरण शास्त्रीय विधि से हो। 'वह कब की जाय कब नहीं, कैसे की जाय? दातुन किस वृक्ष की हो?' इत्यादि बातों को जाने विना हम यदि उसका प्रयोग भी करते हैं तो उससे लाभ के स्थान पर हानि की अधिक सम्भावना रखनी चाहिये।

अमुक काष्ठ से अमुक लाभ —

दातुन का प्रयोग केवल दांतों की सफाई के लिये ही होता हो ऐसी बात नहीं है । आयुर्वेद प्रणेता चरक एवं सुश्रुत आदि महर्षियों ने दांतों की सफाई के साथ २ दातुन का प्रयोग चिकित्सा पद्धति के तौर पर अनेक रोगों की निवृत्ति के लिये भी किया है। आज जब हम उन क्रान्तदर्शी महर्षियों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोगों की शत प्रतिशत सफलता देखते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उदाहरणतया पाठकों के दिग्दर्शनार्थ हम आयुर्वेदोक्त कुछ प्रयोगों का निदर्शन नीचे कराते हैं जिससे सभी सज्जन यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं यथा—

(क) बदर्यां मधुरः स्वरः। (ख) उदुम्बरे च वाक्सिद्धिः।

(ग) अपामार्गे स्मृतिर्मेधा। (घ) निम्बश्च तिलके श्रेष्ठः।

अर्थात्—(क) यदि दांतों की सफाई के साथ गले में माधुर्य भी लाना हो तो बेर की दातुन करनी चाहिए। (ख) यदि जीभ लड़खड़ाती हो–हकलापन हो तो नियमपूर्वक गूलर की दातुन करने से वह रोग दूर होकर वाणी सिद्ध (ठीक) हो सकती है। (ग) स्मरण शक्ति की निर्बलता या बुद्धिमांद्य के लिए अपामार्ग की दातुन का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद है। (घ) मुख की दुर्गन्ध दूर करने के लिये—पायोरिया जैसे रोगों में नींब की दातुन श्रेष्ठ है।

दातुन किस वृक्ष की और कैसे ?—

जड़ी बूटियों एवं वनस्पतियों के गुणावगुणों की खूब छानबीन तथा उनका प्रयोगात्मक अध्ययन करके ही प्राचीन शास्त्रकारों ने

दातुन के व्यवहार में आने योग्य वृक्षों का निर्धारण किया है। निम्नलिखित वनस्पतियें इसके लिये प्रशस्त समझी जातीं हैं, यथा—

करञ्जोदुम्बरौ चूतः कदम्बो लोध्रचम्पकौ।
बदरीति द्रुमाश्चेते प्रशस्ता दन्तधावने॥

अर्थात्—करञ्ज, गूलर, आम, कदम्ब, चम्पक और बेर यह वृक्ष दन्तधावन के लिये प्रशस्त हैं। इनके अतिरिक्त कीकर, नींब आदि का प्रयोग सुलभ तथा लाभकारी भी है। खदिर (खैर) का तो नाम ही कोषकारों ने 'खदिरो दन्तधावनः' कहकर दातुन के लिये उसकी उपयुक्तता का समर्थन किया है।

इनमें से किसी भी वृक्ष की दातुन प्रतिदिन नियम पूर्वक प्रातः-काल अवश्य करनी चाहिए। दन्तधावन के समय जल का पात्र समीप में होना चाहिये। यदि किसी नदी या तालाब का किनारा हो तो सबसे अच्छा किन्तु जल स्वच्छ तथा निर्मल हो। बीच २ में कुल्ला अवश्य करते रहना चाहिये जिससे दांतों से उतरने वाला मल साफ होता रहे और अन्त में ठण्डे जल से मुख तथा नेत्रों को खूब धोना चाहिये। ऐसा करने से आंखों की गर्मी शान्त हो जाती है, दृष्टि मन्द नहीं होती और न कोई नेत्र रोग ही होता है। यदि साधारण जल की अपेक्षा आंवले या भिल्ल से मिश्रित कषाय जल का उपयोग किया जाय तो वह और भी लाभकारी हो सकता है, जैसा कि 'चर्यामंजरी' में बतलाया गया है—

भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा।
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थं शीतोदकेन वा॥

दातुन बनाम टूथपेस्ट ?

विदेशी लोगों की देखा देखी आज भारत में भी टूथपेस्ट का अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। ऐसा ज्ञात होता है, मानो विदेशी प्रभु अन्य वपौतियों के साथ २ यह घृणित वस्तु भी काले साहबों को उत्तराधिकार में सौंप गये हैं और इसकी रक्षा तथा प्रचार उनका परम कर्तव्य है। विशुद्ध हरी ताजी वनस्पति को छोड़कर एक ऐसी वस्तु को—जिसके विषय में हम कुछ भी नहीं जानते कि उसका निर्माण किन किन वस्तुओं से और कब हुआ है—बिना सोचे समझे मुंह में डाल लेना कहां की बुद्धिमत्ता है? फिर वह बुरुश जिससे रोज दांत साफ किये जाते हैं, मैल को अपने अन्दर जज्ब करके इतना दूषित हो जाता है कि वह दांतों को ऊपर से साफ करता हुआ भी उनके अन्दर पयारिया के जर्म्स छोड़ देता है और थोड़े ही समय में दांतों की जड़ से सफाई हो जाती है। जहां, परिवार के सभी व्यक्ति उस एक बुरुश से ही दांतों की सफाई करते हों, वहां तो समझिये उन लोगों के विनाश में अधिक समय नहीं। भिन्न भिन्न प्रकृति के पांच व्यक्ति—जिनमें कई शारीरिक व्याधि ग्रस्त भी हो सकते हैं, एक ही चीज को बारी २ से मुंह में डालने के बाद स्वास्थ्य की कामना करें तो इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या हो सकती है ?

टूथपेस्ट जैसी अपवित्र और मंहगी वस्तु का प्रयोग यूरोप अमेरिका जैसे धनी देशों में ही शोभा दे सकता है और उन ही व्यक्तियों के लिये लाभकारी भी हो सकता है जो हर सप्ताह के बाद बुरुश को बदल डालें। हमारे इस गरीब देश में ऐसी प्रथा का पनपना, देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। जहां ७५ प्रतिशत

जनता दोनों जून भरपेट भोजन भी न प्राप्त कर सकती हो वहां बिना मूल्य प्राप्त होने वाली वस्तु के स्थान में,—एक ऐसी वस्तु के प्रचलन का प्रचार करना—जिसके लिये कि कीमत चुकानी पड़े, कहां तक न्याय्य हो सकता है ?

यह कहा जा सकता है कि आज के सकुल देश काल में दातुन सब समय में सुलभ नहीं है और विशेषकर शहरों में रहने वाली जनता—जो कि करोड़ों की संख्या मे है--यदि टूथपेस्ट या पाउडर का प्रयोग न करे तो काम नहीं चल सकता, परन्तु हमें यह भली-भांति समझ लेना चाहिये कि ऐसी दशा में हमारे सामने दो ही मार्ग हैं--या तो हम स्वयं अपने हाथों से तैयार किये हुए मंजन पाउडर वगैरह का प्रयोग करें, या फिर नमक और तेल का प्रयोग किया जाय, चुटकी भर नमक में दो बूंद सरसों का तेल डालकर उससे दांतों को साफ करना, सौ टूथपेस्ट या पाउडरों के मुकाबले में अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। यह योग दांतों की सभी खराबियों के लिये अनुभूत चिकित्सा के तौर पर सम्पूर्ण देश में प्रयोग किया जाता रहा है। टूथपेस्ट का प्रयोग करने वाले सज्जन इसे अपनाकर व्यर्थ व्यय से बच सकते हैं। नमक और तेल दोनों ही हमारे खाद्य हैं यदि उनका कुछ अंश अन्दर चला भी जाय तो कम से कम किसी हानि की सम्भावना तो नहीं है, जबकि टूथपेस्ट में पड़ने वाली वस्तुओं के विषय में ऐसी कोई गारन्टी नहीं दी जा सकती। पवित्रता तथा अपवित्रता के दृष्टिकोणसे हमने इस प्रश्न को बिल्कुल स्पर्श नहीं किया है, क्योंकि हम समझते हैं कि जिसने किसी वस्तु को असली रूप में जाने बिना ही उसे मुंह में डाल लिया है उसका पवित्रता अपवित्रता सम्बन्धी विचार तो पहिले ही समाप्त हो चुका है इसलिये हमने स्थूल दृष्टिकोण से ही इस प्रश्न को परखा है।

कब न करें ?—

दांतों का सम्बन्ध चूंकि समस्त शरीर के साथ है इसलिये बहुत सी शारीरिक व्याधियों की दशा में दातुन नहीं करनी चाहिये। ऐसा करने से वह शारीरिक व्याधि बढ़ जाती है और करने वाले को लाभ की बजाय हानि उठानी पड़ती है। आयुर्वेद में बतलाया गया है कि--

मुखस्य पाके शोथे च कर्णरोगे नवज्वरे।
शिरोरुजार्दिते श्रान्ते नेत्ररोगे मदात्यये।
तृषिते चार्दिते कण्ठे रोगे ताल्वोष्ठजे गदे॥
जिह्वामये दन्तरोगे श्वासकासावमीषु च।
पानात्यये तथा जीर्णे मूर्च्छायां दुर्बले तथा।
हिक्कारोगार्दिते जन्तौ नेष्यते दन्तधावनम्॥

अर्थ—मुख मे छाले पड़े हुए हों या सूजन हो, कानों में पीड़ा हो, नया बुखार, शिर दर्द, नेत्र रोग, प्यास आदि के समय, गला, तालु ओष्ठ जिह्वा आदि की बीमारी में, दन्त रोग में, खांसी और अजीर्ण के समय, शारीरिक दुर्बलता में, मृगी में, और हिक्का रोग में मनुष्य को दातुन नहीं करनी चाहिये।

व्यायाम–

दिनचर्या में व्यायाम का वही महत्व है जो भोजन का। जैसे शरीर को जीवित रखने के लिये प्रतिदिन भोजन की आवश्यकता है इसी प्रकार उस खाये हुए भोजन को पचाने के लिये व्यायाम

भी अनिवार्य है। एक सनातनधर्मी के हृदय में स्नान संध्या भगवदुपासना के लिए जितनी श्रद्धा और प्रेम है उतना ही व्यायाम के लिये भी होना चाहिये, क्योंकि—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

अर्थात्—शरीर ही धर्माचरण का मूल साधन है। यदि शरीर ही अस्वस्थ हुआ तो किसका स्नान और कैसी संध्या ? आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि—

व्यायामदृढ़गात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन ।
विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ॥१॥
भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतादयः ।
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ॥२॥
नचास्ति सदृशं तेन किंचित्स्थौल्यापकर्षणम् ।
स सदा गुणमाधत्ते बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥३॥

(भाव प्रकाश)

अर्थात्—व्यायाम द्वारा दृढाङ्ग हुए मनुष्य पर रोगों का सहसा आक्रमण नहीं होता। देश कालादि के विरुद्ध किंवा कच्चा पक्का खाया हुआ आहार शीघ्र पच जाता है। व्यायामशाली पुरुष की देह में शैथिल्य आलस्य आदि दुर्गुण नहीं होते और उसे बुढ़ापा जल्दी नहीं दबा सकता। मोटापे को दूर करने की व्यायाम परमौषधि है, बलिष्ठ पुरुष स्निग्ध पदार्थ खाता हुआ यदि व्यायाम करे तो उसे सदैव लाभ ही लाभ होता है।

व्यायाम क्यों ?—

व्यायाम, धर्मसाधनभूत इसी देह को स्वस्थ रखने की कुञ्जी

है। नियम पूर्वक व्यायाम—अंगों के परिचालन—से सभी शारीरिक अंगों को समान बल की प्राप्ति होती है और वे सुन्दर सुडौल तथा सुदृढ़ बन जाते हैं। हृदय को स्फूर्ति प्राप्त होती है और उसमें एक ऐसा नवीन ओज भर जाता है, जिसके कारण मनुष्य कठिन से कठिन परिश्रम करने से भी नहीं हिचकिचाता। वह, प्रत्येक कार्य उत्साह पूर्वक प्रारम्भ करता है तथा उसे सफलता तक पहुंचाकर ही विश्राम लेता है। मानव का सबसे बड़ा शत्रु आलस्य, ऐसे व्यक्ति की ओर झांकता भी नहीं। यह सब हमारी कोरी कल्पना नहीं किन्तु आयुर्वेद प्रणेता महर्षि चरक के दीर्घ जीवन के अनुभवों का सार है। व्यायाम की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने उसके अमित लाभों का वर्णन किया है, यथा—

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यञ्चापि परमं व्यायामादुपजायते॥

अर्थ—व्यायामसे मनुष्यके सम्पूर्ण अंगोंकी वृद्धि होकर शारीरिक सौन्दर्य उत्पन्न होता है। अंग, सुन्दर तथा सुडौल बन जाते हैं। पाचन शक्ति की वृद्धि होती है, आलस्य, पास नहीं आता। शरीर में स्फूर्ति तथा चैतन्यता का अनुभव होता है। भूख प्यास धूप गर्मी कठोर परिश्रम, थकान आदि को सहने का अभ्यास हो जाता है और सबसे मुख्य बात यह है कि शरीर में कोई रोग उत्पन्न नहीं होता, यह तो हुआ व्यायाम सम्बन्धी 'क्यों' का शाब्दिक विवेचन। इसका वास्तविक अनुभव तो आचरण पर ही निर्भर है,

आये दिन बड़े २ पहलवानों को हम देखते ही हैं और यदि अपने ऊपर अनुभव करना चाहें तो महर्षि चरक के इन शब्दों की यथार्थता का अनुभव थोड़े दिनोंके व्यायामसे हमें भी हो सकता है।

भारतीय व्यायामपद्धति—

हमारा यह पुण्य देश अपनी ज्ञानगरिमा के कारण जहां सब देशों का सिरमौर और 'विश्वगुरु' कहलाता रहा है, वहां बल एवं शक्ति में भी वह कभी किसी से पीछे नहीं रहा। शक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राटों के अतिरिक्त भारतीय इतिहास के देदीप्यमान रत्न श्री रामभक्त हनुमान् अपनी शूर वीरता में विश्व इतिहास के एक ही व्यक्ति हैं, जिनके नाम पर भारतीय सेना का सर्वश्रेष्ठ पदक 'महावीर चक्र' चल रहा है। प्राचीन इतिहास के ब्रह्मचारी भीष्म और महाबलशाली भीमार्जुन आदि की गाथायें तो विश्वविश्रुत हैं ही, किन्तु इसी सदी के सुप्रसिद्ध भारतीय पहलवान 'राममूर्ति' के लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण शारीरिक प्रदर्शन तो कल ही की वस्तु हैं जिन्हें देखकर विदेशियों को भी दांतों तले अंगुली दबानी पड़ी थी। अस्तु,

प्राचीन भारत में, न बलशाली पुरुषों की कमी थी और न बल के साधन व्यायामों की। व्यायाम को लोग धार्मिक कृत्य समझते थे। बड़ी पुण्यभावना से उस में भाग लेते थे। सार्वजनिक व्यायाम शालाएं होती थी और समय समय पर अन्तः प्रान्तीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मल्ल-प्रतियोगिता होती थी जिसमें देश विदेशों के पहलवान उपस्थित होकर अपने शारीरिक बल का परिचय दिया करते थे। ऐसो ही एक मल्ल प्रतियोगिता के निमन्त्रण पर भगवान् कृष्ण ने मथुरा पहुंचकर कस का वध किया था, तथा

ऐसी ही एक मल्ल प्रतियोगिता में जरासंध की मृत्यु हुई थी। कुश्तियों के अलावा दण्ड बैठक, मुग्दर परिचालन, कबड्डी, दौड़, आसन और सूर्य प्रणामादि वे भारतीय व्यायाम विधि हैं जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ करके यावज्जीवन नीरोग रह सकता है।

हमारे देशमें प्राचीन कालमें जिन व्यायामपद्धतियों का विकास हुआ उनमें योगका प्रमुख स्थान है। भारतीय वाङ्मय में योग एक ऐसी अद्भुत विद्या है जो-शरीर और आत्मा, सांसारिक सुख और कैवल्य आनन्द, इहलोक और परलोक—दोनों का समान समन्वय करके मानव ब्रह्म में लीन कर देती है। योग की क्रियायें दुहरी मार करती हैं। एक ओर वे शरीर को स्वस्थ बलशाली और रोग विहीन बनाती हैं दूसरी ओर मनुष्य की आत्मा को उन्नत करके उसे ब्रह्म की सायुज्य मुक्ति का अधिकारी बना देती हैं। योग का स्थान व्यायाम पद्धति में भी है और ब्रह्म विद्या मे भी। आज के इस गये गुजरे जमाने में जबकि योगविद्या बिलकुल लुप्तप्रायः है कभी २ हमें योगासनों और यौगिक व्यायाम के चमत्कार देखने का अवसर मिल जाता है और उस समय हमारे आश्चर्य का पारावार नहीं रहता जब हम देखते हैं कि शरीर के वे असाध्य रोग जो हजारों रुपये खर्च करने पर भी दूर न होते थे एक साधारण से आसन के अभ्यास से कुछ ही समय में बिल्कुल निःशेष होगये।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत में व्यायाम के लिये भिन्न भिन्न विधियें काम में आतीं थी। विभिन्नता के बावजूद भी इनमें हमें एकरूपता भी देखने को मिलती है और वह है—सर्व सुलभता। क्या अमीर क्या गरीब, सभी लोग बिना किसी प्रकार

के खर्च के इन साधनों से यथेष्ट लाभ उठा सकते थे। आज के व्यायाम के साधन—हाकी फुटबाल, क्रिकेट, टैनिस इत्यादि सभी व्यय साध्य हैं, प्रति मास शुल्कादि देकर ही लोग इन खेलों को चालू रख सकते हैं किन्तु भारतीय व्यायाम पद्धति में इस प्रकार के किसी व्यय की आवश्यकता नहीं थी। केवल खुली हवा और खुला मैदान चाहिये, बस। इन विधियों में आसन और सूर्यप्रणाम आदि की विधि व्यायाम के लिये इतनी उपयुक्त है, कि यदि मनुष्य नियम पूर्वक इनका अभ्यास करे तो उसे न केवल रोगों से छुटकारा मिल जाय, अपितु उसके शरीर में रोग उत्पन्न ही न हो।

सूर्यप्रणाम—

यह व्यायाम प्रातः सूर्य वन्दना पूर्वक प्रारम्भ होता है और अष्टविध अभ्यास द्वारा पूर्ण किया जाता है। यों समझ लीजिये कि आठ प्रकार से भगवान् सूर्य को प्रणाम किया जाता है और प्रत्येक अभ्यास में, शिर कमर भुजा छाती फेफड़े पेट और दोनों पावों को समान रूप से इतना परिश्रम करना पड़ता है कि जिससे यह सब अङ्ग बराबर पुष्ट तथा बलशाली हो जाते हैं। आधा घण्टा तक इस अभ्यास के करने से शरीर श्रान्त हो जाता है; तब इसे छोड़ देना चाहिये और वायु में इधर उधर टहलना चाहिये। प्राचीन भारत के ऋषि आश्रमों में जहां कि आज के समान हाकी फुटबाल आदि का प्रचार नहीं था, व्यायाम की यही विधि वहां से निकलने वाले ब्रह्मचारियों को 'कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः'-बनाती थी, इसकी सहायता से वे समय पड़ने पर लव और कुश की भांति चक्रवर्ती से भी युद्ध ठानने में पीछे न हटते थे। जिगर तिल्ली संग्रहणी आदि पेट की सम्पूर्ण बीमारियों के लिये कविराज जी का

बहुमूल्य दवाओं का बक्सा एक तरफ और सूर्यप्रणाम सा सरल किन्तु निःशुल्क प्रयोग दूसरी तरफ। यह अब आपकी इच्छा पर निर्भर है कि आप किसे अपनाते हैं।

आज की दयनीय दशा—

स्वास्थ्य की दृष्टि से आज हमारा देश बहुत पिछड़ा हुआ है। उस भारत में जहां कि——नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः— का घन गम्भीर वेदघोष देशवासियों को शारीरिक तथा आत्मिक बल सम्पादन की प्रेरणा देता था; जिस देश में पुरुष, पूर्णायु प्राप्त करने से पहिले मृत्यु को नहीं प्राप्त होते थे और जिस देश में मृत्यु, अज्ञात एवं अनिवार्य दैवीशक्ति न होकर ईश्वरीय नियम के आधीन उचित समय पर होने वाली घटनामात्र थी! आज, धन्वन्तरी चरक और सुश्रुत के उस देश में ५० प्रतिशत नौनिहाल बालक जन्मते ही १० दिन के अन्दर अकाल में ही काल के गाल में समा जाते हैं। ५ वर्ष की अवस्था तक मरने वालों की संख्या ६० प्रतिशत है और शेष जो रहते हैं वह इतने निर्बल होते हैं कि उन्हें सदा डाक्टरों की शरण लेनी पड़ती है।

इस अभागे देश में प्रतिवर्ष १० लाख व्यक्ति क्षय के ग्रास बन जाते हैं और जीवित पुरुषों में भी ६० प्रतिशत स्त्री पुरुष, धातु सम्बन्धी रोगों में फंसे रहते हैं। 'जीवेम शरदः शतम्' की प्रार्थना करने वाले भारतीय की औसतन आयु, आज केवल २३ वर्ष की है। आज, उसे जवानी के प्रारम्भ में ही बुढापा आ घेरता है; उसे ज्ञात भी नहीं होता कि कब यौवन आया और चला गया। २०, २५ वर्ष की अवस्था में, जब वह होश संभालता है तो अपने को, जर्जर शरीर, गाल अन्दर को धसे हुए, आंखों पर चश्मा

चढ़ाये, शिर के श्वेत बालों से सुशोभित, थोड़े से ही परिश्रम से हांप जाने वाले 'वृद्ध' के रूप में ही पाता है।

हमारी स्वास्थ्य सम्बन्धी इस दुर्दशा में अन्य बहुत से कारण तो हैं ही, किन्तु व्यायाम का अभाव भी एक कारण है। यह क्या कम दुःख का विषय है कि हमें दुनिया के अन्य सब कामों को करने का तो अवकाश है, किन्तु व्यायाम के लिये आध घण्टे का समय नहीं दे सकते। आज प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह बूढ़ा हो या जवान—के सन्मुख यह प्रश्न है कि दिनानुदिन ह्रास को प्राप्त होती हुई अपनी मानव पीढ़ी को क्या इसी प्रकार विनाश की ओर बढ़ने दिया जाय, या इस विनाश से बचने का उपाय किया जाय ? यदि भारतीय जनता दूसरा मार्ग अपनाना चाहती है तो उसे पीछे लौटना होगा। उसे एक बार फिर चरक की पाठशाला में बैठकर पढ़ना होगा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

अर्थात्—आरोग्य—अच्छा स्वास्थ्य ही धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों का मूल है।

हमें हर्ष है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शुभ प्रयत्नों से भारतीय जनता में पुनर्जागरण की भावना उत्पन्न हो रही है। उसके सदस्य दैनिक चर्या के नियमानुसार प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर मातृ वन्दना पूर्वक सामूहिक व्यायाम में भाग लेते हैं और भारतीय व्यायाम पद्धति से व्यायाम करते हैं यह शुभ चिन्ह है। लोगों को चाहिये यदि वे घर पर नियम पूर्वक व्यामाम नहीं कर सकते तो ऐसी संस्था में भाग लेकर ही अपनी स्वास्थ्य सम्पत्ति की रक्षा करें।

तैल मर्दन—

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा ।

दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्व-दार्ढ्यकृत् ।

शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ।

(वाग्भट-सूत्र स्थान अध्याय २)

अर्थात्—प्रतिदिन तेल मालिश करनी चाहिये इससे बुढ़ापा थकावट और वातजन्य रोगों का नाश होता है। दृष्टि बढ़ती है शरीर पुष्ट होता है। आयु बढ़ती है नींद खूब आती है, त्वचा सुन्दर और दृढ़ हो जाती है। शिर कान और पावों की तली में विशेषतया मालिश करनी चाहिये।

यदि आप अणुवीक्षण यन्त्र (खुर्दवीन) की सहायता से अपने शरीर को देखें तो आपको यह जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि प्रकृति ने इसे जालीदार वस्त्र की तरह इतना झीना बुना है कि आप इसमें कठिनता से सुई की नोक के बराबर भी इतना स्थान नहीं प्राप्त कर सकते जहां छिद्र न हो। हमारे शरीर में असंख्य छिद्र हैं जिन्हें रोम कहा जाता है। यह एक प्रकार की छोटी छोटी नालियां हैं जो प्रतिक्षण शरीर की दूषित वायु और मल को प्रस्वेद तथा गैस के रूप में बाहर फेंककर और विशुद्ध वायु को अन्दर पहुंचाकर शरीर को जीवित रखने में सहायक सिद्ध होती हैं।

शारीरिक विज्ञान में बतलाया गया है कि हमारे रक्त में (१) लाल (२) श्वेत और (३) सूक्ष्म, तीन प्रकार के रक्त कण या जीवित रक्त कीट होते हैं जिनके ऊपर हमारा जीवन निर्भर है। इन्हें जीवित रहने के लिये विशुद्ध जल वायु और उपयुक्त भोजन सामग्री की

उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि हमें। प्रकृति इस आवश्यकता की पूर्ति इन रोमों द्वारा करती है। नाक द्वारा हम इतना वायु अन्दर नहीं फेंक सकते जितना कि इन रक्त कीटों को जीवित रखने के लिये अपेक्षित है। यह कार्य इन रोमों द्वारा होता है। यदि किसी मनुष्य के शरीर पर तारकोल या राल आदि अन्य किसी ऐसी वस्तु का लेप कर दिया जाय जिससे यह रोम बन्द हो जायें तो आप देखेंगे वह व्यक्ति थोड़ी देर में छट पटाने लग जाएगा और यदि वह लेप न उतारा जाय तो उसका मर जाना भी असम्भव नहीं होगा।

अभ्यङ्ग अथवा तैल मर्दन त्वचा के इन्हीं रोमों को स्वच्छ एवं कार्य क्षम करने का ऐसा प्राकृतिक साधन है जिसका आविष्कार हजारों वर्ष पूर्व शारीरिक विज्ञान प्रणेता भारतीय महर्षियों ने किया और जन-स्वास्थ्य को दृष्टि में रखते हुए उसे दैनिक-चर्या का एक अङ्ग माना। स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य के लिये तो अभ्यङ्ग का प्रयोग है ही किन्तु रोग चिकित्सा के तौर पर भी तैल मालिश के सफल प्रयोग हुए हैं और आज भी भारत के अपठित देहातों में, गुम चोट, विवध प्रकार के दर्दों, त्वचा के रोगों और सूजन आदि पर इसका अचूक प्रयोग किया जाता है। यूरोप के लिये अवश्य यह एक नई चीज है, आज से लगभग १०८ वर्ष पूर्व हैनृकलिङ्ग (स्वीडन) तथा डा० मेजर (हालैंड) आदि चिकित्सकों के अनुसन्धान से ही वहां के निवासियों को इसकी महत्ता का पता चला और वे इस का प्रयोग करने लगे। अस्तु,

तैल मर्दन क्यों?—

आयुर्वेद की दृष्टि से तैल की उपयोगिता घृत से कुछ कम

नहीं है जो शक्तिशाली पौष्टिक तत्व घृत में पाये जाते हैं अम्यून वे ही सब तेल मे भी यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। यही नहीं किन्तु महर्षि चरक ने तो—'घृतादष्टगुणं तैलं मर्दने न तु भक्षणे'—लिख कर तैल मे घृत से भी आठ गुणा ज्यादा शक्ति को स्वीकार किया है अन्तर केवल यही है कि घृत, जहां खाया जाने के उपरान्त गुणकारी होता है वहां तेल, मालिश करने से। आज के इस कगाल युग मे जब कि विशुद्ध घृत, दुग्धादि का सर्वथा अभाव है, चिकनाई (फैट्स) की इस कमीको यदि तेल मर्दन द्वारा दूर किया जाय तो लोगों का स्वास्थ्य पर्याप्त उन्नत दशा को प्राप्त कर सकता है और खुजली दाद फोड़े पुन्सी एक्जीमा आदि त्वचा सम्बन्धी बीमारिये जो कि खुश्की और गर्मी के कारण उत्पन्न होती हैं— सर्वथा शान्त हो सकती है। तैलमर्दन का वास्तविक रहस्य तो त्वचा को कोमल, नसों को स्फूर्तियुक्त और रक्त को गतिशील बनाने मे है। त्वचा के रोम जितने स्वच्छ होंगे वे उतनी ही तत्परता से वायु के आदान प्रदान के कार्य को करने में समर्थ हो सकेंगे यों तो सर्वदा ही वायु में प्राणशक्ति अन्तर्निहित है किन्तु प्रात.काल की वायु मे—सूर्योदय कालीन प्राणशक्ति और चन्द्रमा द्वारा बरसाया हुआ अमृत का अंश भी संमिश्रित होता है, इसलिये यदि उस समय नियम पूर्वक तेल मर्दन किया जाय तो शरीर के आरोग्य युक्त होने के अतिरिक्त मनुष्य का दीर्घजीवी होना भी स्वतः सिद्ध है, इसीलिये महर्षि चरक ने लिखा है —

स्पर्शने चाधिको वायु स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् ।
त्वचश्च परमोऽभ्यंगः तस्मात्तं शीलयेन्नरः ॥

अर्थात—चूंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए वायु की प्रमुख

आवश्यकता है, वायु का ग्रहण त्वचा के ऊपर निर्भर है और त्वचा का दारोमदार मालिश पर है इसलिए प्रति दिन तेल मर्दन अवश्य करना चाहिये।

मालिश के लिये अन्य तेलों की अपेक्षा विशुद्ध सरसों का तेल सबसे अधिक लाभप्रद है। प्रत्येक अंग पर तेल लगाकर उसको खूब मलना चाहिए। यदि शिर में प्रतिदिन अच्छी तरह तेल मर्दन किया जाय तो सिरदर्द, बालों का गिरना, मस्तिष्क की निर्बलता आदि सभी व्याधियें अपने आप शान्त हो जाती हैं। मालिश करते समय दूसरे तीसरे दिन कानों मे भी तेल की बूंद टपका लेनी चाहिये। ऐसा करने से—

न कर्णरोगा वातोत्था न वात्या हनुसंग्रहाः।
नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात्॥

अर्थात्—कानों में वातज रोग नहीं होते, फोड़े फुन्सी और जबड़ा मंघात का भय नहीं रहता। ऊंचा सुनने और बहरे पन की व्याधि नहीं होती। कानों के नीचे के हिस्से पर अंगूठे से धीरे धीरे मालिश करनी चाहिये, क्योंकि स्नायुवों का सन्धि स्थान होने के कारण इसके मर्दन का प्रभाव सारे वात संस्थान के ऊपर पड़ता है। पैरों के तलुओं के नीचे धीरे २ मालिश, पावों की बीमारियों के साथ २ नेत्र रोगों की भी अद्वितीय महौषध है। ऐसा करने वालों की दृष्टि कभी कमजोर नहीं होती।

रवि मङ्गल आदि वारों को क्यों नहीं ?—

पर, यह स्मरण रखिए कि आप तेल मर्दन का वास्तविक लाभ तभी उठा सकते हैं जब इसका आचरण धर्मशास्त्रानुसार करें।

बिना समझे बूझे यदि आप अन्धाधुन्ध तेल रगड़ने बैठ जांय, तो उसका परिणाम खुजली आदि रोगों से भी भयङ्कर रोगों में फंसना हो सकता है। उदाहरण के तौर पर यूं समझिये। धर्मशास्त्रकारों ने—

तैलाभ्यङ्गे रवौ तापः सोमे शोभा कुजे मृतिः।

अर्थात्—रविवार को तेल मर्दन से ताप (गर्मी सम्बन्धी रोग) सोम को शारीरिक सौन्दर्य, मगल को मृत्यु, वुध को धनप्राप्ति, गुरु को हानि, शुक्र को दुःख और शनि को सुख होता है।

इस श्लोक में रवि मङ्गल आदि वारों को तेलमर्दन का निषेध किया है। इस निपेध की वैज्ञानिकता को न समझते हुए जन साधारण या तो इसे व्यर्थ का ढोंग बतलाने लग जाते हैं—या इसकी नितान्त उपेक्षा करते है। लेकिन किसी बात को न मानने या जान बूझकर उसकी उपेक्षा करने से उस वस्तु के गुणावगुण और प्रभाव तो नष्ट नहीं हो सकता। धतूरा विष होता है, उसके खा लेने पर व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। एक बालक ने उसे बिना जाने खा लिया दूसरे अल्हड़ युवक ने जानते हुए भी अविश्वास के कारण खा लिया। क्या इन दोनों दशाओं में धतूरे की मारण शक्ति कुण्ठित हो जाएगी ? कदापि नहीं उसका प्रभाव अवश्य होगा। यही नियम धार्मिक विधानों के विषय में लागू है। यदि किसी नियम की यथार्थता को न समझ, हम उसका पालन करना छोड़ दें तो इससे उसका प्रभाव तो हुवे बिना न रहेगा।

ससार में 'रविवार' को सब जगह सूर्य—सम्बधित वार ही कहा जाता है। उसको किसी व्यक्ति विशेष के नाम से न पुकार, पृथ्वी से करोड़ों वर्ग मील दूरी पर विद्यमान अग्नि गोले—सूर्य—के नाम पर ही पुकारा जाता है। हिन्दुस्तान तो ग्रह पूजक देश है, यहां की बात छोड़िये, सुदूर यूरोपीय प्रदेशों में भी इसे Sunday अर्थात्

सूर्य का दिन कहा जाता है। यही बात सोम मङ्गलादि सभी वारों के विषय मे भी है। प्रश्न होता है, कि क्या वास्तव में इन आकाशस्थग्रहों का अमुक अमुक दिन पर कोई प्रभाव है? क्यों— संसार के समस्त देश इस विषय मे एक मत है, कहना न होगा कि अवश्य ही सभी देशों के प्राचीन अनुसन्धायकों ने इस प्रभाव को अनुभव किया है तभी सब एक ही परिणाम पर पहुचे हैं। इन दिनों का अमुक २ ग्रहके साथ कैसे सम्बन्ध हुवा और क्यों ये उनके नाम से पुकारे जाने लगे? यह इस प्रकरण से बाहर की बात है। अन्यत्र प्रसिद्धानुसार इसका विवेचन किया गया है यहां तो केवल इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि अमुक अमुक ग्रहों का अमुक अमुक दिनों के साथ सम्बन्ध है। इस विषय मे पूर्व और पश्चिम दोनों देशों के विचारक एक मत है और वास्तव मे अमुक२ ग्रह का उस २ दिन पर निश्चय ही प्रभाव पड़ता है।

इस सामान्य सी बात को समझ लेने पर यह समझने मे आपको कोई कठिनता नहीं होगी, कि अमुक अमुक दिन तेल मालिश क्यों नहीं चाहिये। रविवार को ही लीजिये! यह दिन उस ग्रह से सम्बद्ध है, जो संसार भर की तेज, शक्ति का एक मात्र केन्द्र है, गर्मी का भण्डार है, आग की एक ऐसी दहकती हुई भट्टी है, जिसकी गर्मी करोड़ों वर्ग मील की दूरी पर रहने वाले हम लोगों को भी असह्य आंच पहुंचाये बिना नहीं छोड़ती। वास्तव में यह गर्मी या उष्णता ही जीवन है। शरीर मे जब तक पित्त (गर्मी) विद्यमान है वह उस समय तक जीवित है, ठण्डा हुआ कि मरा। पित्त (गर्मी) का इतना महत्व होते हुए भी उसका परिमाण निश्चित है। वह जब तक शरीर में निश्चित मात्रा में रहेगा शरीर निरोग होगा। अपनी मात्रा से बढ़ा, कि अनेक गर्मी सम्बन्धी रोग

तुरन्त उत्पन्न हो जाते हैं। रविवार को सम्पूर्ण दिन का वातावरण अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक गर्म होगा ही," जिसके प्रभाव से हमारे शरीर में भी पित्त, अन्य दिनों की अपेक्षा बढ़ा हुआ होगा इधर आपने तेल की बोतल उठाई और लगे शरीर पर रगड़ा लगाने। रविवार की गर्मी तत्प्रभाव जन्य पित्त की गर्मी, और आपके मर्दन से उत्पन्न हुई गर्मी। आखिर इतनी गर्मी समाएगी कहां ? शरीर में विद्यमान पित्त में उबाल आ जाएगा और परिणाम होगा—"रवो तापः"

इसी प्रकार मङ्गल ग्रह को लीजिए। यह पृथ्वी का पुत्र (हमारी भूमि का ही एक टुकड़ा है)। लाल रंग का अत्युष्ण ग्रह है और इसका प्रभाव हमारे रक्त पर पड़ता है। मङ्गल के दिन रक्त में दबाव तो पहिले से ही विद्यमान है तब मालिश के द्वारा उस दबाव में और वृद्धि होगी जो कि अपस्मार मृगी खुजली फोडे फुन्सी आदि अनेक रोगों के रूप में प्रगट होकर शीघ्र मृत्यु का कारण बन सकती है। यही बात शुक्र—जो कि मनुष्य शरीरान्त वर्ती शुक्र वीर्य) का स्वामी है—के विषय मे समझनी चाहिये। शुक्र को तेल मर्दन से वीर्य में उष्णता की अभिवृद्धि होने के कारण उसका दूषित होना और मनुष्य को अनेक कष्टों में डाल देना स्वाभाविक है। चूंकि बृहस्पति का सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है इसलिये वह दिन बौद्धिक कार्यों के लिये जितना उपयुक्त हो सकता है उतना शारीरिक कार्यों के लिये नहीं।

इन सूक्ष्म किन्तु महत्व पूर्ण तथ्यों के भुला देने से ही हम लोग अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं। डाक्टर और वैद्य रोगों का निदान अन्य बातों में ढूंढते हैं उन को क्या पता कि रोगी ने यह बीमारी प्रकृति के नियमों का उलङ्घन करके प्राप्त की है।

महर्षियों ने तैल मर्दन के इस निषेधात्मक वचन के परिहार के लिये भी एक व्यवस्था की है जो उनकी सूक्ष्मदर्शिनी बुद्धि का ज्वलन्त उदाहरण तो है ही, किन्तु वनस्पति के ज्ञान पर आश्रित होने के कारण अमोघ भी है।

रवौ पुष्पं गुरौ दूर्वा, भौमवारे च मृत्तिका।
गोमयं शुक्रवारे च तैलाभ्यङ्गे न दोषभाक्॥

अर्थात्—यदि रविवार को पुष्प, गुरुवार को दूर्वा, मंगल को मिट्टी और शुक्र को जरा सा गोमय डाल लिया जाय तो कोई दोष नहीं।

उपर्युक्त श्लोक में वर्णित सभी वस्तुएं उन २ दोषों की उपशामक हैं। सभी जानते हैं, कि गुलाब आदि के फूल ठण्डे होते हैं, उन्हें ठण्डाई आदि में डालकर पिया भी जाता है। उन्हें तेल में डालकर मालिश करने से तेल के सुगन्धित होने के अतिरिक्त इस की उष्णता शान्त हो जाती है और गर्मी बढ़ाने वाला न होकर पित्त को शान्त करने वाला बन जाता है। हरी दूर्वा स्मृतिशक्ति के लिये अत्युपयोगी, नेत्रों को ज्योति प्रदान करती है। प्रातःकाल उस पर घूमने से मस्तिष्क निर्मल हो जाता है। तेल में संयुक्त होने से उसके गुण तेल में आ जाते हैं और वह शरीर में ज्ञानशक्ति की अभिवृद्धि करती है। विवाहादि के अवसर पर इसीलिये उसको तेल में डुबा २ कर वर का उससे अभिषेक किया जाता है।

मंगल भूमि पुत्र है। हमारा रक्त भी पार्थिव वस्तुओं से ही बनता है। जरा सी मिट्टी मिला देने से तेल की उग्र उष्ण शक्ति निष्प्रभ हो जाती है। और वह रक्त के लिए हानिकारक नहीं रहता।

गोमय और गोमूत्र जैसी वीर्यशोधक औषधी कोई नहीं। शोधन की जो प्रबल शक्ति इन दोनों वस्तुओं में है, वह अन्यत्र

नहीं मिल सकती। तेल के साथ गोमय को मिलाकर मलने से उसका वीर्य पर पड़ने वाला दुष्प्रभाव दूर हो जाता है। वह हानिकारक होने की बजाय त्वचा सम्बन्धी रोगों के लिये औषध बन जाता है।

तेल मर्दन के सम्बन्ध मे यहां इतना अधिक और समझ लेना चाहिये, कि अमुक वार को तेल मर्दन न करने की, और अत्यावश्यक दशा मे उसमें अमुक वस्तु के संमिश्रण की जो बात हमने लिखी है, वह वस्तुत सबकी सब व्यवस्था तिल नि.सृत स्नेह के सम्बन्ध मे ही लागू होती हैं, क्योंकि संस्कृत व्याकरणानुसार तिलों से निकाली हुई चिकनाई का नाम ही 'तैल' है, आजकल सरसों, गिरी मूंगफली आदि सभी वस्तुओं से निकलने वाली चिकनाई को 'तेल' कह देने की जो परिपाटी पड़ गई है वह वस्तुतः हिन्दी उर्दू आदि भाषाओं के अधूरेपन का ही परिणाम है। संस्कृत साहित्य में सरसों से निकलने वाले स्नेह=चिकनाई को 'सार्षप' कहते है; इसीप्रकार अन्यान्य वस्तुओं के नाम के अनुसार ही उनसे तद्धित प्रत्यय लगाने पर तादृश नाम सिद्ध होते हैं; इसीलिये शास्त्र मे सुस्पष्ट रूप से सदैव लगा सकने योग्य तेल का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पवासितम्।
अन्यद्रव्ययुतं तैलं न दुष्यति कदाचन॥

अर्थात्—सरसों का तेल, सुगन्ध युत तेल, फूलों से वासित तेल और अन्य द्रव्य जिसमें मिलाया गया हो ऐसे सब तेल सब दिन लगाये जा सकते हैं।

आशा है, इस विवेचन से हमारे पाठकों को इन शास्त्रीय श्लोकों की यथार्थता समझने में कुछ २ सहायता अवश्य मिलेगी।

स्नान—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् (मनु)

अर्थात्—प्रतिदिन प्रातः स्नान करके शुचि होकर सन्ध्यावन्दन तथा देवर्षि तर्पणादि नित्य कर्म करे।

हिन्दु जाति के सभी धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों में 'स्नान' एक अनिवार्य और आवश्यक कृत्य है। संध्या वन्दनादि साधारण दैनिक कृत्यो से लेकर वड़े से वडे अश्वमेध यज्ञ पर्यन्त सभी कर्मों का आरम्भ स्नान से ही होता है। यही क्यों, एक हिन्दू के जीवन का प्रारम्भ भी स्नान से ही होता है और पर्यवसान भी स्नान में ही। बालक, जन्म लेकर ज्योंही जीवन रक्षा के लिये आकुल वाणी में पुकारना आरम्भ करता है,—चिरवन्धन से विमुक्त हो ज्योंही वह मुक्तवायु में प्रथम उच्छ्‌वास ग्रहण करता है, तभी कुशल धात्री सर्व प्रथम उसके शरीर को स्वच्छ करके स्नान कराती है। इसी प्रकार जीवन के पर्यवसान में, जब कि उसकी आत्मा शरीर को छोड़कर अनन्त में लीन हो जाती है, तब भी हिन्दू के शरीर को चितारोहण से पूर्व एक बार पुनः स्नान कराया जाता है और अन्त मे जब सब कुछ 'भस्मान्त ᳪ शरीरम्' वन जाता है उस समय उस भस्म में से चुनी हुई हिन्दू की वह अस्थियें भी पतित पावनी जाह्नवी में अनन्त स्नान के लिये विसर्जित की जाती हैं। इससे अधिक स्नान का महत्व किस देश और किस जाति में देखने को मिल सकता है? हिन्दुओं के हरिद्वार काशी प्रयाग कुरुक्षेत्र उज्जैन पुष्कर आदि सभी तीर्थ स्थानों की महिमा स्नान पर ही निर्भर है। इन स्थानों पर विना किसी विशेष प्रोपेगेण्डे के तत्तत् समय में स्नान के लिये उमड़ पढ़ने वाले जन समुद्र को

देखकर हिन्दुओं की स्नानप्रियता का अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है। वेदादि शास्त्रों में स्नान महिमा के सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं।

गङ्गे ! त्वद्दर्शनान्मुक्तिर्न जाने स्नानजं फलम्। —

—आदि अनेक शास्त्रीय वचनों मे स्नान का अवर्णनीय महत्व प्रतिपादित किया है। उसके आगे मुक्ति जैसा पदार्थ भी अत्यन्त तुच्छ माना गया है। यह स्नान (अभिषेक) ही है जो कलके एक सामान्य जन को दूसरे ही दिन सार्वभौम सम्राट् के महान् पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

स्नान क्यों ?—

स्नान क. तात्पर्य शारीरिक शुद्धि से है। 'ष्णा शौचे' धातु से निष्पन्न होने वाले इस शब्द का अर्थ ही शुचिता सम्पादन है। हम पीछे बतला आये हैं कि हमारी त्वचा में असंख्य छोटे २ रन्ध्र होते हैं। इन्हीं छिद्रों से भीतर का मल स्वेद के रूप में बाहर निकला करता है। वायु के लगने से पसीने का द्रव भाग तो वाष्प बनकर उड़ जाता है, किन्तु अद्रव मैल इन रन्ध्रों में जम जाता है। यदि इस मल को रोज साफ न किया जाय तो कुछ दिनों बाद मैल की मोटी तह इकट्ठी होकर इन रन्ध्रों को बिलकुल बन्द कर देगी जिससे अन्दर का मल और दूषित वायु बाहर न आकर अन्दर ही अन्दर सड़ जाएगी। शरीर से दुर्गन्धी आने लगेगी, अनेक प्रकार के रोग पैदा होंगे और जीवन दूभर हो जाएगा। इसलिए प्रतिदिन स्नान करके त्वचा को बिलकुल स्वच्छ कर लेना चाहिए। इस मल की सफाई ही स्नान का प्रथम उद्देश्य है।

स्नान का दूसरा उद्देश्य शरीर में अपेक्षित जलीय अंश की पूर्ति और प्राण शक्ति का संतर्पण है। आप जानते ही हैं, कि हमारे इस शरीरका निर्माण पृथ्वी अप तेजःआदि पञ्च महाभूतोंसे

हुआ है और उन्हीं के द्वारा यह जीवित भी है। हमारे शरीर में प्रत्येक भूतांश क्षण २ में क्षीण होता रहता है, जिसकी पूर्ति हम प्रकृति मण्डल में विस्तृत पञ्च महाभूतों से भोजन, जल, वायु आदि को ग्रहण करके करते रहते हैं। जब हमारे शरीर मे विद्यमान जल, शारीरिक ऊष्मा से सूख जाता है, तो शरीर मे बेचैनी अनुभव होने लगती है। आमाशय और उसके समीपवर्ती प्रदेश में उत्पन्न होने वाले ताप को तो जल पीकर शान्त कर लिया जाता है, किन्तु शरीर के रोम २ से फूट पड़ने वाली जलाभावजन्य ऊष्मा को शान्त करने के लिये तो स्नान के अतिरिक्त चारा ही कुछ नहीं। गर्मी के दिनों में पाठकों ने इसे भली प्रकार अनुभव किया होगा, जबकि मनुष्य ग्रीष्म से संतप्त होकर जल की शरण मे शान्ति अनुभव करते हैं।

जल के कण २ में प्राणशक्ति निहित है। श्रुति में—

आपो वै प्राणाः—

—कहकर उसे प्राणशक्ति का नैसर्गिक स्रोत स्वीकार किया है। स्नान से हमारे प्राणों की तृप्ति होती है। शरीर में स्फूर्ति तथा चैतन्यता का उदय हो जाता है। आलस्य पास नहीं रहता और मन प्रफुल्लित हो जाता है।

पश्चिमी देशों में तो जल के महत्व का पता लोगों को अब इतने दिन बाद लगा है और वे उसकी आरोग्यता विधायिनी शक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये हैं, किन्तु तपोपूत महर्षियों ने लाखों वर्ष पूर्व जल की इस अमित शक्ति का अनुभव करके ही उसे देवत्व के पद पर अभिषिक्त किया था। प्रत्येक कार्य के आरम्भ में जल स्नान, जल आचमन और जल पूजन की प्रणाली प्रचलित करके उन्होंने इसे धार्मिक परम्परा का अविछिन्न अंग ही बना

दिया जिससे सर्व साधारण मे स्नान आदि के प्रति पर्याप्त रुचि उत्पन्न हो।

स्नान विधि—

नदी सरोवर या किसी बहते हुए पानी में स्नान करना सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसलिये सनातन धर्म में गंगा यमुना गोदावरी आदि नदियों का महत्व पूर्ण स्थान है। स्नान के लिये यह आवश्यक है, कि शरीर का प्रत्येक भाग अच्छी तरह आर्द्र हो जाए। नदी तालाब में यह सर्वथा सुसम्भव है। वहां शरीर के मल और दूषित वायु से गन्दा हुआ जल अति शीघ्र वह जाता है और उसकी जगह लाखों गैलन ताजा जल फिर उपस्थित हो जाता है। इसलिये जहां तक सम्भव हो वहते हुए पानी मे स्नान करना चाहिये।

शहरों मे जहां नदी तालाब आदि का प्रवन्ध नहीं है, या श्रम साध्य है, वहां नलगंगा या कूए की ही शरण लेनी पड़ती है। ऐसे स्थान पर अधिकांश व्यक्ति जल्दी मे दो चार लोटे डालकर हस्ती स्नान करके इस आवश्यक कृत्य को निवटा देते हैं। ऐसे स्नान से वस्तुत कोई लाभ नहीं। धर्म की दृष्टि से प्रतिदिन स्नान करने वाले हमारे आस्तिक समाज को यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि स्नान स्वत' कोई धर्म नहीं है, किन्तु धर्मसाधनभूत इस देह को धर्माचरणक्षम रखने के कारण ही वह धार्मिक कृत्य है। यदि आप स्नान का वास्तविक तात्पर्य समझे बिना दो चार लोटे डालकर अपना कर्तव्य तो पूरा कर लेते हैं, किन्तु फिर भी आपका शरीर रोगी ही रहता है, तो इसके कारण दयालु ईश्वर को दोष देने की आवश्यकता नहीं। मन में कभी यह विचार न कीजिये, कि उसने आपके जैसे नित्य स्नायी भक्त को उसकी भक्ति

का कितना अच्छा (?) पुरस्कार दिया है। ऐसा विचार आपकी भ्रान्ति है। कमी तो आपके कर्तव्य में है। आपने यह समझा ही नहीं कि स्नान का तात्पर्य क्या है और वह कैसे किया जाता है?

स्नान चाहे कूए पर किया जाय या नल पर, इसी विधि से करना चाहिये। स्नान के समय शरीर पर साधारण वस्त्र होना चाहिये, एक लङ्गोट और अङ्गोछा काफी है। उसे लपेट कर बैठ जाइये। पास में एक लोटा और पानी से भरी बाल्टी रख लीजिए। लोटे में जल लेकर सर्वप्रथम शिर को भिगोइये, इसके अनन्तर हाथ और पांव धोने चाहिये। प्रथम शिर का भिगोना इसलिये आवश्यक है, कि शिर में जल पड़ने पर वहां बढ़ी हुई गर्मी पांवों के रास्ते निकलकर शान्त हो जाती है। यदि ऐसा न करके पहिले पांव भिगोये जांय तो पांवों की गर्मी शिर में समा जाती है, जिससे कुछ दिनों में मस्तिष्क में विकार उत्पन्न होकर पागलपन शुरू हो जाता है। अस्तु,

शिर, हाथ, पांव धोने के उपरान्त पानी डाल २ कर शरीर को अच्छी तरह भिगो डालिये और उसे खद्दर के अंगोछे या खुरदरे तोलिये से मलना शुरू कीजिए। लगभग दश पन्द्रह मिनट शरीर को इसी प्रकार मलना चाहिये जिससे रन्ध्रों में घुसा हुआ मल फूल कर बिलकुल साफ हो जाय। इसके बाद ५ मिनट तक शरीर पर बराबर पानी डालते रहिये। यह पानी इन रोमों के रास्ते अन्दर जाकर अपेक्षित जलीय अंश की पूर्ति कर देगा अन्त में शरीर को तौलिये से पौंछ डालिये और वस्त्र पहन लीजिये। यह आपका स्नान हो गया।

यह स्नानका निरा लौकिकस्वरूप है। इसके आध्यात्मिक रूप में कुछ भावनाओं का सन्निवेश और होता है। शास्त्रीय विधि के

अनुसार हमें स्नान से पूर्व जल की अधिष्ठातृ शक्ति 'वरुण' की अभ्यर्थना करनी चाहिये। इस उपासना का रहस्य हम विगत अध्याय के 'देवतावाद' में प्रतिपादित कर आये हैं। स्नान समय पठनीय सभी धर्मशास्त्रोक्त मन्त्रों में जल की दिव्य शक्ति का वर्णन करके लोगों को उससे पूरा २ लाभ उठाने की शिक्षा का ही प्राधान्य है। स्नान करते हुए आस्तिक पुरुषों के मुख से—

गंगे! च यमुने! चैव गोदावरि! सरस्वति!
नर्मदे! सिन्धु! कावेरि!, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

यह श्लोक प्रायः सभी ने सुना होगा। गंगा गोदावरी से हजारों वर्गमील दूर साधारण तालाब मे स्नान करते हुए भी एक सनातन धर्मी प्रतिदिन स्नान के समय, शरीर से नहीं तो कम से कम मन से ही अपने भावना साम्राज्य में कैसे गंगा गोदावरी का पवित्र सान्निध्य प्राप्त कर लेता है और इनके प्रति अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाता है—यह बात इस श्लोक को देखकर भली प्रकार जानी जा सकती है। स्नान के समय सर्वदा किसी स्तोत्र का पाठ करना चाहिये। स्तोत्र चाहे किसी भी देवी देवता का हो यह आपकी श्रद्धा पर निर्भर है। स्तोत्र पाठ इसलिये आवश्यक है कि जल का स्पर्श पाते ही वाणी अपने आप प्रफुल्लित हो उठती है। और उस समय फिर जो भी कुछ जबान पर आजाय मनुष्य वही बोलने लगता है।

मैंने देहात में अपनी भोली भाली अपठित माताओं को देखा है। श्रद्धा परिपूत हृदय से जब वे स्नान करने लगती हैं तो और कुछ नहीं तो—'बिल्ली के बच्चे बचाये द्रौपदी की लाज रक्खी'—यह दोनों वाक्य ही उनके लिये स्तोत्र रूप बन जाते हैं।

यहां तक तो गनीमत है कि इन देवियों, के पास कम से कम श्रद्धा परिपूत हृदय है। ये, देहाती देवियें मेरे उन पड़ोसी बाबुओं से तो हजार दर्जे अच्छी हैं जो प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान के समय जल का स्पर्श पाते ही तार स्वर से—

'या इलाही मिट न जाए दर्दे गम'

फिल्मी धुन की ही निरन्तर रट लगाते चले जाते हैं। अस्तु, तात्पर्य यह है कि भगवन्नामात्मक संस्कृत या हिन्दी के कुछ पद्य स्तोत्र रूप में कण्ठस्थ अवश्य कर लेने चाहियें और स्नान के समय उन्हें बोलते रहना चाहिये इससे शारीरिक शुद्धि के साथ मन और वाणी की भी शुद्धि हो जायगी।

बिना स्नान, खायें क्यों नहीं ?—

यद्यपि आज का सभ्य शिक्षित समुदाय तो, स्नान की कौन कहे, शौच जाने से पूर्व ही विस्तर पर पड़े २ चाय केक का भोग लगाकर प्राकृतिक नियमों की प्रत्यक्ष अवहेलना कर रहा है और त्रिविध रोगों के रूप में उसका दुष्परिणाम भी भोग रहा है, किन्तु हमारे यहां किसी समय अनुल्लंघनीय नियम था, कि बिना स्नान किये कुछ न खाया जाय। इस नियम के धार्मिक पहलू को एक तरफ रख इसके शारीरिक विज्ञान सम्मत पहलू पर ही इन पंक्तियों में कुछ लिखेंगे।

हम पीछे बतला चुके हैं कि स्नान द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग को नया रस और नया जीवन प्राप्त होता है। शरीर में पिछले २४ घण्टे में इकट्ठा हुआ सभी प्रकार का मल, स्नान और उससे पूर्ववर्ती क्रियाओं द्वारा साफ हो जाता है और उसमें सभी विषयों को ग्रहण करने की एक नई योग्यता आजाती है। यह प्रभाव अन्य

अंगों के साथ मनुष्य के पाचक यन्त्रों पर भी पड़ता है, जिससे उनमें भी अन्न ग्रहण की नई इच्छा जागृत होती है, इसी का नाम भूख है। यह इच्छा स्नान करने से जितने तीव्र रूप में जागृत होती है उतनी और किसी तरह नहीं। अतएव स्नान करके जब स्वाभाविक क्षुधा अच्छीतरह जागृत हो जाय तभी भोजन करना चाहिये। स्नान से पूर्व खाने में न वह अभिरुचि न आनन्द। मनुष्य खा अवश्य लेता है और अग्नि उसे पचाती भी है, किन्तु ऐसे भोजन से बना हुआ प्रभावहीन रस शरीर के लिये पूर्ण लाभ कारी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त स्नान से पूर्व, जब हम कोई वस्तु खा लेते हैं, तो जाठराग्नि उसे पचाने के कार्य में लग जाती है। उसके बाद यदि आप स्नान करने लग जांय तो शरीर के शीतल हो जाने के कारण उदर में नाना विध रोग उत्पन्न होंगे और शरीर को कष्ट भोगना पड़ेगा। इसलिये प्राचीन आचार्यों ने यह व्यवस्था की है, कि विना स्नान कुछ खाया न जाय।

कुछ वस्तुएं ऐसी भी हैं जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर स्नान से पूर्व भी खा लेना हानिकारक नहीं और न दोषावह ही, ऐसी वस्तुओं की गणना करते हुए स्मृतिकारों ने लिखा है—

इक्षुरापः पयोमूलं फलं ताम्बूलमौषधम्।
भुक्त्वा पीत्वापि कर्तव्या स्नानदानादिकाः क्रियाः ॥

अर्थात्—गन्ने का रस, पानी, दूध, फल, मूल, पान और दवाई इन चीजों को खा पीकर भी स्नान दानादि क्रिया की जा सकती है। इस श्लोक में प्रतिपादित सभी वस्तुएं अल्पकाल में ही पचने योग्य और जल प्राचुर्य से परिपूर्ण होने के कारण ही स्नान से पूर्व ग्रहण की जाने पर भी स्नान विघातक नहीं होती।

आसन-विज्ञान

प्रत्येक धार्मिक कार्य के अनुष्ठान में कर्ता के लिये अमुक २ आसन पर बैठना भी, शास्त्र में आवश्यक माना गया है यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) कृष्णाजिनमखण्डम् । (दयानन्दीय संस्कार विधि पृष्ठ १६)

(ख) आर्मानामो अस्तर्णानामुपस्थे । (अथर्व १८ । ३ । ४३)

(ग) शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
(श्रीमद् भगवद् गीता ६ । ११)

(घ) काम्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्तकम्बलम् ।
कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्षश्रीव्याघ्रचर्म्मणि ।
कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्रकार्य्या विचारणा ॥१॥

(ङ) धरण्यां दुःखसम्भूतिर्दौर्भाग्यं दारुजासने ।
वंशासने दरिद्रः स्यात् पाषाणे व्याधिपीडनम् ॥२॥
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
बनध्यानतपोहानिं वस्त्रासनं करोति हि ॥३॥
(ब्रह्माण्ड-पुराणे-तन्त्र-सारे च)

(च) भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते ।
(अमृतनादोपनिषद् १८)

अर्थात्—(क) अखण्डित काला मृगचर्म्म [बिछाना चाहिए।]

(ख) ऊर्णा निर्म्मित आसन पर बैठे हुए (ग) पवित्र स्थान में स्थिर आसन जमाना चाहिये, जो न अधिक ऊंचा हो, न अधिक नीचा हो, और रेशमी, मृगचर्म्म और कुशासन उत्तरोत्तर बिछाये जाएं। (घ) काम्यकर्म्म में कम्बल का आसन—वह भी लाल हो तो श्रेष्ठ है। काले मृगचर्म पर ज्ञान सिद्धि प्राप्त होती है। व्याघ्रचर्म पर मोक्षश्री प्राप्त होती है। कुशासन पर सब मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त होती है इसमे कुछ भी सन्देह की आवश्यकता नहीं। (ङ) खाली भूमि पर निरासन बैठने से दुःख, लकड़ी के आसन पर दौर्भाग्य, बांस के आसन पर दरिद्रता, पत्थर पर बैठने से रोग, घास फूंस के आसन से अपयश, पत्तों के आसन से चित्त में भ्रम और कपड़े के आसन से जाप ध्यान तथा तप की हानि होती है। (च) भूमि में दर्भ का आसन बिछाकर धर्म्मानुष्ठान करना सब दोष रहित है।

अन्यत्र ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, कि जिनमें आसन के बिना अमुक धार्मिक अनुष्ठान करना सर्वथा निषिद्ध किया गया है। मुसलमानों की नमाजी चटाई और ईसाइयों की प्रार्थना कुर्सी तो सभी जानते हैं, अन्यान्य पन्थवालों में भी कुछ न कुछ बिछाने की परिपाटी पाई जाती है।

वैज्ञानिक-विवेचन

आसन, केवल कपड़े मैले होने से बचाने मात्र के लिये ही बिछाया जाता है—अहिन्दु लोगों में यह धारणा भले ही बद्धमूल हो, परन्तु हिन्दु लोग तो इस कृत्य को भी धार्मिक अनुष्ठान का का अनिवार्य अङ्ग समझते हैं; क्योंकि शास्त्र में—'अमुक तरह का आसन होना चाहिए और अमुक तरह का नहीं—ऐसी व्यवस्था

देखने में आती है, तथा आसन के न होने पर कर्मविघात का भी उल्लेख मिलता है, सो यह विधान सुस्पष्ट आसन की धार्मिकता को सिद्ध करता है। अस्तु,

धार्मिक कृत्यों में आसन क्यों बिछाया जाता है? इसलिये कि पृथ्वी अपने गुरुत्वाकर्षण के अनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों को अपनी ओर खींचती है, इसी कारण से ऊपर से गिरी प्रत्येक वस्तु धम्मसे पृथ्वी पर आ पड़ती है। कहा जाता है पाश्चात्य वैज्ञानिक न्यूटन ने ईसा की चौदहवीं शताब्दी मे, एक सेव वृक्ष से टूटकर नीचे गिरता देखा तो उसे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का ज्ञान हुआ, परन्तु भारतीय ऋषि तो अरबों वर्षों से इससे परिचित थे—यह बात हमारी आसन व्यवस्था से भलीभांति सिद्ध होती है। हां, तो पृथ्वी में रहने वाला आकर्षण भजन पूजा पाठ आदि धार्मिक अनुष्ठान करते हुए मनुष्य को प्रभावित न कर सके, एतदर्थ पृथ्वी और अनुष्ठाता दोनों के मध्य में ऐसे पदार्थों का होना आवश्यक है, जो कि पार्थिव विद्युत् के संक्रमण को मानव पिण्ड की विद्युत् के साथ संयुक्त न होने दे।

बड़े २ नगरों में जहां बिजली का प्रबन्ध होता है वहां सभी ने कई बार यह देखा या सुना होगा, कि अमुक व्यक्ति बिजली का तार छूने से मर गया। निःसन्देह यदि कोई व्यक्ति बिजलीके खुले तारको पकड़ ले तो वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है, परन्तु बिजली को फिट करने वाले व्यक्ति रात दिन उन तारों को छूते हैं तब भी उनका बाल बांका नहीं होता। क्या आप जानते हैं इसका कारण क्या है? कारण यह है, कि ससार में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं, एक वे जिनमें विद्युत् प्रवाह प्रवेश कर जाता है। जैसे -- लोहा,

पीतल आदि धातुएं और जल मनुष्य पशु पक्षी आदि जीव। दूसरे ऐसे हैं जिन पर विद्युत् का कुछ भी प्रभाव नहीं होता, जैसे लकड़ी चीनी, मिट्टी, रबड़ आदि २ वस्तुए। जिन पदार्थों में विद्युत् प्रवाह सक्रान्त नहीं होता उन पहली श्रेणी के पदार्थों को वैदिक विज्ञान में अशुचि, और दूसरी श्रेणी के पदार्थों को (शुचि) कहते हैं। पाश्चात्य भाषा मे उन्हे कैन्डैक्टर= संक्रामक और नान कन्डक्टर=असक्रामक कहा जाता है।

सो, यदि लकड़ी आदि 'शुचि' पदार्थोंपर खडे होकर कोई बिजलीके तारको छूए तो उसको कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि पृथ्वी आदि 'अशुचि' वस्तुओं पर खड़ा कोई मनुष्य बिजलीसे छू जाए तो बिजलीका करन्ट मानवपिण्ड में प्रविष्ट होकर पृथ्वी पिण्ड में प्रवाहित होने लगेगा। इसतरह 'पावरहाऊस' और पृथ्वीके बीचमें मानव पिण्ड माध्यम की दशा में आजाएगा, जिससे मानवपिण्डका रक्त प्रवाह बिजली के करन्ट से प्रभावित होकर आवश्यकता से अधिक उद्वेलित हो जाएगा। जहां एक सौ छः डिगरी से अधिक मानव पिण्ड का तापमान हुआ कि वह मरा। परन्तु लकड़ी पर खड़े होकर तार छूने की दशा में विद्युत्प्रवाह मानव पिण्ड में प्रवेश करके लकड़ी के असंक्रामक होने के कारण पृथ्वी पिण्ड में नहीं जा पाता-किन्तु वापिस लौट जाता है, इसलिए मानवपिण्ड पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी वैज्ञानिक हेतुसे भारतीय ऋषियोंने पूजापाठके समय गोबर का चौका, काठ का पटड़ा, कुशाका आसन, मृगचर्म, और अमुक २ अनुष्ठान में सिंह व्याघ्रके चर्म, ऊर्णानिर्मित आसन आदि जितने भी आसन बताए हैं, वे सब ही आज की भाषा में संक्रमणशून्य=नान कन्डैक्टर कहे जा सकते हैं। इसप्रकार पार्थिव विद्युत्प्रवाह अनुष्ठाता

पुरुष के पापों के मार्ग में उसके मानव विग्रह पर कुछ भी प्रभाव न डाल सकें, यही आसनों का वैज्ञानिक महत्त्व है।

बिजली के तारों को चीनी मिट्टी के बने आधार वोटों पर बांधना, या लकड़ी की फट्टियों के सम्पुटों में बन्द रखना, किंवा रबड़ के खोल में लपेटना इसी आशय से अनिवार्य है, कि ये पदार्थ नानकन्डक्टर होने के कारण विद्युत करन्ट को लोहे के स्तम्भों में, मकान की दीवारों में प्रविष्ट नहीं होने देते।

मृग, व्याघ्र सिंह चर्म ग्राह्य क्यों ?

(शास्त्रीय स्वरूप और विज्ञान)

मृगचर्म के आसन की पवित्रता का वर्णन वेद संहिता भाग में आता है। वेद में लिखा है कि—

कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः । (यजुर्वेद)

'अर्थात्—काला मृग चर्म सब पुण्यों का जनक है। 'वस्तु वैचित्र्यवाद' के अनुसार स्वभावतः ही मृगचर्म शुचि पदार्थों में अन्यतम है हम 'शुचि अशुचिवाद' में भी इसकी चर्चा कर आये हैं। मृगचर्म में ऐसी विद्युत् पाई जाती है कि जिसके सम्पर्क से बैठने वाले की कामेन्द्रिय शान्त रहती है। इसीलिये सत्व गुण का उपार्जन करने वाले ब्रह्मचारी योगी यति और महात्मा लोग इस पर बैठते हैं। साथ ही यह प्रत्यक्ष देखने में आता है, कि अधिक बैठने वाले सेठ साहूकार और मुनीम, अर्श, भगन्दर, कोष्ठ-बद्धता, कोशवृद्धि आदि अनेक रोगों में से किसी न किसी के शिकार अवश्य हो जाते हैं, आयुर्वेद शास्त्र में मृगचर्म पर बैठने से अर्श (बवासीर) और भगन्दर का शान्त हो जाना लिखा है। यदि

साधक पहिले से ही इस आसन पर नित्य बैठना आरम्भ कर देगा तो अर्श आदि रोग उत्पन्न ही न होंगे। यह भी उक्त आसनका एक लाभ है।

मृगचर्म जहां सात्विक विद्युत् से परिपूर्ण है—व्याघ्र और सिंहचर्म वहां राजस विद्युत् से परिपूर्ण है। उस पर बैठने से ओजः बल पराक्रम बढ़ता है, इसीलिए भारतीय राजा लोग अभिषेक के समय से लेकर सदैव सिंह चर्म निर्मित आसन= 'सिंहासन' पर आसीन रहते थे। प्रत्यक्ष भी देखने में आता है कि खूब 'टं टं' बोलते हुए मृदङ्ग तबले ढोल या नगारे पर सिंह, व्याघ्र चर्म को छुआ दिया जाय तो वे पसीज कर ढम ढम बोलने लग जायेंगे, अर्थात्—जैसे जीवनकाल में वीर सिंह की दहाड़ से उक्त भीरु जीवों का हृदय विदीर्ण हो जाता था, मरने पर भी चर्मों ने अपने २ स्वभाव का परित्याग नहीं किया। व्याघ्र और सिंह के आसन के निकट मच्छर, डांस विषैले-कीड़े, बिच्छू सर्प आदि जीव भी नहीं आ सकते, यह हमने स्वयं अनुभव किया है। इसलिए उक्त आसनों पर बैठकर समाधि लगाने में किसी विषैले जीव के निकट आने की आशंका नहीं रहती।

मृत्यु हो जाने पर भी स्वभाव न बदलने की बड़ी विचित्र विचित्र घटनाएं लोक में देखने को मिलती हैं। कई मछली भोजी सज्जनों ने हमें बताया कि मछली के मांस में एक कांटा रहता है, जो बहुत पकाने पर भी कैडा ही रहता है, अतः उसका गले में चुभ जाने का भी खतरा रहता है। उसके ठीक परिपाक के लिये मत्स्यभोजी उस हंडिया में एक बगुले की अस्थि डाल देते हैं, जिससे कांटे वाटे सब मिनटों में पसीज जाते हैं, इसका तात्पर्य यह हुआ, कि अस्थि सहित मछली को खा जाने वाले बगुले की मृत अस्थि में भी यह क्षमता बनी रहती है, कि वह

मछली के कांटे को पका डाले। उल्लू की आंख का अञ्जन रात में भी दीखने की शक्ति का उत्पादक है, रातौन्धा के रोग में इसका उपयोग होता है। कच्छप की चर्बी में 'अकरकरा' मिलाकर लेप करने से अग्नि, बाधा नहीं पहुंचाती, बहुत से पाखण्डी पांवों के नीचे लगाकर आग पर चलते हैं और अपनी सिद्धि की डींग हांका करते हैं।

उपर्युक्त विवेचना के अनुसार यह निश्चित हुआ, कि मृग व्याघ्र और सिंह चर्म के आसन जहां साधकों को ब्रह्मचर्य की संरक्षा में सहायक सिद्ध होते हैं, वहां अनेक शारीरिक रोगों से बचाने की भी सुनिश्चित गारन्टी करते हैं।

कपड़ा कुर्सी पत्थर की शिला, वर्जित क्यों ?—

धार्मिक अनुष्ठानों के समय कपड़ा, कुर्सी और पत्थर की शिला का आसन की भांति उपयोग करना निषिद्ध है। कुर्सी ऊंची और यथेष्ट चौड़ी न होने के कारण जहां सिद्धासन सुखासन और पद्मासन आदि बैठने के धार्मिक ढङ्गों के अनुकूल नहीं, वहां हवन आदि कृत्य के समय तो केवल वायुशुद्धि के निमित्त सामग्री झोंकने के काम को छोड़कर देव पूजन आदि किसी काम में आ ही नहीं सकती, क्योंकि ऐसा करनेसे देव शक्तिका अपमान भी होता है। वस्त्र का आसन बनाने वाले की दरिद्रता, भरी पञ्चायत में प्रकट हो जाती है। जिसके यहां कुशा का चार पैसे का आसन भी न हो, किन्तु जिस कपड़े को ओढ़ता पहिनता हो उसी धोती अंगोछे कमीज को नीचे बिछाना स्वयं अपनी दरिद्रता का ढोल पीटना है, इसलिये कपड़े के आसन से दारिद्र्यफल का शास्त्रीय उल्लेख सुस्पष्ट ही है। शिलाखण्ड पर बैठनेसे रोग हो जाना लिखा है, सो प्रत्यक्ष

है, पत्थर गर्मी में बहुत गरम हो जाता है और सर्दी में बहुत ठिठुर जाता है। पत्थर का कैड़ापन तो मूढ़ भी जानते हैं। सो यदि पूजा पाठ में घन्टों कोई ऐसे आसन पर निरन्तर बठेगा, तो निश्चित ही वह गुदा सम्बन्धी किसी रोग का शिकार बन जाएगा, साथ ही कपड़ा और पत्थर, पार्थिव विद्युत् से मानव पिण्ड को पृथक् करने की क्षमता भी नहीं रखते क्योंकि ये दोनों ही वस्तु (शुचि) = नान-कन्डक्टर पदार्थ नहीं है अतः इनसे आसन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती।

अमुक दिशा को ही मुख क्यों ?

प्रातः सन्ध्या पूर्वाभिमुख होकर और सायं सन्ध्या पश्चिमाभिमुख होकर करनी चाहिये, तथा देवकर्म्म पूर्व दिशा को, ऋषि कर्म्म उत्तर दिशा को और पितृकर्म्म दक्षिण दिशा को मुख करके करना चाहिए—ऐसी शास्त्रों में विधि पाई जाती है यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) प्राची दिगग्निरधिपतिः, दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः, प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः, उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः। (अथर्व ३। २७। १-४)

(ख) देवानामेषा दिग् या प्राची पितृणामेषा दिग् या दक्षिणा।

(ग) प्राचीं ··दम्पती संश्रयेथाम्। दक्षिणां यमः पितृभिः। प्रतीचीं ··श्रयेथां सुकृतः··· । दिशामुदीचीं ·· कृणवन्नो अग्रम्। (अथर्व १२। ३। ७-१०)

(घ) उत्तराभिमुखो भूत्वा...योगाभ्यासं स्थितश्चरन्।

(त्रिशिखी ब्राह्मणोपनिषद् १८-१६)

अर्थात्—(क) पूर्व दिशा का अधिपति अग्नि है, दक्षिण का इन्द्र, पश्चिम का वरुण और उत्तर का सोम है। (ख) पूर्व दिशा देवताओं की और दक्षिण दिशा पितरों की है। (ग) [विवाहादि कृत्यों में] जाया और पति पूर्व दिशा का आश्रय लें। यम और पितरों के कर्म में दक्षिण दिशा। [सायंकालीन संध्या आदि] सुकृत उपार्जन में पश्चिम दिशा। और उच्चतम आदर्श स्वाध्यायादि ऋषि कर्म्म में उत्तर दिशा प्रशस्त है। (घ) उत्तर दिशा को मुख करके योगाभ्यास करे।

वैज्ञानिक विवेचन

अमुक दिशा की ओर मुख करके धार्मिक अनुष्ठान करने की व्यवस्था केवल सनातन धर्मी हिन्दुओं में ही नहीं है, अपितु इसका कुछ न कुछ आभास आर्यसमाज और अन्यान्य अहिन्दु पन्थों में भी प्रायः पाया जाता है। आर्यसमाज की 'संस्कार विधि' में प्रायः प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में पूर्वाभिमुख बैठने का उल्लेख विद्यमान है। यथा—

(क) [जात कर्म्म संस्कार के समय] बालक का पिता, पूर्वाभिमुख बैठे। (संस्कार विधि पृष्ठ ५७)

(ख [वेदारम्भ संस्कार के दिन] कार्यकर्ता पूर्वाभिमुख बैठे। (सं० वि० पृ० ८७)

(ग) [समावर्तन में] पूर्वाभिमुख आचार्य बैठे।

(सं० वि० पृ० ११२)

(घ) [विवाह संस्कार में] कन्या वर, पूर्वाभिमुख बैठें।

(स० वि० पृ० १३०)

मुसलमान काबा की ओर मुख करके ही अपनी मजहबी रसूमात अदा करना अनिवार्य समझते हैं, उनकी कबरें और मस्जिदें भी ठीक एक ही दिशा में बनाई जाती हैं, चांद भी वह केवल शुक्ला दूजा का ही पूज्य समझते हैं, क्योंकि वह पश्चिम दिशा में उदित होता है। पूर्व में उदित हुआ पूर्ण चन्द्रमा भी उन्हें मान्य नहीं, यहां भी कट्टरता की पराकाष्ठा प्रकट करते हैं। ईसाइयों के गिरजाघरों का भी पूर्व दिशा में ही द्वार रहता है। जैन बौद्ध और पारसी भी प्रायः ऐसा ही मानते हैं।

यद्यपि अहिन्दू पन्थ अपनी मान्यता का कोई वैज्ञानिक हेतु बतलाने मे असमर्थ हैं, क्योंकि उनके यहां तो केवल परम्परा= रूढ़ि, ही इसका प्रधान हेतु कहा जा सकता है, परन्तु हमारे ऋषियों का मुसलमानों की भांति किसी एक ही दिशा का निरर्थक आग्रह नहीं है, बल्कि उन्होंने तो वैदिक विज्ञान के अनुसार जो कार्य जिस दिशा में मुख करने से अनुकूल जान पड़ा उस कार्य में उसी दिशा का विधान किया, यथा—

प्रातःकालीन सन्ध्या वन्दन आदि कृत्यों में और संस्कार आदि धार्मिक अनुष्ठानों में पूर्व को मुख करने की इसलिये विधि है, कि ब्रह्ममुहूर्त से लेकर मध्याह्न तक सूर्य का आकर्षण सामने रहने से मानव पिण्ड के ज्ञान तन्तु अधिक से अधिक स्फूर्ति सम्पन्न रहेंगे जिससे दैवी गुणों के विकास के कारण हमारे ये धार्मिक अनुष्ठान प्रभावशाली सिद्ध होंगे।

पठन पाठन स्वाध्याय आदि ऋषिकर्म्मों में उत्तर दिशा को मुख करने का प्रधान हेतु यह है, कि आध्यात्मिक जगत् का एक

मात्र विश्व विद्यालय 'हिमालय' धर्म्म प्रधान भारतवर्ष से उत्तर दिशा में विराजमान है। मानसरोवर और जमनोत्तरी से ऊपर का भाग तथा गौरी शिखर आदि हिमालय की ऊंची चोटियें इस अनेक साधन सम्पन्न विज्ञान युग मे भी मानव स्पर्श से अभी तक सर्वथा अस्पृष्ट बनी हुई हैं और बनी रहेंगी। कवि कालीदास के शब्दों में यह पवित्र पर्वत केवल पत्थरों का बेडोल ऊंचा टीला मात्र नहीं है, अपितु दैवी गुणों की प्रसव भूमि होने के कारण स्वयं भी 'देवात्मा' कहा जाता है। इसलिये तादृश आर्ष कर्म्मों के समय उसके सम्मुख रहने से मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार अनुष्ठाता के सामने भी ऋषियों के उच्चतम आदर्श उपस्थित रहते हैं। अथ च चतुर्दश विद्याधिपति भगवान् महेश्वर भी उत्तर में ही कैलाश पर्वत पर विराजते हैं। 'विद्या कामस्तु गिरिशं' इस श्रुति के अनुसार शंकर की आराधना पूर्वक विद्या ग्रहण करने के लिये विद्याधीश्वर महेश्वर के सान्निध्य में उत्तराभिमुख बैठकर ही तो सफल स्वाध्याय हो सकता है। 'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः'— के अनुसार समस्त विद्याओं की अधिष्ठातृ भगवती जगदम्बिका का निवास भी उत्तर में ही है, अतः पठन पाटन स्वाध्याय के लिये उत्तर दिशाभिमुख होना सर्वथा सुसंगत है।

पितृकर्म्म में दक्षिण दिशा में मुख करने का अभिप्रायः भी स्पष्ट है। वेदादि शास्त्रों में दक्षिण दिशा में चन्द्रमा से ऊपर की कक्षा में पितृलोक की अवस्थिति मानी है, तदनुसार पितृकर्म का अनुष्ठान दक्षिण में मुख करके करना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त पूर्व में मुख करने से सूर्य का प्रबल आकर्षण आहूत पितरों की आत्माओं के आवहन में अवरोध कारक सिद्ध हो सकता है, इससे पितृकर्म्म में पूर्व में मुख करना प्रतिकूल पड़ता है। उत्तर

दिशा में मुख करने से—दक्षिण दिशा की ओर से पधारने वाले पितरों की ओर पीठ फेरकर बैठना वैसा ही अपमान जनक है, जैसा कि किसी समागत प्रतिष्ठित सम्बन्धी को आते देखकर पीठ फेर लेना माना जा सकता है। साथ ही 'ग्रहचक्र' और 'शिशुमार चक्र' की प्रगति पूर्व और पश्चिम दिशा के बीचों बीच रहती है, इसका भी, आहूत पितरों की सूक्ष्म आत्माओं पर प्रभाव पड़ता है। इसी हेतु से श्राद्ध के लिए 'अपराह्न=कुतप काल–श्रेष्ठ माना है, क्योंकि उस समय सूर्य रश्मियें अर्वाचीन हो जाती हैं। श्राद्ध में सन्यासी आदि ज्ञान प्रधान चतुर्थाश्रमियों का भी इसी आशय से निषेध है, क्योंकि उनके पिण्डों मे आहूत पितरों की आत्माएं प्रविष्ट होती हुई सङ्कोच करती हैं। इन सब कारणों से पितृकर्म्म के लिये दक्षिण दिशा को मुख करने की विधि है।

स्वामी दयानन्द ने अपनी 'संस्कार विधि' के समावर्तन संस्कार में समावृत ब्रह्मचारी द्वारा दक्षिण दिशा में मुख करके 'ओं पितरः शुन्धध्वम्' यह मन्त्र बोलकर जल की भरी अञ्जलि भूमि पर छोड़नी लिखी है—इस इतिकर्तव्यता की कथित जीवित पितरों के श्राद्ध से कुछ भी संगति नहीं बैठ सकती, अतः यह विधि निःसन्देह मृत पितरों के तर्पण के उद्देश्य से ही यहां अङ्कित हुई है, सो यहां भी दक्षिण दिशा का विधान सुस्पष्ट है।

सायं सन्ध्या के समय सूर्य, पश्चिम दिशा में अस्त होने को होता है, अतः उस समय पश्चिम को मुख करना भी उन सब लाभों का हेतु होता है जो लाभ प्रातः कालीन सन्ध्या के समय पूर्व को मुख करने से प्राप्त होते थे। इस प्रकार हमारे यहां अमुक दिशा को मुख करने का विधान निर्हेतुक नहीं किन्तु अनेक अटल कारणों से भरपूर है।

तिलक धारण क्यों ?

शास्त्रों में तिलक धारण भी एक आवश्यक धार्मिक कृत्य मान गया है यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदाधार्य्यं, भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम् ।
उभयं चन्दनेनैव, ह्यभ्यङ्गोत्सवरात्रिषु ॥

(ख) शतं चैका च हृदयस्य नाड्य
स्तासां मूर्धानमभि निःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन् न मृतत्वमेति,
विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ (कठोपनिषद् २।६।१६)

(ग) स्नानं दानं तपो होमो देवतापितृकर्म्म च ।
तत्सर्वं निष्फलं याति ललाटे तिलकं विना ॥
ब्राह्मणस्तिलकं कृत्वा कुर्य्यात्सन्ध्यां च तर्पणम् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्म २६)

अर्थात्--(क) ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक मृत्तिका से धारण करना चाहिये, भस्म का त्रिपुण्ड्र और चन्दन का दोनों प्रकार का तिलक, अभ्यङ्ग और उत्सव रात्री में धारण करना चाहिये। (ख) हृदय की एक सौ एक नाड़ी हैं उनमें से सुषुम्णा नाम की नाड़ी मस्तक प्रदेश के सामने से निकलती है, उसके द्वारा ऊंचे को प्रस्थान करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है, शेष सबका प्राणोत्सर्ग के समय चारों ओर से उपयोग होता है। (ग) स्नान, दान, तप,

होम, देव और पितृकर्म्म सब निष्फल होता है यदि मस्तक में तिलक धारण न किया हो। ब्राह्मण को चाहिये कि वह तिलक धारण करके पश्चात् सन्ध्या तर्पण आदि कृत्य करे।

वैज्ञानिक-विवेचन

यद्यपि चन्दन, गोपी चन्दन, सिन्दूर, कुंकुम और भस्म आदि द्रव्यों का भी तिलक लगाया जाता है परन्तु मुख्य तिलक तीर्थों की पवित्र मृत्तिका को स्वच्छ करके जो तैयार किया जाता है—वह सात्विक और अनेक वैज्ञानिक लाभों से परिपूर्ण है, इसीलिए उपर्युक्त शास्त्र प्रमाण में भी उसे ही सर्व प्राथम्य दिया गया है। शुद्ध मृत्तिका में सर्वविध संक्रामक कीटाणुओं के विनाश की अद्भुत शक्ति सभी भौतिक विज्ञानवादी स्वीकार करते हैं, तत्तत् पदार्थों की पूति गन्ध नामक सड़ांद को दूर करने का एक मात्र साधन='गन्ध गुण' केवल पृथ्वी में ही विद्यमान है।

साबुन, इतर, फनैल आदि पदार्थ—अपनी उग्रगन्ध के कारण तत्तत् वस्तुओं में क्षणिक स्वच्छता का आभास चाहे प्रकट करदें, परन्तु वास्तव में यदि सूक्ष्म वीक्षणयन्त्र की सहायता से उन पदार्थों का निरीक्षण किया जाय तो वे मलिन-कीटाणुओं से तथैव क्लिन्न रहते हैं। इसलिये अब तो बहुत से पाश्चात्य विचारक भी यह घोषित करने लगे हैं, कि 'कांच और चीनी का प्याला यदि एक बार भी ओठों से 'टच' हो तो मनुष्य के थूक से सहस्रों कीटाणु उस पर जम जाते हैं' पानी से धोने पर या साबुन का प्रयोग करने पर भी वे नहीं मरते, मिट्टी और राख ही उनका समूल नाश करने के लिये सबसे सस्ता और सुलभ पदार्थ है। सो मृत्तिका के अधिक गुण वर्णन न करके हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं, कि

लेपन द्रव्यों में यह सर्वोत्तम द्रव्य है, फिर यदि वह तीर्थ स्थानों की हो तब तो कहना ही क्या ? 'देश वैचित्र्यवाद' के अनुसार तत्तत् तीर्थों की मृत्तिका का सम्मिलित पिण्ड मानों अनेकविध शुचितामय परमाणुओं का पुञ्जीभूत संघात है। उसे विशाल भाल में धारण करने का अर्थ है--मानो हम अपने मस्तिष्क को पुनीत रखने के लिये एक सुदृढ़ प्राचीर तैयार कर रहे हैं। उपनिषद् के पूर्वोक्त प्रमाण में सुस्पष्ट लिखा है कि सुषुम्णा नाड़ी हृदय से सीधी मस्तक के सामने ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचती है, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक मानों ऊर्ध्वगति का संकेत चिन्ह है।

यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि हमारे मन में जो संकल्प उठता है, वह सर्व प्रथम मस्तिष्क की धमनियों में ही प्रकम्पन करता है। मस्तिष्क के प्रकम्पन के अनन्तर ही वह तत्तत् इन्द्रियों को कार्यानुकूल होने को सज्जित करता है। सो हमारा मस्तिष्क जितना विकार रहित होगा, उतना ही हम प्रत्येक बात की वास्तविकता का शुद्ध परिशीलन कर पायेंगे। हमारे ज्ञान तन्तुओं का विचारक केन्द्र भृकुटी और ललाट का मध्य भाग है। यह प्राय सभी ने कई बार अनुभव किया होगा, कि जब कभी आवश्यकता से अधिक विचार करने का अवसर पड़ता है तो इसी केन्द्र में वेदना अनुभव होने लगती है। अत. हमारे महर्षियों ने ज्ञान तन्तुओं के केन्द्र स्थान में ही तिलक धारण करने का विधान किया है। तिलक की महिमा के अविश्वासी लोग भी जब मस्तिष्क वेदना से पीड़ित होते है तब वे भी चन्दन उसीर आदि शीतल द्रव्यों का कलल मत्थे पर पोतने के लिये विवश होते हैं। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि यों तो शुक्र नामक धातु समस्त शरीर में ही परिव्याप्त है परन्तु उसका उरोज और मस्तक के स्थान से

विशेष सम्बन्ध है। इसीलिये युवापन को प्राप्त होने वाले बालकोंके स्तनों में ग्रन्थी और मुख मण्डलपर विस्फोटक फुनसियें नवयौवनकी प्रथम निशानी समझी जाती हैं। सो वीर्यसंरक्षाके निमित्त भी भाल प्रदेश में शुचितम मृत्तिका को धारण करना परमावश्यक है।

जयहिन्द—

सौभाग्यवश आज 'वन्दे मातरम्' और 'जयहिन्द' का पवित्र घोष आबाल वृद्ध भारतीय की जिह्वा पर विद्यमान है; परन्तु अभी तक भारत के कुछ सपूतों को यह ज्ञान नहीं है, कि जिस भारत या हिन्द की हम वन्दना और जय मना रहे हैं, वह भारत माता एक निर्विशेष मृण्मय पिण्ड ही तो है। फिर यदि हम नित्य उस माता की पवित्र रज अपने भाल पर धारण करके उसके गौरव के सामने नत मस्तक हों तो हमारा यह कृत्य मातृ पूजा का ही तो एक सफल प्रदर्शन होगा! खेद का विषय है कि आज के स्कूल और कालिजों के विद्यार्थी एक ओर तो 'वन्दे मातरम्' और 'जयहिन्द' का घोष करते हैं और दूसरी ओर उसी भारत माता की रज को सम्मान देने वाले व्यक्तियों को देखते ही 'ओल्डफैशन' कहकर नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। हमें प्रसन्नता है कि मद्रास प्रान्त के सज्जन बड़े से बड़े पदों पर अधिष्ठित होते हुये भी बड़े गौरव के साथ तिलक धारण करके केन्द्रीय धारा सभा के अधिवेशनों में जाते हैं, इससे उनका गौरव बढ़ता ही है। क्या हम आशा करें कि अन्य प्रान्त के सज्जन भी मद्रास के इन संस्कृति संरक्षकों का अनुकरण करके भारत के गौरव को चार चांद लगायेंगे।

मृत्तिका के बाद दूसरा स्थान यज्ञ भस्म का है, कुछ लोग जैसी तैसी भस्म ही पोत लेते हैं—यह ठीक नहीं, क्योंकि स्मृति ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो कि सर्व साधारण भस्म

को निन्द्य सिद्ध करते हैं। अतः यज्ञ भस्म ही लगानी चाहिए।

चन्दन के गुण तो हकीम साहिब से ही पूछ लीजिए। सरदर्द में वे आपको सन्दल के लेप करने का ही परामर्श देंगे। यह ठीक है, कि सन्दल का घिसना भी सरदर्द ही है परन्तु 'विषस्य विषमौषधम्'—सरदर्दी को दूर करने के लिए डबल सरदर्दी और खरीद लीजिए, सरदर्द शर्तिया दूर हो जायगा।

कुंकुम, हल्दी का ही चूर्ण होता है—जो नींबू के रस में भावित करने से लाल हो जाता है। हल्दी, संयोजक और त्वाच शोधन के लिये सर्वोत्तम पदार्थ है। आयुर्वेद में इसके अनेक गुण लिखे हैं। दाल साग में इसे इसलिये नहीं डाला जाता, कि अमुक भक्ष्य भोज्य पीले रङ्ग का बन जाए, क्योंकि दूध, रबड़ी, खीर, घेवर, बर्फी, पेठा आदि अनेक भक्ष्य भोज्य श्वेत रङ्ग के ही उपयोग में आते हैं। सब्जी आदि में हल्दी का उपयोग उसके संयोजक गुण के कारण ही होता है। अतएव तिलक में कुंकुम के उपयोग से त्वचा शुद्धि और मस्तिष्क स्नायुवों का संयोजन नैसर्गिक कहा जा सकता है।

मांग में सिन्दूर क्यों ?

सधवा स्त्रियों को कुंकुम के अतिरिक्त खासकर सीमन्त (मांग) में सिन्दूर लगाना चाहिए। विवाह संस्कार के समय ही वर वधू के मस्तक में सिन्दूर लगाता है—यह शास्त्रीय प्रथा प्रायः सब देशों में प्रचलित है।

श्री हनुमान् जी सिन्दूरी चोले में क्यों ?

अद्भुत रामायण में एक कथा प्रसिद्ध है, कि—श्री हनुमान् जी ने जगज्जननी श्री जानकी के सीमन्त में सिन्दूर लगा देखकर आश्चर्यपूर्वक पूछा—माता ! आपने यह लाल द्रव्य मस्तक में क्यों

लगाया है ? श्री जानकी जी ने ब्रह्मचारी हनुमान् की इस सीधी साधी बात पर प्रसन्न होकर कहा–पुत्र ! इसके लगाने से मेरे स्वामी की दीर्घायु होती है। श्रीहनुमान् जी ने यह सुना तो बहुत प्रसन्न हुये, और विचारा, कि जब अंगुली भर सिन्दूर लगाने से आयुष्य वृद्धि होती है तो फिर क्यों न सारे शरीर पर इसे पोतकर अपने स्वामी को अजर अमर ही बनादूं। वैसा ही किया सब शरीरपर सिन्दूर पोतकर सभा में पहुँचे, तो भगवान् इस दृश्य को देखकर इतने हंसे कि जितने शायद जीवन भर में कभी न हंसे होंगे।

श्रीहनुमान् जी को माता जानकी के वचनों मे इससे और भी अधिक विश्वास हुआ। कहा जाता है कि उस दिन से हनुमान् जी की इस उदात्त स्वामी भक्ति के स्मरण में उनके शरीर पर सिन्दूर का चोला चढ़ाया जाने लगा। इस कथानक से यह सहज में ही समझ में आ जाता है, कि त्रेतायुग में भी स्त्रियों के सीमन्त में सिन्दूर लगानेका शास्त्रीयविधान प्रचलित था। इसका क्या हेतु है ? प्रसङ्गवश यहां यह रहस्य प्रकट करना अनावश्यक न होगा।

(१) मांग में जिस स्थान पर सिन्दूर लगया जाता है वह स्थान ब्रह्म रन्ध्र और अधिप नामक मर्म के ठीक ऊपर का भाग है। स्त्री के शरीर में यह भाग चूंकि पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल होता है अतः उसकी संरक्षा के लिये शास्त्रकारों ने सिन्दूर का विधान किया है। सिन्दूर मे पारा जैसी अलभ्य धातु बहुत मात्रा में होती है। वह स्त्री शरीरस्थ वैद्युतिक उत्तेजना को हो कन्ट्रोल में नहीं रखता, बल्कि मर्म स्थानको वाह्य दुष्प्रभाव से बचाता भी है।

(२) सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यदि स्त्रियों के सीमन्त में अथवा भृकुटी केन्द्रमें 'नागिन' रेखा पड़ी हो तो वे दुर्भगा रहती हैं।

कई बाल विधवाओं के सीमन्त स्थल में बालों की भंवरी= (आवर्त) प्रत्यक्ष देखी जाती है। सो इस दोष की निवृत्ति के लिये सिन्दूर द्वारा उसे आच्छादन करना बताया गया है।

(३) काम काज और बच्चों की संभाल में नित्य शिर न धो सकने वाली स्त्रियों के बालों में प्राय: जूं लीक आदि जीव भी पड़ जाया करते हैं, उनके हटाने की अमोघ औषधि भी पारद है सो सीमन्त में सिन्दूर रहते उक्त जीवों का कुछ भो खतरा नहीं रहता।

(४ स्त्रियों के भाल प्रदेश में सिन्दूर की बिन्दु जहां सौभाग्य का प्रधान लक्षण समझा जाता है वहां इससे सौन्दर्य भी बढ़ जाता है। स्वामी दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में अपनी आदत से विवश होकर तिलक का भरपेट खण्डन किया है और जितनी भी लचर दलीलें हो सकती थी वे सब की सब वहां दे डालीं, परन्तु नगर कीर्तन के समय युक्तप्रान्त के समाजी पुरुष और सदैव सब प्रान्तों की आर्य समाजिन स्त्रियें आज भी अपने भाल को सनातन धर्म्म की इस छाप से उन्मुक्त न कर सकीं। पिछले कुछ दिनों से तो गुजरात, महाराष्ट्र मद्रास और बगाल आदि देशों की स्त्रियों के मस्तक मे निरन्तर भालबिन्दु सजा देखकर पंजाब, पश्चिमी युक्त प्रान्त और देहली तथा मारवाड़ प्रान्त की स्त्रियों ने भी मस्तक में नित्य बिन्दी लगाना अनिवार्य बना लिया है। सिनेमा की नटियें तक भी सौन्दर्य के इस चिन्ह के अपनाने में अपनी लालसा का सवरण न कर सकीं।

तिलक की सर्वभौम विजय—

जेल जाते समय तो बड़े कांग्रेमी लीडरों को—फिर चाहे वे मौलाना आजाद या स्वामी श्रद्धानन्द ही क्यों न हों—बड़ी सज धज के साथ तिलक से विभूषित किया गया। महात्मा गांधी का

एक लाल बिन्दी से विभूषित चित्र बाजार में सर्वत्र विकता है। महामना मालवीय जी का तो शून्य मस्तक चित्र ढूंढना सर्वथा असम्भव ही है। क्या हम अपने राष्ट्र कर्णधारोंसे पूछ सकते हैं कि यदि जेल के लिये प्रस्थान करते समय तिलक धारण गौरव की वस्तु है, तो फिर इसे यदि नित्य धारण किया जाय तो इसमें क्या आपत्ति है ? समाचार पत्रों वाले भी तिलक लगाने की जेल-कालीन घटनाओं को तो मोटे २ शीर्षक देकर छापते थे, परन्तु अब माधवाचार्य को सतिलक देखकर 'चेमे गोइयें' करने लगते है, इस 'दुरङ्गी' का क्या कारण है ?

तिलक केवल भिखमंगे कहे जाने वाले ब्राह्मणों का ही चिन्ह नहीं है अपितु भारत में तब तक कोई महाराजा ही नहीं बन पाता था, जब तक कि कोई तिलकधारी पुरोहित राज्यभिषिक्त सम्राट् को तिलक न चढ़ादे। हिन्दू शास्त्रों में तो इस तिलक प्रथा को इतना महत्व दिया गया है, कि राज्याभिषेक समारोह का नाम ही 'राज्य तिलक' पड़ गया।

यवनकालीन विप्लव के समय जितने बलिदान शिखा सूत्र और तिलक की रक्षा के लिये हुये हैं। इतने अन्य किसी उद्देश्य के लिये नहीं। श्रीगुरु गोविन्द सिंह के पिता का अमर बलिदान तिलक यज्ञोपवीत की रक्षा के लिये ही हुआ था यह बात गुरुगोविन्दसिंह जी ने अपने 'विचित्र नाटक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में स्वयं लिखी है। यथा—

तिलक जयूं राखा प्रभु ताका, कीन्हा बड़ा कलू में साका।

कहा जाता है कि अत्याचारी यवन लोग हिन्दुओं के जनेऊ को दांतों से काट डालते थे और मस्तक पर लगा तिलक चाट लेते थे, इसकी रोक थाम के निमित्त करारा जवाब देने के लिये

पंजाब में गुरु रामराय के समय में 'सुथरा' नामक सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। ये लोग सूवर की तांत का जनेऊ पहिनकर और बिष्टा का तिलक लगा कर यवनों के सामने उन्हें चिढ़ाने के लिये खूब घूमते थे। वे सूवर को अपने मजहब के अनुसार 'हराम' और 'बद' समझकर निकट नहीं आते थे इस प्रकार यवनों के अत्याचार को रोका गया।

शिखा बन्धन क्यों ?—

समस्त धार्मिक अनुष्ठानों के आरम्भ में शिखा में ग्रन्थी लगाना भी सर्वथा आवश्यक माना गया है यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) यशसे श्रियै शिखा। (यजुः)

(ख) सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।

(ग) गायत्री मन्त्रेण शिखां बद्ध्वा।

अर्थात्—(क) यशः और लक्ष्मी=शोभा के निमित्त शिखा धारण करे। (ख) सदैव [द्विज] यज्ञोपवीत धारण करे, और [अन्य हिन्दू] शिखा बांधी रक्खें। (ग) [यथाधिकार] गायत्री मन्त्र से शिखा बांधकर धार्मिक कृत्य करें।

वैज्ञानिक-विवेचन

शिखा के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में अन्यत्र विस्तार पूर्वक लिखा गया है। यहां तो केवल इतना ही प्रसङ्ग है कि सन्ध्यावन्दन यज्ञानुष्ठान आदि प्रत्येक धार्मिक कृत्य में आरम्भ में सर्व प्रथम शिखा

मे ग्रन्थी लगाने की अनिवार्य विधि है, यह क्यों ?–इसलिये कि—

आसन माला विवेचन के अनुसार पांचों हाथों की भांति, वातावरण से प्रभावित होने वाला मानव पिण्ड का पांचवां अङ्ग मस्तक है। देखने में तो यह गोल मटोल है परन्तु आंख, नाक, कान आदि छेदों की भांति शिर में भी एक गुप्त द्वार है—जिसे 'दशम द्वार' भी कहते हैं। यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय (१। ६। १) में वर्णन आता है कि—

(क) अन्तरेण तालुके य एषः स्तन इव अवलम्बते स इन्द्रयोनिः। अत्र असौ केशान्तो विवर्तते, व्यपोह्य-शीर्षकपाले ।

(ख) आन्तरो मस्तकस्योर्ध्वं शिरासन्धिसमागमः।
रोमावर्तोऽधिपोनाम मर्मः सद्योहरत्यसून् ॥

(अष्टाङ्गहृदय शरीरस्थान)

अर्थात्—(क) तालू के अन्दर जो स्तन सा लटकता दीख पड़ता है इसका नाम इन्द्रयोनि है, इसके ठीक समान सूत्र में कपाल स्थान पर जो रोम राशि है वह मर्म रक्षक है। (ख) मस्तक के ऊंचे अभ्यन्तर स्थान में जहां शरीर की समस्त शिराओं का समागम होता है उस स्थान के रोमों के आवर्त का नाम 'अधिप' है, जो बहुत मर्मस्थल है, जिसके उपद्रुत होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

सो उक्त गुप्त छिद्र=दशम द्वार की संरक्षा के लिये वैदिक विज्ञान के अनुसार यहां शिखा रखी जाती है, धर्म्मानुष्ठान के समय इस मार्ग से वातावरण, उपार्जित आध्यात्मिक शक्ति का विनाश न कर सके—एतदर्थ द्वार बन्द करने की भांति शिखा को

गांठ लगानी आवश्यक है। विद्युत् शास्त्र का यह अटल सिद्धान्त है कि नोकीले पदार्थ विद्युत् शक्ति का भेदन कर देते हैं। उनमें वह झटिति प्रविष्ट हो जाती है, वर्तुलाकार घेरेदार किंवा आबद्ध पदार्थों पर वह सहसा संक्रान्त नहीं होती। सो शिखामें गांठ लगाना समाधि के समय अंगुष्ठ और तर्जनी के मेल से वर्तुल बनाना, किंवा मुट्ठी बांधना ये सब क्रियायें पूर्वोक्त विद्युत् सिद्धान्त पर आधारित हैं।

ऊंचे २ हिन्दू मन्दिरों के शिखरों पर नोकीली लोहशलाका लगाना भी आकाश से गिरने वाली बिजली के वेध को रोकने के अभिप्राय से ही है। भारतीय ऋषियों ने मन्दिरों के शिखरों पर चक्र, त्रिशूल और कलश की आकृतियें बनाकर वर्तुल वेध सिद्धान्त से बहुत लाभ उठाया है। इसलिये हमारा कोई प्राचीन मन्दिर बिजली के पात से भूमिसात् हुआ हो ऐसा इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ताओं ने जब ऊंचे मीनारों पर विद्युत् पात की आशङ्का समझी तो उन पर हमारे मन्दिरों की भांति लोहशलाका लगाकर उसका पृथ्वी पिण्ड से सम्बन्ध जोड़ दिया। यह बात किसी भी ऊंची ईमारत पर लगी सींख और ऊपर से पृथ्वी तक लगी पत्ती से जानी जा सकती है। अस्तु,

शिखा बन्धन का हेतु—गुप्तद्वार, दशमद्वार, इन्द्रयोनि अधिप और मस्तुलिंग आदि अनेक नामों से पुकारे जाने वाले उस स्थान की रक्षा करना है जो कि मानव पिण्ड में सर्वाधिक मर्म स्थान माना जाता है। हमारे इस शिखाबन्धन का ही यह प्रत्यक्ष फल है कि भारतीय ऋषियों के लिखे हुये 'दर्शन शास्त्र' आज भी उनके सही मस्तिष्क होने की साक्षी देते हैं।

कुशा धारण क्यों ?

सन्ध्या में बांये हाथ मे दर्भ मुट्ठी रखने का, अन्यान्य धार्मिक अनुष्ठानों में अंगुलियों में कुशानिर्मित पवित्री पहिनने का तथा जप में माला फेरने का और समाधि के समय तर्जनी और अंगुष्ठ की कुण्डलाकृति किंवा मुष्टिकाकृति बनाने का शास्त्र में उल्लेख मिलता है, माला आदि विषयों पर तो यथास्थान विचार किया जाएगा यहां कुशा के विषय में विचार किया जाता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) दर्भो य उग्र औषधिस्तं ते बध्नामि आयुषे।

(ख) नास्य केशान् प्रवपन्ति नोरसि ताऽमाघ्नते
यस्मा अछिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म्म यच्छति ॥

(ग) दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेनः।

(घ) दर्भः परिपातु विश्वतः। (अथर्व १६। ३२। १-१०)

(ङ) द्वौ दर्भौ दक्षिणे हस्ते वामे त्रीन् आसने सकृत्।
उपवीते शिखायाञ्च पादमूले सकृत् सकृत् ॥
(देवी भागवत ११। २०)

(च) अग्निस्सूर्य्यश्चन्द्रमा भूमिरापो, द्यौरन्तरिक्षं
प्रदिशो दिशश्च। आर्तवा ऋतुभिः संविदाना
अनेन मा त्रिवृताः पारयन्तु ॥ (अथर्व ५। २८। २)

अर्थात्—(क) कुशा = दर्भ तत्काल फल देने वाली महौषधि है।

उसे आयुवृद्धि के निमित्त धारण करना चाहिये। (ख) जो मनुष्य अच्छिन्नपर्ण दर्भ पहिनकर कल्याणान्वित होता है उसके बाल नहीं झड़ते और नांही छाती में आघात पहुँचता है। (ग) कुशा दैवी गुणों से उत्पन्न हुई है और यह दैवी वातावरण की रोक थाम की साधन है। (घ) दर्भ चारों ओर फैले वातावरण = ऐटमास्फीयर = से सुरक्षित रखता है। (ङ) दायें हाथ की अनामिका में दो कुशाओं से निर्म्मित पवित्री पहिननी चाहिये, बांयें हाथमें तीन कुशासे बनी, एक कुशा यज्ञोपवीत में, एक शिखा में, दोनों पांवों के नीचे एक रक्खे। (च) अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, दिशा, विदिशा ऋतुवें और उन से होने वाले गर्मी सर्दी आदि प्रभाव रूप = वातावरण से [पांव हाथ मस्तक] तीनों स्थानों की रक्षा के उपायों द्वारा मुझे पार कीजिए।

वैज्ञानिक-विवेचन

कुशा की पवित्री हाथों में इसलिये पहिनी जाती हैं, कि जैसे पार्थिव विद्युत् प्रवाह पांवों के मार्ग से मानव पिण्ड की सञ्चित आध्यात्मिक शक्ति को खेंचकर विनष्ट कर देता है और उसकी रोक थाम के लिये पांवों के नीचे आसन बिछाना अनिवार्य है, ठीक इसीप्रकार अन्तरिक्ष व्याप्त विद्युत्प्रवाह—जिसे आज की वैज्ञानिक भाषा में 'ईथर' कहते हैं— भी मानव पिण्ड को चारों ओर से निरन्तर घेरे रहता है। हमारे शरीर के पांच स्थानों द्वारा ही वह हमें प्रभावित कर सकता है—दोनों पांव, दोनों हाथ और मस्तक; क्योंकि हमारे शरीर के यही पांच अङ्ग अन्तिम भाग हैं। सो, प्रत्येक धार्मिक कृत्य में सिद्ध, पद्म, सुख जिसभी आसन से बैठने का विधान है, उसमें दोनों पांव घुटने के नीचे दब जाते हैं।

पांव फैलाकर या टांग पर टांग रखकर बैठना हमारे यहां अनुचित समझा जाता है; देव गुरु सन्निधि में और शिष्ट समाज में कोई भी सभ्य हिन्दू उपर्युक्त रीति से नहीं बैठेगा। जिस प्रकार आसन के प्रभाव से और पांव की अगुलियां छुपाकर पांवों के मार्ग से हम अवाञ्छित वाह्य वातावरण से अपनी रक्षा कर लेते हैं, ठीक इसी प्रकार हाथों के मार्ग से भी वह वातावरण हमें प्रभावित न कर पाए—अर्थात्—धर्मानुष्ठान द्वारा सञ्चित हमारा आध्यात्मिक बल अपक्षीण न हो एतदर्थ कुश = घास निर्मित पवित्रिये हाथों में धारण की जाती हैं।

हम पीछे कह आये हैं, कि दर्भ भी 'शुचि' = नान कन्डैक्टर पदार्थ है, वह भी विद्युत्प्रवाह के संक्रमण में बाधक है। पूर्वोक्त वेद प्रमाणों में कुश धारण के तीन प्रधान लाभ आए हैं। (१) कुश धारण से शिर के बाल नहीं गिरते। (२) छाती में आघात नहीं होता और (३) वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ता। इससे सहज ही में यह अनुमान किया जा सकता है, कि जप, पूजा, पाठ और अनुष्ठान के समय यदि हाथों द्वारा शरीर में प्रविष्ट होने वाले 'ईथर' से आत्म रक्षा न की जाय, तो इसका मस्तिष्क और हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दिल और दिमाग की विकृति निश्चित ही मृत्यु का मुख्य कारण है। इसीलिए कुश धारण का मुख्यफल आयुष्य वृद्धि वेद ने बतलाया है।

वातावरण नई खोज में—

यहां यह समझ लेना भी आवश्यक होगा, कि आज के युग में वातावरण का अस्तित्व और उसका अनिवार्य प्रभाव सभी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। थियासोफीकल सोसाइटी का तो यह प्रधान

सिद्धान्त है, कि—हर समय अनेक बुरी और भली मृतात्माएं मनुष्य को चारों ओर से घेरे रहती हैं, जब हम भली आत्माओं से प्रभावित होते हैं तो अच्छी २ बातें सोचते हैं और जब बुरी आत्माओं से आक्रान्त हो जाते हैं तब बुरे बुरे विचार करने लगते हैं।

पिछले दिनों अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने अपने अनेक वर्षों के अनुभव के बाद यह तथ्य प्रकट किया है, कि यदि ईश्वर-प्रार्थना-स्थान या भले विचार जहां किए गए हों ऐसे स्थान के वातावरण का चित्र लिया जाय तो वहां गाय, हाथी घोड़ा, कमल, सूर्य, चांद आदि शोभन वस्तुओं के चित्र अङ्कित होंगे। और यदि शराब-खाने, वध्यशाला, द्यूत भवन और चोर डाकुओं की बैठकों का चित्र लिया जाय तो वहां कुत्ता, गधा, सूअर, कबर, शूली, छुरे और कव्वे तथा गीधों से मिलती जुलती शक्लें बनेंगी। ये महोदय अपने इस विषय में इतने सिद्धहस्त हैं, कि वे किसी भी खाली हाल का चित्र लेकर अपने यन्त्र की सहायता से यह बता सकते हैं, कि इस हाल में अभी बुरी या भली कैसी टोली बैठी थी और वह कैसी चर्चा कर रही थी।

संसार में सभी मतमतान्तरवादी अपने अपने पन्थ के महात्माओं के दर्शन करने जाया करते हैं, इसका यही अभिप्राय होता है, कि एक आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न महात्मा के निवास स्थान का वातावरण भी इतना पवित्र हो जाता है, कि उसमें पहुंचने पर कोई भी संसार सन्तप्त मनुष्य शान्ति अनुभव करने लगता है। भारतीय ऋषियों के आश्रमों का वर्णन करते हुए यह बात सभी कवियों ने प्रकट की है कि वहां रहने वाले सहजवैरी जीव—सिंह मृग, नकुल सर्प, आदि भी वैर त्याग कर देते हैं। योग दर्शन में

महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधाने सर्व-वैरत्यागः ।

अर्थात्—जो अहिंसा का सच्चा उपासक होता है उसके निकट सम्पर्क मे रहने वाले सभी प्राणी वैर का परित्याग कर देते हैं।

इतिहास मे ऐसे बहुत दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं, कि अमुक पुरुष अमुक महात्मा को कामवश अपना शत्रु मानकर मारने चला, परन्तु वहां जाने पर वातावरण के प्रभाव से अपने ऐसे कुविचार पर बहुत पश्चाताप किया और महात्मा का सेवक बन गया। वाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है, कि वशिष्ठ को मारने के पक्के इरादे से वशिष्ठाश्रम में पहुंचे विश्वामित्र, सेवक बनकर लौटे।

इतने पर भी मूर्ख लोग यदि वातावरण,--जिसे यवनादिक 'कुर्हवाई' और आंगल भाषा वाले 'एटमास्फीयर' कहते हैं—को न समझ सकें, तो उन्हें यह तो समझ लेना ही चाहिये, कि आखिर रेडियो पर ये दूर २ देशों के संवाद और गाने बिना किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कैसे सुने जाते हैं ?—सात समुद्र पार इङ्गलैंड, जर्मन और अमेरिका में भाषण—ब्राडकास्ट करता हुआ व्यक्ति तत्काल ज्यों का त्यों बोलता कैसे सुना जाता है ? शायद इस प्रत्यक्ष दैनन्दिनी घटना के अस्तित्व में तो किसी बज्रमूर्ख को भी, आज के युग में सन्देह न हो, फिर ऐसा क्यों होता है—इसका प्रधान कारण यह समझ लेना चाहिये कि आंखों से न दीखने वाला एक 'ईथर' नाम का सूक्ष्म तत्व है, जो संसारमें सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है।

जैसे जलपूर्ण तालाब के उस किनारे से हिलाया हुआ पानी तरङ्गित होता २ परले किनारे तक जाता है, ठीक इसीप्रकार ईथर के किसी भी स्थल में किया हुआ शब्द समस्त विश्व में व्याप्त हो

जाता है। जहां २ उसे पकड़ने वाले रेडियो नामक विद्युत यन्त्र होंगे वहां वहां ही वह प्रतिध्वनित हो उठेगा। यह 'ईथर' नामक पदार्थ कोई आधुनिक विज्ञान की नई खोज नहीं। भारतीय ऋषियों ने तो-वायु और आकाश तत्व के जिस संमिश्रण को आज 'ईथर' कहा जाता है उसके उत्पादक—'अहं तत्व' और उसके भी उत्पादक 'महत्तत्व' की भी परम्परा को केवल जाना ही नहीं बल्कि उससे ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग भी परिष्कृत कर दिया था।

बात बहुत बढ़ गई अतः हम पुनः मुख्य बात पर आते हैं, सो वातावरण के प्रभाव से बचने के लिए हाथ में कुश निमित पवित्रियें धारण की जाती हैं।

धर्मानुष्ठान में ही बाधक क्यों?—

कदाचित् यहां यह आशङ्का की जाए कि जिस वातारण से बचने के लिए इतनी रस्साकशी की जा रही है वह पूजा पाठ के समय ही हमसे द्वन्द्वयुद्ध करने के लिये क्यों प्रस्तुत रहता है? अन्य समय में क्यों नहीं? कहना न होगा कि भजन पूजा पाठ धर्मानुष्ठान का तात्पर्य है-कि उस समय हम एक आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चय करने चले हैं, परन्तु जैसे विद्युत् उत्पादक यन्त्र (डैनुमा) के संघर्ष से इधर बिजली उत्पन्न हो और उधर पृथ्वी आदि किसी संक्रमण शील पदार्थ के संपर्क से साथ ही साथ नष्ट होती रहे तो दिनभर यन्त्र चलने पर भी सायंकाल एक भी बत्ती न जल पाएगी; ठीक इसीतरह यदि हम आसन आदि उपासना के अनिवार्य अङ्गों की उपेक्षा करके आयु भर भी माला घिसा करें तो—कबीर जी के शब्दों में—

माला फेरत जग मुंवा फिरा मन का न फेर।
कर का मनका छोड़ कर मन का मनका फेर॥

—अन्धेरे में डले ढोते व्यर्थ समय की हत्या के अपराधी बनेंगे अन्य समय भी चौवीसों घन्टे वातावरण से हमारा सघर्ष वदस्तूर चालू रहता है और उसके ही प्रभावभूत-भूख, प्यास, निद्रा आदि शस्त्रों को हम, अन्न जल और शयन की ढाल से विफल करते रहते हैं-यह तो हुआ स्थूल शारीरिक प्रभाव; मनः बुद्धि अन्तः करण पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को विफल बनाने के साधन हैं जप पूजा पाठ धर्मानुष्ठान! यदि वे साधन ही हम भली प्रकार न जुटा सके तो फिर हमारा त्राण कैसे होगा? इसलिये हाथों के मार्ग से मानव पिण्ड पर पड़ने वाले प्रभाव को रोकने के लिए कुश धारण का उपयोग है।

संध्या

द्विजाति मात्र को प्रतिदिन संध्या करनी चाहिए। स्त्री शूद्र आदि अन्यान्य सभी मनुष्यों को भी अपने २ अधिकार के अनुसार भगवदुपासना करनी चाहिए। वेदादि शास्त्रों मे संध्या को नित्य कर्म माना है इसलिए उसके न करने पर प्रत्यवाय होना स्वाभाविक है। शास्त्र कहता है—

(क) अहरह सन्ध्यामुपासीत (वेद)

(ख) नोपतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्म्मणः॥
(मनुः २। १०६)

(ग) उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका ।

कनिष्ठा सूर्यमहिता प्रातः संध्या त्रिधा स्मृता ॥

(घ) उत्तमा सूर्यमहिता मध्यमा लुप्तभास्करा ।

कनिष्ठा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥

अर्थात्—(क) प्रति दिन सन्ध्योपासन करना चाहिये। (ख) जो द्विज प्रातः और सायं सन्ध्योपासन नहीं करता वह शूद्र की भांति समस्त द्विज कर्मों से बहिष्कार करने योग्य है। (ग) प्रात काल की सन्ध्या तारागण के अस्त होने से पूर्व की जाए तो उत्तम है, सूर्य निकलते समय मध्यम और सूर्य के चढ़ जाने पर कनिष्ठ मानी जाती है। (घ) सायं सन्ध्या सूर्य रहते २ की जाए तो उत्तम सूर्य डूबने पर मध्यम और तारे निकल आने पर कनिष्ठ समझनी चाहिये।

सन्ध्या से श्वास क्रिया का नियमन—

सन्ध्या हमारी अहोरात्रचर्या का मुख्य अंग है। 'विप्रो वृत्त-स्तस्य मूलञ्च सन्ध्या, कहते हुये शास्त्रकारों ने उसे द्विजाति के लिए 'जीवन का मूल' स्वीकार किया है। उसमें लौकिक और पारमार्थिक श्रेय की ऐसी प्रक्रियाओं का संमिश्रण है कि यदि उसे स्वास्थ्य, शक्ति, मेधा और दीर्घ जीवन की कुञ्जी कहना अनुपयुक्त न होगा। इससे भी अधिक सन्ध्या का प्रमुख उद्देश्य हमारी उस श्वास प्रक्रिया का नियमन है जो हमारे जीवन का वास्तविक मूल है।

शास्त्र में जैसे भोजनादि की विधि लिखी है, वैसे ही श्वास लेने का भी विधान अङ्कित है। भगवान् ने सर्वाङ्गपूर्ण मानवपिण्ड

में न तो अनावश्यक कोई अंग अधिक लगाया है और नांही न्यून होने दिया है। जिस प्रकार घड़ी की प्रत्येक कील परमावश्यक है, इसी प्रकार मानव पिण्ड का एक एक रोम भी परमावश्यक है। यही कारण है कि एक रोम के भी समूल नष्ट हो जाने पर बालतोड़ जैसी भयङ्कर व्याधि उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में विचारणीय होगा कि मनुष्य की नाक में दो छेद क्यों हैं? अर्थात्—नासिका के मध्य में दीवार सी खड़ी करके उसे दो भागों में क्यों बांटा गया है? क्या एक ही छेद रहने की हालत में श्वास वायु का गमनागमन सम्भव नहीं था? कहना न होगा कि इसमें कुछ रहस्य अवश्य है।

प्राकृतिक रीति से मनुष्य को एक अहोरात्र में २१६०० श्वास लेने चाहियें, और वे भी गरमी और सरदी की ऋतु के अनुसार दायें वा बायें अमुक छेद से अमुक २ व्यवस्था के अनुसार। शास्त्र में लिखा है कि—

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशति।
एतत्संख्यात्मकं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

(योग चूड़ामणि उपनिषद् ३४। ६३)

अर्थात्—एक अहोरात्र मे जीव इक्कीस हजार छः सौ बार 'सोऽहम्' मन्त्र का जाप करता है।

स्वरशास्त्र में नाक के दायें छेद का नाम सूर्य और बायें छेद का नाम 'चन्द्रमा' कहा गया है। ये दोनों छेद 'यथा नाम तथा-गुणः' के अनुसार क्रमशः गर्मी और ठण्डक पहुँचाने के साधन हैं। आज के मानव समाज को यह मालूम भी नहीं कि कब किस नासाछिद्र से श्वास लेना चाहिये। परन्तु हमारे पूर्वज दिन रात

में तीन बार श्वास प्रश्वास क्रिया को ठीक किया करते थे। श्वास प्रश्वास प्रक्रिया की साधना का ही धार्मिक नाम 'सन्ध्या' है। यद्यपि सन्ध्या में आचमन सूर्योपस्थान भगवत्स्मरण आदि आदि अन्यान्य भी कई लाभप्रद अनुष्ठान किये जाते हैं परन्तु सन्ध्या का मुख्य तत्व प्राणायाम है। अन्यान्य सब विधियें इसी एक मुख्य तत्व की पोषक विधियें हैं।

सन्ध्या से आयुष्य वृद्धि

शास्त्रों में यह बात डिण्डिम घोष के साथ व्यक्त की गई है, कि

'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' (मनु)

अर्थात्—दीर्घकाल तक सन्ध्या = प्राणायाम के अनुष्ठान से ऋषि लोगों ने दीर्घ आयु को प्राप्त किया।

हम पीछे कह चुके हैं, कि एक स्वस्थ मनुष्य को अहोरात्र में इक्कीस हजार छः सौ श्वास आने चाहियें। यदि कोई इससे अधिक श्वास लेता है तो समझो उसी आधिक्य के अनुमान से वह अपनी आयुः को क्षीण कर रहा है। किन २ चेष्टाओं से श्वासों की मात्रा अधिक होती है ? अनुभवी योगियों ने इसका भी एक मापदण्ड निश्चित किया है।

स्थितस्य द्वादशश्वासाश्चलतोऽष्टादश स्मृताः।
चतुर्विंशति सुप्तस्य, त्रिंशद् ग्राम्य-रतस्य च ॥

अर्थात्—बैठे बारह, चलत अठारह, सोते जाएं चौबीस।
मद्य मांस मैथुन सेवन में, श्वास निकलते तीस॥

यहां सभी सज्जनों को यह जिज्ञासा हो सकती है, कि कोई भी मनुष्य सर्वथा और सर्वदा बैठा ही रहे यह बात कभी सम्भव

नहीं--अन्य रोजगार धन्धेके लिये न सही, कम से कम शरीर यात्रा के लिये आवश्यक-शौच स्नानादि के निमित्त तो दौड़धूप करनी ही होगी; ऐसी दशा में आयु' क्षीण हो जाने के भय से पाषाण प्रतिमा की भांति निरे निठल्ले पडे रहने से तो कार्य करते मर जाना कहीं अच्छा है। कहना न होगा कि शास्त्रों ने इस समस्या पर भी पूरा २ विचार किया है। अवश्य ही मनुष्य को शरीर यात्रा के लिये आवश्यक दौड़ धूप करनी चाहिये और नियमानुसार सोना तथा विधिवत् सन्तान भी उत्पन्न करना चाहिये। निश्चत ही यह सब काम करते हुये श्वासों की मात्रा अधिक होगी परन्तु सर्व साधारण के लिये यह सब अनिवार्य है। ऐसी दशा में श्वासों के आधिक्य के कारण होने वाली आयुष्य की उस क्षति को पूरा करने का अमोघ उपाय महर्षियों ने सन्ध्या=प्राणायाम ढूंढ निकाला था। शरीर यात्रा के निमित्त की जाने वाली अनिवार्य दौड़ धूप जन्य आयुः क्षीणता की पूर्ति मनुष्य सन्ध्या द्वारा कर सकता है। अर्थात्—अनिवार्य लोक यात्रा में जितने अधिक श्वास प्रश्वास चलेंगे उतने ही त्रिकाल सन्ध्या में प्राणों का नियमन करने के कारण पूरे हो जायेंगे—इस तरह साधारण जीवन बिताने वाले व्यक्ति का भी आयुःस्तर सौ वर्ष से कम न हो सकेगा। जो व्यक्ति अष्टाङ्गयोग=समाधि का अभ्यास करेंगे वे तो अपने परिश्रम के अनुसार सहस्रायुः किंवा यथेच्छ चिरञ्जीवी, स्वछन्दमृत्यु अथ च अजर अमर तक हो सकेंगे। जैसा कि हमने अपने अन्य ग्रन्थ 'पुराण दिग्दर्शन' के आयुर्निर्णय प्रकरण में सिद्ध किया है। इसलिये सन्ध्योपासन दीर्घायुष्य प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

सन्ध्या से पारलौकिक लाभ

पूर्वोक्त विवेचना के अनुसार सन्ध्या से जहां अनेक रोगों की

निवृत्ति, पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति और दीर्घायुष्य का लाभ होता है, वहां विधिवत् प्राण त्याग कर सकने की योग्यता प्राप्त हो जाने के कारण पुण्य लोकों की प्राप्ति अथ च मोक्ष पद तक की भी प्राप्ति हो सकती है।

शास्त्रों का यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है, कि मानव पिण्ड में जो प्रत्यक्ष नौ छिद्र हैं उनमें उत्तरोत्तर ज्यों २ ऊपर २ के छिद्र से मृत्यु के समय प्राण जायेंगे त्यों २ उत्तम लोक की प्राप्ति होगी। शास्त्रवेत्ता पुरुष मुमूर्षु व्यक्ति के अन्तिम प्रयाण को देखकर एक हद तक यह जान सकता है, कि यह प्राणी दुर्गति को प्राप्त होगा या सुगति को ? यदि मृत्यु के समय मुमूर्षु का महामल गिर गया हो–जिसकी दुर्गन्ध से समस्त स्थान ही भर गया है—तो समझ लेना चाहिये कि प्राण गुदा के मार्ग से निकले है अतः यह अधोगति को प्राप्त होगा। इसी प्रकार मूत्र निकलने से मूत्रेन्द्रिय द्वारा महा प्रयाण का अनुमान किया जा सकता है, इसे दूसरी कोटि की अपमृत्यु कह सकते हैं। इसी प्रकार मुख खुला रहने से तीसरी, कोटि की, नाक से प्राण जाने पर चौथी कोटि की और नेत्र खुले रहने से पांचवी कोटि की आदि २ मृत्यु समझनी चाहिये।

शास्त्रों में कपाल-स्थानीय 'ब्रह्मरन्ध्र' नामक स्थान को दशम द्वार = गुप्त दर्वाजा बताया है, यदि इससे प्राण निकलें तो वह जीव 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते' के अनुसार मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है। इस तत्व को एक लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझना चाहिये। जैसे कोई राजा सुदृढ़ दुर्ग बनवाता है; उसमें अनेक बड़े बड़े द्वार होते हैं, परन्तु एक गुप्त द्वार = सुरङ्ग भी होती है। कभी कोई शत्रु आक्रमण करे, तो दुर्ग में बैठा हुआ राजा शत्रु के प्रहारों को अनेक उपायों से विफल करता हुआ आत्मरक्षा करता है, परन्तु

कभी शत्रु का बल अधिक हो जाए और वह दुर्ग को घेरकर छिन्न भिन्न कर डाले और उसमें आग लगा दे, तो दुर्गस्थ राजा किले की रक्षा असम्भव समझकर उसके व्यामोह को छोड़कर सुरंग के गुप्त द्वार से भाग निकलता है। यदि मूर्खता वश वह ऐसा न कर सकेगा तो फिर किले के विनाश के साथ उसे स्वयं भी शत्रु द्वारा पकड़ा जाकर आयुभर अनेक निगड यातनाओं का भाजन बनना होगा।

ठीक इसी प्रकार जीवात्मा रूप राजा, देह रूप सुदृढ़ दुर्ग में रहता है। मृत्यु रूप शत्रु अनादि काल से इसके पीछे पड़ा है। वह क्षुधा पिपास रोग आदि अनेक महास्त्रों का प्रयोग करता हुआ इस शरीर रूप दुर्ग को विनष्ट करना चाहता है, परन्तु जीव रूप राजा,-अन्न, जल, औषधि रूप महास्त्रों के प्रयोग से शत्रु के आक्रमण को विफल करता हुआ आत्मरक्षा करता रहता है। अवसर पाकर जब कभी रोग आदि मृत्यु के दूत देह रूप किले को बेतरह घेरकर काबू कर लेते हैं और १०५ डिग्री ज्वर रूप अग्नि किले को भस्मसात् किये डालती है, तब यदि जीव रूप राजा देह रूप किले के व्यामोह को छोड़कर दशमद्वार = सुरंगद्वार—कपाल मार्ग से भाग निकले— महाप्रयाण करे—तो फिर वह मृत्यु रूप शत्रु का कैदी न बनकर मुक्त हो जाएगा—जन्म मरण रूप अनेक जेल यातनाओं का भाजन नहीं बनेगा। दुर्भाग्यवश कदाचित् जीव रूप राजा दशम द्वार से आने जाने का अभ्यासी न हो अथवा समय पर चौंकड़ी चूक जाए तो फिर समझ लेना चाहिये, कि सुर दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी यह हतभाग्य जीव-'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' के वक्र चक्र में पड़ गया है।

अब पाठकों को स्वभावतः यह जिज्ञासा हो सकती है कि— 'दशम द्वार से प्राण जाएं'—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमें क्या

करना चाहिये ?--इस प्रश्न का विस्तृत समाधान तो प्रसङ्गानुसार श्राद्ध विवेचन प्रघट्ट में किया जाएगा, परन्तु यहां उक्त उद्देश्य की पूर्ति के अन्यतम प्रमुख साधन प्राणायाम का कुछ परिचय करा देना निरवकाश न होगा। वस्तुत सन्ध्या=प्राणायाम वह दैनिक अभ्यास है, जो कि महा प्रस्थान के समय प्राणों का निरोध करके उन्हें ऊर्ध्व गति बनाने में काम आता है। जैसे सैनिक लोग युद्ध न होने के दिनों में भी नित्य चंक्रमण=कवायद—परेड=चांदमारी करते रहते हैं और अभ्यास बढ़ाने के लिये समय २ पर कृत्रिम युद्ध भी करते हैं—तभी वे युद्ध के मोर्चे पर शत्रु से लोहा लेने में समर्थ होते हैं। यदि वे नित्य निरन्तर ऐसा अभ्यास न करें तो वास्तविक समय पर कभी सफलता प्राप्त न कर सकेंगे। ठीक इसी प्रकार संध्या=प्राणायाम को भी शास्त्रकारों ने न केवल नित्य कर्म्म कोटि में परिगणित करके इसे अनिवार्य अनुष्ठेय कृत्य ही घोषित किया है, अपितु इसको एक दिन भी न करने से 'प्रत्यवाय' भी माना है। जैसे परेड में अनुपस्थित सिपाही दण्डनीय समझा जाता है, इसी प्रकार मन्वादि स्मृतियों में सन्ध्या विहीन द्विज भी 'शूद्रवद् बहिष्कार्यः' कहा गया है।

सन्ध्या के मुख्य कर्म्म

यदि हम सन्ध्या के समस्त अनुष्ठेय कर्म्मों और उनकी 'क्यों ?' लिखने लगें तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन जाए, इसलिये केवल मुख्य मुख्य अनुष्ठेय कर्म और उनके तादृश होने के कतिपय हेतु ही यहां प्रकट किये जाते हैं,—सन्ध्या के मुख्य कृत्यों का संग्रह श्लोक है कि--

संकल्प आसनविशोधनमम्बुपानं,
प्राणावरोधनमघद्वयताऽभिषेकः ।
सौत्रामणीसवनसावभृथार्घ्यदानं
सन्ध्याविधिर्निगदितो मुनिभिः पुराणैः ॥

अर्थात्-- सकल्प, आसन शोधन, आचमन, प्राणायाम, नित्य कृत पापक्षयार्थ अपामुपस्पर्श, अवभृथ, अघमर्षण, सूर्यार्घ्य और सूर्योपस्थान ये--सब सन्ध्या की विधियें पुरातन मुनियों ने कही हैं ।

संकल्प क्यों ?—

प्रत्येक धर्मानुष्ठान के आरम्भ में संकल्प परमावश्यक है—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । मनुस्मृति (२ । ३) में लिखा है कि

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रता नियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥

अर्थात्—समस्त कामनाएं संकल्प मूलक ही हैं । सब यज्ञ संकल्प के अनन्तर ही सम्पन्न होते हैं, व्रत उपवास और सन्ध्या आदि समस्त धर्म्मानुष्ठान संकल्प जन्य हैं ।

हम सिद्धान्ताध्याय के 'भावनावाद' प्रघट्ट में यह सिद्ध कर चुके हैं, कि मानव जीवन पर भावनाओं का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। संकल्प भी अनुष्ठेय कर्म्म की साधना के प्रति साधक की भावना का ही मूर्त रूप है, जिसके अनुष्ठान से साधक अपने क्रियमाण कर्म्म के प्रति सर्वतोभावेन कटिबद्ध हो जाता है । आज के जड़वादी जगत् में भी सभी देशों की राष्ट्रिय संसदों के

पदाधिकारी पद ग्रहण करने से पूर्व अपने किसी भी श्रद्धास्पद तत्वका नाम उच्चारण करते हुये 'शपथ' लेते हैं। कहना न होगा कि प्रकारान्तर से यह भी संकल्प प्रणाली की परम्परा का ही निर्वाह है।

हमारे यहां 'शपथ' उठाना बहुत जोखों भरा काम समझा जाता है। इसलिये उसे प्राणों पर आ बनने की दशा में ही यथा कथंचित् कोई अगत्या उठाने को विवश हो सकता है। सर्व साधारण तो बड़ी से बड़ी हानि उठाकर भी—झूठे की कौन कहे—सच्चा नेम करने को भी उद्यत नहीं होता। और यदि अमुक कारण वश एक बार शपथ उठाली तो फिर—'रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जाएं पर वचन न जाहीं।'—के आदर्शानुसार अवसर पड़ने पर स्वयं हंसते २ प्राणों पर खेल गये। महाराजा दशरथ इसका सुप्रसिद्ध निदर्शन हैं परन्तु आज लोगों ने शपथ ग्रहण को भी एक रस्मी कार्य्यवाही मात्र समझ रक्खा है। देश धर्म्म और अपने मत दाताओं के प्रति वफादारी की शपथ उठाने वाले वे राष्ट्रीय संसदों के सदस्य जनमत की अवहेलना कर जनविरोधी कानून की सृष्टि करने में बिलकुल नहीं हिचकते।

इसलिये हमारे यहां मानव सुलभ निर्बलताओं को ध्यान में रखते हुये 'शपथ' जैसी अवश्य पालनीय प्रथा के लिए किसी भी 'ऐरे गैरे' को अवसर नहीं दिया जाता। किन्तु शपथ के बजाए प्रतिज्ञा को कार्य्यान्वित करने की निर्दुष्ट प्रणाली—संकल्प प्रथा का ही विधान किया गया है। शपथ उठाना एक अपमान सूचक प्रथा है उसे वही व्यक्ति उठाता है, जिसकी कि ईमानदारी में सर्व साधारण को सन्देह हो। और वह इस कठिनतम व्यापार द्वारा विश्वास दिलाना चाहता हो। परन्तु संकल्प प्रथा शपथ प्रणाली के सर्वथा विपरीत वह अनुष्ठान है कि जिसमें साधक अमुक

अनुष्ठेय कर्म्म के प्रति अपनी दृढ़निष्ठा और आत्मविश्वास की भावना से ताजा दम होकर कर्तव्य पालन मे संलग्न हो जाता है।

संकल्प की सबसे बडी विशेषता है आर्य जाति के इतिहास की परम्परी की सुरक्षा। वैदिक काल से संकल्प का इसी प्रकार प्रयोग हो रहा है और उसमें प्रतिदिन हमारे जीवन की एक कड़ी और जुड जाती है। आप जानते हैं हमारी जीवन शृङ्खला कितनी लम्बी बन चुकी है? आप प्रतिदिन प्रत्येक कार्य के आरम्भ में संकल्प को दोहराते अवश्य हैं, परन्तु आप मे से बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं—जिन्होंने उसके अर्थ गाम्भीर्य पर ध्यान दिया है। जब जल हाथ में लेकर आप कहते हैं—

ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे सप्तोत्तरद्विसहस्रतमे विक्रमाब्दे .....आदि

इसका सीधा तात्पर्य हुआ कि आप अपनी उस चिरन्तन सत्ताका स्मरण करते हैं, जिसका प्रादुर्भाव इस धरातल पर आज से १ अरब ६७ करोड २६ लाख ४६ हजार ५१ वर्ष पूर्व हुआ था। यह आर्य जाति की ही विशेषता है, कि वह इतने लम्बे समय से अपनी सांस्कृतिक विशेपताओं के साथ जीवित है। इस विस्तृत धरातल पर इतने समय में सहस्रों जातियां उत्पन्न हुई और विनष्ट हो गई, आज भी जो जीवित हैं उनकी सत्ता दो तीन हजार वर्ष से अधिक की नहीं है। क्या ईसाई, क्या मुसलमान, पारसी, यहूदी ग्रीक और रोमन, सभी का प्रारम्भ तो अधिक से अधिक ३ हजार वर्ष पूर्व हुआ है। किन्तु हमें गौरव है कि हमारे पूर्वजों ने आज से करोड़ों वर्ष पूर्व सांस्कृतिक जीवन की जिस परम्परा को प्रारम्भ

किया वह आज भी अक्षुण्ण है। सन्ध्या वन्दनादि सभी धार्मिक कृत्यों के समय संकल्प को बोलकर हम उसी परम्परा के इतिहास को दोहराते है।

इसके अतिरिक्त 'सृष्टि को बने हुए कितने वर्ष हुए'—यह प्रश्न आज, जब कि दुनिया के वैज्ञानिकों और विचारकों के लिए उलझी हुई पहेली बना हुआ है और वे इसके बारे मे तरह २ की अटकल लगाकर दिमागपच्ची कर रहे हैं, तब सन्ध्यावन्दन करने वाले एक साधारण हिन्दू के पास सकल्प के रूप में इस प्रश्न का नितान्त स्पष्ट और सच्चा रिकार्ड विद्यमान है—यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

संकल्प में जल ग्रहण क्यों ?

वेदादि शास्त्रों में जल उपस्पर्श पूर्वक ही संकल्प करने का विधान इसलिये है क्योंकि जल में वरुण देव का आवास है और उसके साक्ष्य में जो प्रतिज्ञा की जाएगी उसका निर्वाह न करने पर वरुण देव प्रतिज्ञा पालन न करने वाले को दण्ड देंगे। वेद कहता है कि—

(क) अप्सु वै वरुणः। (तैत्तिरीय १।६।५।६)

(ख) अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति।

(तैत्तिरीय १।७।२।६)

इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैसे मनः भुक्त अन्न का परिणाम है इसी प्रकार—'आपोमयाः प्राणाः' इस वेद प्रमाण के अनुसार प्राण शक्ति भी पीत जल का ही—अन्तिम परिणाम है। सो प्रत्येक कर्म्म के अनुष्ठान में प्राणशक्ति के प्राबल्य की अनिवार्य

आवश्यकता है, इसीलिये कर्म्म से विरक्त हुवे अकर्म्मण्य भीरु मनुष्य को कहा जाता है, कि 'इसके तो प्राण सूख गये'। सो प्राण शक्ति के जनक जल का उपस्पर्श करके साधक अपने आपको महाप्राण अनुभव करता हुआ अनुष्ठेय कर्म्म की साधना में सुतरां प्रवृत्त होता है। साथ ही सन्ध्या, तर्पण, यज्ञ, हवन, तप आदि सभी धर्म्मानुष्ठानों में जल की नितान्त आवश्यकता होती है। हमारे यहां मुसलमान ईसाई आदि आधुनिक मत वालों की भांति सूखी—जलशून्य उपासना नहीं होती, आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी कल्पित सन्ध्या में सकल्प और विनियोग आदि वैदिक विधियों का तो परित्याग कर दिया था, परन्तु आचमन और अङ्ग प्रोक्षण में तो जल को अनिवार्यता लिखी थी। परन्तु दयानन्दानुयायी समाजी तो नमाजियों की भांति जलशून्य सूखी सन्ध्या का सूखा शंख फूंकते हुए रही सही वैदिक मर्यादा को भी तिलाञ्जलि देने लगे हैं। सो उपर्युक्त कारणावली का मनन करते हुए आस्तिकजनों को अपने समस्त धार्मिक अनुष्ठान जलोपस्पर्श पूर्वक संकल्प से ही आरम्भ करने चाहियें, जिससे संकल्प के निमित्त प्रथम ही जल की विद्यमानता हो जाने पर आगे का समस्त क्रिया कलाप सुचारु रूप से चलता रहे।

तीन आचमन क्यों ?

प्राय: प्रत्येक धर्म्मानुष्ठान के आरम्भ में और खासकर सन्ध्योपासन में बीच २ में कई बार तीन आचमन करने का शास्त्रीय विधान है, यथा—

त्रिराचमेदप: पूर्वम् (मनु:—२ ६०)

अर्थात्--सर्व प्रथम तीन आचमन करने चाहिये। आचमन करने से जहां कायिक मानसिक और वाचिक त्रिविध पापों की निवृत्ति रूप अदृष्ट फल प्राप्त होता है, वहां कण्ठशोषण दूर होने से और कफ निवृत्ति हो जाने के कारण श्वास प्रश्वास क्रिया में और मन्त्रादि के शुद्ध उच्चारण में भी अपेक्षित सौकर्य्य प्राप्त हो जाता है। प्राणायाम के अनन्तर अनुपद आचमन के विधान का लाभ तो प्राणायाम करने वाला कोई भी सज्जन स्वयं ही तत्काल जान सकता है, क्योंकि प्राणनिरोध के कारण स्वभावतः शरीर में ऊष्मा बढ़ जाती है, कभी २ तो ऋतु के तारतम्य से तालू सूख जाने के कारण हिचकी तक आने लग जाती है। इसलिये आमचन करते ही सब ठीक ठाक हो जाते हैं। ध्यान रहे, शास्त्र रीति के अनुसार आचमन में चुल्लुओं जल नहीं पिया जाता, किन्तु उतने ही प्रमाण में जल ग्रहण करने की विधि है जितना कि कण्ठ तालू को स्पर्श करता हुआ हृदय चक्र की सीमा तक ही समाप्त हो जाए।

प्राणायाम

हमने पीछे कहा है कि सन्ध्या का मुख्य तत्व प्राणायाम है। प्राणायाम का तात्पर्य साधारणतया तो प्राणों का व्यायाम है, किन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य है प्राणशक्ति पर विजय। शास्त्रकारों ने लिखा है—

प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः।
यया जयः स्यात्प्राणानां प्राणायामः स चोच्यते॥

अर्थात्—स्थूल और सूक्ष्म भेद से प्राण दो प्रकार का होता

है और जिस क्रिया के द्वारा दोनों प्रकार के प्राणों पर विजय प्राप्त की जाय उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणों का व्यायाम, प्राणायाम की प्रथम कक्षा कही जा सकती है और प्राण विजय अन्तिम। निरन्तर अभ्यास से प्राण शक्ति पर विजय प्राप्त कर मनुष्य ऐसी दशा में पहुँच जाता है. कि वह समस्त संसार में व्याप्त प्राणशक्ति को जैसे चाहे प्रभावित कर सके और उससे अपने मनोनुकूल कार्य करवा सके।

प्राणशक्ति समस्त संसार में व्याप्त है। कहीं वह स्थूल रूप में है और कहीं सूक्ष्म। मनुष्य पशु पक्षी आदि जीवों में प्राणशक्ति का श्वास प्रश्वास मय स्थूल रूप भली भांति देखने को मिल ही जाता है, किन्तु वृक्ष लता गुल्म पाषाणादि जड वस्तुओं मे भी सूक्ष्म प्राणशक्ति निहित है—इस विषय में आज के वैज्ञानिक युग में किसी को सन्देह करने की गुञ्जाइस नहीं रही है। वृक्षादि जड़ वस्तुओं में ही क्यों, पृथ्वी का प्रत्येक परमाणु सूक्ष्म प्राणशक्ति से भरपूर है। यह जल में भी व्याप्त है, तेज वायु आकाश आदि में भी। समस्त संसार के प्राणी, भुवन मण्डल मे बिखरे हुए प्राण शक्ति के भण्डार से ही स्वानुकूल शक्ति को ग्रहण कर बढ़ते और जीवित रहते है।

ऐसी दशा मे प्राणायाम की अन्तिम कक्षा में पहुचा हुआ साधक यदि अपनी भुवन प्राण विजयिनी शक्ति के प्रभाव से किसी जड़ वस्तु मे विद्यमान अविकसित प्राणशक्ति को उद्वेलित कर उससे कोई कार्य ले, तो वह असम्भव नहीं कहा जा सकता। प्राणायाम साधना शून्य आज का जगत्, प्राण विजयी योगियों के इस प्रकार के यदा कदा दीख पड़ने वाले चमत्कारों पर विश्वास करे या न करे किन्तु यह निर्विवाद है--कि उनके लिये इस प्रकार

के कार्य साधारण हैं। परन्तु इस प्रकार के प्राण विजयी योगी हमारे इस अनुच्छेद का विषय नहीं है, इसलिये विस्तार में न जाते हुए हम प्राणायाम के प्रथम अर्थ पर विचार करेंगे।

प्राणायाम क्यों

हां, तो प्राणायाम का अर्थ है—प्राणों का व्यायाम। भारतीय महर्षियोंने जहां शरीरको चिरकाल तक स्वस्थ एवं कार्यक्षम रखने के लिये व्यायाम पद्धतिको दिनचर्या का अङ्ग बनाया वहां मनुष्यके प्राण हृदय मन आदि आभ्यन्तरिक अवयवों को दृढ एवं पुष्ट बनाने के लिये प्राणायान का भी आविष्कार किया। श्वास प्रश्वास साधना की यह ऐसी अद्भुत प्रणाली है, कि यदि मनुष्य निरन्तर इसका अभ्यास करे तो कुछ ही दिनों में उसे अनुभव होगा कि उसकी तो काया ही पलट गई। शरीर में प्रसुप्त सभी शक्तियें जाग उठेंगी और एक ऐसा ओज एवं तेज हिलोरे लेने लगेगा, कि किसी प्रकार की चिन्ता कष्ट निराशा आदि उसके समीप भी न आ सकेंगे।

प्राणायाम के अगणित आध्यात्मिक महालाभों का यहां विशेष उल्लेख न करके हम उसके शारीरिक व्यायाम और श्वास प्रश्वास साधनात्मक पहलूका उल्लेख क्यों कर रहे हैं, इसका एक मात्र कारण यह है कि इन्द्रियातीत आध्यात्मिक लाभों में आज के जड़ जगत् की आस्था नहीं है। वह तो सब जगह तात्कालिक प्रत्यक्ष लाभ ढूंढता है। यदि वस्तुतः ऐसा कोई लाभ जंचे--तभी वे उसे कर्तव्य कोटि में परिगणित कर सकने की धारणा रखते हैं। इसलिये हमने जान बूझकर प्राणायाम का प्रधान उद्देश्य यहां व्यायाम तथा श्वास साधना ही प्रकट किया है।

प्राणायाम का अभ्यास जितनी कम अवस्था से प्रारम्भ होगा वह

उतना ही लाभप्रद होगा। प्राचीन भारत में दस बारह वर्ष के उपनीत बालक को सन्ध्या के साथ यह व्यायाम कराया जाता था। बाल्यावस्था में शरीर के समस्त अंगों मे वर्द्धनोन्मुखी प्रवृत्ति रहती है और उन्हें जितना सुअवसर मिले वे विकसित हो सकते हैं। उस समय शारीरिक मांसपेशियों ग्रन्थियों एवं सौत्रतन्तुओं में स्थितिस्थापक गुण भी पर्याप्त मात्रा में होता है इसलिये बालकोंको इस व्यायाम से बहुत अधिक लाभ होता है। ज्यों २ अवस्था बीतती जाती है त्यों २ हम इस प्रक्रिया के अमूल्य लाभों से वञ्चित होते जाते हैं।

आजकल प्रायः मनुष्य जब घरबार के धन्धे से बेकार हो जाते हैं और शरीर वृद्ध हो जाता है तब धर्मोन्मुख होते हैं। तब ही, एक धार्मिक विधान के नाते उनका प्राणायाम से परिचय होता है और वे उसका अभ्यार प्रारम्भ करते हैं। इस अवस्था में प्राणायाम से उन्हें जब कोई विशेष लाभ नजर नहीं आता तब केवल उसे छोड़ हो नहीं बैठते बल्कि उसे व्यर्थ का ढकोसला या दुःसाध्य हठ योग की क्रिया मान बैठते हैं।

बात वास्तव म ऐसी नहीं है। वृद्धावस्था में निरन्तर अभ्यास से प्राणायाम लाभ पहुँचाएगा, किन्तु एक सोमा तक। यह एक प्रकार से ऐसी ही चेष्टा है जैसे किसी वृद्ध मनुष्य को खूब घी दूध खिलाकर और दण्ड कसरत कराकर पहलवान बनाने की चेष्टा। जिस तरह उस समय सेवन किए हुये घृत दुग्धादि पदार्थ केवल उसकी गिरती हुई जीवन शक्ति को यथा सम्भव बचा सकने मात्र में ही काम आते हैं, इसी प्रकार उस समय किया हुआ प्राणायाम उसके परिपक्क शरीर और प्राणों के लिये सीमित लाभप्रद ही सिद्ध होता है। इसलिये बाल्यावस्था से ही सन्ध्या वन्दनादि का

अभ्यास डालना चाहिये। पाठकों को कम से कम अपने बालकों को तो ऐसे महत्वपूर्ण अभ्यास से वञ्चित न रखना चाहिये।

प्राणायाम के पांच रहस्य—

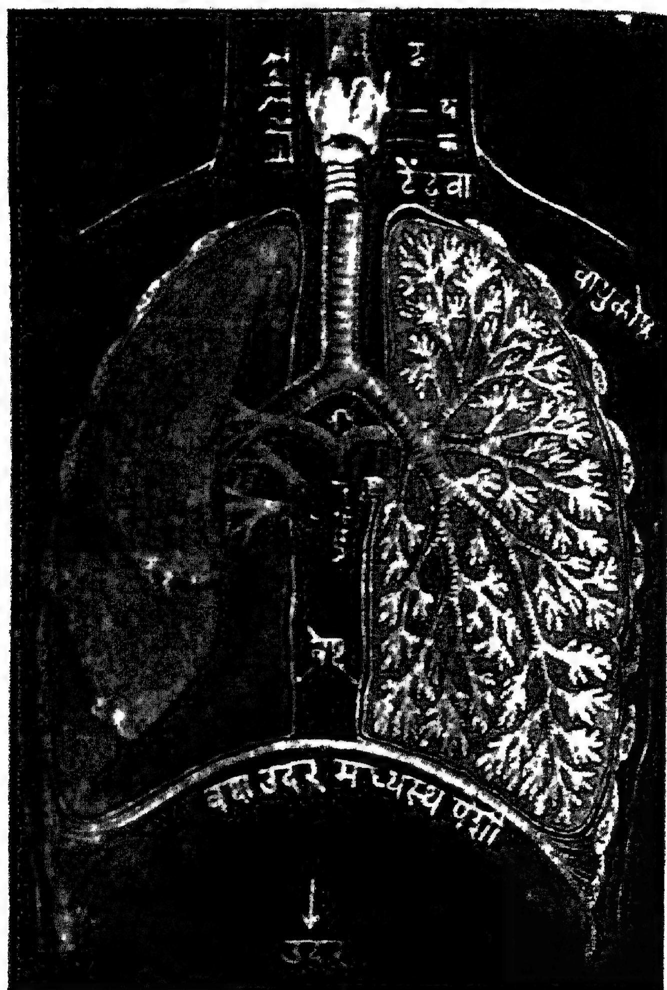
(१) शारीरिक विकास

यद्यपि प्राणायाम का सम्बन्ध मानव जीवन के विभिन्न उपादानों के साथ है। मानव शरीर के विकास से प्रारम्भ करके मनुष्य को अमर बना देने की समस्या के हल तक उसकी पहुंच है, तथापि प्राणायाम का प्रत्यक्ष फल—जिसे सब लोग स्वयं अनुभव कर सकते हैं—पूर्ण शारीरिक विकास—है।

यह सर्व विदित बात है कि मानव जीवन के लिये तीन वस्तु सर्वाधिक अत्यावश्यक हैं—अन्न, जल और वायु। उन तीनों में भी उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यक हैं। अन्न अहोरात्र मे एक बार भी मिल जाए, तो मनुष्य जी सकता है और पानी की एक से अधिक बार आवश्यकता रहती है, परन्तु इन दोनों की अपेक्षा वायु की तो प्रति श्वास अनिवार्य आवश्यकता रहती है। यों तो सम्पूर्ण शरीर की वृद्धि ही विशुद्ध वायु पर निर्भर है; यदि ओषजन (Oxygen) वायु फेफड़ों मे जाकर मैले रक्त को शुद्ध न बनाये तो हमारा शरीर जीवित ही न रहे, तथापि फुप्फुस, (फेफडे) छाती, हृदय आदि प्रधान २ अवयवों का विस्तार एवं कार्यक्षम होना तो सर्वथा वायु पर आश्रित है। इसे समझने के लिये यह आवश्यक होगा कि हम श्वास क्रिया और उससे सम्बधित अंगों का कुछ परिचय प्राप्त करलें।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में श्वास मार्ग का प्रारम्भ नाक के छिद्रों से होता है। नाक में हवा की पेचदार नली है जिसमें से

क्यों ? —



ठ = स्वर यन्त्रच्छद. थ = चुल्ली. क = मुद्रा वप = वायु प्रणाली

पृ० [२३३]

गुजरती हुई हवा रक्त की गर्मी से गरम होकर श्वास नली द्वारा फेफड़ों में प्रवेश करती है। वायु में मिले हुये धूल कणों, अदृश्य अणुकीटों आदि को रोकने के लिये प्रकृति ने नाक में बालों की चलनी लगाई है जो अनावश्यक वस्तुओं को बाहर ही रोक देती है। चूंकि मुंह में न तो वायु छानने का कोई साधन ही प्रकृति ने लगाया है और न हवा को गरम करने का, इसलिये मुंह द्वारा कभी सांस न लेना चाहिये। यह सर्वथा हानिकारक है।

प्रस्तुत चित्रको ध्यानसे देखिये आपको मालूम होगा कि हमारे गले में दो नलियां हैं :—(१) श्वास नली, (२) अन्न नली। नीचे जाकर श्वास नली के दो भाग हो गये हैं, एक दाहिने फेफडे में जाती है दूसरी बायें में। इन नलियों के फेफडों मे पहुंचने पर उनसे और भी छोटी २ नलियां निकली हैं फिर इन से भी छोटी, और और भी छोटी, यहां तक कि फेफड़ों में इन श्वास नलिकाओं की संख्या अन्यून साठ करोड़ हो जाती है। यह नलियें वायु मन्दिरों में प्रविष्ट होती हैं। आगे अर्ध गोलाकार वायु कोष्ठों का विस्तृत जाल फैला हुआ है, जो जीवन को गति देने के लिये ओषजन वायु के विस्तृत भण्डार को सुरक्षित रखने एवं शारीरिक-गैस-सम्पृक्त कर्बन द्वि ओषित को बाहर निकालने के काम आता है।

यही हमारे फेफड़े है। फेफडे इतने बडे होत हैं कि यदि उनके सौत्र जाल को फैलाया जा सके—जैसा कि असम्भव है—तो उन्हें दो बीघा भूमि पर बिछाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त वे इतने हलके होते हैं कि यदि फेफड़े के रोग से अनाक्रान्त किसी व्यक्ति के फेफड़ों को पानी पर छोड़ा जाय तो वे तैरेंगे, डूबेंगे नहीं।

फेफड़ों का कार्य है-कूड़े कचरे एवं मैल को दूर करके शारीरिक यन्त्रों को कार्यक्षम रखना। यह कार्य वे वायु की सहायता से पूर्ण

करते हैं। अनेक प्रकार की रासायनिक क्रियाओं, मैलों के टूटने एवं शारीरिक यन्त्रों के काम में आने से शरीर में कूड़ा करकट अनेक प्रकार की गैस आदि इकट्ठी होती रहती है। अभिसरण करता हुआ रक्त इनमें से बहुत से अंश को अपने साथ ले कर और दूषित होकर पहिले हृदय के दाहिने कोष्ठक में आता है वहां से शुद्ध होने के लिये फेफड़ों में। श्वास के साथ गई हुई ओषजन (Oxygen) उसमें से मैल के अंश को ग्रहण कर लेती है, और कर्बन द्वि ओषित बनी हुई वह वायु, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी की स्थिति स्थापक क्रिया द्वारा उच्छ्वास के रूप में बाहर फैंक दी जाती है। शुद्ध हुआ रक्त अभिसरण के लिये वापिस हृदय के वाम प्रकोष्ठ में चला जाता है।

इस प्रकार हमने देखा मानव शरीर मे वायु महत्वपूर्ण कार्य करती है और वायु ग्रहण करने के लिये प्रकृति ने शरीर में अनेक अवयवों का निर्माण किया है। किन्तु यह कार्य ठीक २ रूप से तभी सम्पन्न हो सकते हैं जबकि विशुद्ध वायु का ग्रहण पर्याप्त रूप में हो। साधारण श्वास में हम जितनी वायु का ग्रहण करते हैं वह इतनी नहीं होती कि फेफडे की प्रत्येक कोठरी में पहुंच सके। परिणाम यह होता है कि फेफड़ों की हजारों कोठरियां काम में न आने के कारण विकसित होने से तो वञ्चित रह ही जाती हैं, साथ ही निरन्तर बेकार पड़े रहने से इतनी कमजोर हो जाती हैं, कि रोग के क्षणिक आक्रमण को भी नहीं सह सकती।

कहना न होगा कि जिस श्वासयन्त्र से हमें दिन रात काम लेना है, कभी उसकी सफाई भी तो आवश्यक है। संसार में ऐसी मशीन कितने दिन स्थिर रह सकेगी जिसको कि लगातार चौबीसों घन्टे बेतहासा पेला जाए, परन्तु कभी झाड़ पोंछकर साफ करने

का नाम न लिया जाए। आज सन्ध्या न करने का ही यह प्रत्यक्ष कुफल है, कि संसार में श्वास नलिका और श्वास प्रश्वास के मुख्य साधन फुफ्फुस (फेफड़ों) की बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ती जा ही है।

आज कलकारखानों के विषाक्त धूम से परिपूर्ण एव संकीर्ण वातावरण में रहने वाली जनता, विशुद्ध वायु और प्राणायाम के अभाव के कारण द्रुत गति से विनाश की ओर अग्रेसर है। पहिले समय में 'यक्ष्मा' आदि असाध्य रोगों को 'राजरोग' के नाम से स्मरण किया जाता था इसीलिये इस नामुराद बीमारी का नाम ही 'राजयक्ष्मा' पड़ गया था। प्रायः विषयासक्त और भोगरत राजा लोग ही इसके शिकार होते थे, परन्तु अब तो किसान मजदूर और सड़क पर बैठे भिखमगे तक भी तपेदिक T. B. के मरीज दीख पड़ते हैं, यह सब अनियमित श्वास लेनेका ही दुष्परिणाम है। इसलिये आयुष्य वृद्धि की कामना रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित है, कि वह नित्य विधिवत् सन्ध्योपासना करते हुये प्रणायाम द्वारा अपनी श्वास नलिका और फुफ्फुसों (फेफड़ों) को सदैव बलशाली बनाने का प्रयत्न करे।

प्राणायाम में पूरक विधि द्वारा बहुत सी विशुद्ध वायु को फेफड़ों में फेंका जाता है। कुम्भक विधि में जब वायु को कुछ क्षणों के लिये रोका जाता है तो वह फेफड़ों की सम्पूर्ण कोठरियों में प्रवेश करती है। उन्हें फैलाती है और वायु के साथ इन कोठरियों में रक्त भी जाता है। इससे फेफड़े बलवान्, वक्षस्थल चौड़ा, हृदय नवरक्त-युत तो बन ही जाता है, साथ ही रुका हुआ वायु, रक्त से अधिक से अधिक कर्बनद्विओषित (Carbondioxide) गैस और मलीय अंश को लेकर बाहर आता है। रेचक विधि से जब सब वायु

बाहर आ जाता है तो फेफड़ों को विश्राम मिलता है और वे नरोताजा हो जाते हैं।

प्राणायाम द्वारा शारीरिक विकास को परखने के लिये एक मोटे साचे परीक्षण का प्रयोग किया जा सकता है। यदि किसी बकरे के ताजे फेफड़ों—जिनमें श्वासनलिका जुड़ी हुई हो—में साइकिल के पम्प से हवा भरना प्रारम्भ करें तो आप देखेंगे कि वे धीरे २ फूलने लगेंगे। हवा भरते जाइये यहां तक कि वे साधारण दशा से दुगने तीगुने फूल जायेंगे। यह फुलावट कुछ समय तक रखी जा सकती है और हवा निकाल देने पर वे फिर पिचक जाते हैं। यह परीक्षण इस बात का प्रत्यक्ष निदर्शन है कि यदि महर्षि निदिष्ट विधि से प्रति दिन सन्ध्या प्राणायाम किया जाय और साधारण दशा में भी गहरा श्वास ग्रहण करने का अभ्यास डाला जाय, तो शरीर का परिपूर्ण विकास निश्चित है।

(२) श्वास साधना—

प्राणायाम का दूसरा उद्देश्य श्वास साधना कहा जा सकता है। संसार मे अभ्यास द्वारा सभी कुछ सम्भव हो सकता है, इसलिये निरन्तर अभ्यास से वायु को चिरकाल तक फेफड़ों में ही रोक रखने की सामर्थ्य कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि आप सामने घड़ी रखकर प्राणायाम प्रारम्भ कीजिए और प्राणावरोध के सैकिन्डों को नोट कर लीजिए। प्रतिदिन वैसा ही करते जाइये। एक मास बाद आप देखेंगे कि आप की अवरोध शक्ति में पहिले दिन से बहुत काफी अन्तर पड़ गया है। यह अन्तर सैकिन्डों से प्रारम्भ होकर मिनटों और घण्टों तक पहुँच सकता है। यही नहीं, यदि साधक निरन्तर इस अभ्यास को बढ़ाये तो दिनों महीनों और वर्षोंके लिये श्वासावरोध

की शक्ति का उत्पन्न हो जाना असम्भव न होगा। निःसन्देह यह स्थिति योगियों की होगी और उस समय समझना चाहिये कि साधक ने प्राणों पर विजय प्राप्त कर ली है।

(३) मानसिक विकास—

मानसिक विकास भी प्राणायाम का एक उद्देश्य है। यह एक ऐसी अद्भुत व्यायाम पद्धति है जो शरीर के साथ मन का भी पूर्ण व्यायाम कराती है। प्राणायाम की पूरक, कुम्भक, रेचक, तीनों अवस्थाओं में, इधर उधर भागते हुये चञ्चल मन को पकड़ २ कर ध्यान केन्द्र मे लाया जाता है। उसे कहा जाता है कि वह त्रिविध दशाओं में क्रमशः नाभि कमल में चतुर्भुज श्याम स्वरूप विष्णु का, हृदय मे कमलासन रक्तवर्ण ब्रह्मा का और ललाट में श्वेतवर्ण त्रिनेत्र रुद्र का ध्यान करे। यथा—

पूरके विष्णुसायुज्यं कुम्भके ब्रह्मणोन्तिकाम्।
रेचकेन तृतीयन्तु प्राप्नुयादीश्वरं पदम्॥

(प्रयोग पारिजात)

मन चञ्चल है वह नहीं मानता। आता है और बीच में से ही भाग खड़ा होता है। साधक फिर उसे पकड़ता है और ध्यानकेन्द्र की ओर लाता है निरन्तर; अभ्यास होने पर धीरे २ मन, ध्यान केन्द्र पर ठहरने लग जाता है और अन्त मे वह ऐसा साधक की मुट्ठी में आ जाता है, कि वह चाहे उसका कैसे ही प्रयोग करे। प्राणायाम के इस चमत्कार का भी अनुभव कुछ ही काल के अभ्यास से किया जा सकता है।

(४) क्या मनुष्य अमर हो सकता है ?—

हमारे शरीर की रचना विभिन्न प्रकार के अणुओं द्वारा हुई है,

जिन्हें सैल्स (Cells) कहा जाता है। इन सैल्सों में बढ़ने तथा बढ़कर दो दो हो जाने की शक्ति होती है, इसी का नाम जीवन है और सैल्स की पूर्ण अव्यवस्था एवं पूर्वोक्त शक्ति का नष्ट हो जाना ही मृत्यु है। ऐसी दशा में आज के वैज्ञानिक जगत् के सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित है, कि क्या मनुष्य के सारे सैल्सों को जीवित रखकर उसे अमर बनाया जा सकता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार और परीक्षण कर रहे हैं। एक फांसी लगे हुये अपराधी का दिल उसकी मृत्यु के ११ घण्टे बाद निकालकर उसे पुनर्जीवित किया जा चुका है। प्रो० केरल ने इस दिशा में कुछ नव परीक्षण किये हैं और परीक्षण द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि यदि शरीर के किसी पृथक् सैल को उचित खुराक मिलती रहे तो वह अपना कार्य करता चला जाएगा। कहते हैं उनकी मुर्गी के दिल का टुकड़ा ३० साल से जीवित है, उसे रासायनिक द्रव्यों से ही खुराक प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार अन्य वैज्ञानिक भी इस दिशा में प्रयत्न शील हैं परन्तु अभी तक ऐसा कोई हल नहीं निकाल सके हैं।

प्रो० केरल का कहना है कि अमरत्व न सही, किन्तु सैल्स के जीवन को लम्बा करना दो प्रकार से पूर्ण सम्भावित है। (१) सैल्स को समुचित खुराक मिलती रहे और उनसे निकला हुआ मल (Dirty Matter)—जो कि जहरीला होने से सैल्सों को हानि पहुंचाने वाला है—उनके आस पास इकट्ठा न होने दिया जाय। (२) सैल्स के जीवित होते हुए भी उनके सब कार्यों को रोक दिया जाय जिससे उन्हें खुराक की आवश्यकता न रहे।

प्रो० केरल के यह दोनों उपाय और उनके विचार पाश्चात्यों के लिये चाहे कितने भी नवीन और खोज पूर्ण हों किन्तु प्रतिदिन

सन्ध्या प्राणायाम परायण भारतीय के लिये इनका महत्व बिलकुल नहीं के बराबर है। इन विचारों में वही तथ्य प्रतिपादन किया गया है जिसे लाखों वर्ष पूर्व भारतीय महर्षियों ने केवल संसार के समक्ष रक्खा, अपितु प्रत्यक्ष करके दिखाया। इसी प्राणायाम के ऊचे अभ्यास से वे लोग अपने शरीर के सैल्स के ऐसे सब कार्यों को बन्द कर देते थे और घण्टों, दिनों, महीनों और वर्षों समाधि लगाकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते थे कि उनके सैल्स को किसी प्रकार की खुराक की आवश्यकता न होती थी।

प्रो० केरल का यह कथन बिलकुल ठीक है, कि मनुष्य शरीर के कार्यों को शताब्दियों तक रोकने के बाद फिर चलाया जा सकता है। इस तरह जितने समय तक पुरुष निर्जीव रहेगा उतने समय की गणना उसकी शारीरिक आयु के साथ न होगी, क्योंकि उसके लिये तो समझ लीजिये, जीवन क्या संसार की प्रत्येक वस्तु—यहां तक कि समय भी ठहर गया। २५ वर्ष का युवक यदि सौ वर्ष की समाधि में बैठे तो उठने के बाद उसके शारीरिक अंग प्रत्यङ्ग २५ वर्ष के युवक के ही होंगे। उसने यदि संसार में १०० वर्ष जीना है तो समाधि से उठने के बाद वह ७५ वर्ष और जीयेगा। इस बात को आप साधारण से दृष्टान्त से अच्छी तरह समझ सकते हैं। घड़ियों के कारखाने में घड़ी के तैयार हो जाने के उपरान्त कारखाने वाले उसकी चलने की अवधि या गारन्टी का निर्धारण करते हैं। मान लीजिए एक घड़ी सन् ४० में बनी है और दश वर्ष की उसकी गारन्टी की गई है। हम सन् ५० में उसे खरीदते हैं, तो क्या हम समझलें कि उस घड़ी की उम्र जो दश वर्ष की नियत की गई थी—समाप्त हो चुकी है और अब वह काम न देगी। ऐसा नहीं है, उसका जीवन तो सन् ५० से आरम्भ हुआ समझिये। दो साल

चलाकर यदि बीच में आप उसे तीन वर्ष के लिये बन्द करदें तो फिर चलाने पर वह ८ वर्ष और काम देगी। यही बात समाधिस्थ शरीर पर भी लागू होती है।

सारांश यह है कि आज के वैज्ञानिकों के पास भी प्राणायाम ही एक ऐसा हल है जिससे वे मनुष्य को अमर बना देने की समस्या को सुलझाने में संलग्न हैं। यह भारतीयों का दुर्भाग्य ही है कि विदेशी वैज्ञानिक जिन विचारों तथा सिद्धान्तों का पता बड़ी खोज के बाद लगाते हैं, वे उन्हें ऋषि परम्परा से विरासत में मिले हैं किन्तु वे उनसे लाभ नहीं उठा पाते।

(५) प्राणायाम की पूर्णता—

प्राणायाम के सम्बन्ध में इस अन्तिम अनुच्छेद को लिखे बिना न केवल विषय ही अधूरा रहेगा, वल्कि ऐसा करना उन जिज्ञासु पाठकों के प्रति अन्याय भी होगा जो इस ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर प्राणायामके अभ्यास में तत्पर हों और इन अवश्य ज्ञातव्य बातों के अभाव में उसके पूरे लाभ से वञ्चित रह जांय। अस्तु,

यों तो शास्त्रकारों ने प्राणायाम के—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः॥

—सहित सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा और केवली—यह आठ प्रकार बतलाए हैं जो अमुक अमुक दशा को प्राप्त हुए अधिकारियों के लिए लाभप्रद होते हैं, परन्तु इनमें सर्व प्रथम भेद 'सहित', अथवा—अनुलोम विलोम क्रम—ही सर्व साधारण के लिये उपयुक्त होता है। सभी प्राणायाम तीन विधियों में सम्पन्न होते हैं—पूरक, कुम्भक, रेचक। पूरक का अर्थ है श्वास का आकर्षण, कुम्भक = श्वास वायु का धारण और रेचक का

तात्पर्य है उस रूकी वायु का निःसरण । यह तीनों क्रियाएं विधिवत् की जानी चाहियें ।

प्राणायाम प्रारम्भ करने से पूर्व पांव की एडी को गुदा के समीर सीवन पर लगा लेना चाहिये। इससे गुदनलिका का आकुञ्चन होकर अपानवायु ऊर्ध्वगामी बन जायगा और प्राणों के शोधन मे बड़ी सरलता पडेगी। अब पहिले चन्द्र स्वर अर्थात् नाक के बांये छिद्र से धीरे २ वायु को ऊपर खेंचिये। साधारण अवस्था में वायु के खेचने मे १६ मात्रा=लगभग ८ सैकिन्ड का समय लगाना चाहिये। यथा—

इडयाकर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया। (देवो गाता)

अर्थात्--सोलह बार ॐकार या अन्य किसी स्वर का उच्चारण करने मे जितना समय लगता है उतने समय में वायु को खेंचना चाहिये।

जब पूर्ण रूप से वायु आकर्षित हो जाय तब उसका निरोध करना चाहिये। इसे कुम्भक विधि कहा जाता है। यह निरोध क्रिया करते हुये कण्ठ की नली को पीछे की ओर सिकुड़ाकर ठोडी को हृदय पर स्थापित कीजिए। इस क्रिया से फेफड़ों में निरुद्ध वायु में चञ्चलता न आ सकेगी और संग्रहीत वायु से उत्पन्न प्राणशक्ति का अपव्यय न होगा। वायु का यह निरोध सामान्यतया ६४ मात्रा काल=अन्यून ३० सेकिन्ड तक होना चाहिये। यथा—

धारयेत्पूरितं योगी चतुष्षष्ट्या तु मात्रया।

अर्थात्—चौंसठ बार किसी वर्ण के उच्चारण समय तक वायु को धारण करना चाहिये।

उपरोक्त काल तक अथवा यथाशक्ति वायु का निरोध करने के

अनन्तर रेचक प्रारम्भ होता है। इसमें सूर्य स्वर अर्थात् नाक के दायें छिद्र से वायु को धीरे २ निकालिये। रेचक क्रिया के समय पेट तथा पेडू को पीठ की ओर आकर्षित कीजिए; इससे वायु पूरित फेफड़ों को नीचे आधार मिल जाता है। वायु के आघात से उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती और रेचन क्रिया सुगमता से हो जाती है। रेचन क्रिया बिलकुल धीरे २ हो और इसमें पूरक की अपेक्षा दुगना = अन्यून १६ सेकिन्ड समय तो लगना ही चाहिए। यथा—

——द्वा त्रिंशन्मात्रया शनैः ।
नाड्या पिंगलया चैवारेचयेद्योगवित्तमः ॥

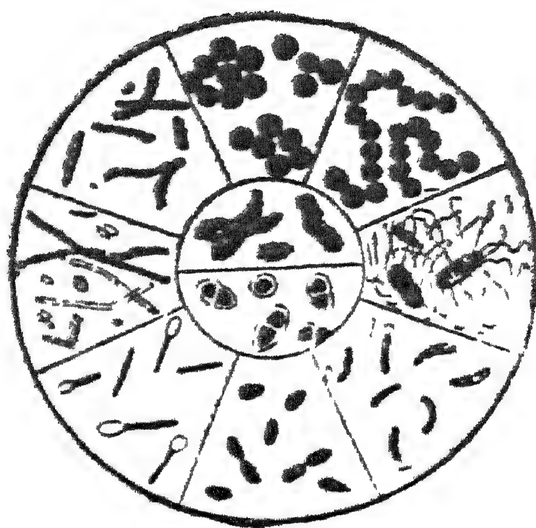
प्राणायाम की पूरकादि तीनों विधियों के साथ उपरोक्त क्रियाओं का गहन सम्बन्ध है। इन पर ययेष्ट ध्यान न देने से प्राणायाम तो अपूर्ण रहेगा ही, किन्तु उससे हानि भी सम्भव है। योगशास्त्रों में इन क्रियाओं को क्रमशः मूलबन्ध, जलन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध के नाम से स्मरण किया गया है एवं प्राणायाम की पूर्णता के लिये इन्हें आवश्यक माना है।

सूर्योपस्थान क्यों ?

संध्या का उपसंहारात्मक अन्तिम अनुष्ठान सूर्योपस्थान है। साधक सूर्याभिमुख खड़े होकर सूर्य भगवान् को जल की तीन अञ्जलि प्रदान करता है और दोनों हाथ उत्तान रूप में फैलाकर सविता देव की स्तुति करता है। वेद में लिखा है कि—

अथ सन्ध्यायां यदपः प्रयुङ्क्ते ता विप्रुषो वज्रीभूत्वा असुरानपाघ्नन्ति (षड्विंश ४।५)

क्यों ?—



गरम जल में खूब उबालने पर भी नष्ट न होने वाले हैजा चेचक निमोनिया तपेदिक फिरंगरोग आदि के घातक कीटाणु-जो प्रातः कालीन सूर्य की जल में प्रतिफलित हुई अल्ट्रावायलेट किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। [पृष्ठ—२४३]

अर्थात्—सन्ध्या में जो जल का प्रयोग किया जाता है, वे जल कण वज्र बनकर असुरों का विनाश करते हैं।

इस बुद्धिवाद के युग में सूर्यकिरणों द्वारा असुर नामक किसी जाति विशेष के प्राणियों का, अथवा आध्यात्मिक रूप में वाह्य वातावरण में फैले हुये असुरों, तथा हृदय मे आसुरीभावरूप असुरों का विनाश, आप चाहे माने या न मानें, किन्तु मानवजाति के लिये असुरों से भी अधिक अहितकारी प्रस्तुत चित्र में प्रदर्शित—टाइफाइड राजयक्ष्मा फिरंग निमोनियाके जीवाणुरूप असुरों के विनाश के लिये सूर्य किरणों की दिव्य सामर्थ्य तो वाध्य होकर माननी ही पडेगी। आप यह जानकर आश्चर्यचकित होंगे कि इनमें से कतिपय जीवाणुओं के लिये सूर्य–प्रकाश सी अमोघ और अव्यर्थ महौषधि कोई है ही नहीं। इसका निदर्शन डा० मुकुन्द स्वरूप वर्मा B S.C, M.B B S. चीफ मैडिकल आफिर काशी विश्व विद्यालयके शब्दों में सुनिये। डा० साहिब अपने 'संक्षिप्त शल्य विज्ञान' में लिखते हैं—

"सूर्य प्रकाश का जीवाणुओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। एन्थ्रेक्स के स्पोर जो कई वर्षों के शुष्की करण से नहीं मरते सूर्य प्रकाश से डेढ घण्टे में मर जाते हैं। आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड) के जीवाणु भी डेढ घण्टे तक सूर्य प्रकाश में रहने से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु इसके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक जीवाणु पर किरणें पड़ें। राजयक्ष्मा के जीवाणु का भी यही हाल है। सूर्य-प्रकाश उसका सबसे बड़ा वैरी है। प्रयोगों से मालूम हुआ है कि सूर्य प्रकाश के हरे बैंगनी और अल्ट्रावायलेट भाग में जीवाणुओं के नाश करने की विशेष शक्ति है"। अस्तु,

जो नास्तिक लोग कल तक इस विज्ञान पूर्ण वैदिक विधान को कोरी पोपलीला कहकर मखौल उड़ाया करते थे, स्वास्थ्य विज्ञान की

नई खोज ने कान पकड़कर आज उन्हीं लोगों को नामान्तर और रूपान्तर में यही क्रिया करने के लिये वाध्य कर दिया है। पाश्चात्य जगत् और उसका अन्धानुकरण करने वाले भारतीय अब अनेक शारीरिक रोगों के विनाश के लिये 'सन बाथ' (Sun Bath) अर्थात्—खुले बदन सूर्य किरणों में स्नान करने लगे हैं। अमेरिका में तो गर्मी सर्दी सहन करने के लिये सदैव दिगम्बर रहने वाला एक सम्प्रदाय सा ही चल पड़ा है, जिसके अनुयायी सहस्रों प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने देश के कानून को तोड़कर—नाना प्रकार का दण्ड भुगतते हुये भी अपनी टेक को नहीं छोड़ते।

अमुक रंग की बोतल में केवल फिलटर किया पानी भरकर सूर्य की खुली धूप में रख देना, फिर नियत समय के बाद उस जल को ही अमुक २ रोग में रंगके तारतम्य के अनुसार बीमारको औषध रूप में पिलाना आजकल एक यह भी नई चिकित्सा प्रणाली निकली है, विश्वास किया जाता है कि सूर्य किरणों से सस्पृष्ट यह जल बोतल के कांच के रंग की विशेषता के अनुसार अमुक २ रोगों को दूर करने में अमोघ औषध सिद्ध होता है।

हम 'सिद्धान्ताध्याय' के प्रत्यक्ष परोक्षवाद प्रघट्ट में यह सिद्ध कर—चुके हैं कि वैदिक विज्ञान के अनुसार समस्त रंगों का मूल स्रोत एक मात्र सूर्य की किरणें ही हैं,--सो यदि हम सूर्योपस्थान विधान के प्रकाश में वर्तमान समय के उपर्युक्त सूर्य किरण स्नान (Chrowopathy) और सौर जलाभिमर्षण का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें, तो यह विदित हो जाएगा कि आज का पाश्चात्य जगत् अपने जिन उपर्युक्त आविष्कारों को अभूतपूर्व और बेजोड़ समझकर फूला नहीं समाता वस्तुतः वे दोनों आविष्कार हमारे अनन्त सहस्राब्दियों से चले आने वाले नित्य कर्म=

सूर्योपस्थान की छाया मात्र हैं। इन दोनों में यदि कोई अन्तर है तो केवल यही है कि जहा सूर्योपस्थान अद्भुतभूत, अनेक शारीरिक रोगों के दूर करने का वज्र के समान अव्यर्थ साधन होते हुए अदृष्टफल--पुण्याधायक धार्मिक अनुष्ठान भी है वहां सूर्य-किरण-स्नान और सौरजलाभिमर्पण चिकित्सा पद्धतियें अपूर्ण, एकदेशी एवं 'अन्धेरे मे चांद मारी' के बराबर है।

सूर्यार्घ्य में साधक, जल पूरित अञ्जलि लेकर--सूर्याभिमुख खड़ा होकर जब जल को भूमि पर गिराता है तो नवोदित सूर्य की सीधी पड़ती हुई--किरणों से अनुविद्ध वह जलराशि, मस्तक से लेकर पांव पर्यन्त साधक के शरीर के समान सूत्र में गिरती हुई, सूर्य किरणों से उपात्त समस्त रंगों के प्रभाव को ऊपर से नीचे तक समस्त शरीर में प्रवाहित कर देती है। इसलिये वेद शास्त्रानुसार प्रातः पूर्वाभिमुख, उगते हुए सूर्य के सामने और सायं पश्चिमाभिमुख छुपते हुये सूर्य के सामने खडे होकर सूर्यार्घ्य देने का विधान है।

सूर्योपस्थान में सूर्यस्नानचिकित्सा विधि की तरह, तीनों समय सूर्य की ओर लम्बे हाथ फैलाकर साधक अंगुलियों के अग्र भाग में वैद्युत चुम्बक स्विचों की भांति प्रकृति देवी द्वारा निहित नखों की मार्फत सप्तविध रङ्गों से परिपूरित सौर प्रवाह को अपने शरीर में धारण करता है। इसीलिये शास्त्र में सन्ध्या का विधान है, आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी की निर्मूल आशङ्का के अनुसार आधी रात के समय सूर्य सामने न होने के कारण चौथी सन्ध्या की कल्पना व्यर्थ है।

कहना न होगा हमारे इस वैदिक अनुष्ठान में आधुनिक सूर्य किरण-स्नान और सौर जलाभिमर्षण क्रियाओं के समस्त लाभ तो

आ जाते हैं परन्तु असमय मे ललाटंतप सूर्य की धूप सेकने से, और बोतलों में बन्द—कई दिन तक रक्खे हुये विकृत पानी के पीने से होने वाली अनेक अप्रत्याशित हानियों का खतरा नहीं होता—यही सूर्योपस्थान के संक्षिप्त लाभों का दिग्दर्शन है।

वैदिक सन्ध्या बनाम आर्यसमाज !

यहां प्रसङ्ग वश पाठकों को यह बता देना भी अनुचित न होगा, कि सन् १८७५ से प्रादुर्भूत हुये, नये वैदिक धर्मी आर्य समाजी महाशयों की भी एक छपी हुई सन्ध्या केवल एक पैसा कीमत में यत्र तत्र बिकती है। इस पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर न केवल 'सन्ध्या' अपितु 'वैदिक-सन्ध्या' छपा रहता है। बहुत से अपरिचित आस्तिक लोग, वेदों में अगाध श्रद्धा रखने के कारण इस पर मोटे टाइप में छपा 'वैदिक' शब्द देखकर और सस्ती कीमत देखकर इसे ही असली सन्ध्या समझकर खरीद लेते हैं।

जब पहिले पहिल यह ट्रैक्ट हमारे हाथ में आया तो हमारे मन में नाना प्रकार के तर्क उठने लगे। सर्व प्रथम तो सन्ध्या के वैदिक विशेषण पर ही विचार चला।—क्या कोई 'अवैदिक' सन्ध्या भी विद्यमान है ?—जिससे पृथक् करने के लिये यह 'वैदिक' विशेषण लगाना आवश्यक हुआ !—फिर जबकि 'ब्राह्मण' मात्र कहने से अमुक व्यक्ति का द्विजत्व सिद्ध हो सकता है तो किसी को 'द्विज ब्राह्मण' कहना व्यर्थ ही है। ऐसा प्रयत्न वहीं किया जाता है जहां कि किसी अद्विज को ठोक पीट कर बलात् द्विज घड़ा गया हो ! तभी इस मिथ्या प्रयास पर परदा डालने के लिए ऐसी दुश्चेष्टा सहैतुकी कही जा सकती है ! क्या इसीप्रकार इस सन्ध्या में भी कोई गड़बड़ घुटाला तो नहीं है ? जिसे 'वैदिक'

विशेषण की आड़ में छुपाने का प्रयत्न किया गया हो, इत्यादि २ अनेक तर्क वितर्क उठने लगे।

अन्त में यही निर्णय हुआ कि जिस परम्परागत सन्ध्या के आधार पर आज तक हम सन्ध्योपासन करते रहे हैं वह तो करते ही रहे हैं, आज इस नई 'वैदिक सन्ध्या' के आधार पर भी सन्ध्योपासना करनी चाहिये। फिर तुलनात्मक दृष्टि से दोनों सन्ध्याओं में से किसके आधार पर की गई उपासना में अधिक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है—यह अनुभव करना चाहिये। एक सच्चे जिज्ञासु की भांति सत्य का अन्वेषण करना परमावश्यक है। कदाचित् इस नई सन्ध्या से लाभ हो तो फिर इसके अपनाने में क्या हानि ?

इस प्रकार पूरे श्रद्धालु बनकर एक दिन हमने 'वैदिक सन्ध्या' के आधार पर अक्षरशः उपासना करनी आरम्भ की। 'शन्नो देवी' मन्त्र पढ़कर आचमन कर डाला, अब 'इन्द्रियस्पर्शमन्त्राः' इस शीर्षक के नीचे लिखे मन्त्रों को पढ़ २ कर इन्द्रियों को छूने लगे। 'ओं वाक् वाक्, चक्षुः चक्षुः, प्राणः प्राणः' कहते हुए क्रमशः मुख, नेत्र और नासिका का स्पर्श किया, परन्तु जब 'ओं-नाभिः' कहकर नाभि को छूने का अवसर आया तो मनीराम ने तर्क का तीर दे मारा। सोचने लगा क्या 'नाभि' भी कोई इन्द्रिय है ?—शास्त्र में घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र ये पांच ज्ञानेन्द्रियें और हाथ, पांव, गुदा, लिंग और जिह्वा ये पांच कर्मेन्द्रियें प्रसिद्ध हैं, कहीं कहीं इस गण में मनः को भी गिना जाता है, इस प्रकार दश या एकादश ही इन्द्रियें हैं, परन्तु 'नाभि' तो कोई इन्द्रिय नहीं है ? सो या तो ऊपर लिखा 'इन्द्रियस्पर्शमन्त्राः' यह शीर्षक अशुद्ध छपा है अथवा कोई और रहस्य है !

जब हमने अपने एक साहित्य शास्त्री मित्रके सामने यह आशङ्का रक्खी तो वे काशी परीक्षा में रटी हुई 'काव्य प्रकाश' की तोता रटन्त की बौछाड़ करते हुये बोले कि--जो है शो है यहां 'गङ्गाया घोषः' की भांति अभिधार्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिये, जैसे गङ्गा प्रवाह में घोष=आभीर पल्ली=गामड़े का बसना असम्भव है तो मुख्य अर्थ का बोध हो जाने के कारण गङ्गा शब्द का लाक्षणिक अर्थ गङ्गातट माना जाता है, इसी प्रकार--जो है शो है—साक्षात्कार कर कर करके यहां भी नाभि का इन्द्रियत्व बाधित हो जाने के कारण तन्निकटवर्ती लिङ्गेन्द्रिय को स्पर्श करना ही लक्षणा से समझना चाहिये। जैसे अतिशीतत्व पावनत्व आदि गुण द्योतन करने के प्रयोजन से—'गङ्गातटे घोषः' न कहकर 'गङ्गायां घोषः' कहना सहेतुक है, वैसे ही अश्लीत्व, ग्राम्यत्व आदि दोषों की उपस्थिति के परिहार के लिए उक्त वैदिक सन्ध्या में भी सीधे २ 'लिंगम्' ऐसा न कहकर 'नाभि' कहा गया है। साथ ही आर्य समाज के मन्तव्यानुसार स्त्रियों को भी यही सन्ध्या ज्यों की त्यों करने का विधान है। ऐसी स्थिति में लिंग शब्द का प्रयोग स्त्री पक्ष में फिट नहीं बैठ सकता था, जो है शो है इस विप्रतिपत्ति के परिहार के लिये भी स्त्री पुरुष दोनों को अपने मूत्रेन्द्रिय स्पर्श का बोध हो सके और अश्लीलता के बिना एक ही शब्द से यह काम चल जाए इत्यादि अनेक हेतुओं से 'नाभि' शब्द लिखा गया है।

यह विवेचना सुनकर अपने राम तो दङ्ग रह गये, अन्त में 'वाक् वाक्' आदि इस मन्त्र समूह को वेद में देखकर भाष्यों द्वारा इसका वास्तविक अर्थ जानने की उत्कण्ठा हुई। उपलब्ध समस्त संहिताएं, फिर ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् कई बार खोज डाले परन्तु उक्त मन्त्रों का कहीं अस्तित्व न मिला। तब तो बड़ी

निराशा हुई। रह २ कर 'वेदिक सन्ध्या' के लेखक पर क्रोध आया, कि जिसने सनातनकाल से प्रचलित और वैदिक विज्ञान से परिपूर्ण अनादि सन्ध्या को छोड़कर अपनी कपोल कल्पित तुकबन्दी पर वैदिक शब्द का लेबिल लगाकर लाखों श्रद्धालु हिन्दुओं को पथभ्रष्ट किया। मनुस्मृति के 'वाङ्मूला नियताः सर्वाः' के अनुसार संसार के सभी व्यवहार वाणी पर आश्रित हैं, सो जो व्यक्ति उस की चोरी करता है अर्थात्—वेद के नाम पर विश्वास दिलाकर अवैदिक भावों का प्रसार करता है निःसन्देह वह मनुष्य—'यश्च तां स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः' के अनुसार सब कुछ चुराने वाला समझा जाना चाहिए। कहां सन्ध्या सदृश पुनीत अनुष्ठान और कहां उसके नाम पर मूत्रेन्द्रियों को हाथों से पलोटने का व्यवहार ? प्रभो ! ऐसे दुराग्रह पूर्ण अनर्थों से हिन्दू जाति की रक्षा कीजिये।

माला आवश्यक क्यों ?

शास्त्र में लिखा है कि—

बिना दर्भैश्च यत्कृत्यं यच्चदानं विनोदकम्।
असङ्ख्यया तु यजप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्॥
(अङ्गिरा स्मृति)

अर्थात्—बिना कुशा के जो सत्तत् धर्मानुष्ठान, और बिना जल संस्पर्श के जो दान, तथा बिना माला से संख्याहीन जो जप, वे सब निष्फल होते हैं। नामधारी सिक्ख ऊनकी ग्रन्थिल माला, निहंग सिक्ख लोहे की माला तथा मुसलमान ईसाई भी 'तसबी' रखते हैं। वह क्यों ?—इसलिये कि (१) प्रथम तो मालाके फेरने से कितना

जप हुआ इस बात का ठीक पता चल जाता है और अपने २ निश्चित नियम के अनुसार पुरुष अपने समय का नियन्त्रण कर कर सकता है। (२) दूसरे—माला भी प्राय 'शुचि' सज्ञक वस्तुओं से ही बनाई जाती है अतः कुश की भांति इनसे भी वही सब लाभ होंगे। (३) तीसरे—अंगुष्ठ और अंगुली के संघर्ष से एक विलक्षण विद्यु त् उत्पन्न होगी, जो धमनी के तार द्वारा सीधी हृदय चक्र को प्रभावित करेगी, इधर उधर डोलता हुआ मन. इसमे निश्चल हो जाएगा।

मध्यमाङ्गुली से ही क्यों?

जाप में माला घुमाते समय तर्जनी अंगुली का उपयोग नहीं होता यह क्यों ?—इसलिये कि—

हृदि तिष्ठद्दशांगुलम् (यजुर्वेद ३१) और

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गीता)

अर्थात्—भगवान् का मुख्य निवास स्थान प्राणी का हृदय प्रदेश है। इन प्रमाणों के अनुसार हृदय का प्रभावित करने के लिये ही जाप होता है सो मध्यांगुली की धमनी का ही हृत्प्रदेश से सीधा सम्बन्ध है अतः जाप में उसी का उपयोग होता है। यवनादि इस रहस्य को नहीं जानते वे तो केवल विद्यालय के प्रथम श्रेणी के बालकों की भांति केवल गोलियें गिनकर ही अभी एक दो गिनना सीखने के अभ्यासी हैं।

तुलसी रुद्राक्ष आदि की क्यों ?

श्री वैष्णव तुलसी शङ्ख और कमलाक्ष की माला, शैव रुद्राक्ष

और भद्राक्ष की माला, गाणपत्य हरिद्रा की, अमुक मन्त्र के जाप में जीयापोता या विद्रुम = मूंगे की और मारण आदि आभिचारिक कृत्यों में सर्पास्थि तक की मालाओं का विधान शास्त्र में विद्यमान है।

शास्त्रीय-स्वरूप

पद्माक्षैर्विहितामाला, शत्रूणां नाशिनी मता।
कुशग्रन्थिमयी माला, सर्वपापप्रणाशिनी ॥१॥
पुत्रजीवफलैः क्लृप्ता कुरुते पुत्रसम्पदम्।
प्रवालैर्विहिता माला प्रयच्छेत्पुष्कलं धनम् ॥२॥

(तन्त्रसार)

अर्थात्—कमलाक्ष की माला शत्रु नाश करती है, कुश ग्रन्थि से बनी पाप दूर करती है। जीयेपोते के फल की पुत्र और सन्तान देती है। प्रवाल 'मूंगे' की माला धन देती है।

पूर्व कथनानुसार अंगुष्ठ मध्यमांगुली के संघर्ष से जो विद्युत् उत्पन्न होगी, वह सात्विक राजस, तामस किस प्रकार की अपेक्षित है इसी विचार तारतम्य से विभिन्न मालाओं की व्यवस्था है। यदि केवल भगवद् तुष्टि के लिये किंवा मुक्ति के लिये जाप हो रहा हो तो इसके लिये सात्विक विद्युत् उत्पादक तुलसी आदि की सात्विक द्रव्य निर्मित माला चाहिये। कदाचित् 'त्र्यम्बकं यजामहे' आदि आयुष्यवर्द्धक रजोगुणात्मक मन्त्र जपनेकी आवश्यकता है तो रुद्राक्ष उपयुक्त होगा। पुत्र प्राप्ति के लिये सन्तान गोपाल आदि मन्त्रों के जाप में 'जीया पोता' (जीव पुत्र) की माला। इसी प्रकार विघ्ननिवृत्त्यर्थ हरिद्रा की और मारण मन्त्रों में तामसी हड्डी जैसे क्रूर पदार्थ से बनी--ठीक रहेगी।

यह अनेकविध व्यवस्था इसलिये भी है कि साधक, अन्तरिक्ष में व्याप्त विद्युत् की अमुक २ शक्तियों में से यथेष्ट किसी को भी उद्वेलित कर उनसे मनचाही सिद्धि प्राप्त कर सके।

आज के वैज्ञानिकोंने केवल भौतिक विद्युत के ही अढ़ाई गुण अभी तक समझे हैं अर्थात्--बिजली से प्रकाश होता है, यन्त्र चलता है तथा किसी वस्तु को फैलाया जा सकता है--आदि, परन्तु हमारे महर्षियों ने विद्युत शक्ति के विभिन्न ४६ स्वरूपों का पता लगाया था, जिन्हें हिन्दू शास्त्रों मे ४६ मरुत् के नाम से स्मरण किया गया है। यह प्रसंग विस्तार पूर्वक हमने 'पुराण दिग्दर्शन' में प्रकट किया है।

कहना न होगा कि हमारे यहां केवल मन्त्र संख्या जानने मात्र के लिये ही माला की व्यवस्था नहीं है। कदाचित् ऐसा होता तो फिर तत्तत् कार्यों में विभिन्न मालाओं का विधान न होता; मालाओं का अनेकविध्य ही इस बात का प्रबल प्रमाण है, कि यह व्यवस्था सुतरां दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है।

माला कण्ठी गले में क्यों ?

प्रसङ्ग वश यहां यह भी प्रकट कर देना अनावश्यक, न होगा, कि गले में माला कण्ठी बांधने की भी शास्त्र में व्यवस्था मिलती है यह क्यों इस लिये कि—

(१) अधिक जाप करने वाले व्यक्ति को--खासकर जो उपांशु = चुपचाप ओष्ठ और जिह्वा को हिलाये बिना—जिसका कि शास्त्र में अधिक महात्म्य वर्णित है--जाप करता हो उसकी कण्ठ धमनियों को अधिक परिश्रम करना पड़ता है, इसलिये भय है

कहीं वह साधक गलगण्ड, कण्ठ माला आदि रोगों से पीड़ित न हो जाय, इस खतरे से बचने के लिये तुलसी रुद्राक्ष आदि दिव्य वृक्षों से बनी कण्ठी माला धारण की जाती है, ये वृक्ष उक्त रोगों को दूर करने की अव्यर्थ औषधि हैं।

बच्चों को दांत और दाढ़ उत्पन्न होने के समय बड़ा कष्ट होता है, एतदर्थ बहुत से गृहस्थ इस कष्ट से मुक्ति पाने के लिये विदेशी लुटेरों द्वारा तैयार किया कथित बिजली का फित्ता खरीदकर बच्चों के गले में बांधते हैं, यद्यपि इस फित्ते में केवल तांबे और जस्ते का एक दो तार काले कपड़े में सिला रहता है, परन्तु मूर्ख लोग इसी दो आने की वस्तु को रुपयों का खरीदकर देश का लाखों रुपया विदेशियों की भेंट चढाते हैं। हमने स्वयं अनुभव करके देखा है कि यदि बच्चों के गले मे तुलसी रुद्राक्ष की माला कण्ठी पहिनाई जाए तो दांतों के उद्गम के कष्ट के अतिरिक्त गलगण्ड कण्ठ माला आदि रोगों की भी निवृत्ति हो जाती है। उक्त बिजली का फित्ता कहे जाने वाली विदेशी वस्तु से तो हमारे अपने देश की कौडियों, छोटे शंखों, शिरस के बीजों से बनी कण्ठी सस्ती और अधिक लाभप्रद सिद्ध होती है, प्रायः देहातों में इसका प्रयोग भी होता है अब कुछ विलायती चाकचिक्य के भक्त उक्त देशी साधनों को छोड़कर विदेश की ओर ताकने में ही अपनी शिष्टता समझते हैं, परन्तु वस्तुतः कपर्दिका आदि वस्तुएं हैं बहुत लाभप्रद। यदि व्याघ्रनख, चांदी और सोने का भी उक्त कण्ठी में सन्निवेश हो तो फिर बहुत सी संक्रामक बीमारियों से भी बच्चा सुरक्षित रह सकता है।

(२) धार्मिक दृष्टि से यज्ञोपवीत की भांति कण्ठी माला भी हिन्दुत्व का अनिवार्य चिन्ह है। विशपों और पादरियों के गले में

लकड़ी का काम और ईसा को दी फांसी का फन्दा = नेक कटाई अवश्य रहते हैं। ईसाइयों के धार्मिक चिन्ह नैकटाई को बांधकर तो भारतीय भी अभी तक 'नाक-कटाई' का प्रदर्शन करते हैं। मौलाना साहिब के गले में तो पण्डित जी की भांति ही लम्बी तसबी लटकती रहती है। वास्तव में इस पवित्र वस्तु को लटकाने के लिये गले से अच्छा अन्य उपयुक्त स्थान भी तो नहीं है।

माला के एक सौ आठ दाने क्यों ?

कर-माला दांये हाथ की अंगुलियों के बारह पर्वों में से अनामिका के मध्यम पर्व से आरम्भ करके दक्षिणावर्त रीति से घूमते हुए इसी पर्व पर समाप्त हो जाती है। इस गणना में मध्यमांगुली का मध्यम पर्व ही केवल छूटता है, शेष ग्यारह पर्व आ जाते हैं। माला के अभाव में इसका भी उपयोग होता है। 'नक्षत्र-माला'—सत्ताइस मणके और एक सुमेरू से बनती है। परन्तु सर्व कार्यों में नित्य कार्य में आने वाली माला एक सौ आठ दाने की होती हैं, जिसके ऊपरी भाग में सुमेरू पृथक् रहता है। इसके एक सौ आठ ही दाने क्यों होते हैं ? न्यून वा अधिक क्यों नहीं होते ? यह भी एक जिज्ञासा हो सकती है।

(१) एक सौ आठ दानों का प्रथम कारण यह है कि 'अण्ड पिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड में प्रकृति के नियन्त्रण से निरन्तर चारों दिशाओं में घूमती हुई नक्षत्रमाला को देखकर भारतीय ऋषियों ने भी नक्षत्रों की संख्या सत्ताइस को दिशाओं की चार संख्या से गुणित करके एक सौ आठ संख्या मणकों वाली अपनी माला का निर्माण किया है। अर्थात्—सत्ताइस चौका पूरे एक सौ आठ ही तो होते हैं। अतः न्यून वा अधिक का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) एक सौ आठ दाने का दूसरा कारण यह भी है, कि जिस नक्षत्र माला के आधार पर जाप माला की कल्पना की गई है उन सत्ताइस नक्षत्रों मे प्रत्येक नक्षत्रों के चार चरण होते हैं जैसे 'चू चे चो ला' अश्विनी आदि,-जिसे सभी साक्षर जानते हैं। सो समस्त सत्ताइस नक्षत्रों के कुल मिलाकर १०८ ही चरण होते हैं, इस गणना के अनुसार भी जाप माला के १०८ दाने ठीक हैं। यहां यह भी अधिक जान लेना चाहिये कि 'नक्षत्र माला के आधार पर ही हमारी ये माला बनी है'—यह केवल हमारी कल्पना नहीं है अपितु हमारे इस विवेचन में एक अटल हेतु भी विद्यमान है। माला के दोनों किनारों को मिलाकर जहां एक किया जाता है उस स्थान के सर्वोच्च दाने को 'सुमेरू' कहते हैं, सो हमारे ब्रह्माण्ड की नक्षत्र माला के भी दोनों किनारे जहां सम्मिलित होते हैं, उस स्थान को 'सुमेरू पर्वत' के नाम से ही पुराणादि ग्रन्थों में स्मरण किया गया है; जैसे कोल्हू का एक किनारा एक कील पर स्थिर रहता है और दूसरा किनारा चारों ओर वर्तुलाकार घूमता है, ठीक इसी प्रकार नक्षत्र माला का भी एक किनारा ध्रुव की ओर सुमेरू नामक कील पर सुस्थिर है और दूसरा पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता है। ध्रुव और तत्सम्बद्ध ध्रुवाक्ष नाम के दोनों तारों और सप्तर्षि मण्डल के सात तारों के परिक्रमण से हमारी यह बात ठीक समझ में आ सकती है। इसलिये जप माला और नक्षत्र माला दोनों के ही संयोजन स्थान को 'सुमेरू' कहने के कारण कोई भी विचारक उक्त दोनों वस्तुओं की समता का सहज में ही अनुमान कर सकता है।

(३) माला के एक सो आठ दाने का तीसरा कारण यह भी है कि अहोरात्र में मनुष्य के श्वासों की स्वाभाविक संख्या इक्कीस हजार

छः सौ' वेद शास्त्रों में निश्चित की है यथा—

षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यात्मकं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(चूडामणि उपनिषद् ३२ । ३३)

इस विषय का सप्रमाण विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ में अन्यत्र देखा जा सकता है। सो अहोरात्र में यदि आधा समय शयन भोजन अन्यान्य संसारिक कृत्यों का अर्थात—लोक साधना-का माना जाए और आधा परमार्थ साधना का माना जाए, तो २१६०० श्वासों के आधे १०८०० (दश हजार आठ सौ) श्वास हरि भजन के लिये निश्चित समझने चाहियें, शास्त्र कहता है कि हमारे जीवन के ये श्वास व्यर्थ नहीं जाने चाहियें, भाषा कवियों ने भी इसी आशय से कहा है कि—

श्वास २ हरि नाम जप, वृथा श्वास मत खोय ।
ना जाने इस श्वास का आना होय न होय ॥

सो यदि हम शास्त्र विधि के अनुसार प्रतिदिन एक माला भी जाप करदें तो हमारे ये सब श्वास सार्थक हो सकते हैं, क्योंकि विधिवत् किया हुआ जाप—'उपांशु स्यात् शतगुणः' (मनु २ । ८६) के अनुसार सौ गुणा हो जाता है। अब इन सब शास्त्र व्यवस्थाओं का समन्वय कीजिए। कल्पना करो—एक व्यक्ति प्रति दिन कम से कम एक माला 'उपांशुजप' करता है; एक सौ आठ दाने की माला घुमाने से १०८ बार मन्त्र या हरिनाम जपा। उपांशुजाप होने के कारण इसका फल सौ गुणा हुआ, फलतः १०८×१००=१०८०० होता है। अर्थात्—मनुष्य के आधे श्वासों के बराबर हो जाता है। इस तरह मनुष्य के दिन भर के श्वासों

को सार्थक बनाने के लिये कम से कम जितने जाप की आवश्यकता है, उसका ठीक हिसाब १०८ दाने की माला बनाने पर ही बैठ सकता है। इसलिये भी माला के एक सौ आठ दाने ही उपयुक्त हैं।

(४) चौथा कारण यह है कि—'शतपथ ब्राह्मण' के दशवें काण्ड में 'अथ सर्वाणि भूतानि' इत्यादि प्रघट्ट में लिखा है, कि एक संवत्सर के दश हजार आठ सौ मुहूर्त होते हैं और इतने ही वेदत्रयी के पंक्ति युग्म होते हैं। पुरुष की पूर्णायु सौ वर्ष मानी गई है यदि १०८०० मुहूर्तों को जीवन के वर्षों की संख्या को १०० पर विभक्त किया जाए तो १०८ होते हैं। कम से इतना भी नित्य जाप करने से पंक्ति पाठ सम्पन्न हो जाएगा।

(५) बुद्धि के सामान्य धरातल से जरा गहराई में पैठकर झांकें, तो माला की १०८ संख्या, ब्रह्मात्मैक्य प्रेरणा के आध्यात्मिक तल को स्पर्श करती हुई दिखाई देगी। सृष्टि और प्रलय के गहनतम रहस्य से ओतप्रोत माला की यह संख्या साधक को ब्रह्म सायुज्य का अधिकारी बनाती है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह अखिल विश्व ही ब्रह्म रूपी सूत्रमें पिरोई हुई माला है; सच्चिदानन्द मय ब्रह्म ही सुमेरू स्वरूप है और उससे ही प्रारम्भ और उसी पर समाप्त हो जाने वाले ये १०८ मणके सर्ग एवं प्रलय के उपादान कारणों की प्रतिमूर्ति के अतिरिक्त कुछ हैं ही नहीं। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता मे कहा है—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

अर्थात्—यह सम्पूर्ण संसार सूत्र में पिरोई हुई मणियों की तरह मुझ में अनुस्यूत है।

जरा विचार पूर्वक समझने का प्रयत्न कीजिए कि सर्ग एवं प्रलय के उपादान भूत वे कौन २ से मणके हैं, जो ब्रह्म में ओतप्रोत

है। भगवान् कृष्ण ने जगदुत्पत्ति का वर्णन करते हुये कहा है :—

भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७-४)

अर्थात्—भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत् और अव्यक्त यह आठ प्रकार की परा प्रकृति है (जिससे यह स्थूल संसार उत्पन्न होता है) इसके अतिरिक्त एक अपरा नामक प्रकृति है-जो जीव रूप धारण करके ससार को धारण करनी है। जिसका वर्णन गीता में इससे आगे ही—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्—आदि द्वारा किया गया है।

अष्टधा प्रकृति मे वर्णित सभी पदार्थ विभिन्न गुणों से युक्त हैं। गीता के विलोम क्रम को छोड़कर अनुलोमक्रम से विचार कीजिए। सृष्टि का मूल है ब्रह्म—जो कि निर्गुण निर्विकार एवं नित्य सत्य है; वह एकत्वयुक्त है। उससे उत्पन्न अव्यक्त में इस गुण के अतिरिक्त आवरण शक्ति का प्राधान्य है जिससे उसका स्वभाव दो प्रकार का हो जाता है। इससे आगे महत् है, जिसमें उपरोक्त दो गुणोंके अतिरिक्त विक्षेप शक्ति का समावेश भी है, फलतः वह त्रिगुणात्मक हुआ। अहङ्कार ब्रह्म का चतुर्थ विकार है, जो मल के आधिक्य और पूर्ववर्ती पदार्थ के तीन गुणों को भी धारण करने से ४ गुणों वाला हुआ। इस प्रकार आगे के आकाशादि सभी पदार्थ अपने एक विशेष गुण के साथ पूर्ववर्ती पदार्थों के गुणों से भी युक्त होते हैं, जैसा कि भगवान मनु ने कहा है—

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥

अर्थात्—क्रम से कहे हुये अव्यक्तादि पदार्थों के गुणों को परवर्ती पदार्थ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार इनमें जो विकार

जितने गुणों को धारण करता है, उतने गुणों वाला कहलाता है। इस रीति से अब अष्टधा प्रकृति वर्णित सब पदार्थों के गुणों का संकलन कीजिए। अव्यक्त-२, महत्-३, अहङ्कार-४, आकाश-५, वायु-६, तेज-७, जल-८, भूमि-६ और नवगुणात्मक जगत् को धारण करने वाली अपरा प्रकृति १०=५४। यह तो हुई सृष्टि प्रक्रिया और इसी क्रम से प्रलय समझनी चाहिये। फलतः सुमेरू रूप ब्रह्म से आरम्भ करके ५४ उपादानों द्वारा जिस सृष्टि का निर्माण हुआ था वह ५४ उपादानों द्वारा ही प्रलय को प्राप्त होकर, १०८ की संख्या पूरी कर सुमेरू पर ही समाप्त हो जाती है।

कहा जा सकता है कि जपकर्त्ता का प्रलयोत्पत्ति के इन सब कारणों से क्या सम्बन्ध ? परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि जाप का उद्देश्य माया जनित मोह का उच्छेदन कर जीव को ब्रह्म स्वरूप बना देने में हैं। माला इस में और अधिक सहायक सिद्ध होती है; वह प्रलयोत्पति वर्णन द्वारा कार्य कारण और जीव ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन कर जीवके ऊर्ध्वगामी बनने में सहायक सिद्ध होती है।

कहना न होगा कि यदि केवल जाप संख्या मात्र जानना माला का उद्देश्य होता तो फिर निःसन्देह सौ दाने या इसी प्रकार किसी पूरी संख्याके दानों की माला ही उपयुक्त होती। चूंकि इसके अनेक आध्यात्मिक और वैज्ञानिक हेतु विद्यमान हैं इसलिये माला के १०८ दाने ही होने चाहियें न्यूनाधिक नहीं।

श्री १०८ क्यों ?

प्रधान धर्माचार्यों और जगद्गुरुओं को श्री १०८ लिखने की प्रचलित परिपाटी का हेतु भी स्पष्ट है। हमारे इस ब्रह्माण्डमें समस्त ग्रह पिण्डों से ऊपर नक्षत्र कक्षा कही जाती है। नक्षत्र से ऊपर अन्य कोई पिण्ड नहीं—सो हम जिस व्यक्ति को सर्वोच्चपद प्रदान

करना चाहें उसे नक्षत्र कक्षा से ही उपमित कर सकते हैं, यह पदवी प्रायः परिव्राजक अर्थात्—निरन्तर सर्वत्र घूम २ कर धर्म प्रचार करने वाले महात्माओं के साथ ही प्रयुक्त की जाती है। अतः यहां भी नक्षत्र सख्या और दिग् संख्या को गुणित करके २७×४=१०८ लिखा जाता है। आजकल जो श्री एक हजार एक सौ आठ और अनन्त श्री लिखने का प्रचार हो चला है यह जहां सौ से अधिक सहस्र और सहस्र से अधिक लक्ष इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते हुये 'अनवस्था' दोष से ग्रस्त होने के कारण अन्त में निरर्थक सिद्ध होता है वहा 'होली' से बड़ा 'होला' तो 'दीवाली' से बड़ा 'दीवाला' का भी प्रत्यक्ष निदर्शन है।

भोजन—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) अन्नं ब्रह्म इत्युपासीत ।

(ख) उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥
पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥
(मनुः २ । ५३-५४)

(ग) अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।

(घ) अन्नं विष्ठा, जलं मूत्रं यद् विष्णोरनिवेदितम् ॥
(ब्रह्म वैवर्त पुराण ब्रह्म खण्ड २७ । ६)

(ङ) अस्नायी समलं भुङ्क्ते, अजपी पूयशोणितम् ।
सूर्य्यायार्घ्यमदत्वा च नरः किल्विषमश्नुते ।

(स्कन्द पुराण)

अर्थात्--(क) अन्न ब्रह्म है यह समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। (ख) (दोनों हाथ दोनों पांव और मुख इन पांचों अंगों को) जल का उपस्पर्श करके नित्य सावधान होकर अन्न को खाना चाहिये, और भोजन के उपरान्त भली प्रकार आचमन करना चाहिये तथा जल के द्वारा मुखस्थ छहों छिद्रों का स्पर्श करना चाहिये। नित्य प्रथम भोजन का पूजन करना चाहिये और बिना निन्दा किये खाना चाहिये। भोजन को देखकर हर्षयुक्त होना होना चाहिये और प्रसन्नता पूर्वक उसका अभिनन्दन करना चाहिये। (ग) अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और खाने वाले महेश्वर हैं। (घ) विष्णु भगवान् को भोग न लगा अन्न विष्ठा के समान है और जल मूत्र के तुल्य है। (ङ) बिना स्नान किये भोजन खाना मल खाने के तुल्य है। जप किये बिना भोजन खाना राध, पीप, रुधिर खाने के समान है। और सूर्य का अर्घ दिये बिना भोजन करना पाप खाने के समान है।

वैज्ञानिक विवेचन

उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणों में प्रधानतया जिन जिन नियमों का संकेत किया गया है इन सबकी विस्तृत व्याख्या करने पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है; इसलिये हम यहां केवल अत्यावश्यक बातों का ही उल्लेख करेंगे। भोजन का सर्व प्रधान यह नियम है कि उसे केवल क्षुत् निवृत्ति का साधन, पेट भरने

मात्र के लिये किया जाने वाला क्षुद्र कार्य नहीं समझना चाहिये। बल्कि खाद्य पदार्थ को साक्षात् ब्रह्म समझकर, भक्षण करना उसकी उपासना जैसा पवित्र कार्य मानना चाहिए। अब यदि भोक्ता भोजन खाने से पूर्व यह यह भावना सुदृढ़ बनाले कि मैं पेट भरने नहीं चला, किन्तु भगवदुपासना करने चला हूं, तो अन्य सब नियम अपने आप ही पालन करने अनिवार्य हो जायेंगे; जैसे ईश्वर की उपासना में हाथ पांव प्रक्षालन करके शुद्ध धौतेय वस्त्र पहिनकर आसन पर बैठते हैं और सावधान मन से मौन होकर यथाविधि सब कृत्य करते है, तथैव भोजन के समय भी वैसे ही सब काम करना चाहिये। ईश्वर उपासना में किसी अपवित्र वस्तु को निकट भी नहीं आने देते। इसी प्रकार भोजन में भी कोई अपवित्र वस्तु चौके में भी नहीं घुसने देनी चाहिये।

यदि विचार किया जाय तो भोजन के इस प्रथम नियम से ही तत्सम्बन्धी अनेक शङ्काओं का अपने आप निराकरण हो जाता है। अब यदि कोई पूछे कि भोजन से पूर्व स्नान क्यों करे? जूता क्यों उतारे? वस्त्र क्यों उतारे? कुर्सी पर क्यों न बठें? चौका क्यों लगाये? आसन पर क्यों बैठें? मौन क्यों रक्खें? लसुन प्याज, मद्य, मांस आदि का उपयोग क्यों न करें? होटलों में यवन चाण्डाल खानसामाओं का पकाया क्यों न खायें? और कांच और चीनी के वर्तनों में क्यों न खायें? तो इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जा सकता है, कि यदि केवल पेट भरने के लिये खाना खाना हो, तब तो तुम पशुओं की भांति स्वतन्त्र हो जब जैसे जो चाहो यथेच्छ खाओ; परन्तु यदि दीर्घजीवी बनने के लिये भोजन करना है तो ईश्वर की उपासना में उपयुक्त न होने वाले सब रंग ढंग सब वस्तुजात अवश्य छोड़ने होंगे।

सबको खिलाकर खाओ

भोजन का दूसरा प्रधान नियम है कि मनुष्य को पहिले समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों को खिलाकर पश्चात् स्वयं खाना चाहिये। यहां प्रश्न किया जा सकता है कि 'यह कैसे सम्भव हो सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने परिमित भोजन से समस्त ब्रह्माण्ड के अगणित प्राणियों को परितृप्त कर सके'। शास्त्र में इस नियम के पालनार्थ एक बहुत ही सरल मार्ग का निर्देश किया है जिसका नाम है 'बलि वैश्वदेव'।

प्रत्येक गृहस्थ के यहां नित्य पांच प्रकार से बहुत से जीवों की अनिवार्य हत्या होती है। जैसे - चूल्हे में आग जलाते, अन्न को कूटते, पीसते, छानने पछोड़ते समय और जलघट रखते समय बहुत से जीव न चाहने हुये भी मर ही जाते हैं। इन पांच दैनन्दिनी हत्याओं को दूर करने के लिये प्रत्येक सद्गृहस्थ को नित्य पांच महायज्ञ करने की शास्त्र विधि है। (१) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना और पढ़ाना 'ब्रह्मयज्ञ' है। (२) पितरों का तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, (३) हवन करना 'देवयज्ञ' है, (४) बलि वैश्व देव 'भूतयज्ञ' है और (५) अभ्यागत को भोजन खिलाना 'अतिथि यज्ञ' है।

तात्पर्य यह है कि यदि धनसम्पन्न पुरुष स्वयं पकाएं और स्वयं ही खाजाएं परन्तु भोजन मात्र पर धर्म्म प्रचार करने वाले सन्यासियों महात्माओं साधुओं और विद्वानों की सार खबर न लें, इससे निश्चित ही धर्म्मप्रचार की और वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन की सब की सब परम्परा विनष्ट हो जाएगी, जिसका पाप उस धनिक को होगा। यदि धनी स्वयं भरपेट भोजन खाए और

उसी महल्ले में पड़ौस मे रहने वाली एक सती साध्वी विधवा अपने बाल बच्चों को भूखा देखकर आंसू बहाये—उसकी इस विवशता से लाभ उठाकर घूर्त गुन्डे उसे लावारिश प्रापर्टी समझकर धर्मभ्रष्ट करने के लिये सुअवसर समझें, तो ऐसी दशा में अनाथ विधवा के अत्युष्ण आंसुओं की सतत धारा से क्लिन्न वह धनिक के थाल में परसा भोजन खाने पर कभी पच न सकेगा। हजम न हो सकेगा ।। इसीलिए आज के अधिकांश धनिक पायः अजीर्ण= बदहजमी रोग के शिकार रहते हैं। कारण स्पष्ट है, कि जो धनिक देव, पितृ, अतिथि, पूज्य, विद्वान्, अनाथ और विधवाओं का भाग न निकालकर स्वयं अकेले ही सबका स्वत्व हड़पने का प्रयास करेंगे, तो प्राणीमात्र के हृदय में जाठराग्नि रूप से विराजमान भगवान प्रथम तो भोजनको देखते ही अनिच्छा-अरुचि प्रकट करेंगे।

इतने पर भी यदि सेठ साहिब बलात् उदर दरी में भोजन डालने का प्रयत्न करेंगे, तो भगवान् केवल उतना भाग ही पचने देंगे जितना कि इसका वस्तुतः अपना है, अन्य व्यक्तियों के भाग जीर्ण न होने पायेंगे। बारबार जमाल घोटे की गोली खाकर या फ्रूट साल्ट पीकर जुलाब लेने के लिये ही विवश होना पड़ेगा। सो यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक भोजनकर्ता सूकर कूकर की भांति केवल अपना ही पेट भरने का प्रयत्न न करे, किन्तु यथाशक्ति वित्तशाठ्य को छोडकर अन्यान्य सभी उपजीवियों को भी परितृप्त करने का सतत प्रयत्न करे।

वैश्वदेव-आदर्श-समाजवाद

आज कथित समाजवादी उदरम्भर पाश्चात्य देशों की झूठन समेटकर भारत में भी तादृश समाज रचना की रेतीली दीवार

खड़ी करने का विडम्बना पूर्ण प्रयास कर रहे हैं, परन्तु यदि वे सनातन धर्म की समाज रचना के एक साधारण नियम 'बलि वैश्वदेव' का ही मनन कर सकें और राजसत्ता के प्रभाव से जनता में तादृश आचरण का वातावरण उत्पन्न कर सकें, तो अपने आप ही खाद्य समस्या हल हो जाए, फिर घूसखोरी और चोर बाजारी के जननी जनक राशन व्यवस्था और कण्ट्रोल की आवश्यकता ही न पड़े। परन्तु दुर्भाग्यवश। आज तो खाद्य समस्या को हल करने के लिये केवल कागज के कलेजे पर कलम चलाना मात्र पर्याप्त समझा जा रहा है।

अस्तु, 'बलि वैश्वदेव' में श्रोत्रिय विद्वान् से लेकर कीट पतङ्ग पर्यन्त सभी उपजीवियों को परितृप्त करने के अनन्तर ही गृहाध्यक्ष दम्पति को भोजन करने की आज्ञा है। धर्मशास्त्रों की इस व्यवस्था के नियमों को पढ़ते हुए सुस्पष्ट यह भान होने लगता है, कि हिन्दू धर्म में केवल मौज मजा उड़ाने के लिए ही किसी व्यक्ति को विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। जो, न केवल सब आश्रमों के ही पालन पोषण का भार उठाने को प्रतिज्ञाबद्ध हो किन्तु 'आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त' समस्त विश्व को परितृप्त करने के लिये अपने ऊपर दायित्व ले सके, वही व्यक्ति समावर्तन संस्कार की दीक्षा पा सकने का अधिकारी समझा जा सकता है।

यद्यपि बौद्ध शासन काल से ही अन्यान्य वैदिक प्रथाओं की भांति उक्त प्रथा भी बहुत शिथिल पड़ने लगी थी, परन्तु तब भी आद्य शंकराचार्य श्री रामानुजाचार्य आदि धर्माचार्यों के प्रबल परिश्रम से यथा कथञ्चित् सुरक्षित रह पाई थी। गत सहस्राब्दी से तो अहिन्दू शासन के कारण राजसत्ता के नियन्त्रण बिना प्रायः नाम शेष ही रह गई है।

बलिवैश्वदेव का संक्षिप्त संस्करण

बलिवैश्वदेव के जटिल विधान का सुगम संक्षिप्त संस्करण पञ्चग्रासी है, जो जैसे तैसे भी धर्म रक्षण किये जाने के सद् विचार से यथाशासन प्रचरित हुआ है। बलिवैश्वदेव मे जहां मण्डल बनाकर अमुक २ दिशा मे अमुक २ देवता के नाम से अमुक २ संख्याक ग्रास रक्खे जाते थे, वहां 'पञ्चग्रासी' में केवल पांच ग्रास और वे भी एक ही साधारण स्थान में रखने से शास्त्र विधान का रक्षण हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के समय में ही बलिवैश्वदेव का स्थान पञ्चग्रासी ने ग्रहण कर लिया था। तभी तो रामचन्द्र जी की बारात की जोनार का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने—'पञ्च कवलि करि जेमन लागे'—लिखा है।

बलिवैश्वदेव में समस्त ब्राह्माण्ड के प्राणियों को परितृप्त करने के लिये प्रत्याहार सिद्धान्त से काम लिया गया था। यह तो सभी जानते हैं कि कोई व्यक्ति अपने चार मुट्ठी भर भोजन में से अनन्त प्राणियों को साक्षात् खिलाकर परितृप्त नहीं कर सकता और नांही अनेक जीवों को, चिड़िया घरको छोड़कर अन्यत्र कहीं इकट्ठा किया जा सकता है। तथापि महर्षियों ने वैदिक दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से इस कठिनाई को सुगम बनाने के निमित्त प्रत्येक वर्ग के सर्वोत्तम और सर्वाधम जीवों को चुनकर विश्वपूजा का आदर्श उपस्थित किया था, जैसे मनुष्यों में सर्वोत्तम वेदपाठी ब्राह्मण हो सकता है और सर्वाधम श्वपाक चाण्डाल हो सकता है। पशुओं में सर्वोत्तम गौ और सर्वाधम कुत्ता, पक्षियों में गरुड़ और काक,—इस प्रकार उक्त सब जीवों को यथा योग्य ग्रास दिया जाता है। जैसे कोई भारत का सम्मान करने के निमित्त यदि यहां

के किसी एक प्रतिनिधि का भी सम्मान करे तो वह समस्त देश का सम्मान समझा जाता है, ठीक यह व्यवस्था वैश्वदेव विधि में प्रस्तुत है। पञ्चग्रासी में केवल पांच ग्रास निकालने का भी यही तात्पर्य है। वेद मे यत्र तत्र 'पञ्चजन' शब्द का बहुत प्रयोग आता है। भाष्यकारों ने,—देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य और गन्धर्व, तथा चार वर्ण पांचवां निषाद्, एवं उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज और मनसिज, इस प्रकार से विभिन्न अर्थ करके समस्त चराचर को पांच भागों विभक्त किया है। लोक में भी समस्त मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था का नाम भी 'पंचायत' और 'पंचों में परमेश्वर' ये दोनों कहावतें प्रसिद्ध है

दरिद्रनारायण संस्करण

त्रिकालज्ञ महर्षि आज के युग से सर्वथा सुपरिचित थे। यह तो केवल हमसे अल्पज्ञ प्राणी ही 'कि भविष्यति' के विषय में किंकर्तव्य विमूढ हैं। परन्तु अपनी 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा जिन्होंने हस्तामलक की भांति भूत भविष्यत् वर्तमान का अनुसन्धान किया हो, वे महात्मा तो काल की व्यवहारिक अनेकता मे भी पारमार्थिक एकता के साक्षात् दर्शन करते हैं। जैसे बहुत बार अनुभव करने के कारण मध्याह्नकालीन सूर्य के प्रखर तेज की विद्यमानता में भी सांयकालीन घोर अन्धकार की अनिवार्यता को प्रत्यक्ष देखते हैं और ग्रीष्मकालीन उष्णता की विद्यमानता में भी शिशिरकालीन शीतता की अनिवार्यता को नहीं भूलते, ठीक इसी प्रकार त्रिकाल-दर्शी महर्षियों ने विभिन्न युगों के तारतम्य को जानकर पहिले से ही तत्कालीन युग धर्मों का प्रतिपादन किया है। सो आज के इस भयङ्कर युग में जब कि प्रत्येक प्राणी को तुल तुलकर चन्द तोला

अन्न मिलता हो पांच की कौन कहे—एक ग्रास भी किसी दूसरे को देना मानो मृत्यु को निमन्त्रण देना जान पड़ता है—तब पञ्चग्रासी कौन कर सकेगा ? इसलिये बलिवैश्वदेव के अतीव संक्षिप्त दरिद्र नारायण सस्करण का आविष्कार हुआ है, जिसे हम भक्तों की भाषा में ठाकुर जी को भोग लगाना कह सकते हैं।

सब जानते हैं, कि ठाकुर जी को भोग लगाने में कौड़ी पाई का खर्च नहीं होता, घर में रूखा सूखा जो भी भोजन बना हो उसे आधे सेकिन्ड में भगवदर्पण कर देना—आर्थिक दृष्टि से कोई महंगा सौदा नहीं है। एक बार जब एक महाशय ने हमसे पूछा कि क्या ठाकुर जी खाते हैं ?—तो हमने उत्तर दिया, कि यह प्रश्न तो उल्टा मुझे आपसे पूछना चाहिये; क्योंकि वेद शास्त्र की आज्ञा है कि भोग लगाना चाहिये, परन्तु आप भोग लगाने में सौ आनाकानी करते हैं। तब मैं आपसे पूछ सकता हूं कि क्या ठाकुर जी खाते हैं' ? अर्थात् तुम जो सामने रक्खे भोजन को केवल आधा मिनट आंख बन्द करके ईश्वर समर्पण करते हुवे घबड़ाते हो क्या तुम्हें खतरा है, कि ठाकुर जी इसे खा जायेंगे ? सो यदि किसी नास्तिक को पूरा भरोसा है, कि ठाकुर जी नहीं खाते तब तो भोग लगाने में उसे कुछ भी खतरा नहीं होना चाहिए। निश्चिन्त होकर आंख बन्द करके 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' कहते हुये, पंचविध हत्या का प्रायश्चित्त करना चहिये।

भोजन के समय पालनीय नियम

अनेक शास्त्रों का मथन करने पर जो भोजन करने के समय अवश्य पालनीय नियम मिलते हैं—हम पाठकों के ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये उन्हें यहां अंकित करते है—'आचारादर्श' ग्रन्थ

में उक्त महर्षियों के नाम से ये प्रमाण उद्धृत हुए हैं यथाः—

(क) न वेष्टितशिराश्चापि नासन्दीकृतभाजनः ।
नैकवस्त्रो दुष्टमध्ये सोपानत्कः सपादुकः ॥
न चर्म्मोपरि संस्थश्च चर्म्मवेष्टितपार्श्ववान् ।
ग्रासलेशं न चाश्नीयात् पीतशेषं पिबेन्न तु ॥
शाकं मूलंफलेच्वादि दन्तच्छेदैर्न भक्षयेत् ।
सञ्चयेन्नान्नमन्नेन विक्षिप्तं पात्रसंस्थितम् ।
बहूनां भुञ्जतां मध्ये न चाश्नीयात्त्वरान्वितः ॥

(ख) न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत (मनु)

(ग) न नावि भुञ्जीत (आपस्तम्ब)

(घ) एकवस्त्रो न भुञ्जीत कपाठमपधाय च । (देवल)

(ङ) खट्वारूढो न भुञ्जीत (यम)

(च) यस्तु पाणितले भुङ्क्ते यस्तु फूत्कारसंयुतम् ।
प्रसृतांगुलिभिर्यश्च तस्य गोमांसवच्च तत् ॥ (ब्रह्म पुराण)

(छ) न भुञ्जीताऽघृतं नित्यं सर्पिराहुरघापहम् । (देवल)

(ज) नोच्छिष्टो घृतमादद्यात् (विष्णु)

(झ) करे कार्पासके चैव पाषाणे ताम्रभाजने ।
बटार्कश्वत्थपत्रेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
पलाशपद्मनीचूतकदलीहेमराजते ।
मधुपत्रेषु भोक्तव्यं ग्रासमेकं तु गोफलं ॥ (शिष्टस्मृति)

अर्थात्—(क) शिर ढांपकर भोजन न करे। कुर्सी पर थाल रखकर न खाये। एक मात्र वस्त्र पहिने और दुष्ट लोगों के सामने भोजन न करे। मृगादि के चर्म पर बैठकर भोजन करे। जूता, चप्पल, खड़ाऊं पहिनकर भोजन न करे। चमड़े पर बैठकर और चमड़े—(पतलून की पेटी, तस्मे, घड़ी की चैन) द्वारा आवेष्टित भोजन न करें। किसी पदार्थ को दांतों से कुतर कर पुन. न खाए। एक बार होठों से लगाकर पिये हुवे पानी के अवशिष्ट भाग को पुन न पीए। शाक, मूल, फल, गन्ना आदि दांतों से काटकर न खाए। थाली में बिखरा भात आदि भोजन पूरी रोटी के साथ इकट्ठा न करे। पंक्ति भोजन में सबके खाने रहने पर स्वयं झटपट खाने का प्रयत्न न करे। (ख) फूटे बर्तन में न खाए। (ग) नांव में भोजन न करे। [लम्बी यात्रा में अनेक कमरों वाले—महाजलयान =स्टीमर इसका अपवाद है।] (घ) केवल एक वस्त्र पहिने और किवाड=पड़दा बिना बन्द किये भोजन न करे। (ङ) चारपाई= खाट पर बैठकर भोजन न करे। (च) खुली हथेली पर रखकर जोर जोर से सड़प्पे मारकर=फू २ करते हुये और अंगुलियें फैलाकर भोजन न करे। (छ) बिना घृत भोजन न करे, क्योंकि घृत ही भोजन के अनेक पापों का विनाशक है। (ज) उच्छिष्ट=झूठे पदार्थ में घृत नहीं डालना। (झ) हाथ पर, कपड़े पर, पत्थर और तांबे के बर्तन में, बट, अर्क, अश्वत्थ=बड़, आक, पीपल के पत्तों से बने दौने और पत्तलों पर नहीं खाना चाहिये। पलाश= ढाक, पद्मिनी=कमल, आम और केले से बनी पत्तल पर, सोने और चांदी के बर्तनों में तथा महुवे के पत्ते पर भोजन करना लाभप्रद है।

नियमों का स्पष्टीकरण

उपर्युक्त नियमों पर ध्यान देने से यह भली प्रकार समझ में आ सकता है कि त्रिकाल दर्शी महर्षियों ने कितनी गहराई तक भोजन समस्या पर विचार किया है। शिर पर कपड़ा बांधकर भोजन करने से शरीरस्थ ऊष्मा जो कि भोजन के समय समस्त मानवपिंड में व्याप्त होने के कारण जागृत हो जाता है--बाहर नहीं निकल पाता इससे बुद्धि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। (सैनिक प्रवृत्ति वाले पुरुष जो कि स्वयं ननु नच न कर के सेनापति की आज्ञानुसार ही अपना कर्तव्य पालन करते हैं वे इसके अपवाद कहे जा सकते हैं। सिख सम्प्रदाय भी इसी कोटि में परिगणित है। इसीलिये खालसा हर समय तैयार रहता है।)

कुर्सी आदि पर बैठकर भोजन इसलिये निषिद्ध है कि उन पर बैठ कर भोजन करते हुये पांव नीचे लटकाने पड़ते हैं अर्थात्--आसन बांधकर नहीं बैठा जा सकता इससे नाभि से सम्बद्ध अधोभाग की सब धमनियें तनी रहने के कारण पाचनक्रिया पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, तभी तो पाश्चात्य लोगों को और उनके मानस पुत्र कुछ भारतीयों को भोजन के साथ सोडे आदि पाचकपेयों की आवश्यकता पड़ती है। प्राचीनकालीन उत्तरीय वस्त्र की भांति आज के सभ्य भी रुमाल अनिवार्य मानते हैं, अन्यथा भोजन के समय छींक आने पर किंवा श्वासनलिका में भोजन जलांश के सम्पर्क से खखरी=अत्थू--हो जाने पर भारतीय तो शायद अगत्या धोती के छोर से यथाकथंचित् निर्वाह भी करले परन्तु मिस्टर अपटूडेट मिश्र को तो आड़े वक्त पर नाक पोंछने के लिये पतलून काम न दे सकेगी। अतः पर्णा=साफा=अंगोछा आवश्यक है।

दुनिया भर के मल, मूत्र, थूक सिणक में सने तलों वाले बूट, चप्पल, खड़ाऊ पहिनकर भोजन करना मानो संसार भर के रोगों को अपने घर में निमन्त्रित करना है। चमड़ा वैसे भी दुर्गन्धपूर्ण परमाणुओं से बनी एक अपवित्र वस्तु है? फिर उसका भोजन के समय सम्पर्क कहां की सभ्यता है? आजकल दुर्भाग्यवश हाथ में बन्धी रिस्टवाच की चैन कलाई पर बन्धे २ भोजन करने का, या परसने का प्रचार बहुत बढ़ रहा है। उन्हें यह मालूम नहीं कि ये नर्म चमड़े--'गोसल्ला' से तैयार किये जाते हैं। गोसल्ला का तात्पर्य है, कि सगर्भा गाय के पेट के बच्चे को जन्म से पूर्व ही विष आदि के इन्जैक्शन से मार दिया जाता है। केवल गोसल्ला चर्म विदेशों को भेजने के लिये भारत में लाखों गोवत्स प्रति वर्ष मारे जाते हैं, इनका पाप ऐसे चमड़े को व्यवहार में लाने वाले लोगों को ही लगता है, यदि मण्डी में ऐसी वस्तुओं की खपत न हो तो फिर यह अत्याचार अपने आपही खत्म हो जाए। अतः भोजन के समय चमड़े का सर्वविध सम्पर्क सर्वथा वर्जनीय है।

एक ग्रास को दांतों से कुतर कर उसे पुनः २ खाना वर्जित है, क्योंकि आज के नए परीक्षणों से भी यह सिद्ध हो गया है, कि एक बार मुंह से संस्पृष्ट वस्तु के साथ जो मुखान्तवर्ती पानी का संयोग हो जाता है, यदि उसे तत्काल खुर्दबीन=स्वल्प वीक्षण यन्त्र से देखा जाय तो उसमें अगणित कीट संसक्त हुवे दीख पड़ेंगे। पुनः उसी ग्रास के खाने पर या पीत शेष जल के पीने पर वे विकृत अवस्था में उदर में जाकर कई प्रकार के संक्रामक रोगों की उत्पत्ति के हेतु बन सकते हैं। दांतों के साथ गाजर, मूली आदि कड़ी चीजों का काटना दांतों का स्थान च्युत करने का कारण बन जाता है—यह बात सभी भुक्तभोगी जान सकते हैं।

कढ़ी शाक आदि अम्लतायुक्त पदार्थों को रोटी किंवा पूड़ी कचौड़ी के टुकड़ों के साथ थाली में इधर से उधर घसीटना ठीक नहीं, क्यों कि पात्र में स्वभावत: लगे जंग को टुकड़ों से चिपकाकर पेट में डालने से कई बार तबियत मचलाने लगती है; यह एक प्रकार का विष ही होता है, जो अधिक मात्रा में पेट में जाने पर वमन=कै तक करा डालता है।

भोजन में तीन व्यक्ति कण्टक माने गए हैं। 'आदि-कण्टक'—जो देर में पहुँचे और प्रतीक्षा में अन्य लोगों को पीड़ित करे। 'मध्य-कण्टक'—जो पानी का पात्र लुढकादे, रायते का शिकोरा ठुकरा दे, बुरी तरह से सड़प्पे मारकर साथियों को ग्लान करदे इत्यादि। 'अन्त्य कण्टक'—जो स्वयं झटपट पूरा भोजन करके अन्यों के मुंह की ओर ताकता हुआ दृष्टि दोष लगाने को उद्यत हो, अथवा सबके तृप्त होजाने पर भी पंक्ति भरमे अकेला खाता ही रहे, जिसकी प्रतीक्षा में अन्य सब तंग होने लगें। सो यहां अन्त्य कण्टक का का उल्लेख किया गया है। फूटे बर्तन में भोजन करने से कई भद्र पुरुषों की अंगुली टूटे किनारे में उलझकर घायल हो जाती हैं। कइयों का घृत चू जाता है। नाव में भोजन करने से अन्यान्य यात्रियों के अतिरिक्त गरीब मल्लाह भी तो मुंह की ओर हीन दीन दृष्टि से बार २ ताकता रहेगा, जिससे दृष्टिदोष की पूरी सम्भावना है। कटिवस्त्र के अतिरिक्त दूसरे वस्त्र की आवश्यकता का उल्लेख किया जा चुका है। दृष्टिदोष निवृत्त्यर्थ किवाड़ बन्द करना किंवा पद्दा लगाना आवश्यक है। चारपाई पर भोजन करना इसलिये वर्जित है कि प्रत्येक घर गृहस्थ के यहां अवश्य ही समय २ पर बाल बच्चे उस पर मल मूत्र का परित्याग कर देते हैं; उसे चाहे कितना भी प्रक्षालन क्यों न किया जाए, तथापि रस्सियोंकी सन्धियों में मल

का रह जाना अनिवार्य है। साथ ही भोजन द्रव्य, खीर कढ़ी शाक सब्जी आदि भी परसते हुये किंवा खाते हुये भी हाथ से छूटकर गिर जाने अनिवार्य हैं, रात में सोते हुए पुनः वही पदार्थ अपने ही बिस्तर किंवा शरीरमें न चिपकेंगे इसकी गारन्टी कौन कर सकता है।

नंगी हथेली पर रखकर वस्तु खाने में निश्चित ही बांयें हाथ की हथेली को पात्र बनाया जाएगा और दायें से खाया जाएगा, ऐसी स्थिति में मलद्वार को स्वच्छ बनाने में प्रयोग होने वाले हाथ का मुंह से सयुक्त होना अनेक रोगों का कारण बन सकता है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार नाभि से ऊपरी भाग में दायें हाथ का और नाभि से नीचे वाले भाग में बायें हाथ का उपयोग होना चाहिये जिससे स्वास्थ्य सुरक्षित रहे। ऊंचे स्वर में फू फू करते हुये सड़प्पे मारकर खाने से साथियों को बड़ी ग्लानि होती है, फिर स्वभाव पड़ जाने पर सर्वत्र ही वह व्यक्ति वैसा ही करता है, ससुराल में ऐसे व्यक्तियों का उपहास होते हमने स्वयं अनुभव किया है। अंगुली फैलाकर खाने से भी तरल वस्तु टपकती रहती है जिससे सब कुछ छींटम छींट हो जाता है, अतः इसका निषेध है।

निश्चित ही घृत भोजन के अनेक दुर्गुणों को दूर कर देता है। वेद में 'आयुर्वै घृतम्' के अनुसार घी को साक्षात् आयु ही माना है। शुष्क अन्न अनुपात में भी अधिक खाना पड़ता है, इस लिये घृत भोजन का अनिवार्य अङ्ग है। उच्छिष्ट वस्तु में, घृत जैसे रत्न का सम्पर्क करना किसी ब्राह्मण को बलात कीचड़में ढकेलने के बराबर है, शुद्ध में ही घृत मिलाकर लेना चाहिये। पत्थर उच्छिष्ट हो जाने पर धोने मात्र से शुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह भी एक पार्थिव द्रव्य ही है, ताम्रपात्र में जल के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जल्दी विकृत हो जाते हैं। बड़ आक पीपल के पत्ते

का खाद्य पदार्थों से संपृक्त होना स्वास्थ्यके लिये हानिप्रद है, क्योंकि ये सब दूध वाले वृक्ष हैं। ढाक कमल केला आदि स्वभावतः विशुद्ध हैं। इनके ऊपर प्रकृति ने ऐसी पालिश की है कि कोई पदार्थ इनसे विलिप्त नहीं हो सकता। सोना चांदी तैजस पदार्थ हैं; अतः इनका सम्पर्क अन्न को और भी विशुद्ध कर देता है। इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में आवश्यक बहुत से नियम प्रकट किये गये हैं जो धर्म शास्त्रों मे देखे जा सकते हैं। विधिवत् भोजन करने का परिणाम आयुष्य वृद्धि है।

भोजन के नियम पालन से आयुष्य वृद्धि

यह बात कोई भी प्रतिपक्षी स्वीकार कर सकता है, कि आज भी भोजन की जो मर्यादा वैष्णवों में—उनमें भी खासकर श्री सम्प्रदाय में प्रचलित है, यह शास्त्रोक्त आदर्श के सर्वाधिक निकट है, क्योंकि पीछे हमने भोजन के जो प्रधान चार नियम प्रकट किये हैं, वे उक्त सम्प्रदाय में अभी तक अक्षुण्ण चले आते हैं। भोजन को भगवत्सेवा समझना, अभक्ष्य भक्षण से दूर रहना दृष्टिदोष से बचने का विशेष ध्यान रखना और भगवान् को अर्पण करके तत्प्रसादरूपेण ही उसे स्वीकार करना,—उक्त नियमों के पालन का प्रत्यक्ष फल श्री सम्प्रदाय के समुद्धारक यतिवर्य श्री रामानुजाचार्य महाराज के जीवन चरित्र में समुपलब्ध हो सकता है। आपही एक मात्र ऐसे धर्माचार्य हुये हैं, जिन्होंने कि कांची से काशमीर तक श्री सम्प्रदाय की विजय वैजयन्ती फरांते हुये और प्रस्थानत्रयी पर अखण्ड भाष्य रचकर जहां शारीरिक और मानसिक उभयविध परिश्रम सहन में क्षमता की पराकाष्ठा कर दिखाई, वहां इस कलिकाल में भी १२० वर्ष की पूर्णायु भोगकर

स्वेच्छा से वैकुण्ठ को प्रस्थान किया। उक्त प्रघट्ट के लेखन में किसी सम्प्रदाय विशेष की प्रशंसा करना मात्र हमें अभीष्ट नहीं, किन्तु अन्यान्य सभी लोग भोजन सम्बन्धी नियमों का आग्रह पूर्वक पालन करते हुए दीर्घायु बन सकें यही हमारा अभिप्राय है।

कितनी बार चबाकर खाना चाहिए ?

आज यह प्रश्न बड़ा ही जटिल बना हुआ है कि भोजन ग्रास को कितनी बार चबाकर खाना चाहिये ? आज पाश्चात्य डाक्टरों की प्रायः सम्मति है और उनके अन्ध विश्वासी पाश्चात्य शिक्षा दीक्षित भारतीय भी यह कहा करते हैं कि कम से कम बत्तीस बार ग्रास को खूब चबा चबाकर खाना चाहिये। परन्तु अन्धेरे में चांद-मारी करने वाले इन महाशयों से यदि पूछा जाए, कि यदि खीर मोहन भोग किंवा मक्खन खाना हो तो वह चबाने की तो वस्तु नहीं है, क्या उसे भी बत्तीस बार चबाना चाहिये ? या उसे बैरङ्ग कार्ड लिफाफे की भांति तत्काल लेटर बक्स में डाल लेना चाहिये ? अथवा और कुछ उछल कूद मचानी चाहिये ? इसलिये ३२ बार चबाने या खूब चबाने की वे लोग कोई ऐसी कसौटी नहीं बतला सकते जिससे कि 'खूब' का पता चल सके, या ३२ का समन्वय बैठ सके। आज मानवसमाज वेदोक्त प्राकृतिक नियमों से कितनी दूर चला गया है—यह बात हमारी नीचे लिखी पंक्तियों से भली प्रकार समझ में आ सकेगी।

भगवान ने मानवपिंड में मूत्रेन्द्रिय और जिह्वा में रसानुभूति की सर्वाधिक योग्यता स्थिर की है, इसीलिये लोग प्रायः शिश्नोदर परायण बने हुए हैं, परन्तु वस्तुतः भोजन और मैथुन के बाद जो ग्लानि अनुभव होती है—उसकी विद्यमानता में (यदि उक्त दोनों

इन्द्रियों में यह रसास्वादन की योग्यता न होती तो) कोई भी मनुष्य पुनः भक्षण और मैथुन में प्रवृत्त न होता। और इस तरह संसार का प्रवाह ही परिसमाप्त हो जाता। परन्तु भगवान् को संसार की सत्ता अभीष्ट है, इसलिये जिह्वालौल्य और शिश्नसुख स्पर्श के लालच से ही मनुष्य इस असुखोदर्क मंहगे सौदे के खरीदने में पुन पुन प्रवृत्त होता है। यहा कामशास्त्र का प्रसङ्ग नहीं है अतः शिश्नरस की शास्त्रीय विवेचना-यदि ग्रन्थ के कलेवर ने आज्ञा दी तो यथा स्थान अन्यत्र की जाएगी। परन्तु भोजन प्रसङ्ग में जिह्वा की इतिकर्तव्यता का विश्लेषण करना परमावश्यक है। पाठक यह न भूले होंगे कि हम यहां इस प्रश्न का प्राकृतिक उत्तर देने चले हैं कि 'भोजन ग्रास कितनी बार चबा चबाकर खाना चाहिये ?

सनातनधर्म का सीधा उत्तर है कि प्रत्येक भक्ष्य भोज्य लेह्य और चोष्य पदार्थ को तब तक कण्ठ के नीचे नहीं उतरने देना चाहिये, जब तक कि उसमें रस विद्यमान रहे। पाठक यह अटपटा उत्तर सुनकर चौंके नहीं, किन्तु जरा धैर्यपूर्वक पूरी बात सुनें। शास्त्र में लिखा है कि—

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।
सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥

(बृहन्निघण्टुरत्नाकर ५)

अर्थात्—जाठराग्नि रूप भगवान् साक्षात ईश्वर है जो खाए हुए अन्न को पकाता है। वह रस को ग्रहण करता हुआ भी सूक्ष्म होने के कारण नहीं दीख पड़ता।

हमने भोजन विज्ञान के 'शास्त्रीय स्वरूप' में यह प्रकट किया है कि अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और भोक्ता महेश्वरदेव है,

इसका रहस्य यह है कि अन्न में सृजन शक्ति है, उसके रस में रक्षातत्व निहित है तथा उसके परिपाक में मृत्युञ्जयत्व की विद्यमानता है। जो व्यक्ति शरीर का निर्माण, उसका संरक्षण और प्रतिगामी तत्वों का निराकरण चाहता है, उसे भोजन खाते समय तीन बातों का विशेष ध्यान रखना होगा। प्रथम बात—कण्ठ से नीचे मीठा खट्टा चरपरा सभी रस समान हैं, अतः प्रत्येक पदार्थ अन्दर रस रहित होकर ही पहुंचना चाहिए। क्योंकि नाभि मण्डल में विराजमान श्री ब्रह्मा का यही भाग नियत है। यदि आमाशय में रसों का सांकर्य होगा तो मेदा खराब हो जाएगा। मल दुर्गन्धी से युक्त हो जाएगा। अतः ब्रह्मा का भाग ही ब्रह्मा को मिलना चाहिये; तभी रस रक्त आदि का सृजन सुचारु रूप से हो सकेगा।

दूसरी बात-रस विष्णु है अर्थात् विष्णुका भाग है। विष्णु इधर अन्न में—'रसो वै सः' के अनुसार व्याप्त है, उधर जिह्वा में रसना रूप से विराजमान है। जिह्वाप्रवर्ती रसना ही एक मात्र समस्त रसों का आस्वादन करने वाली है, अतः भोजन का रस भाग रसना को ही प्राप्त होना चाहिये। इसलिये जब तक मुख में डाला पेड़ा मीठा मालूम पड़े तब तक उसे मुख में ही पपोलते रहना चाहिये। इसी प्रकार जब तक नमकीन पदार्थ सलोना मालूम पड़े तब तक उसे अन्दर न ढकेलना चाहिये। नए अभ्यासी को कुछ दिन तक ऐसा करने में अड़चन अवश्य मालूम पड़ेगी, क्योंकि सतत अभ्यास के कारण प्रत्येक पदार्थ जल्दी ही गले के नीचे बैठना चाहेगा; परन्तु इस कुप्रवृत्ति से 'शनैः शनैरुपरमेत्' के अनुसार युद्ध करके यावत् रसास्वादन ग्रास को मुख में ही रखने का प्रयत्न करना चाहिये। यह तो प्रथम दिन ही विधिवत् भोक्ता को अनुभव होने लगेगा कि थोड़ी ही देर में मुख में पड़े ग्रास का खट्टा मिठा चरपरा

स्वाद क्रमशः विलीन हो रहा है और अन्त में खीर मोहन भोग दहीबड़ा सभी वस्तु फीकी बन गई हैं। क्योंकि हमारी जिह्वा से निकलने वाला एक स्वाभाविक जल ज्यों २ भोजन ग्रास में मिलता जाएगा त्यों त्यों भोजन का रस विलीन होने लगेगा। इस जिह्वा से निकले पानी को आजकल के वैज्ञानिक चूने का रस बतलाते हैं। जिह्वा निस्सृत उक्त जल के सम्पर्क से क्लिन्न, भोजन-ग्रास जहां आमाशय में पहुँचकर शीघ्र जीर्ण हो जाने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वहां रस रक्त आदि का क्रमिक विकास भी सुगमता से हो जाता है। इसलिये विष्णु का सूक्ष्म भाग रस, रसना को ही मिलना चाहिये।

तीसरी बात--परिपाक क्रिया की स्वाभाविकता के कारण जीवननाशक प्रतिगामी तत्वों का जो क्षय होगा वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः इसका यहां निरूपण करना अनावश्यक है यदि पूर्वोक्त दोनों बातों पर पूरा ध्यान दिया गया तो भोक्ता साक्षात् 'मृत्युञ्जय' देव अपने आपही बन जायेंगे। इसलिए भोजन कितना चबाकर खाना चाहिये इसकी कसौटी भगवान् ने केवल जिह्वा नियत की है। सो जो पदार्थ जब तक रस युक्त रहे तब तक उसे चबाना या पपोलना चाहिये, फिर यह चाहे कड़ी कचौड़ी हो और चाहे नर्म खीर हो। इसलिये शास्त्र का स्पष्ट आदेश है कि—

अन्नग्रासो रदैः पिष्टो लालाक्लिन्नोऽन्ननाडिकाम्।
श्वासरन्ध्रं नसोरन्ध्रं चातिक्रम्य मुखं विशेत्॥

(बृहन्निघण्टु रत्नाकर १०)

अर्थात्—अन्नग्रास दांतों द्वारा भली प्रकार कुचला हुआ ही श्वास और नाक के छेद को छोड़कर मुख छिद्र में जाना चाहिये।

भोग लगाने से क्या लाभ ?

पूछा जा सकता है कि और तो सब बातें ठीक हो सकती हैं, परन्तु भगवान् को भोग लगाने से क्या लाभ ?—यह समझ में नहीं आता।

भोग लगाने से जो आध्यात्मिक लाभ होते हैं, उनका कुछ संकेत 'उपासना विज्ञान' प्रघट्ट में किया जायगा परन्तु मनोविज्ञान के अनुसार भोग लगाने से क्या लाभ होता है यह यहां प्रकट करना अनावश्यक न होगा।

भोजन काण्ड का आधुनिक दृश्य

सभी सज्जनों ने यह अनुभव किया होगा, कि जब हम भोजन करने के लिये बैठते हैं, तो थाली परसते ही परसते ज्यों २ तत्तत् पदार्थों की अतीव रमणीय गन्ध चारों ओर फैलती है और उन पदार्थों के नेत्राभिराम स्वरूप को हम देखते हैं, तो मनीराम अन्दर ही अन्दर बल्लियों उछलने लगता है। मन में एक उत्कण्ठा सी, त्वरा सी, अभिरुचि सी तरङ्गित होने लगती है। यदि भोजन करने वाला ज्वरार्त्त नहीं हैं, स्वस्थ है तो मन की यही उत्कण्ठा तत्काल जिह्वा पर आकर नृत्य करने लगती है। रह रह कर जीभ में पानी भर आता है और ऐसी इच्छा होती है कि परसने वाले सज्जन कदाचित् सहस्रबाहु न सही, भगवती अन्न पूर्णा की भांति अष्टभुज या चतुर्भुज ही होते तो काली रोटी, धौली दाल और उस पर 'तस्मै भस्मै स्वाहा' सब काम एक बार ही निबट जाता। कदाचित् पंक्ति भोजन हो तो दश बीस भोक्ताओं में भोजनशाला के निकट सर्व प्रथम बैठे सज्जन के सामने स्वभावतः प्रथम परसा जाएगा, फिर क्रमशः आगे २ का नम्बर आएगा। बस ! अब सामने बिल्कुल

सामने—जीभ से केवल डेढ़ फुट दूर रक्खे भोजन की घ्राणतर्पण गन्ध, उसका दर्शनीयतम रूप, भोक्ता को बेचैन करने लगता है। परसने वालों की तत्परतापूर्ण दौड़ धूप मे भी दीर्घसूत्रता—सुस्ती का आभास होने लगता है। कभी २ तो मन ही मन ऐसे शिष्टाचार पर भी क्रोध आने लगता है, जो कि पूरी पंक्ति के पास भोजन न परसे जाने तक व्यर्थ ही सीने पर सांप लौटने के लिये बाध्य करता है।

जिनके सामने परसा जा चुका हो वे लोग अब टकटकी बांधे आतिथेय = यजमान = मेजबान के होठों की ओर उत्कण्ठित दृष्टि से ताकने लगते हैं, कि कब वह —'हां! महाराज!' कहकर मोदकों से मल्लयुद्ध करने की आज्ञा देते हैं। ऐसे समय में यदि निरा निठल्ला मूसलचन्द, निमन्त्रित सज्जनों की तालिका निकालकर सम्भाल करने की भूल कर बैठे और चिल्ला उठे कि 'सुनो सुनो! अभी पावा जी तो आये ही नहीं।' बस फिर क्या था? सभी भोक्ताओं की प्रवृद्ध आशाओं पर तत्काल तुषारपात हो जाता है। तब कोई भोक्ता यजमान को जली कटी सुनाने लगते हैं तो कोई अभी तक न पहुंचने वाले श्रीमान् जी पर झींखते हैं। कभी २ तो ऐसे समय में यह काण्ड इतना उग्ररूप धारण कर लेता है, कि या तो समुपस्थित भोक्ता इस असह्य वेदना के प्रतिकार के लिये बगावत का झण्डा ऊंचा करके यजमान के परमिट की प्रतीक्षा बिना किये स्वयं ही—'लड्डू चैव जलेबियां प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम्'—करने पर उतारू हो जाते हैं और यजमान को अगत्या 'मौनं स्वीकृति लक्षणम्' की शरण लेनी पड़ती है। या दुर्भाग्यवश कभी यजमान की उग्र मुख मुद्रा देखकर 'एज-ए-प्रोटैस्ट' वाक आउट करने की नौबत आ जाती है।

हां ! तो पाठक इस अन्तिम रङ्ग में भङ्ग काण्ड का ध्यान छोड़कर परसी पत्तल के सुखद स्वप्न में तल्लीन हो जाएं। आतिथेय तार स्वर से बोल उठा—श्रीमन्नारायण भगवान की जय। भोक्ता तो पहिले से ही तैयार बैठे थे, जैसे कई बार दौड़ भाग के खेल में व्यायाम शिक्षक के एक दो ..कहते ही ..तीन की प्रतीक्षा किये बिना, कई जल्दबाज विद्यार्थी 'नकार' उच्चारण से पूर्व ही दो डग भर चुका करते हैं, ठीक इसी प्रकार यहां भी यजमान द्वारा बडे अन्दाज के साथ 'उपदेशार्थे वृत्तिं कुर्य्याद् विलम्बिताम्' के अनुसार दूरस्थ भोक्ताओं के लिये प्लुत करके 'श्रीमन्नाराय ण की ३ बोला, कि 'जय' कहने से पहिले ही पहिले यजमान के कान में चपाचप की ध्वनि पहुंच चुकती है। इतनी देर से मुंह में भरा पानी छूटकर बड़ी त्वरा के साथ आवश्यकता से अधिक बडे २ ग्रास, बिना ही पूरी तरह चबाए पत्तल से हाथ में, हाथ से मुंह में, और मुंह से पेट में, दबादब समाने लगते हैं। इस समय जीभ को रसास्वादन की आज्ञा नहीं होती, उसका तो केवल इतना ही काम रहता है कि कुली की भांति जो बडल मुंह में पड़े उसे तत्काल स्टोर में ढकेलदे। लगभग एक चौथाई पेट भरने तक यही क्रम चालू रहता है, यह सब काण्ड इतनी लाघवता से सम्पन्न होता है, कि तुलसीदास जी के शब्दों में—'लेत उठावत खैंचत गाढ़े—लखा न केहि सब देखत ठाढ़े'—के अनुसार केवल रिक्तप्रायः पत्तल को देखकर ही समझ में आ सकता है, कि गाड़ी कितना मार्ग लांघ चुकी है।

सावधान !

सम्भव है पाठक हमारी इस द्रौपदी के चीर के समान लम्बा-

यमान भोजन भूमिका को पढ़कर यह अनुभव करने लगें कि आखिर हम मुक्त भोगियों के सामने इस सर्वविदित दैनन्दिनी घटना का औपन्यासिक भाषा में वर्णन करने का क्या तात्पर्य ? परन्तु हम सावधान कर देना चाहते है, कि मानव समाज की इस नित्य की भयङ्कर भूल से किस प्रकार उत्तरोत्तर जगत् के स्वास्थ्य और आयु का स्तर गिरता जा रहा है—यह उपेक्षा का विषय नहीं है।

निःसन्देह उपर्युक्त रीति से खाए गए भोजन द्वारा जहां स्वास्थ्य का सत्यानाश होता है वहां अन्न का भी अपव्यय होता है। यह समस्या एक दृष्टान्त द्वारा जल्दी समझ में आ सकती है। कल्पना करो किसी न्यायालय में अनेक नौकर काम देते हैं। दो सेवक हैं, जो नित्य प्रातःकाल कमरे को झाड़ते बुहारते हैं। गर्मी में छिड़काव करते हैं और सर्दी में अंगीठी दागते हैं। एक पंखा कुली है, एक गुलदस्ते सजाने वाला माली है, एक आवाज लगाने वाला चपड़ासी है, एक लेखक है—ये सब लोग यथा योग्य अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। यहां एक विचारपति न्यायाध्यक्ष है जिसे अमुक घटना को सुनकर और समझकर अन्तिम निर्णय पर केवल हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। न्यायालय का काम ठीक चल रहा है। अब कदाचित् सब नौकर हड़ताल पर हों, न्यायपति को ही झाड़ू बुहारी से लेकर हस्ताक्षर पर्यन्त सब काम अपने हाथ से करना पड़े तो वह कितने दिन कार्य कर सकता है। आखीर उसे भी त्यागपत्र देना ही होगा। इसी प्रकार हमारे भोजन कार्यालय में भी अनेक सेवक हैं और उन सबके पृथक् २ कर्तव्य हैं, नेत्र भोजन का रूप देखते हैं—मक्खी बाल कोई हेय वस्तु नहीं है यह परीक्षण करते हैं। हाथ उष्णता की जांच करता है—अत्युष्ण तो नहीं है ?

[चम्मच से खाने वाले कई आधुनिक बाबू शीघ्रतावश गरमागरम मोहन भोग मुंह में डालने की भूलकर बैठते हैं, जब मुंह दग्ध होने लगता है, तो उसे लज्जा के मारे बाहिर तो उगलते नहीं झट अन्दर गुटक जाते हैं। जिससे गला मेदा सब भस्म होते चले जाते है] दांत उसको खूब कुचल कुचलकर पिट्ठी बना देते हैं। जिह्वा खूब रसास्वादन लेकर उसमें अधिकाधिक स्वनिसृत जल मिला देती है। इस प्रकार यदि सब सेवकों द्वारा पूरी तरह अपना अपना कर्तव्य पालन करने के बाद भोजन का ग्रास आमाशय में पहुंचता है, तो जाठराग्नि रूप न्यायाधीश को केवल हस्ताक्षर रूप पाचन मात्र करना पड़ता है, परन्तु यदि इसके विपरीत दांतों से उनका काम न लेकर और जीभ से उसका काम न लेकर ग्रास को शीघ्रता से आमाशय में ठूंस दिया जाता है, तो बिना चबाए मोटे २ अन्नांश के नानाविध रसों से भरपूर होने के कारण जाठराग्नि को ही सब कृत्य करने के लिये विवश होना पड़ता है। जैसे जज कुली का काम नहीं कर सकता, इसीप्रकार जाठराग्नि दांतों का काम नहीं कर सकती।

रस और अन्न का विश्लेषण करना जीभ का काम है, जैसे कागजों को छांटकर फायल करना रीडर का काम होता है। यदि यह भी न्यायाधीश को ही करना पड़े तो परिणाम यह होता है कि इधर यथावत् काम न लेने से जहां दांत समय से पूर्व अस्तीफा दे देते हैं, वहां कुछ दिन के बाद जाठराग्नि भी त्याग पत्र दे बैठती है। इस तरह सभी स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। यह प्रत्यक्ष है, कि हम अपने जिस अङ्ग से उसका काम न लेंगे वह शिथिल पड़ जाएगा। उस अङ्ग का रक्त प्रवाह बन्द हो जाएगा और जिस अङ्ग से आवश्यकता से अधिक काम लेंगे वह भी जवाब दे जाएगा।

तपश्चर्या के नाम पर हाथ न हिलाने वाले कई हठी भिखमंगों का जडप्राय: सूखा हुआ हाथ हमने आंखों देखा है, और स्टुडियों की चकाचौंध के आधिक्य से समय से पूर्व अन्धे हुये सिनेमा के नट और नटियें सचमुच रात में टिमटिमाने वाले स्टार=तारे ही बने सर्वत्र देखे जा सकते हैं। इसलिये इस प्रकार की स्वाभाविक भूल से बचने का एक मात्र उपाय ठाकुर जी को भोग लगाना है।

भोजन सामने आते ही ज्योंही मनमें उत्कण्ठा का भयङ्कर तूफान उत्पन्न होने लगा, कि भोक्ता उसके पनपने से पूर्व ही दोनों आंखें बन्द करके यथोचित मन्त्र श्लोक पढ़ते हुये भगवद् ध्यान में तल्लीन हो गया। मनकी वृत्ति भोजन की जिघृत्ता के तुच्छ लाभ में न रह कर भगवान् के लोकोत्तर प्रेमरस में डुबकियें लेने लगी। त्वरा और जल्दबाजी को निष्ठा का डण्डा दिखाकर रफूचक्कर कर दिया। यदि पंक्ति भोजन हुआ तो 'सहस्रशीर्षा' के लम्बेपाठ द्वारा जहां तत्रस्थ वातावरण को सत्वगुणमय बनाने का पुनीत कृत्य सम्पन्न हुआ, वहां समस्त पंक्ति के सामने सम्यक् सब पदार्थ पहुंचने का भी अपेक्षित समय मिल गया। इसी बीच यदि देर से आने वाले सज्जन भी आ पहुंचे, तो सब काम ही ठीक ठाक हो गया, कोई अवांछित काण्ड होने की सम्भावना नहीं रही। अब जब कि दूध के उफान सरीखा मन का वह उमड़ता हुआ तूफान शान्त हो गया, तो अब बड़े २ ग्रास बिना चबाए, बिना रसास्वादन लिये अन्दर ठूंसने की प्रवृत्ति अपने आप बन्द हो गई। जब यथावत् पूर्वोक्त रीति से अन्न का सूक्ष्मांश रस रसना को प्राप्त हुआ और स्थूलांश आमाशय में पहुँचा, तो इस रस विश्लेषणात्मक कृत्य के कारण जीभ थोड़े ही भोजन में परितृप्त हो गई, अन्न थोड़ा खाया गया परन्तु तृप्ति खूब हुई।

उक्त विधि से भोजन करने के लाभ।

हमने जो शास्त्रानुमोदित भोजनविधि लिखी है तदनुसार भोजन करने से भोक्ता को निम्नलिखित मुख्य लाभ होंगे .—

(१) भोजन को अन्न रूपी ब्रह्म की उपासना समझने से यह भी एक धार्मिक अनुष्ठान बन जाएगा, जिससे मनुष्य की धार्मिक निष्ठा को प्रोत्साहन मिलेगा।

(२) भोग लगाकर भगवत् प्रसाद समझकर खाने से किसी भी अभक्ष्य अपेय वस्तु का स्वभावतः सम्पर्क न हो सकेगा और अन्न मे अपना ममत्व भी न रहेगा।

(३) सबको देकर खाने की क्रियात्मक भावना से जमींदार और किसान, मिल मालिक और मजदूर, पूंजीपति और शोषित-- इत्यादि जितनी भी आज की समस्याएं हैं, वे समाहित हो जाएगी।

(४) आज की प्रचलित भोजन व्यवस्था के अनुसार बहुत अन्न पेट में चले जाने पर भी रसास्वादन के लिये तबियत मचलती रह जाती है। जब पेट ही अट जाता है उस विवशता का नाम—'धाप गया' 'रज गया' 'तृप्त हो गया' रक्खा गया है, परन्तु जीभ का भाग जीभ को देने की दशा में पेट कम अटेगा और तृप्ति अधिक मिलेगी। अर्थात् थोड़े भोजन में ही तबियत भर जाएगी। इससे कम खर्च और अधिक लाभ होगा।

(५) यदि संसार की सरकारें उक्त एक ही नियम के पालन के लिये अपने २ देश के लोगों को प्रोत्साहित करें तो आज की खाद्य समस्या, राशन समस्या और कन्ट्रोल समस्याएं हल हो जायेंगी।

(६) विधिवत् भोजन करने का यह परिणाम होगा, कि बैल भैंस बकरी आदि जीवों की भांति मनुष्य के मल में भी दुर्गन्ध न होगी

क्योंकि दुर्गन्ध का कारण यही है, कि हम आवश्यकता से अधिक खा जाते हैं और उसमें विभिन्न रसों का अपच अंश अवशिष्ट रहता है। गाय आदि जीव रोमन्थ = जुगाली करके अपने भक्ष्य को जिह्वा के पानी से परिप्लुत कर लेते हैं, परन्तु मनुष्य को यह कार्य खाते समय ही कर लेना चाहिए। इससे 'गन्धासवो मूत्रपुरीषमल्पम्' के अनुसार योगियों की भांति भोक्ता का पसीना और मल तक दुर्गन्धित नहीं रहता।

(७) यदि उपर्युक्त रीति से भोजन किया जाएगा तो समस्त इन्द्रियें अन्त तक सुरक्षित रहेंगी और स्वस्थतापूर्वक पूर्णायु की प्राप्त होगी।

पेट पर हाथ फेरना क्यों ?

भोजनानन्तर बांया हाथ पेटके ऊपर दक्षिणावर्त फेरते हुये नीचे लिखा श्लोक बोलना चाहिये :—

अगस्त्यं कुम्भकर्णञ्च, शनिं च बडवानलम् ।
आहारपरिपाकार्थं, स्मरेद् भीमं च पञ्चमम् ॥

अर्थात्--अढाई चुल्लू में समुद्रपान कर जाने वाले महर्षि अगस्त्य, बहुभोजी महाकाय कुम्भकरण, जिनकी एक नजर पड़ने से ही अकाल पड़ जाता है ऐसे शनिदेव, सब कुछ भस्मसात् कर देने वाली वाडवाग्नि, और अतीव तीव्र जाठराग्नि वाले भीमसेन इन पांच व्यक्तियों का भोजन के सम्यक् परिपाक के लिये स्मरण करना चाहिये।

कहना न होगा कि 'भावनावाद' के अनुसार प्रबल जाठराग्नि सम्पन्न, व्यक्तियों का स्मरण मनुष्य के मन में भोजनोपरान्त होने वाली स्वाभाविक ग्लानि को दूर करने में सहायक होगा। साथ ही

पेट पर दक्षिणावर्त रीति से फेरा हुआ बांया हाथ—दांई कोखवर्ती आमाशय में पहुंचे हुये सद्यः मुक्त भोजन को वामकुक्षीवर्ती मलाशय की ओर गतिशील बनाने में सहायक होगा।

जलार्द्र अंगुली आंखों पर क्यों लगायें ?

प्रक्षालित गीली करांगुलियों द्वारा नेत्रों को छूने का प्रत्यक्ष लाभ तो तत्काल ही अनुभव होने लगता है। भोजन के समय मुख यन्त्र के व्यापार संलग्न रहने के कारण स्वभावतः समस्त शरीर में और खासकर नेत्रों में जो ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है, वह जल की क्लिन्नता से दूर हो जाती है। इसीलिये भोजन के आरम्भ में और अन्त में हाथ, पांव, मुख आदि अङ्गों को धोकर 'पञ्चार्द्रो भक्षयेन्नित्यम्' इस शास्त्रविधि का पालन किया जाता है।

चंक्रमण = चहल कदमी क्यों ?

भोजनोपरान्त थोड़ी देर शनैः २ घूमना चाहिये, शास्त्र में लिखा है कि—'भुक्त्वा शतपदं गच्छेत्' अर्थात्—भोजन खाकर कम से कम सौ कदम चलना चाहिये ऐसा क्यों करना चाहिये ?—इसका सहेतुक विवेचन भी सुस्पष्ट लिखा है। यथा—

भुक्त्वोपविशतः स्थौल्यं, शयानस्य रुजस्तथा।
आयुश्चंक्रममाणस्य, मृत्युर्धावति धावतः॥

अर्थात्—भोजन करते ही बैठ जाने से शरीर स्थूल हो जाता है, तत्काल सो जाने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। चहल कदमी करने से आयुः बढ़ती है और भागने से मौत का खतरा बढ़ता है।

गद्दे तकियों पर बैठने वाले अनेक मारवाड़ी सेठ कार्याधिक्य

वशात् भोजनोपरान्त तत्काल पुनः बैठ जाने के कारण प्रथम नियम का उलङ्घन करके भीमकाय तुन्दिल प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। तत्काल सो जाने पर अजीर्ण रोग हो जाता है--यह बात कोई भी शङ्काशील महाशय स्वयं किसी दिन अनुभव करके देख सकता है।

कहना न होगा कि--'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मला.' के अनुसार समस्त रोगों का मूल, एक मात्र मलों का प्रकोप है जो अजीर्ण से ही उत्पन्न होता है। भोजन खाकर भागने से तत्काल दर्द होने लगता है, क्योंकि सद्यो-भुक्त भोजन जब तक आमाशय में ठीक २ सुव्यवस्थित न हो जाए तब तक भाग दौड़ करना खतरे से खाली नहीं। इसलिये उक्त तीनों चेष्टायें न करके शनैः२ चंक्रमण करना ही आयुवर्द्धक है यह कोई भी समझदार प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

बांई करवट से लेटना क्यों ?

चंक्रमण के बाद भोक्ता को बांई करवट से लेटना चाहिए--ऐसी शास्त्र की आज्ञा है यथा--

वामपार्श्वेण संविशेत् ।

अर्थात्--भोजनानन्तर बांई करवट से विश्राम करना चाहिये।

हम प्राणायाम प्रकरण मे यह प्रकट कर आये हैं, कि मनुष्य के शरीर में नासिकाके जो दो छेद हैं, उनमें क्रमशः बांया चांद है और दांया सूर्य है। अपने २ नामानुसार यह दोनों शरीर में ठण्डक और गर्मी का तारतम्य ठीक रखते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है, कि बांई करवट से लेटने पर दांया=सूर्य स्वर चलने लगता है और इसी प्रकार दांई करवट से लेटने पर स्वभावतः बांये=चन्द्र स्वर से श्वास आने लगता है। सो भोजन के परि-

पाक के लिये जाठराग्नि का उद्दीप्त होना अभिप्रेत है। इसलिये बांई करवट लेटने से ही यह लाभ हो सकता है।

दो काम करने और दो नहीं करने

शास्त्र में मल मूत्र त्याग और स्नान भोजन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य विशेष नियम लिखे हैं यथा—

सन्देहेऽपि द्वयं कुर्य्यात्सन्देहेऽपि द्वयं नहि।
कुर्य्यान्मूत्रपुरीषे द्वे, न कुर्य्यात्स्नान-भोजने॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—स्वास्थ्य में गड़बड़ी होने के समय 'करूं या न करूं'—ऐसा सन्देह हो जाने पर दो काम करने चाहियें और दो काम न करने चाहियें, यदि मल मूत्र के त्याग की शङ्का हो तो वे दोनों त्याग ही देने चाहियें। परन्तु यदि स्नान और भोजन में विचिकित्सा हो तो ये दोनों काम नहीं करने चाहियें।

कारण सुस्पष्ट है, कि आलस्यवश मल मूत्र के निरोध में तो रोग उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है, परन्तु त्यागने की दशा में शौच की शङ्का न होने की अवस्था में भी किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं। ठीक इसी प्रकार अजीर्ण खट्टी डकार और अरुचि होने पर भी जिह्वालौल्यवश पुनरपि भोजन ठूंस लेने की दशा में तथा सर्दी जुकाम ज्वरांश होने पर भी स्नान करने की अवस्था में तो रोग बढ़ने की सम्भावना है, न करने पर कोई खतरा नहीं।

दिन में क्यों न सोएं ?

ग्रीष्म ऋतु के अपवाद को छोड़कर अन्य किसी भी ऋतु में

बाल वृद्ध रुग्ण और रात भर जगे पुरुष के अतिरिक्त सर्व साधारण को दिन में नहीं सोना चाहिये—यह शास्त्राज्ञा है यथा—

दिवास्वापं च वर्जयेत्।

अर्थात्—दिन मे नहीं सोना चाहिये।

यह क्यों? इसकी हेतु परम्परा बतलाते हुये आयुर्वेद में लिखा है, कि दिन मे सोने से 'प्रतिश्याय' जुकाम हो जाता है, वह चिरस्थायी होकर 'कास' रोग को उत्पन्न करता है, कास ही आगे चलकर 'श्वास' रूप मे परिणत हो जाता है। श्वास के प्राबल्य से फुप्फुस=फेफड़े खराब हो जाने पर 'क्षय' तपेदिक—T. B जैसा असाध्य रोग बन जाता है। कहना न होगा, कि इस हेतु परम्परा का सभी मुक्त भोगी व्यक्ति समर्थन कर सकते हैं। जीवन में अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं जब कि दिन मे—आलस्यवशात् सो जाने पर प्रतिश्याय का आक्रमण हो जाता है। शास्त्र मर्य्यादा का उल्लङ्घन करने वाले व्यक्ति को प्रकृति कभी क्षमा नहीं कर सकती। कारणान्तर से, दण्ड मिलने मे देर हो सकती है, परन्तु न मिले ऐसा अन्धेर नहीं।

अन्यान्य उपयोगी नियम

प्रतिदिन पालन करने योग्य कुछ आवश्यक नियमों का भी हम यहां दिग्दर्शन कराते हैं, जिससे सर्व साधारण को लाभ हो।

लांग खोलकर मूत्र त्याग करे

अमुक्त्वा पश्चिमां कक्षां मूत्रयेद्योद्विजाधमः।
रेतोधाः पितरस्तस्य, तन्मूत्रक्लेशपूरिताः॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्— धोती की पीठ वाली कच्छा=लांग को बिना खोले जो पतित द्विज मूत्र त्याग करता है, उसके रेतोधा =पितृ पिता महादि—पितर उस मूत्र के क्लेश से पीड़ित होते हैं।

कहना न होगा, कि लांग बन्धे २ लघु शङ्का करते हुये कई बार हाथ से संभाली हुई धोती छूटकर मूत्र में सन जाती है, फिर लघुशङ्कानन्तर जल से लिंग धोते हुए तो दोनों ही हाथ स्वतन्त्र रहने की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, ऐसी दशा में यदि लांग खोलकर पहिले से ही कटि प्रदेश में सुडी हुई न होगी तो हाथ से जल लेते समय वह अवश्य ही छोडनी पड़ेगी। इसलिये पतलून पैजामा-धारी बाबुओं की भांति सदैव मूत्र में भीगा सड़ियल वस्त्र पहिनना भारतीय संस्कृति में ग्राह्य नहीं। वैदिकमतानुयायी लोग तो 'कटिनिर्मुक्त कार्पास' वस्त्र को बिना धोये पुनः कभी नहीं पहिनते, इसीलिये हमारे यहां अधोवस्त्र का नाम ही 'धौत'=धोती रक्खा गया है जिसका अक्षरार्थ ही 'निरन्तर धुला धुलाया पहिनने योग्य वस्त्र' है।

लांग बांधना

दुर्भाग्यवश यवनों के संसर्ग से पवित्र भारत में भी मार्गभ्रष्ट कुछ हिन्दू युवक बिना लांग की धोती बांधना, जिसे म्लेच्छ भाषा में 'तहमद' या तम्बा भी कहते हैं—फैशन समझने लगे हैं। खासकर जब से पश्चिमी पंजाब से उपद्रुत हिन्दू लाखों की संख्या में यत्र तत्र सर्वत्र भारत के नगर ग्रामों में पहुंचे हैं' तो वे भावों में कट्टर हिन्दू होते हुए भी वेश भूषा में तम्बा बांधे खरे खासे शेख का स्वांग बनाए फिरते हैं, जिसका दुष्प्रभाव इधर के लोगों पर भी पड़े बिना नहीं रहा। इसलिये कुछ दिन से मुक्त कच्छ हिन्दुओं की

बाद भी आ गई है। परन्तु शास्त्र में आर्य पुरुष के लिए 'मुक्त कच्छ' रहना महा पाप बतलाया है यथा--

मुक्तकच्छस्तु यो विप्रो भूमौ चलति पादतः ।
पदे पदे सुरापान-फलं भवति निश्चितम् ॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात—जो विप्र = 'हिन्दूमात्र का उपलक्षण' मुक्तकच्छ = धोती की लांग बिना बांधे पैदल घूमता है, उसे कदम २ पर मद्य-पान का पाप लगता है।

उपर्युक्त आदेश में 'भयानक' वचन द्वारा इस अनार्य संस्कृति सूचक पाप से बचने की आज्ञा दी गई है। कहना न होगा कि प्रायः मद्यपान करने वाले लोग ही उन्मत्त होकर इस प्रकार कपडे संभालने की सुध बुध भुलाकर घूमा करते हैं। इसलिये प्रत्येक आस्तिक हिन्दू को इस अहिन्दू वेश से बचे रहना चाहिये। इस आदर्श के पालन में दक्षिण भारत और खासकर बगाल के सज्जनों का आचरण अनुकरणीय है—जो पचकच्छा धोती बांधकर हिन्दू सस्कृति की परम्परागत पुरातन मर्यादा का अभी तक अक्षुण्ण पालन करते आ रहे हैं।

रात्रि-चर्या

प्रातः काल की भांति सायंकाल भी सन्ध्या वन्दन भगवदाराधन आदि कृत्य बिधिवत् करने चाहियें। एक ही प्रहर के अन्दर दो बार भोजन नहीं करना चाहिये' ऐसी शास्त्राज्ञा है यथा--

याममध्ये न भोक्तव्यम्।

आयुर्वेद शास्त्र में एक बार खाकर उसके जीर्ण होने से पूर्व पुनः पुनः खाने से 'अध्यशून' रोग की उत्पत्ति बतलाई है।

सायंकाल चार काम न करेः—

चत्वारि खलु कार्य्याणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम्॥

(मनुसंहिता)

अर्थात्—सन्ध्याकाल मे भोजन, स्त्रीसङ्ग, नींद और वेद पाठ ये चार काम नहीं करने चाहिये।

सोते समय दक्षिण दिशा को पांव क्यों नहीं?

'दक्षिण दिशा की ओर पांव करके नहीं सोना चाहिये।'— शास्त्र की इस विज्ञानपूर्ण आज्ञा को हिन्दू घरों की ठेठ देहातों में रहने वाली अपठित देवियां भी खूब जानती हैं और वे चाहे इसका कुछ हेतु न जानती हों तब भी धर्म के नाम पर तत्परतापूर्वक उसका पालन करती हैं। परन्तु इसका हेतु क्या है यहां इसी का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते है।

कुछ समय पूर्व आधुनिक वैज्ञानिक सूर्यको स्थिर और पृथ्वी को उसके चारों ओर घूमने वाला पिण्ड मानते थे, परन्तु नई खोज करने पर विदित हुआ कि सूर्य भी अपनी ही केन्द्र कील पर घूमता है—अतः मध्य युग में यही माना जाता रहा-परन्तु अब साम्प्रतिक अभिनव खोज में यह सिद्ध हो गया कि सूर्य न केवल अपनी केन्द्र कील पर ही घूम रहा है, किन्तु वह समस्त सौर जगत् को अपने साथ लिये किसी अनिश्चित दिशा की ओर भी प्रगतिशील

है। इसलिये हमारा यह ब्रह्माण्ड प्रतिक्षण नये से नये आकाश में पहुँचता रहता है। कहना न होगा कि साध्य कोटि के ये सब अनुभव अधूरे हैं। अभी वास्तविक सिद्धान्त तक पहुंचने में उन्हें कुछ काल और लगेगा परन्तु क्रान्तदर्शी ऋषियों ने वेद की दूरबीन से उक्त सब विषयों को 'इदमित्थं' देखकर बतलाया है, कि जैसे समस्त सौर जगत् सूर्य के आकर्षण पर सुस्थिर है, ठीक इसी प्रकार सूर्य भी 'ध्रुव' नामक महापिण्ड के आकर्षण पर आधारित है

वर्तमान वैज्ञानिक आज सूर्य की जिस कक्षा को 'अनिश्चित दिशा' मान रहे हैं हमारे यहां वह अनन्त सहस्राब्दियों पूर्व सुनिश्चित हो चुकी है—ऐसी स्थिति में यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, कि सौर जगत् ध्रुव के आकर्षण पर अवलम्बित है, सो वह 'ध्रुव' उत्तर दिशा में स्थित है। यदि कोई व्यक्ति दक्षिण दिशा को पांव और ध्रुव की ओर मस्तक करके सोएगा तो ध्रुवाकर्षण के तारतम्य से पेट में पड़ा भोजन,- पचने पर जिसका अनुपयोगी अंश मल के रूप में नीचे की ओर जाना आवश्यक है— वह ऊपर की ओर गतिशील हो जाएगा। इससे हृदय, फुफ्फुस और मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। जिस—मस्तिष्क को निर्मल और स्वस्थ बनाने के लिये शयन किया जा रहा है उसपर उल्टा प्रभाव पड़ेगा। इसलिए दक्षिण दिशा की ओर पांव करके नहीं सोना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम उत्तर दिशा की ओर पांव करके सोयेंगे तो जहां भोजन परिपाक ठीक होगा, वहां ध्रुव के आकर्षण से दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर प्रगतिशील विद्युत् प्रवाह हमारे मस्तक से प्रविष्ट होकर पांवों के रास्ते से निकलेगा। इस तरह प्रातः जगने पर मस्तिष्क विशुद्ध वैद्युत् परमाणुओं से परिपूर्ण एवं सर्वथा स्वस्थ हो जाएगा।

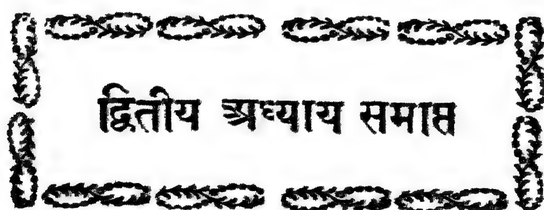
ध्रुव के आकर्षण को प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये किसी

भी जलपोत=स्टीमर में लगे कम्पास की चुम्बक की सुई को देखा जा सकता है—जो सदैव ध्रुव की ओर ही रहती है और अनन्त जल राशि में चलते हुये जहाजों को ठीक २ दिशा बतलाती है। कुछ घड़ियों की चेन में भी छोटा सा ध्रुव दर्शक यन्त्र रहता है, उसे बांयें दांयें यथेच्छ घुमाने पर भी सुई की नोक सदैव ध्रुवकी ओर ही रहती है। इसलिये दक्षिण की ओर पांव करके नहीं सोना चाहिये।

शयनकाल से सम्बन्धित 'गर्भाधान' आदि कृत्यों को संस्कार प्रकरण में निरूपण किया जाएगा इस प्रकार प्रातः जागरण से लेकर शयन पर्यन्त—समस्त अहोरात्रचर्या का सांगोपाङ्ग वर्णन करते हुये, हम इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं।



मानव-दानव-तिर्यञ्चोमें, सम है भूख नींद भय काम।
विधि विधान के बल से विष भी, बन जाता है जीवनधाम॥
अहोरात्र में किस बिधि से ? क्यों करे ? शास्त्र सम्मत सत्कर्म।
हेतु-वाद से सिद्ध किया, अध्याय दूसरे में यह मर्म॥



द्वितीय अध्याय समाप्त

जीवनचर्याध्यायः

(तीसरा अध्याय)

गर्भाधानान्यास-पर्य्यन्ताः संस्काराः सौर्ध्वदैहिकाः ।
ते सर्वेऽत्र निरुप्यन्ते हेतुवादपरिष्कृताः ॥

दिनचर्या की भांति हमारी जीवनचर्या भी नियमित है । जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के मानव जीवन का गम्भीर अध्ययन करके महर्षियों ने उसके पूर्ण विकाश—ऐसा विकाश जिसमें शरीर मन. आत्मा तीनों की सर्वाङ्गीण उन्नति हो—के लिये जिन सुनहले नियमों की रचना की है, उन्हें हम जीवनचर्या के नियम कहते हैं। संस्कार इसी जीवन चर्या के प्रमुख अंग हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं संस्कारों पर विचार करेंगे और दिखलायेंगे, कि दैनिक-चर्या की भांति हमारी जीवनचर्या की शास्त्र निर्दिष्ट यह सभी क्रियाएं कितनी वैज्ञानिक तथा अर्थपूर्ण हैं ।

संस्कार

संसार में दो प्रकार की वस्तुएं हैं एक प्राकृत, दूसरी संस्कृत । प्रकृति—आदि पुरुष की कार्यरूपाशक्ति—ही अखिल विश्व का

मूल है। सम्पूर्ण दृश्यादृश्य पदार्थ मानों इसी अबोध बालिका के स्वरचित खिलौने हैं, जिनसे वह प्रतिक्षण खेलती रहती है। मानव भी इसी का बनाया हुआ खिलौना है, परन्तु है यह कुछ विलक्षण प्रकार का खिलौना। यह विलक्षणता और कुछ नहीं, केवल मनुष्य की वह ज्ञानशक्ति है जिसके बल पर वह नितान्त परवश खिलौना मात्र होते हुये भी प्रकृति राज्य के प्रति विद्रोह करता है। प्रकृति की निर्माण की हुई वस्तुओं को उसी रूप में देखकर उसे प्रसन्नता नहीं होती किन्तु प्रत्येक वस्तु को काट छांटकर =संस्कृत--करके उसे वह अपने लिये उपयोगी बनाकर प्रसन्नता अनुभव करता है। संस्कार की यह प्रबल भावना उसकी दूसरी विलक्षणता है।

हां, तो प्रकृति ने जिनको जिस रूप में उत्पन्न किया है उसी रूप में वे वस्तुए प्राकृत कहलाती हैं और मनुष्य द्वारा काट छांट होकर परिष्कृत तथा संशोधित रूप में आ जाने पर उन्हें ही सस्कृत कहा जाता है। पर्वत उपत्यकाओं में कल कल करके स्वच्छन्द गति से प्रवाहित होने वाले झरने तथा सरिताए प्राकृत हैं और सिंचाई के लिये बनाई गई नहरें सस्कृत। प्रकृति ने अनेक प्रकार के अन्न, धान्य, फल मूलादि उत्पन्न किये हैं, मनुष्य उनको संस्कृत करके (कूट पीसकर, घृतादि में तलकर या अन्य विधि से) सुन्दर सुस्वादु मिष्टान्न का रूप दे देता है। प्रकृति ने कपास ऊन आदि की रचना की, किन्तु मनुष्य ने उसके विविध संस्कार करके जो दिव्य परिधान तैयार किये हैं, वे मनुष्य की संस्कारमयी भावना के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

आज का वैभव पूर्ण हरा भरा संसार, मनुष्य में विद्यमान इसी भावना का सुन्दर फल है। तात्पर्य यह कि—आज मानव, सभ्यता के जिस उच्च शिखर पर पहुंचा है उसका प्रमुख कारण यह संस्कार

मयी भावना ही है। यह भावना प्राकृत तथा ईश्वर प्रदत्त है। वैदिक षोडश संस्कार इसी भावना का विशुद्ध तथा परिमार्जित रूप हैं।

संस्कार कब से ?

संस्कारों का प्रारम्भ कब से हुआ ? इस विषय में कहा जा सकता है, कि मानव जाति के प्रारम्भ काल में ही मनुष्य की यह संस्कारमयी भावना व्यक्त रूप धारण कर चुकी होगी। ऐतिहासिकों का कथन है कि 'एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब यूरोप एशिया अमेरिका आदि सम्पूर्ण देशों में फैले हुये मनुष्यों के पूर्वज एक ही स्थान में रहते थे, उनका आपस में बड़ा प्रेम तथा भाई चारा था, वहीं से उन्होंने सभ्यता तथा संस्कृति का विकास प्रारम्भ किया और विभिन्न स्थानों की ओर फैलते गये'। यह विचार अधिकांश में सत्य प्रतीत होता है। और तब हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं, कि उस सभ्यता-संस्कृति-शिक्षा शून्य, क्रूर एवं हिंसक मानव-पशु को,--सभ्य, सुशिक्षित, तथा शान्ति-प्रिय मनुष्य बनाने में इन वैदिक संस्कारों का महत्वपूर्ण भाग रहा है; क्योंकि यह निश्चय है, कि एकत्र निवास करने वाली मानव जाति के मेधावी पूर्व पुरुषों=ऋषियों--ने ईश्वरीय ज्ञान स्वरूप वेदत्रयी के साक्षात्कार के साथ ही संस्कार प्रणाली का न केवल ज्ञान प्राप्त किया किन्तु उसे अपनाया भी। यह आदि मानव जाति, ब्रह्मा की सृष्टि वेदी * धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र से ज्यों २ इधर उधर फैली वह अपने साथ इन सस्कारों को — जो कि उस समय तक धार्मिक कृत्यों का

टिप्पणी:—'आदि सृष्टि कहां हुई ?' यह विवेचन हमारे 'पुराण-दिग्दर्शन' ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

अङ्ग बन चुके थे—भी अपने साथ लेती गई और आज हम देखते हैं, कि यद्यपि विशुद्ध रूप में नहीं किन्तु विकृत रूप में ही सही संस्कारों की यह परम्परा सर्वत्र मिलती है। हिन्दु, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, यहूदी, ईसाई आदि सभी जातियों में और भारत चीन जापान अरब मिश्र यूरोप आदि सभी देशों में जातकर्म नामकरण, विवाह, अन्त्येष्टि आदि मुख्य मुख्य संस्कार किसी न किसी रूप में अवश्य पाये जाते हैं। यद्यपि इनका विशुद्ध रूप तो वैदिक ज्ञान की उत्तराधिकारिणी आर्य जाति में ही देखने को मिलता है।

संस्कार की आवश्यकता

संस्कारों की सबसे अधिक आवश्यकता आज है। आज जब हम एक विश्व सघ की कल्पना कर रहे हैं—एक ऐसे संघ की जिसकी छाया में रहने वाले सब नागरिक समान होंगे कोई ऊंचा नीचा न होगा, तो ऐसे अवसर पर हमें उन संस्कारों को पुनर्जीवित करना होगा, जिनमें इस प्रकार की उदात्त तथा प्राञ्जल भावनाओं का विशेष स्थान है।

इस समय सर्वत्र मानवता की पुकार है। जाति, वर्ण, धर्म, परम्परा और सस्कृति आदि के पुरातन महत्व का स्थान मानवता ग्रहण कर रही है। वर्ग भेद की तथाकथित अशान्ति से उत्पीड़ित मनुष्य, आज केवल 'मानव' बनकर विश्व के सम्पूर्ण मनुष्यों से भाई चारा तथा एकता स्थापन करना चाहता है। यह शुभ लक्षण हैं। यदि हम सच्चे अर्थों में मनुष्य बन जाते हैं, तो आये दिन धर्म जाति और राष्ट्र की संकुचित परिधि के नाम पर होने वाली अमानवीय घटनायें समाप्त हो जायें। किन्तु इसके लिये एक बार फिर सनातन धर्म की शरण में आना होगा। शारीरिक तथा

आध्यात्मिक दृष्टि से परिपूर्ण उस सार्वभौम मानव की सृष्टि इन संस्कारों द्वारा ही होगी अन्यथा नहीं।

हमने पीछे कहा है, कि संस्कार सभी देशों और सभी जातियों में किसी न किसी रूप में सम्पन्न होते है, किन्तु एकता प्रेम तथा विश्व भ्रातृत्व का जो उच्च आदर्श हमें संस्कार पठित वैदिक मन्त्रों में देखने को मिलता है वह अन्यत्र नहीं।

वेदादि शास्त्रों में संस्कारों का बड़ा माहात्म्य प्रदर्शित किया है यहां तक, कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक अधिकार प्राप्त करने के लिये संस्कृत होना आवश्यक समझा गया है। द्विज माता पिता के शरीर से जन्म लेने के उपरान्त भी यदि बालक असंस्कृत हो तो वह द्विज नहीं कहला सकता। श्रुति ने संस्कार को जन्म के ही समान महत्व दिया है। 'द्विज' शब्द का अर्थ है जिसका दो बार जन्म हो। पहला मातृ-गर्भ से दूसरा संस्कार द्वारा। मानवजीवन का चरम लक्ष्य है—ब्रह्मत्व लाभ करना। इस लक्ष्य की ओर अग्रेसर होने वाले परमार्थ पथिक के लिये यह संस्कार एक स्फूर्तिप्रद पाथेय हैं—जिनके सम्बल से वह बिना भटके अपने मार्ग पर चला जाता है। मानव शरीर मानों एक चित्र है—जिसे कुशल कलाकार की तूलिका संस्कार रूपी अनेक रंगों से भरकर पूर्ण करती है। यदि वे न हों तो 'मानव' अधूरा है—केवल श्वासयुक्त एक पिण्ड मात्र। इसी लिये भगवान् अङ्गिरा ने कहा है—

चित्रं क्रमाद्यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

अर्थात्—जैसे अनेक प्रकार के रंगों को तूलिका द्वारा संयुक्त करके चित्र बन जाता है, इसी प्रकार विधिपूर्वक किए गए गर्भा

धानादि सस्कारों से यह शरीर भी ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

संस्कार क्यों ?

पीछे बतलाया गया है, कि 'संस्कार' मानव प्रकृति का स्वाभाविक अग है। किन्तु कैसे वह मानव प्रकृति का अंग बना इसके २ कारण हैं। प्रकृति से प्राप्त होने वाली प्रत्येक वस्तु हमारे लिये उसी रूप में उपयोगी नहीं होती; उसमें कोई दोष होता है जिसे दूर करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। उपयोगी बनाने के लिये उसमें कुछ गुणों का सन्निवेश करना पड़ता है तथा उसकी कमियों को दूर करना भी जरूरी होता है। शब्दान्तर में हम कह सकते हैं १-दोष मार्जन, २-गुणाधान, ३-हीनाङ्गपूर्ति, इन तीन उद्देश्यों के लिये हम प्रत्येक वस्तु का विविध प्रकार का सस्कार करते हैं। खान से निकले हुए स्वर्ण को ही लीजिए। सुन्दर मणि-रत्न-जटित मुकुट बनाने के लिये उसे उपरोक्त त्रिविध संस्कारों में से गुजरना पड़ता है। खान में से निकलने पर वह मिट्टी आदि से मिला हुआ मैला कुचैला धातु खण्डमात्र होता है। न उसमे चमक, न सुन्दर छवि। उसे भट्टी मे डालकर उसका दोष परिमार्जन होता है। अग्नि से उसका सम्पूर्ण मल दग्ध हो जाता है और एक दिव्य आभा तथा चमक से वह जगमगा उठता है। इसके अनन्तर स्वर्णकार अनेक प्रकार से घड़कर उसको मुकुट का रूप देता है। यह गुणाधान है। उसकी रही सही कमी को मणि रत्नादि से जटित करके पूरा कर दिया जाता है। इस प्रकार त्रिविध सस्कारों के सम्पन्न हो जाने पर वह स्वर्णखण्ड एक रत्न जटित राजमुकुट के रूप में परिणत हो जाता है।

दूसरा उदाहरण कमीज का लीजिये। प्रकृति ने कपास को

जन्म दिया है, किन्तु क्या वह उसी रूप में हमारे लिये उपयुक्त सिद्ध हो जाती है, नहीं। मनुष्य अनेक क्रियाओं द्वारा उसके दोषों को दूर कर उसे कपड़े का रूप देता है। तब दर्जी उस कपड़े को काट छांट कर कमीज के रूप में परिवर्तित कर देता है। बटन वगैरह से सयुक्त करके उसकी अन्तिम कमी पूर्ण की जाती है और वह एक अत्युपयोगी परिधान बन जाता है।

जब ससार की सभी वस्तुयें इन त्रिविध सस्कार द्वारा सम्पन्न होकर ही पूर्णता को प्राप्त होती हैं, तो मानव जैसा सर्व-श्रेष्ठ प्राणी माता पिता से गर्भ से, ही 'मनुष्य' रूप मे उत्पन्न हो' या उसे किसी संस्कार की आवश्यकता ही न हो यह बात नितान्त असम्भव है। इसलिये मनुष्य की जन्मजात इन कमियों को दूर करके सभ्यसमाज के लायक पूर्ण मनुष्य बनाने के लिये सस्कारों का होना अत्यावश्यक है। वैदिक संस्कारों के भी पूर्वोक्त तीन ही उद्देश्य हैं और तीन ही विभाग। गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन, आदि द्वारा गर्भवास-जन्य मलिनता आदि दोषों का परिमार्जन होता है। चूडाकर्म उपनयन आदि द्वारा मनुष्य में शिक्षा तथा चारित्रिक विकास का सृजन करके गुणाधान क्रिया निष्पन्न होती है और विवाहादि द्वारा हीनांगपूर्ति की जाती है। इसीलिये सस्कारों का वर्गीकरण करते हुये मनु जी ने लिखा है—

निषेकाद् बैजिकं चेनो गार्भिकञ्चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कार सिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम् ॥
गर्भाद् भवेच्च पुँसूते पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम्।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः ॥

गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति ।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ॥
नाम कर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः ।
सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धि भवेद् ध्रुवा ।
निष्क्रमादायुश्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः ।
अन्नाशनान्मातगर्भमलाशादपि शुध्यति ॥
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूड़ाकर्मफलं स्मृतम् ।
उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धिपूर्विका ॥
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धि ऋषिभिरीरिताः ।
पत्न्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः फलं स्फुटम् ॥
ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः ।
विवाहस्य फलं त्वेतत् व्याख्यातं परमर्षिभिः ॥

अर्थात्- गर्भाधान संस्कार से बीज तथा गर्भ सम्बन्धी सम्पूर्ण मलिनता नष्ट हो जाती है और क्षेत्र रूपी स्त्री का संस्कार भी हो जाता है। इस गर्भ से पुत्र ही उत्पन्न हो इस अभिप्राय से 'पुंसवन संस्कार' होता है। 'सीमन्तोनयन' का फल गर्भाधान संस्कार की भांति गर्भ की शुद्धि है। जातकर्म संस्कार द्वारा माता के खान पान सम्बन्धी समस्त दोष दूर किये जाते हैं। नामकरण संस्कार से आयु तथा तेज की वृद्धि और लोक व्यवहार में नाम प्रसिद्ध होने से अपना पृथक् अस्तित्व कायम होता है। निष्क्रमण संस्कार में शिशु को समन्त्रक जगत्प्राण भगवान् सूर्य का दर्शन कराया जाता है, जिससे आयु तथा लक्ष्मी की वृद्धि होती है। अन्न

प्राशन द्वारा मातृ गर्भ में मलिनता भक्षण से जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें शान्त किया जाता है। बल आयु तथा तेज की वृद्धि ही चूड़ाकर्म संस्कार का फल है। उपनयन से बालक 'द्विज' की श्रेणी में आ जाता है और उसे वेदाध्ययन का अधिकार मिल जाता है। विवाह के अनन्तर सपत्नीक अग्निहोत्रादि अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग लाभ होता है, और ब्राह्मादि उत्तम विवाह के फल से सुपुत्र उत्पन्न होकर जीवित पितरों की सेवा तथा मृत पितरों के लिये श्राद्ध तर्पणादि द्वारा उनका उद्धार करता है—यह सब विवाह संस्कार का फल है।

स्मृतिकारों ने प्रत्येक संस्कार का जो फल निर्देश किया है, उसकी वास्तविकता एवं वैज्ञानिकता पर हम अगली पंक्तियों में विचार करेंगे, किन्तु यहां इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा, कि संस्कारों के इस महत्व को भुलाकर ही हमने अधोगति को प्राप्त किया था और आज यदि हम वस्तुतः उन्नत होना चाहते हैं, तो हमें संस्कार प्रणाली को पुनर्जीवित करना होगा। भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न—राम, कृष्ण, वेदव्यास, बुद्ध और शङ्कराचार्य जैसे आदर्श पात्रों की सृष्टि उसी संस्कार परम्परा का फल था।

संस्कार कितने ?

उल्लिखित भूमिका के बाद हम इस विवेचन में प्रवृत्त होते हैं, कि संस्कारों की संख्या कितनी है। इस विषय में स्मृतिकारों के भिन्न २ मत पाये जाते हैं। किन्हीं स्मृतिकारों ने ४० संस्कार माने हैं, किन्हीं ने २५, और कुछ ने १६। महर्षि गोतम ने ४० संस्कार माने हैं और महर्षि अङ्गिरा ने २५। भगवान् वेदव्यास जी ने १६ संस्कारों को ही मान्यता दी है, यथा—

गर्भाधानं पुँसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तं स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशः स्मृताः ॥

अर्थात्—१-गर्भाधान, २-पुंसवन, ३-सीमन्तोन्नयन, ४-जातकर्म, ५-नामकरण, ६-निष्क्रमण, ७-अन्नप्राशन, ८-चूड़ाकर्म, ९-कर्णवेध, १०-यज्ञोपवीत, ११-वेदारम्भ, १२-केशान्त, १३-समावर्तन १४-विवाह, १५-आवसथ्याधान, १६-श्रौताधान—यह १६ संस्कार है।

मनुस्मृति में १३ ही संस्कारों का विधान है। उपरिलिखित संस्कारों में से पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, कर्णवेध, वेदारम्भ, आवसथ्याधान और श्रौताधान इन छः संस्कारों का मनुस्मृति में विधान नहीं है, किन्तु वानप्रस्थ सन्यास अन्त्येष्टि इन तीन नवीन संस्कारों का सन्निवेश है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में १-विवाह, २-गर्भालम्भन, ३-पुंसवन ४-सीमन्तोन्नयन, ५-जातकर्म, ६-नामकरण, ७-अन्नप्राशन, ८-चूड़ाकर्म, ९-उपनयन, १०-समावर्तन, ११-अन्त्येष्टि-इन ११ ही संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र में १२ संस्कारों का वर्णन है। आश्वलायन में वेदारम्भ और निष्क्रमण का उल्लेख नहीं था। पारस्कर गृह्यसूत्र में वह मिलता है। मनु के वानप्रस्थ सन्यास और अन्त्येष्टि इन तीन संस्कारों का पारस्कर गृह्यसूत्र में उल्लेख नहीं है।

इन तीनों को सम्मिलित कर देने पर यह संख्या १५ पर पहुंच जाती है।

मीमांसा दर्शन में कुछ हेर फेर से व्यासप्रोक्त सोलह संस्कारों का ही समर्थन उपलब्ध होता है। हम इन सबका यथा सम्भव समन्वय करके निम्नलिखित मुख्य १६ संस्कारों का ही इस अध्याय में विवेचन करेंगे। यथा—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, सन्यास, अन्त्येष्ठि।

संस्कार में अधिकारी विचार

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने रूप में पूर्ण और शिव है। मनुष्यों के हित के लिये ही उनका निर्माण हुआ है, किन्तु फिर भी संसार की सभी वस्तुओं को अच्छी या बुरी—इन दो श्रेणियों में विभक्त किया ही जाता है। यह विभाग पात्रापात्रमूलक ही हो सकता है। घी एक शक्तिप्रद पौष्टिक खाद्य है, किन्तु वह सभी प्रकार के मनुष्यों के लिये हितकर नहीं हो सकता। 'आयुर्वै घृतम्'—के अनुसार जो घृत सामान्यावस्था में मनुष्य को बल और शक्ति प्रदान करके दीर्घायु का कारण होता, अतिसार ज्वर तथा कास के रोगी के लिये वही घृत सद्यःमृत्यु का कारण बन जाता है। इसी प्रकार दही एक सुन्दर और स्वादिष्ट पदार्थ है, पदार्थ विज्ञान के अनुसार वह स्निग्ध, हृद्य एवं ओजप्रद है, किन्तु उसके यह गुण तभी तक हैं, जब तक वह कांसी कांच मिट्टी या पत्थर के किसी पात्र में रखा जाता है—तांबे या पीतल के बर्तन में पड़कर वह विकृत हो जाता है और यदि उसका सेवन किया जाय तो तुरन्त जी मचलाकर वमन हो जाना स्वाभाविक होगा।

तात्पर्य यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु के लिये पात्रापात्र का विचार है और अधिकारी भेद से ही उसकी व्यवस्था की गई है। शास्त्रकारों ने लोक की भांति वैदिक प्रक्रियाओं में भी इसी नियम का आदर किया है। यों तो सस्कारों में मनुष्य मात्र का अधिकार है क्योंकि उनका उद्देश्य—सर्वांग पूर्ण मानव सृष्टि—सभी मनुष्यों पर लागू होता है, किन्तु फिर भी महर्षियों ने अधिकारी भेद से एक व्यवस्था निश्चित की है। श्री याज्ञवल्क्य महर्षि ने लिखा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः।
शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विनामन्त्रेण संस्कृतः॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन द्विज वर्णों को गर्भाधान से श्मशान पर्यन्त सब संस्कार मन्त्रपूर्वक करने चाहियें और शूद्रों को विना मन्त्र।

भेद क्यों ?

कई लोग इस भेद को घृणा मूलक समझते हैं, किन्तु वास्तव में इसमें घृणा की गन्ध भी नहीं है अपितु यह तो कृपालु महर्षियों द्वारा शूद्रों के कार्य भार को देखकर एक विशेष रियायत दी गई है। द्विजों को जो फल समन्त्रक संस्कार करने पर प्राप्त होगा, वही फल शूद्रों को अमन्त्रक करने पर प्राप्त हो सकेगा। इसके अतिरिक्त असंस्कृतज्ञ होने के कारण वे मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण न कर सकेंगे और अशुद्ध मन्त्रोच्चारण करने पर 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' वाली कथा के अनुसार प्रतिकूल फल की ही सम्भावना रहती है। इसलिये भी शूद्रोंके लिये अमन्त्रक संस्कारोंका विधान है।

अधिकार या भार ?

वर्तमान युग में समस्त संघर्षों का एक मात्र मूल 'अधिकार' है, अमुक कहता है मुझे यज्ञोपवीत गले में डालने का अधिकार क्यों नहीं ? तो दूसरा चिल्लाता है मुझे वेद पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं ? तीसरा कहता है मुझे दण्ड धारण पूर्वक सन्यास आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार क्यों नहीं ?—धार्मिक जगत में जैसा यह 'अधिकार' का द्वन्द्व चल रहा है, ठीक इसी प्रकार आर्थिक जगत् में भी मजदूर और मिल मालिक में, किसान तथा भूमिधर में--विद्यार्थी और शिक्षक वर्ग में, शास्य एवं शासक में अन्ततोगत्वा पत्नी और पति में—गर्ज है कि आज अधिकार के नाम पर यत्र तत्र सर्वत्र अवाञ्छनीय देवासुर संग्राम मचा हुआ है। त्रिकालज्ञ महर्षियों ने अधिकारवाद को अनर्थ मूलक समझकर समाधि में अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा परम कारुणिक भगवान् के निश्वासभूत वेदों में कर्तव्यवाद के दर्शन किये। अधिकारवाद संघर्ष जन्य अनेक अनर्थों से उपप्लुत मानव समाज यदि आज अधिकारवाद की रट छोड़कर कर्तव्यवाद के दृष्टिकोण से समस्त उलझी हुई समस्याओं को समाहित करने के लिये उद्यत हो जाए तो संसार का चित्र ही बदल जाय।

यदि हम क्षणमात्र के लिये भी अधिकारवाद के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—तो 'कम परिश्रम अधिक लाभ' की स्वाभाविक मानव प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जो सर्व अनर्थों की मूल है। यह प्रवृत्ति जहां सामाजिक संगठन के लिये विघातक है वहां राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति में भी रोड़ा अटकाने वाली सिद्ध होती है। इसलिये आर्य शास्त्रों में समस्त कार्यकलाप का विभाजन

अधिकार के आधार पर नहीं, किन्तु कर्तव्य पालन के आधार पर किया गया है, जैसे वेद पढ़ने का ब्राह्मण को अधिकार नहीं, किन्तु उसके कन्धों पर यह भार है, कि वह भूखा रहकर भी वेद पढ़े। क्षत्रिय को रणभूमि में मर कटाने का अधिकार नहीं, किन्तु वह देश जाति धर्म की रक्षा के लिये शिर कटाये—यह उसके मस्तक पर ईश्वर निहित भार है। अधिकार और भार का विश्लेषण करते हुए यह बात समझ लेनी चाहिये, कि अधिकार के प्रयोग में अधिकारी स्वतन्त्र होता है परन्तु भार तो न चाहते हुये भी कर्तव्य वशात् धारण करना ही पडता है। यही कारण है, कि ब्राह्मण जाति ने सुदामा की भांति दारिद्र्य जीवन सहर्ष बिताते हुये भी आज के इस युग में भी वेदों की पठन प्राठन प्रणाली को अक्षुण्ण रखा है।

विगत दिनों में यह प्रत्यक्ष देखते हुये भी कि इङ्गलिश पढ़े लिखे डाक्टर, प्लीडर इञ्जनियर आदि मालामाल हो रहे हैं, लाखों संस्कृतज्ञ विद्वानों ने जान बूझकर अपने पुत्रों को भी अपनी तरह आर्थिक संकटमय जीवन बिताने के लिये केवल कर्तव्य पालन भार की दृष्टि से ही उस उपेक्षित मार्ग का पथिक बनाया। यवन शासनकालीन राजपूतों के वे केसरिया बाना पहनकर किए गए साके, केवल भार के आधार पर विभाजित कर्तव्य के कारण ही हुये हैं। इसलिये अनर्थकारी अधिकारवाद की दृष्टि से ही समस्त कार्यकलाप को देखने की प्रवृत्ति को छोड़कर उसे कर्तव्य पालन—भार—की दृष्टि से ही मनन करने की आदत डालनी चाहिये।

सो उक्त संस्कारों की भी इति कर्तव्यता के विषय में किसको ? कब ? कैसे ? क्या ? करना चाहिये। यह सब बात केवल शास्त्रों से ही पूछनी चाहिये, शास्त्र जिसे जो कहे वह उसे वैसे कर डाले। जिसे न कहे, वह भूलकर भी उसे करने की चेष्टा न करे। जैसे

शास्त्र से आदिष्ट अमुक कार्य न करने पर पाप होता है ठीक इसी प्रकार शास्त्र से अनादिष्ट कार्य करने पर भी महापाप होता है। सैनिक या पुलिस मैन के लिये जैसी वेषभूषा निर्धारित है यदि वह 'ओन ड्यूटी' होता हुआ वैसी न पहिने, तो जैसे राजा के निकट वह व्यक्ति दण्डनीय होता है वैसे ही साधारण नागरिक यदि पुलिस मैन का स्वांग बनाकर भोले भाले देहातियों पर रौब गाठें तो वह भी प्रतारणा विषयक धोखा देही की ४२० धारा के मातहत दण्डनीय होगा। इसलिये जिन द्विजाति पुरुषों के लिये अमुक २ संस्कार समन्त्रक करने बताये हैं यदि वे न करेंगे तो पाप भागी बनेंगे और जिन द्विजेतर पुरुषों के लिये जो संस्कार अमन्त्रक करने की किंवा सर्वथा न करने की ही छूट दे रक्खी है, वे यदि तद् विरुद्ध आचरण करेंगे तो पातकी अवश्य होंगे।

हमारे यहां कर्मकलाप का विभाजन तो वर्ण और आश्रम के तारतम्य से कर्तव्य पालन के आधार पर हुआ है, परन्तु कर्मफल जन्य अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति आब्राह्मण आचाण्डाल सब को समान रीति से होती है।

अधिकार और अनधिकार से किए गए कर्म के वाह्य रूप में प्रत्यक्ष दृष्ट चाहे कुछ अन्तर मालूम न होता हो, परन्तु पुण्य पाप के तारतम्य से तज्जन्य अदृष्ट फल में महान् अन्तर पडता है, जैसे एक अनधिकारी पुरुष रात दिन भी 'पकड़ो। मारो! फांसी दे दो' पुकारे तो किसी का बाल बांका नहीं होता, परन्तु यदि यही शब्द शासक की कुर्सी पर बैठा निर्णायक एक बार भी कहे तो तदनुसार अमुक को मृत्युदण्ड और अमुक को पुरस्कार दिया जाता है। यहां दोनों व्यक्तियों के शब्दों और वाक्यों में कुछ अन्तर नहीं, केवल अधिकार का ही अन्तर है। पहिले व्यक्ति को उन्मत्त पागल

दीवाना कहकर उपहासपात्र समझा जाता है और दूसरे को न्यायाधीश शासक तथा जज कहकर सम्मानित किया जाता है। आशा है हमारी इस छोटी सी पृष्ठ भूमिका से पाठक संस्कारों की इतिकर्तव्यता का सामञ्जस्य समझने में कृतकार्य हो सकेंगे।

संस्कारों के सामान्य कृत्य

यद्यपि प्रत्येक संस्कार की अपनी २ विभिन्न अनुष्ठेय प्रक्रियायें हैं, किन्तु गणपत्यादि पूजन तथा गृह्य होम प्रत्येक सस्कार के आवश्यक आरम्भिक कृत्य हैं। इससे पूर्व कि हम गर्भाधानादि पृथक् २ संस्कारों पर विचार करें यह आवश्यक प्रतीत होता है, कि संस्कारों के इन सामान्य कृत्यों पर ही पहिले विचार किया जाय। इनमें भी गणेश पूजन का विषय तो इतना विवादास्पद और आलोच्य बन गया है, कि बुद्धिवादी युग के बड़े २ लिक्खाड़ महाशयों को भी अपनी कलम कुठार सम्भालकर मैदान में उतरना पड़ा है। गणेश को अनार्य एवं अवैदिक देवता सिद्ध करने के लिये तथा नवग्रहादि पूजन को पाधा जी की कोरी पोपलीला सिद्ध करने के लिये बुद्धि वादियों द्वारा दी गई युक्तियों के प्रवाह में आस्तिक हिन्दू समाज की श्रद्धावल्लरी आज डूबती उतराती नजर आ रही है। इसलिये क्यों न इस अध्याय में वर्णित मानव जीवन चर्या का श्रीगणेश इन सामान्य कृत्यों से ही किया जाय !

स्वस्तिवाचन और शान्ति पाठ

प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान के आदि में वातावरण की विशुद्धता के लिये सर्व प्रथम तार स्वरेण स्वस्तिवाचन और शान्तिपाठ करना आवश्यक है। इस कृत्य में यूं तो सभी समुपस्थित अधिकारी सज्जन सम्मिलित हो सकते हैं, परन्तु मुख्य पुरोहित या वेदपाठी सज्जनों को तो मंगलाचरणार्थ स्वस्तिवाचन अवश्य करना चाहिये।

हरिः ॐ क्यों ?

वेद पाठ के आरम्भ में मन्त्रोच्चारण से पूर्व 'हरिः ॐ' उच्चारण करना वैदिकों की परम्परागत प्रणाली है इसका तात्पर्य यह है कि वेद के अशुद्ध उच्चारण में महापातक लगता है और बहुत सावधान रहने पर भी मनुष्य स्वभाव सुलभ स्वर वर्ण व्यत्यय जन्य अशुद्धि हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है। अतः इस सम्भावित प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिये आदि और अन्त में 'हरिः ॐ' शब्द का उच्चारण करना अनिवार्य है, श्रीमद्भागवत में लिखा है कि—

मन्त्रतस्तन्त्रतस्छिद्रं देशकालार्द्ध वस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं हरेः ॥

अर्थात—मन्त्रोच्चारण, तत्तद् विधि विधान, देशकाल और वस्तु की कमी के कारण धर्मानुष्ठान में जो भी कमी हों 'हरि' नाम का सकीर्तन करने से वे सब बाधायें दूर हो जाती हैं।

श्री गणेश प्रथम पूज्य क्यों ?

(आदौ गणपति वन्दे विघ्ननाशं विनायकम्)

श्रीगणेश जी महाराज का—प्रत्येक शुभाशुभ कार्य के आरम्भ में आस्तिक हिन्दू समाज, पूजन वन्दन एवं ध्यान करना अपना परम कर्तव्य समझता है। योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति मे लिखा है कि—

एवं विनायकं पूज्यं ग्रहांश्चैव विधानतः ।
कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय २९२)

अर्थात्–पूर्वोक्त विधि के अनुसार गणपति की पूजा करके विधि पूर्वक नव ग्रह पूजन करना चाहिये, जिससे समस्त कार्यों का फल प्राप्त होता है तथा लक्ष्मी की भी प्राप्ति होती है।

कोई ऐसा कार्य नहीं, जो कि गणपति पूजन के बिना आरम्भ किया जाता हो। इस अटल नियम की पालन प्रणाली के प्रताप से संस्कृत साहित्य में तो 'श्रीगणेश' शब्द की 'शक्ति' ही आरम्भार्थ में आरूढ़ हो गई है। हिन्दी भाषा में भी न केवल गणेश पूजन में निष्ठा रखने वाले आस्तिक सज्जन ही—अपितु 'तुन्दिल पेट' और 'हाथी की नाक' कहकर कहकहे लगाने वाले अपटूडेट महाशय भी 'श्रीगणेश' पद को प्रारम्भता सूचक—'मुहावरा' स्वीकार करते हैं और बडे धड़ल्ले के साथ किसी भी आन्दोलन का प्रशसात्मक बखान करते हुये यही उचरते हैं, कि "जब से इस आन्दोलन का 'श्रीगणेश' हुआ है, तब से मृतप्राय हिन्दू जाति में पुनः जीवन आगया है" इत्यादि। कहना न होगा कि 'श्रीगणेश' शब्द का आरम्भिक क्रिया के साथ कुछ न कुछ अनिवार्य एवं घनिष्ट सम्बन्ध अवश्य है, जिससे कि—"अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्य इत्याकारक ईश्वरसंकेतः शक्तिः" के अनुसार यह शब्द प्राकृतिक रीति से 'प्रारम्भ' अर्थ मे आरूढ़ हो गया है।

गणेश शब्द के 'विघ्नहन्' 'विनायक' 'गजास्य' 'इप्सित-दाता' और 'विघ्न-शमन' आदि अनेक पर्य्याय प्रसिद्ध हैं। संस्कृत भारती विश्व भर की प्रचलित भाषाओं की जननी है तथा समस्त भाषाओं मे संस्कृत भाषा के शब्द ही अपभ्रष्ट होकर समाविष्ट हुए हैं—यह नग्न सत्य प्रायः सभी अनुसन्धायक स्वीकार करते हैं। तदनुसार अन्यान्य भाषाओं मे भी आरम्भार्थक जितने प्रसिद्ध शब्द हैं वे सब प्रायः 'गणेश' शब्द के पर्य्यायों में से ही किसी

एक के अपभ्रंश जान पड़ते हैं। जैसे--इङ्गलिश भाषा का प्रारम्भार्थक 'बिगनिङ्ग' शब्द गणेश शब्द के अन्यतम पर्याय 'विघ्नहन्' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। इबरानी पर्सियन और उर्दू भाषा के 'आगाज' 'इप्तदा' 'बिशमिल्ला' आदि शब्द भी हमारे 'गजास्य' 'इप्सित दाता' और 'विघ्न-शमन' शब्दों के ही अपभ्रंश हैं। इस तरह विश्व साहित्य पर व्यापक दृष्टि डालने से यही परिणाम निकलता है, कि शब्द-शास्त्र की परम्परा के विचार से गणेश तत्त्व का आरम्भिक क्रिया के साथ अनादि काल से अविछिन्न सम्बन्ध चला आता है।

गणेश पूजन, यत्र-तत्र-सर्वत्र

गणेश-पूजन की प्रथा केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत विश्व के सभी देशों में पाई जाती है। बौद्ध धर्म के महायान के तान्त्रिक सम्प्रदायों ने भी अपने यहां 'विनायक' की कल्पना करके उसे महत्वपूर्ण स्थान दे रखा है। पिछली शताब्दियों में कई बौद्ध-प्रदेशों के अन्दर विनायक रूप में बुद्ध की कल्पना प्राप्त होती है। बौद्ध ग्रन्थों मे बुद्ध का एक नाम 'विनायक' भी मिलता है। उनके यहा 'वज्रधातु' और 'गर्भधातु' के रूप मे भी विनायक पूजन का प्रचुर प्रचार है।

नेपाल मे बौद्ध-धर्म के साथ २ 'हेरम्ब' और 'विनायक' नाम से गणपति पूजा सर्वत्र पाई जाती है।

चीन में गणेशमूर्ति दो नामों से विख्यात है, एक 'विनायक' और दूसरा 'काङ्गीनेन'। उस देश में अन्य देवों की अपेक्षा विनायक पूजन का विशेष महत्व माना जाता है। 'नृत्यगणपति' की पूजा भी इस देश मे विशेष रूप से पाई जाती है।

जापान—इतिहास से ज्ञात होता है कि 'कोबो दाइशी' नामक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने चीन के बौद्धाचार्यों से शिक्षा लेकर ६ वीं शताब्दी में अपने यहा विनायक पूजन प्रचलित किया था। अब तो वहा के 'शिङ्गोन' सम्प्रदाय ने भी इस पूजा पद्धति को अपना लिया है।

तिब्बत के प्रत्येक मठ के अधिरक्षक के रूप में गणेश की पूजा पाई जाती है।

बर्मा, स्याम—प्रदेशों में भी गणपति पूजा प्रचलित है। इस देश में कांस्यधातु की गणेशमूर्ति सर्वप्रिय समझी जाती है।

कम्बोडिया में स्थानीय ख्मेरकला के कारण वहां के गणपति मूर्तियों में विशेष परिवर्तन पाया जाता है।

जावा मे प्रायः गणेश के स्वतन्त्र मन्दिर नहीं होते, प्रत्युत शिवमन्दिर में ही उनकी पूजा होती है। शङ्कर के सदृश वहां के गणेश भी गले में मुण्डमाल पहने हुये पाए जाते हैं।

बोर्नियो तथा **बालीद्वीप** में भी गणपति पूजन का विशेष प्रचार है

अमरीका में लम्बोदर गणेश की मूर्ति मिलती है। इस प्रकार की मूर्ति का उल्लेख श्री चम्मनलाल ने 'हिन्दु अमरीका' नामक अपनी पुस्तक में विस्तृत रूप से किया है। सन १४६२ में 'कोलम्बस्' द्वारा अमरीका के आविष्कार होने के पूर्व भी तो वहा गणेश, सूर्य आदि देवताओं की मूर्तियां उपलब्ध हो चुकी थीं। इससे यह निश्चित है कि भारतीयों ने ईसवी सन् से बहुत वर्ष पूर्व अमरीका में भी अपना उपनिवेश स्थापित कर रखा था।

भिन्न २ देशों में गणपति पूजन भिन्न २ नामों से पाया जाता है। श्रीमती 'ए गेट्टी' (A getty) ने गणेश पूजन पर एक विस्तृत पुस्तक लिखी है, जो सन् १६३६ मे 'आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी' से प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थ मे विदुषी गेट्टी ने तामिल भाषा में गणेश का नाम 'पिल्लैय', भोट भाषा में 'सोग्सदाग', बर्मी मे महा पियेन्ने', मंगोलियन मे 'त्वोत् खारून् खागान्', कम्बोडियन मे 'प्राह्केनीज्', चीनी में 'कुआन्-शी-तियेन्' और जापानी भाषा में 'कांगिनेन्' इन नामों का उल्लेख किया है। निःसन्देह उत्तरीय मगोलिया से लेकर दक्षिणी बाली तक और जापान से लेकर अमरीका तक यह गणेश पूजन-पद्धति किसी रूप में प्रचलित है।

अहिन्दुओं में परोक्षतया गणेश का ही पूजन

ग्रीक (Greece) यूनान के निवासी श्रीगणेशजी को 'ओरेनस' (Ouranos) नाम से पूजते हैं उनके प्राचीन धर्मग्रन्थों में ओरेनस का बड़ा भारी महत्व वर्णित है। हिन्दू-धर्म ग्रन्थों के अनुसार श्री गणेश जी 'लाक्षासिन्धुरवदन' कहे जाते हैं, अर्थात्—उनका लाख के रंग के सदृश गूढ़ा लाल रंग है, इसलिये पर्याय रूपेण उनको 'अरुणास्य' भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा में यूनानियों का 'ओरेनस' हमारे 'अरुणास्य' का अपभ्रंश ही सिद्ध होता है।

ईरानी पारसियों में 'अहुरमजदा' (Ahurmazda) नाम से गणेश उपासना की जाती है। प्रसिद्ध 'जेन्दाअवस्ता' नामक धर्म ग्रन्थ में पचासों आयतें अहुरमजदा की लोकोत्तर शक्तिका वर्णन करती है। पर्सियन भाषा में संस्कृत शब्दों का सकार प्रायः हकार में अपभ्रष्ट हुआ है, जैसे—'सप्त' को 'हप्त' और 'मास' को 'माह'

बोला जाता है, ठीक इसी प्रकार 'अहुरमजदा' भी 'असुर-मदह का अपभ्रंश जान पड़ता है । पुराण ग्रन्थों में श्रीगणेश जी द्वारा अनेक असुरों का पराजित होना अङ्कित है इसलिये गणेश का— असुरों के मद=घमण्ड को हनन=दूर करने वाला" यह नाम भी अन्वर्थ है ।

चीन और जापान के निवासी— जो कि प्रायः बौद्ध हैं—त्रिमूर्ति गणेश की उपासना करते हैं उसको वे फो (Fo) नाम से पुकारते हैं।

मिश्र देश के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हर्मीज (Hermes) ने लिखा है कि—"सब देवों का अग्रिम=अगला देव वह है जिसका विभाग नहीं हो सकता और जो बुद्धि का अधिष्ठाता है उसका नाम 'एक्टोन' (Eicton) है"। निःसन्देह यह देव श्री गणेश जी ही है, क्योंकि हिन्दू ग्रन्थों में अग्रपूजनीय गणेश को ही माना गया हैं। सम्भवतः 'एक्टोन' शब्द भी गणेश जी के अन्यतम पर्याय 'एक दन्त' का ही अपभ्रंश है।

गणेश जी के मुख्य बारह नामों की व्याख्या आगे चलकर की जाएगी, इन नामों में एक नाम 'भालचन्द्र' भी है, जिसका अर्थ- 'मत्थे में चांद धारण करने वाला होता है'। जान पड़ता है मुसलमान लोग हजरत मुहम्मद साहिब के जन्म से पूर्व गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे, इसी कारण से इस्लाम मजहब को स्वीकार कर लेने पर भी वे लोग 'भालचन्द्र' की उपासना का चिन्ह— 'टेढ़ा चांद और बीच में तारा का निशान'—अभी तक धारण करते आ रहे हैं। इस्लामी झण्डों इमारतों—यहां तक कि ओढ़ने की टोपियों पर भी यह मार्का बड़े गौरव के साथ अङ्कित रहता है। बुतपरस्ती को कुफर बताने वाले बड़े से बड़े कट्टर मुल्ला भी 'धातु से बने हुये' चमकते चांद को शिर पर चढ़ाकर 'भालचन्द्र' के इस अर्चाचिन्ह

को सन्मान देते हैं। पाकिस्तान जैसा 'कठ मुल्ला नीति' पर निर्मित मुस्लिम देश भी अपने राष्ट्रीय ध्वज को भालचन्द्र चिन्ह से ही अलकृत कर रहा है।

ईसाई लोगों का परमपवित्र चिन्ह क्रास + है। यद्यपि वर्तमान समय में इसे यहूदी जमाने का मृत्युदण्ड का तख्ता समझा जाता है जिसे कि सूली किंवा फांसी की तरह हजरत यशुमसीह के प्राण लेने के लिये प्रयुक्त किया गया था, तथापि वास्तव में ऐसा मानना भ्रम है, क्योंकि जिस साधन द्वारा किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की जान ली गई हो उस वीभत्स साधन को कोई भी मूर्ख पवित्र और पूजने योग्य नहीं मान सकता, बल्कि उसे अत्यन्त घृणित ही समझेगा। यही बुद्धि का तकाजा है। इसलिए हम तो स्पष्ट देखते हैं कि 'क्रास' + वास्तव मे गणेश की प्रतिमा = 卐 का ही संक्षिप्त रूपान्तर है।

गणेश के साकार विग्रह मे मनुष्य के धड़ पर हाथी का मुख सयुक्त किया गया है—जिसका रहस्य आगे चलकर स्पष्ट किया जाएगा,—इसलिये गणेश जी के नाम 'गजवदन', 'करि मुख' 'ईभास्य' आदि प्रसिद्ध हैं ऐसी दशा मे हमें तो ऐसा मालूम होता है कि 'क्रास' शब्द भी 'करि-आस्य' शब्द का ही अपभ्रंश है। जिसका-अर्थ--हाथी के मुख वाला होता है। ईसाई मत का प्रसिद्ध 'क्राइस्ट' शब्द भी करि+आस्य+इष्ट इन तीन शब्दों के सयोग का परिणाम ही जान पड़ता है। जिसका तात्पर्य हाथी के सदृश मुख वाले श्री गणेश जी को अपना 'इष्टदेव' मानने वाला व्यक्ति होता है।

प्रबुद्ध जर्मनी वालों की राष्ट्रीय पताका में तो अभी तक विशुद्ध 卐 अङ्कित रहता है और वे इस चिन्ह को ईश्वरीय देन समझते हैं।

दक्षिणी अमेरिका (South America) के ब्रजिज नामक स्थान की खोदाई में गणेश जी की भव्य प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसे अनुसन्धायक चार पांच हजार वर्ष से अधिक पुरानी खयाल करते हैं इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ये दो—बातें तो निःसन्देह सिद्ध हो जाती हैं, कि ईसा की चौदहवीं शताब्दी रों अमेरिका का पता लगाने वाले कोलम्बस को ही सर्व प्रथम अमेरिकान्वेषक कहना बड़ी भूल है; और कोलम्बस के परदादा के सात जन्म से भी पहिले वहां गणेश पूजक आर्य सभ्यता का प्रसार हो चुका था।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त प्रघट्ट पर दृष्टि डालने से सहज में ही यह परिणाम निकल आता है, कि गणेश पूजन न केवल हिन्दुओं में ही अपितु समस्त जातियों में, और न सिर्फ भारतवर्ष में ही बल्कि समूचे विश्व में पुरातन काल से आरम्भ करके अभी तक चला आ रहा है। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि अमेरिका में हाथी नहीं होता। इसलिये हाथी की आकृति की कल्पना किसी प्राचीन अमेरिकन की मस्तिष्क की उपज नहीं कही जा सकती।

शास्त्रीय—स्वरूप

निषुसीद गणपते! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतिमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किंचनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
(ऋग्वेद १०। ११२। ६)

(सायणभाष्यानुसारी भावार्थ) हे गणपते! आप स्तुति करने वाले हम लोगों के मध्यम में भली प्रकार स्थित हूजिये। आपको क्रांतदर्शी = कवियों में अतिशय बुद्धिमान् = सर्वज्ञ कहा जाता है। आपके बिना कोई भी शुभाशुभ कर्म (आरम्भ) नहीं किया जाता।

(इसलिये) हे भगवन = ऋद्धि सिद्धि के अधिष्ठातृ देव। हमारी इस पूजनीय प्रार्थना को स्वीकार कीजिए।

ॐ नमस्ते गणपते त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव केवलं खल्विदं ब्रह्मासि। (गणपत्यथर्वशीर्ष)

अर्थ--हे गणपति जी। आपको नमस्कार हो आपही प्रत्यक्ष 'तत्त्व' हो और आप ही केवल समस्त चराचर के उत्पादक, पालक एवं संहारक हो आप ही निश्चय से ब्रह्म हो।

शैवैस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च, शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिकवैदिके च, त्वमर्चनीयः प्रथमं प्रयत्नात्॥
(गणेश पुराण)

अर्थ-[त्रिपुरवध के अनन्तर शिवजी ने कहा कि हे गणपते!] शैव, गाणपत्य, वैष्णव, शाक्त और सौर प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी लौकिक अथवा वैदिक दोनों तरह के शुभ किंवा अशुभ समस्त कार्यों में सर्व प्रथम आपको ही यत्न पूर्वक पूजते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निश्चित हुआ कि वेदादि शास्त्रों में अनादि अनन्त निर्विकार जगद् रचयिता जगत्पालक एवं जगत्संहार कारक परमात्मा का ही गणेश माना है। हिन्दू लोग उसी सर्वाधार की सब कार्यों के आरम्भ में पूजा करते हैं।

गणेश पूजन और एकेश्वरवाद

(एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति)

हिन्दू धर्मावलम्बी आदि काल से एक मात्र परमात्मा की ही उपासना करते हैं, जो लोग हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप करते हैं, कि-"हिन्दू लोग एक ईश्वर को छोड़कर अनेक देवी देवताओं और यहां

तक कि धातु, पत्थर, मिट्टी आदि जड़ वस्तुओं को पूजा करते हैं"– वे मनुष्य सर्वथा भ्रांत हैं क्योंकि उनके तङ्ग और शुष्क मस्तिष्कों में हिन्दूधर्म का विशाल रहस्य समा नहीं सकता। वास्तव मे अनेक अनेक नामों और रूपों द्वारा की जाने वाली साम्प्रदायिक उपासनाएं अन्त मे एकेश्वरवाद मे ही परिणत हो जाती हैं। हम यह रहस्य एक दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त करते हैं।

एक नगर में एक विलक्षण मनुष्य रहता था। उसका नाम विश्वरूप था। जो संस्कृत का दिग्गज विद्वान्, अंग्रेजी का एम. ए कानून मे 'बार एट्ला' और डाक्टरी मे सिविलसर्जन था। साइन्स में प्रौढ़ता रखने के कारण उसे 'डाक्टर ओफ सायन्स' की पदवी मिली थी। फौजी खिदमात से सन्तुष्ट होकर सरकार ने उसको 'टाइगर आफ वल्ड' का खिताब प्रदान किया था। गवैयों में उसकी बड़ी भारी धाक जमी थी, सब कहते थे कि यह तो दूसरे तानसेन उत्पन्न हुवे हैं, तान, टप्पे, पलेट, आरोह, सम और तार–गर्ज है कि गान की प्रत्येक कला में ये अद्वितीय हैं। —एक ताल, तीन ताल झपताल, लक्ष्मीताल और दुर्गाताल एवं चंचर, धमार, कहरवा, बंजारा आदि वादन की समस्त पद्धतियों में माहिर हैं।

अनेक पहलवान इसके चेले थे। यह अपने अखाड़े के पट्ठों को एड़, बिन्नी, कुलाजग, पलटा, चौपट और कन्धर के दाव पेंचों में ऐसा फरवट करता था, कि मुकाबले में जेवस्को सरीखे बिश्व-विजयी पहलवान भी, आन की आन में चारों शाने चित्त पाते थे। 'रुस्तमे हिन्द' की गदा इसने इसीलिये ठुकरा दी थी कि वह सिर्फ हिन्दुस्थान का 'रुस्तम' कहलाने मे अपना अपमान समझता था।

नदिया शान्ति के नैय्यायिक उसे अपना गुरु मानते थे,

उस दिन 'नीलो घट' पर धारा प्रवाह शास्त्रार्थ सुनकर विद्वन्मण्डल ने उसको 'अभिनव वाचस्पतिः' की उपाधि दी थी।

काशी के 'टिङ्गाणाचार्य्य' तो हमारे प्रतिपाद्य नायक को 'झांकी' झांकते हुवे देखकर 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' के उदाहरण बन जाते थे। उस दिन दशाश्वमेघ घाट पर 'आमीति न्यासे ह्रस्व-ग्रहणं वैयर्थ्यम्' के शास्त्रार्थ में सब ने एक स्वर में कहा था कि 'जो है शो है आप तो 'व्याकरणीय-महाटवीय प्रखर-पञ्चाननोदा-हरणभूत-पण्डित-प्रकाण्ड-मण्डली-मण्डनायमाण' हैं।

कहा तक वर्णन करें यह व्यक्ति प्रत्येक गुण में अद्वितीय था, सब विद्याओं का वेत्ता था, हर एक फन में माहिर था और तमाम मामलात में दखल रखता था।

एक दिन उसी नगर के रहने वाले 'शङ्का पङ्क पयोनिधि' महाशय शङ्कक चन्द साहिब आप से मुलाकात करने के लिये पधारे। इत्तिफाक से उस वक्त हमारे चरित नायक अपने निवास गृह में विद्यमान थे, महाशय जी 'नमस्ते' फटकार कर आज्ञानुसार एक तर्फ बैठ गये। उसी समय विश्वरूप जी के पुत्र ने आकर कहा 'पिता जी! प्रणाम, आपको घर बुला रहे हैं। महाशय शङ्ककचन्द ने अपनी डायरी निकाली और यह समझ कर—चूंकि आगत सज्जन ने आपको 'पिता जी' शब्द द्वारा सम्बोधित किया है इसलिये हो न हो, ईं जनाब का नाम 'पिता जी' है—झट से आज की तारीख वाले पन्ने पर 'पिता जी से मुलाकात' यह शब्द नोट कर लिये।

विश्वरूप जी घर जाते हुवे महाशय जी से शिष्टा चार पूर्वक कहते गए कि आप यहीं तशरीफ रखियेगा मैं अभी २ लौट कर आता हू। विश्वरूप जी को पीठ मोड़े देर न हुई थी एक कत्थक सज्जन—तम्बूरा थामे दर्वाजे पर आ धमके और पूर्वस्थित महाशय

शकूकचन्द जी से पूछने लगे कि—'गायनाचार्य्य जी किधर गए ?' शकूकचन्द जी ने आश्चर्य-चकित होते हुवे उत्तर दिया—'जनाब यह तो 'पिता जी' का मकान है, यहा कोई गायनाचार्य्य नाम का व्यक्ति नहीं रहता। कत्थक ने समझ लिया, कि यह कोइ पागल मनुष्य है अतः कुछ भी उत्तर न देकर यथास्थान बैठ गया।

इतने मे एक दूसरे साहब ने आकर पूछा बैरिस्टर साहब कहां गए ? शकूकचन्द फिर बोल उठे अर्ज जनाब ! यह तो 'पिता जी' का घर है, क्या आप सभी भंग पीते हैं जो इसी दर्वाजे पर आकर दुनिया भर के मनुष्यों को दर्य्याफ्त करते हैं।' कत्थक ने कहा 'मवक्किल साहिब, बैठ जाइये बाबू जी अभी आजाते हैं।' वह भी फर्श पर बैठ गया। आधी मिनट के बाद एक तीसरा व्यक्ति लठिया के सहारे कहराता हुवा आ पहुचा और दम फूल जाने के कारण विस्वर कण्ठ से दबी आवाज में पूछने लगा 'डाक्टर··· साहिब···कहां है'। कत्थक और मवक्किल अभी दयार्द्र होकर सान्त्वनामय उत्तर देने को तय्यार ही थे—कि महाशयजी झुंझला कर बोल उठे 'अरे भाई ' यह तो 'पिता जी' का मकान है यहा टर फर कोई नहीं बसता। महाशय जी के मूर्खता पूर्ण उत्तर से बीमार को क्रोध तो बहुत आया परन्तु कत्थक के सान्त्वना पूर्ण हाथ के इशारे से आराम कुर्सी पर टेक देकर बैठ गया। इतने में एक विद्यार्थियों का झुण्ड बगल मे पुस्तकें दबाए आपहुँचा, कोने में बिछी चटाई पर बैठते हुवे पूर्वावस्थित सज्जनों को सम्बोधित करते हुवे पूछने लगा श्री 'गुरुदेव जी' कहां पधारे हैं ? महाशय जी की लीला देखने के लिये अन्य सब सज्जन तो चुप रहे, शकूकचन्द जी कुछ तो पहिले से ही जले भुने बैठे थे परन्तु

विद्यार्थियों के प्रश्न से। यह समझ कर कि ये सभी लोग मुझ से मसखरी करने की सलाह करके आये हैं तभी तो एक के बाद दूसरा चिड़ाने के लिये आकर बेहूदे प्रश्न करता है।] आगबबूला होकर गर्ज उठे —नालायक कहीं के। कौन होते हैं 'गुड़धोजी'? दश बार समझा चुका हूं कि यह तो 'पिताजी' का मकान है। मगर तुम शरारत से बाज नहीं आते। चिड़िया घर की तरह सभी जानवरों का यही ठेका लिया है? जो हर एक मनुष्य को यहीं आकर दर्याफ्त करते हो। क्या यह इन्कार्ट आफिस (Enquiry office) समझा है? महाशय जी की बड़बड़ाहट का अखण्ड पाठ समाप्त होता न देखकर विद्यार्थियों को सहनशीलता जवाब दे गई। आखिर स्वभाव सुलभ वानर-चांचल्य के कारण उन्होंने महाशय शङ्कर चन्द को जा दबोचा और लगे मीठी मीठी चुटकियों से मरम्मत करने। जब सिर पर तड़ातड पड़ी तब कहीं महाशय जी की अक्ल ठिकाने आई, खीतसी झड़ाकर चुप रह गए। मन ही मन सोचने लगे कि मैं पागल हूँ या ये सब ?

तत्काल श्री विश्वरूप जी भी वहां आपहुंचे, समस्त उपस्थित मनुष्यों ने अपने २ ढंग से सत्कार करना आरम्भ किया। प्रत्येक विद्यार्थी ने श्रीचरणों में मस्तक झुकाते हुये अपने दांये हाथ से गुरुजी के दाये पांव को तथा बांये हाथ से बाये पांव को स्पर्श करते हुए नाम-गोत्र-निर्देश पूर्वक कहा – 'अभिवादयेऽहं भो!' बीमार मुहम्मडन ने कहा 'आदाब अर्ज जनाब।' ईसाई मवक्किल ने कहा —'गुड मार्निङ्ग सर।' महाशय जी ने भी सीना उभार तनेतनाए दूरसे ही ढेले की तरह जोर से 'नमस्ते' दे मारी, और आसू पोंछते हुवे पूछा —श्रीमान् जी! मै जानना चाहता हूँ, कि आपका शुभ नाम क्या है? श्री विश्वरूपजी ने कहा कि इस साढ़े

तीन हाथ के कलेवर का नामकरण संस्कार के समय तो 'विश्वरूप' नाम रक्खा गया है परन्तु अब सब सज्जन अनेक प्रकार सोपाधिक नामों से पुकारते हैं, । पुत्र मुझे ' पिताजी ' कहते हैं । धर्मपत्नी 'पतिदेव ' कहती है। शिष्य लोग ' गुरूजी ' पुकारते हैं। मरीज ' डाक्टर साहिब ' बोलते हैं। मवक्किल ' वकील ' कहकर याद करते हैं, गर्ज है कि जितने मुंह उतने नाम ! आपने आज 'श्री मान जी ' यह एक नया नाम रख छोड़ा है ।

श्री विश्वरूप जी की इस उक्ति को सुनकर महाशय शकुक चन्द जी का समस्त सन्देह मिटगया और अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करते हुए उपस्थित प्रत्येक सज्जन से क्षमा याचना करने लगे।

ठीक यही दृष्टान्त उन बुद्धि के हिमालयों पर घटित होता है जो कि-एक ही ईश्वर की अनेकों नाम रूपों द्वारा की जाने वाली विभिन्न समुदायों की विभिन्न पूजा पद्धतियों का रहस्य न समझ कर हिन्दूधर्म पर अनेकेश्वरवाद का मिथ्या लाच्छन लगाने का प्रयास करते हैं।

परमात्मा एक है परन्तु वही अनेक गुणों का भण्डार है— अगणित शक्तियों का केन्द्र है। – अनन्त लीलाओं का अथाह सागर है इसलिए ' अनाम ' होते हुए उसके अनेक नाम हैं और 'अरूप' होते हुए भी उसके असंख्य रूप है तभी तो वेद कहता है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

अर्थात् – ज्ञानी लोग उस एक ही परमात्मा का अनेक तरह से बखान करते हैं।

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति के तत्तद् सम्बन्ध विशेष से एवं तत्तद् गुण वैशिष्ट्य से पिता पुत्र माता और गायक मल्ल आदि

अनेक नाम पुकारे जाते हैं तथापि उसके एकत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता , ठीक इसी प्रकार एक ही ईश्वर को अपनी २ भावना विशेष के तारतम्य से अनेक नामों द्वारा प्रतिपादन करने वाले हिन्दू धर्म के 'एकेश्वरवाद' पर भी कुछ आक्षेप नहीं आसकता।

गान कला सीखने के अभिलाषी शिष्य गायक गुरु की प्रशंसा में यही स्तुति करेंगे कि –, आपका गला अतीव कोमल है और हाथ की अंगुलियें इतनी हलकी हैं ,कि हारमोनियम बाजे पर पानी की तरह थिरकती हैं इत्यादि'। परन्तु मल्लविद्या सीखने वाले शिष्य इसी गुरु की प्रशंसा में उपर्युक्त कोमलता और हलकापन न कहकर इसके विपरीत यह कहेंगे कि —'आपके भुजदण्ड हाथी के सूंड के समान सुडौल और अतीव प्रचण्ड है, कहना न होगा कि प्रत्येक मनुष्य अपने प्रयोजन के अनुसार तदुपयुक्त शब्दों द्वारा ही दूसरे की स्तुति करता है। ऐसा कौन मूढ अपराधी होगा जो कि अदालत के समक्ष अपना अपराध सिद्ध हो जाने पर भी जज को 'इन्साफ पसन्द' कहकर स्वयं सज़ा भुगतने को उतावला होगा, किन्तु उस समय तो 'रहम दिल' कहकर दया की भीख मांगने से ही अपना प्रयोजन एक सीमा तक सिद्ध किया जासकता है। इसी प्रकार एक ही ईश्वर को शान्ति अभिलाषी मनुष्य 'शान्ताकारं भुजगशयनम्' कहकर स्मरण करते हैं। वीरत्व शक्ति के चाहने वाले बहादुर 'सिंहादुत्थाय कोपाद् घधड़धड़धड़ा धावमाना भवानी' कहकर याद करते है। धनसंपदा के मुतलाशी महाजन 'हिरण्य वर्णां हारिणीं सुवर्णरजत स्रजाम्' पुकारते हुये ध्यान करते हैं और समस्त विघ्न बाधाओं की निवृत्ति चाहने वाले आस्तिक 'विघ्नेश्वरं सकल विघ्नहरं नमामि 'कहते हुये पूजते हैं।

हाथी का शिर क्यों ?

गणेश गायत्री में लिखा है कि—

तत्पुरुषाय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ॥

अर्थात्—हाथी के समान मुखवाले – वक्रतुण्ड और एकदांत वाले गणेश का हम मनन और ध्यान करते हैं वह हमें सन्मार्ग में प्रवृत्त करें।

प्रत्यक्ष में भी गणेश की प्रत्येक मूर्तिका कण्ठ से ऊपरका भाग हाथी का होता है। नराकृति अर्धाङ्ग के साथ हाथी के मस्तक का मेल मानव बुद्धि को चकित करदे यह स्वाभाविक ही है, इसके आधिदैविक स्वरूप का रहस्य तो आगे चलकर पौराणिक कथाभाग के समाधान के समय प्रकट किया जायगा, यहां हम कथित बुद्धि-वादी सज्जनों के सन्तोषार्थ. —' दुर्जन तोष ' न्याय से स्वयं भी बुद्धिवाद के आजाद घोड़े पर सवार होकर दो चार दुलत्तियें फटकारने के लिये उसे चाबुक की नोक से चोक देते हैं अस्तु,

वर्तमान युग में किसी भी घटना का रहस्य प्रकट करने के लिये समाचार पत्रों में व्यङ्गय-चित्र = कार्टून प्रणाली का आश्रय लिया जाता है। यद्यपि उक्त चित्र देखने में बड़े ही अटपटे जान पड़ते हैं, इनमें मनुष्यों को पशु पक्षी कीट पतङ्गों की विकृत आकृतियों मे, सर्वथा असम्भव स्वरूपों में, अंकित किया जाता है परन्तु इनसे घन्टों मगज पच्ची करने पर भी ध्यान मे न बैठने वाले भाव; समाचार पत्रों के कई कालम पढ़ने पर भी न सुलझने वाले रहस्य विनोद विनोद में तत्काल आखों के आगे नाचने लगते है, देहली के सुप्रसिद्ध व्यङ्गयचित्रकार श्री शङ्कर अपनी कला में बड़े निपुण माने जाते हैं, उनका एक साप्ताहिक पत्र

'शंकर वीकली' कार्टूनमय निकलता है, जिसे बडे बड़े पत्रकार खरीदते हैं अन्य देशों में तो ऐसे २ कार्टून सहस्रों पौण्ड कीमत मे बिकते हैं यह प्रसिद्ध है। एतावता टेढ़ीमेढ़ी रेखाओं से उचित समस्या का रहस्य समझने के बजाय यदि कोई जीवट जीव उसकी बनावट के असम्भवपन का रोना रोने लगे तो विज्ञजनों की दृष्टिमें वह महाशय(?) उक्त कलासे सर्वथा अनभिज्ञ और बुद्धिका शत्रुही समझा जायगा, फिर चाहे वह बुद्धिवादी होने के सैकड़ों प्रमाण-पत्रों के बण्डल का बोझा उठाये अहर्निश घूमा करे। ठीक इसी प्रकार गणेश भगवान् के विलक्षणरूप को देखकर कोई नास्तिक अपने आपको ही एकमात्र सम्भावना का निर्णायक व्यर्थ मानता हुआ तादृश स्वरूप से ली जासकने वाली शिक्षाओं से वञ्चित रहजाये तो यह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। इस लिये हम पहिली किश्त में बुद्धिवादियों को यही बतलाना चाहते हैं कि गणेश को तुम कार्य में निर्विघ्नता चाहने वालों के लिए शिक्षाप्रद रेखाचित्र ही समझ लो—कल्पना करो—तुम यह रहस्य जानना चाहते हो कि—हमारे किसी कार्य में कोई विघ्न बाधा उपस्थित न हो, एतदर्थ हमें स्वयं क्या प्रयत्न करने चाहिये। यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि हमारे कार्य्यों में जो विघ्न उपस्थित होते है उनके मूल में कुछ हमारी ही भूले लापरवाहियें, अनुचित चेष्टायें एवं गल्त फैहमियें होती हैं, यदि हम सचमुच सावधान हो जायें और तादृश चेष्टाओं की पुनरावृत्ति न होने दें तो निस्सन्देह हमारे सब काम विघ्न बाधाओं से प्रतिहत न होंगे।

शिर—जब हमने भगवान् वेदव्यास सदृश मनोविज्ञान के पारंगत किसी कलाकार के सामने अपना उपर्युक्त हार्द प्रकट किया तो उन्होंने शब्द चित्रमयी अतुल तूलिका उठाकर तादृश चित्र का निर्माण आरम्भ करते हुए सबसे प्रथम हस्ती का मस्तक अङ्कित

किया और कहा कि देखो तुम यदि अपने प्रत्येक कार्य्य में निर्विघ्नता चाहते हो तो अन्य किसी भी प्राणी से शिर भिड़ाने = टक्कर लेने की बुरी आदत को छोड़ दो, अपने मस्तक को औरों की अपेक्षा अधिक मर्मस्थल समझो, फिर चाहे तुम कितने ही वपु सम्पति-सम्पन्न क्यों न हो। यह शिक्षा संसार में केवल हाथी के मस्तक से ही ली जा सकती है क्योंकि संसार के अन्यान्य सभी प्राणियों का सर्वाधिक मर्मस्थान अण्डकोश होते हैं। हम मल्लों को सौ बार शिर भिड़ाते देखते हैं। छोटे २ बच्चे भी बाल लीला में प्रायः शिर भिड़ाते रहते हैं। भैंसे, सांड और मेंढों की शिरभिड़न्त तो बहुत प्रसिद्ध ही है, परन्तु इन सब जीवों के यदि अण्डकोशों पर थोड़ी भी चोट पड़ जाये तो विचलित हो उठते हैं। यदि शङ्कावादी महाशय को हमारी इस स्थापना पर कुछ भी सन्देह हो तो वे स्वय अपने अण्डकोशों पर तनिक चुटकी चलाकर परीक्षा कर ले—सो संसार के अन्यान्य सभी प्राणियों के अण्डकोश जहां गुह्यांग के निकट होते हैं वहां प्रकृति ने हाथी के अण्डकोश उसके मस्तक में स्थापित किये हैं। पाठकों ने देखा होगा कि अन्यान्य जीवों की भांति हाथी के गुह्यांग के निकट अण्डकोश नहीं होते किन्तु मस्तक के ऊपर जो मटकेसे औंधे उभरे हुए दीख पड़ा करते हैं वे वस्तुतः हाथी के अण्डकोश ही होते हैं, यही कारण है कि शरीर के अन्यान्य भागों की अपेक्षा इस भाग को अधिक मर्मस्थल समझ कर महावत इसी स्थान पर अपना अधिकार रखता है। जो हाथी अन्य अंगों पर भालों के प्रहारों से भी इतना विचलित नहीं हो सकता वही महाकाय जीव उक्त अंग के ऊपर पांव के अंगूठे की चोक से और अंकुश के तनिक से संकेत पर महावत की इच्छानुसार नाचता है। सो अपने शिर को अन्यों की अपेक्षा अधिक मर्मस्थल समझ

कर व्यर्थ भिडन्त और अविवेकपूर्ण अनावश्यक संघर्ष में प्रवृत्त न होने की शिक्षा एकमात्र हाथी के ही मस्तक से मिल सकती है। इसलिए कोई भी कलाकार ऐसा शिक्षाप्रद रेखाचित्र निर्माण करते हुए उसका मस्तक हाथी का ही लगाने के लिये बाध्य है।

हाथी की आंखें क्यों ?

इसी प्रकार—'निर्विघ्नता के इच्छुक साधक को अपने नेत्रों को अर्थात्–दृष्टिकोण को कैसा बनाना चाहिये'—यह शिक्षा भी एकमात्र हाथी के नेत्रों से ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि प्रकृति ने हाथी के नेत्रों को भी सब जीवों से विलक्षण बनाया है। जैसे दूरवीक्षण यन्त्र मे आगे पीछे दो कांच लगे रहते हैं आगे का कांच छोटा होता है और पीछे वाला बड़ा, ठीक इसी प्रकार प्राणियों के नेत्र यन्त्र में भी सामने वाला काला तिल–जिसे कनीनिका कहते हैं, छोटा होता है और उसका पीछे का भाग उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। यही क्रम प्रायः समस्त प्राणियों के नेत्रों में पाया जाता है, परिणामस्वरूप सब जीव सामने की वस्तु को उतनी ही बड़ी देखते हैं जितनी कि वह वास्तव मे होती है, परन्तु प्रकृति ने हाथी के नेत्र का निर्माण संसार के सब प्राणियों के नेत्रों से सर्वथा विपरीत किया है। जैसे सब प्राणी सूर्य्य के प्रकाश म खूब देखते हैं, परन्तु उलूक अपने शरीर के अनुपात से अधिक विस्तृत नेत्र-कनीनिका होने के कारण दिन मे देख ही नहीं पाता, आंख चुंधिया जाने के भय से बन्द किये किसी सूखे पेड़ की खोह में-दुबका रहता है, ठीक इसी प्रकार हाथी भी अपनी विपरीत कनीनिका के कारण सामने की छोटी वस्तु को भी बड़ी देख सकता है। जैसे ऐनक के शीशे के तारतम्य से हम सूक्ष्म अक्षरों को भी मोटे देखते हैं ठीक इसी प्रकार हाथी अपने नेत्र के विलक्षण निर्माण के

कारण सामने खड़े साढ़े तीन हाथ के मनुष्य को भी अपने से ऊंचा देखता है, सम्भवतः प्रकृति ने हाथी के तादृश नेत्र इसलिए निर्माण किये हों कि यह पर्वतायमान प्राणी कदाचित् अपनी वपुः सम्पत्ति के अभिमान से अन्यान्य लघु काय प्राणियों को कीटप्राय समझ कर पांवों से रौंद न डाले, इसलिये इसे सब अपने से बड़े दीखने चाहियें।

हमने उपर्युक्त रहस्य को जानने के लिए बहुत से हाथियों को सधाने वाले महावतों को पूछा है, उन्होंने उपर्युक्त बात का समर्थन करते हुए अधिक बतलाया है, कि हम नये नये हाथी के नेत्र में नीला थोथा आदि औषधियें इसलिए डालते हैं कि हाथी की दृष्टि कम हो जाए। यदि ऐसा न किया जाए तो यह सामने आने वाले अन्यान्य जीवों को अपने से बड़ा देखकर भय खाता है और ठीक नहीं चलता-सो अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले पुरुष को भी अपना दृष्टिकोण हाथी की भाति दूसरों को अपने से बड़ा देखने वाला बनाना चाहिए। मनुष्य जब दूसरों को तुच्छ समझकर उनका अपमान करता है किंवा अवहेलना=लापरवाही करता है तभी दूसरे लोग अपनी सम्मान संरक्षा के लिए उसे हृदय से सहयोग नहीं देते। सो दूसरों को अपने से बड़ा देखने की शिक्षा एक मात्र हाथी के ही नेत्रों से मिल सकती है इसलिए कोई भी कलाकार ऐसे रेखाचित्र में हाथी के ही नेत्र अङ्कित करने के लिए बाध्य है।

लम्बी नाक क्यों ?

संसार में 'नाक' शब्द प्रतिष्ठा के अर्थों में प्रयुक्त होता है। जब कोई पुरुष अनुचित कार्य्य कर बैठता है तो संसार उसे कहता है कि 'उसकी नाक कट गई'। प्रतिष्ठित कुल के सपूत अपने पूर्वजों

की नाक रखने के लिये ऋण उठाकर भी कुलोचित व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, सो अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले भद्र-पुरुष को चाहिए कि वह सदैव अपनी, अपने पूर्वजों की, अपने कुल एवं अपने देश की लम्बी नाक का ध्यान रखे, अर्थात्–ऐसा कोई ओछा कार्य्य करने को उद्यत न हो जिससे नाक कट जाए। यह शिक्षा केवल हाथी की लम्बी नाक से ही मिल सकती है क्योंकि प्रकृति ने अन्य किसी जीव को इतनी बड़ी नाक प्रदान नहीं की। इसलिए रेखाचित्र में कलाकार हाथी की ही नाक लगाने के लिए बाध्य है।

बड़े कान क्यों ?

हमारे कार्य्यों में बहुत से विघ्न केवल इसलिए आ पड़ते हैं, कि हम कानों के कच्चे होते हैं, अर्थात् हमारे कान इतने छोटे किंवा ओछे होते हैं कि जहां किसी कर्णेजप = चुगलखोर निन्दक ने झूठ सच आकर कहा कि—'तुम्हारा अमुक मित्र किंवा सम्बन्धी 'यूं' कहता है'—बस। हम उस दुरात्मा को सत्यवादी हरिश्चन्द्र समझकर उधेड़ बुन में पड़ जाते हैं और इस प्रकार अपने बहुत से विश्वासपात्र सहयोगियों की उपेक्षा करने लग जाते हैं, अथवा जो सुना उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ कर देते हैं। निःसन्देह हमारी यह चेष्टा अन्त में विघ्नरूप में परिणत हो जाती है सो अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले पुरुष को ओछे कान नहीं रखने चाहिए; किन्तु अपने कानों को इतना विस्तृत बनाना चाहिए कि जिनमें सैंकड़ों असूयकों की विद्वेषपूर्ण बातें ऐसी समा जाएं कि वे कभी जिह्वा के अग्रभाग पर आने ही न पाएं। यह शिक्षा भी हाथी के सूर्पाकार कर्णों से ही ली जा सकती है, इसलिए मनोविज्ञान के

चतुर चितेरे ने उक्त रेखाचित्र में कान भी हाथी के ही अंकित किये।

हाथी की जीभ क्यों ?

सब विघ्नों को दूर करने किंवा उनको बुलाने में जिह्वा का सर्वाधिक हाथ है। एक शब्द अनुकूल निकल गया तो बुराई पर तुला हुआ घोर शत्रु भी मोम बन गया, एक शब्द प्रतिकूल बोला गया, कि अपने पसीने के स्थान में खून बहाने वाला चिर-विश्वस्त सम्बन्धी सदा के लिए शत्रु बन गया। कहा जाता है कि तलवार का घाव भर जाता है परन्तु बोल का कांटा मृत्यु पर्य्यन्त कसकता रहता है। इसलिये अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले पुरुष को चाहिए, कि वह अपनी जिह्वा का नोकीला बाण दूसरों पर न तान-कर उसका अग्रभाग अपनी ओर ही रक्खे अर्थात्-दूसरों को कुछ कहने से पूर्व 'स्वयं कितने पानी में है' यह आत्म-निरीक्षण भी कर ले। यह शिक्षा हाथी को छोड़कर संसार के अन्य किसी जीव की जिह्वा से नहीं ली जा सकती क्योंकि सभी जीवों की जिह्वा मनुष्य की भांति कण्ठ की ओर से आगे की ओर ही लपलपाती है परन्तु संसार में हाथी ही एकमात्र ऐसा जन्तु है, जिसकी जिह्वा प्रकृति ने दन्तमूल की ओर से कण्ठ की ओर लपलपाती लगाई है। सम्भव है पाठकों ने सौ वार हाथी देखने पर भी इस अद्भुत तथ्य को न जाना हो, वस्तुत. हाथी के मूंड का निर्माण संसार के समस्त प्राणियों से विलक्षणतम है ऐसी स्थिति में रेखाचित्रकार किसी विलक्षण जिह्वा से तादृश शिक्षा देने के लिए हाथी की ही जिह्वा लगाने के लिए आपाततः वाध्य है।

हाथी के दांत क्यों ?

लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कि 'हाथी के दात खाने के और होते हैं और दिखाने के और होते हैं'—सो अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह सज्जन पुरुषों के साथ जहां शिर भिड़ाने से बचे, उदार दृष्टिकोण से पेश आए, कुलोचित प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रक्खे, प्रसङ्गवश उनकी ओर से कही गई मानव-सुलभ ओछी बातों को भी अनसुनी कर दे और उनके गुण दोषों को आलोचना न करके अपनी ही निर्बलताओं पर ध्यान दे, वहां अकारण शत्रुओं की दुष्टता से बचने के लिये भी हाथी के खाने के दांतों की भांति अपने हृदय के अभ्यन्तरतल में उनके वास्तविक स्वरूप को समझते हुए और उनसे सर्वदा सावधान रहते हुए भी अनावश्यक विरोध प्रकट न होने दे, किन्तु दिखावे के दातों की भांति ऊपर से मानवोचित लल्लोचप्पो बनी रहने दे, यह नीति है। यह शिक्षा भी हाथी के उभयविध दातों से ही मिल सकती है, परन्तु यह नीति केवल महाभारत के शब्दों में—'मायाचारो मायया बाधितव्य:' के अनुसार 'एक' सीमा तक ही आचरणीय है, सर्वथा और सर्वदा अनुकरणीय नहीं, इसलिए हाथी का मुख होते हुए भी दिखावे का दात केवल 'एक' ही चित्र में अंकित किया गया है इसीलिए गणेश का अन्यतम नाम (एक दन्त) प्रसिद्ध है।

गणेश के एक दन्त होने की कथा का रहस्य तो अन्यत्र प्रकट किया जाएगा परन्तु यहां इतना और भी अधिक जान लेना आवश्यक है, कि गणेश चित्र में दर्शनीय दांत केवल दांयी ओर का होता है बांयी ओर का नहीं होता जिसका तात्पर्य्य यह है कि वाह्य प्रदर्शन भी केवल दक्षिण = अर्थात्-चतुर श्रेणी के विप्रतिपक्षों के

लिए ही उचित है—वाम = अर्थात्-स्वभावतः कुटिल कदर्य्यों का तो मनु के शब्दों में—'वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' अर्थात्—वाणी मात्र से भी आदर नहीं करना चाहिए।

यहां तक—मस्तक से लेकर कण्ठ पर्य्यन्त हाथी के अङ्गों से प्राप्त होने वाली शिक्षाओं का दिग्दर्शन किया गया है, कहना न होगा, कि उक्त शिक्षाएं केवल हाथी के ही विलक्षण अङ्गों से ही प्राप्त हो सकती हैं। संसार के अन्य किसी प्राणी के अंगों को प्रकृति ने तादृश नहीं बनाया है इसलिए रेखा-चित्र कला कुशल कोई भी कलाकार कुल चित्र में हाथी का ही मस्तक लगाने के लिए बाध्य है।

आकण्ठ नर-शरीर क्यों ?

अपने किसी कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले पुरुष के लिए उचित है, कि वह स्पष्टवादी हो, मानव हृदय रखता हो, मनुष्योचित कर्म्मकलाप में सतत निरत रहे एवं उसकी गति विधि मानवोचित होनी चाहिए। उक्त गुणों को सीखने के लिए उक्त चित्र में—कण्ठ, हृदय, हाथ और पांव अर्थात्-कण्ठ से नीचे का सब भाग नराकार अंकित किया गया है, मनुष्य ही केवल सुस्पष्टवादी है, शेष जीव कपचट आदि विशुद्ध ध्वनि बोलने में असमर्थ हैं अतः अस्पष्टवादी हैं। इसलिए यह शिक्षा मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी के कण्ठ से अप्राप्य है सो वेद के अनुसार—'तुरीयं वाचो मनुष्या-वदन्ति' अर्थात्—मनुष्य ही अर्थानुगत वाणी बोलने में समर्थ है इसलिए गणेश का गला मनुष्य के समान नियत है।

मनुष्य ही कर्म्मयोनि है, शेष सब जीव भोगयोनि के जन्तु हैं इसलिए प्रकृति ने केवल मनुष्य को ही समस्त कार्य्य कर सकने योग्य हाथ दिये हैं। बानर इसका अपवाद कहा जा सकता है परन्तु वह भी नर का समीपवर्ती जीव होने के कारण हाथ तो रखता है

किन्तु जिनसे वह खाता है इन्ही से पांवों का भी काम लेता है। अत. उन्हें विशुद्ध हाथ नहीं कहा जा सकता, सो कर्तृत्व भोक्तृत्व की भावना एकमात्र मनुष्य मे ही उपलब्ध हो सकती है । इसलिए गणेशचित्र मे मनुष्य सदृश हाथ अंकित किये गये हैं, परन्तु साधक को अर्थ, धर्म्म, काम और मोक्ष चार पदार्थों को प्राप्त करना है, इसलिए उसे निरन्तर पुरुषार्थ–चतुष्टय की प्राप्ति के लिये चतुर्विध कर्म्म करते रहना चाहिये, एतदर्थं चार भुजाए अंकित की गईं।

'सहृदय' शब्द तो केवल मनुष्य मे ही चरितार्थ होता है, संसार के अन्य जन्तु केवल हृदयहीन होने के कारण ही 'पशु' कहे जाते हैं । इसलिये हृदय का आवास-स्थान उरःस्थल भी मनुष्य के ही समान उक्त चित्र मे अकित किया गया है ।

गतिविधि-चाल–रफ्तार–कदम—आदि शब्दों का व्यवहार तादृश कार्य्य कलाप के लिये किये गये उपक्रम उद्योग किवा कार्य्य-प्रणाली की रूपरेखा के अर्थ मे किया जाता है, सो बैल. घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि पशुओं को उचित मार्ग मे प्रवृत्त रखने के लिये, नाथ लगाम, नकेल और अंकुश की आवश्यकता रहती है तभी वे संयत, रूप से कदम उठा सकते है अन्यथा अन्यत्र–गामी हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसकी गतिविधि ठीक करने के लिये तादृश भौतिक साधनों की आवश्यकता नहीं, किन्तु बुद्धिजीवी होने के नाते वेदादि शास्त्रों के वचन ही उसके नियन्त्रण के लिये पर्याप्त समझे गये हैं। इसलिये 'शास्त्र' जिसे 'एष निष्कण्टक. पन्था' कहे उसी सन्मार्ग पर कदम बढ़ाते चले जाना, मानव को विशेषता है, एतदर्थ उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये गणेश चित्र मे मनुष्य के समान पांवों का ही उपयोग हुआ है ।

लम्बोदर क्यों ?

गणेश का अपर पर्य्याय लम्बोदर भी है। लोक में किसी भद्र-पुरुष के दैवात् विकृत हुए अङ्ग का निर्देश करते हुए उसका नाम धरना अपमान-जनक समझा जाता है, परन्तु गणेशभगवान की उपर्युक्त नाम से स्तुति करना अनेक लाभों का हेतु है। उक्त नाम की व्याख्या तो यथास्थान की जायेगी, परन्तु यहां यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले साधक को एक प्रधान शिक्षा देनी अभी शेष थी जिसका सन्निवेश उक्त लम्बोदर आकृति में किया गया है, तद्यथा—संसार में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं, एक वे हैं जो कि कुछ भी झूठी सच्ची बात सुन पाएंगे तो तत्काल उसे 'गेहे गेहे जने जने' गाते फिरेंगे। जब तक वे उस कच्ची पक्की बात का बिना वेतन लिये ही ढिण्ढोरा न पीट डालेंगे तब तक उनको भोजन भी हजम न होगा। ऐसे ही पुरुष अफवाह फैलाने के उद्गम स्थान माने जाते हैं। कहना न होगा कि अफवाहों के कारण सैकड़ों पुरुष आतंकित होकर किंकर्तव्य-विमूढ़ता में कुछ का कुछ अनर्थ कर बैठते हैं, कई तो भयवशात् 'हृदय गति' बन्द हो जाने के कारण मृत्यु के मुख में चले जाते हैं, बहुत से बैंकों का दिवाला निकल जाता है। इसीलिए लड़ाई झगड़े के दिनों में सरकार को ऐसे जंगी जीवों की रोक थाम के लिये आर्डीनेंस तक बनाने पड़ते हैं। सचमुच इस प्रकृति के मनुष्य न केवल अपने लिये बल्कि अपने पड़ौसियों, नगर वासियों एवं देश तक के लिए भयावह सिद्ध होते हैं। ऐसे सज्जनों (?) को कहा जाता है कि इनका पेट बहुत छोटा है, अर्थात् इनको साधारण सी बात भी नहीं पचती।

दूसरे वे लोग हैं जो बड़ी से बड़ी रहस्यपूर्ण भयंकर बात सुन

कर भी उसे ऐसा पी जाते हैं कि आयु भर दूसरे के सामने उसकी गन्ध तक नहीं आने देते। महाभारत में प्रसिद्ध है कि दानवीर कर्ण कुन्ती की प्रथम सन्तान थे अर्थात् महाराजा युधिष्ठिर के ज्येष्ठ भ्राता थे, परन्तु कुन्ती ने यह रहस्य कर्ण के जीवन काल में किसी पर प्रकट नहीं किया, उसके मरने पर ही युधिष्ठिरादि को बताया कि 'अपने ज्येष्ठ भ्राता कर्ण को जलाञ्जलि प्रदान करो'—इस पर युधिष्ठिरादि को बहुत शोक हुआ, कदाचित् यह रहस्य पहले विदित हुआ होता तो महाभारत का संहारक सग्राम ही न ठना होता—अतः स्त्री जाति को शाप दिया कि 'इनको बात न पचा करे'—इस कथा का तात्पर्य जो भी हो परन्तु प्रत्यक्षतः स्त्री जाति अपने छोटे पेट के लिये बहुत काफी प्रसिद्ध है, इसीलिये धर्म्म शास्त्रों तक मे उनकी इस प्रकृति से अनर्थ हो जाने की आशङ्का के विचार से ही 'स्त्रीषु नर्म्मविवाहेच नानृतं स्यात् जुगुप्सितम्' अर्थात्—स्त्रियों में उपहास में और विवाहादि—विनोद के अवसरों पर अयथार्थ कह-देना पाप नहीं माना है, अस्तु ।

छोटे पेट से तात्पर्य्य है (जिसे बात न पचती हो) बड पेट का अर्थ है—बडी से बडी रहस्यपूर्ण बात को भी शर्बत की तरह पी जाना, सो छोटा पेट रखने वाले लोग अपनी इस मूर्खतापूर्ण आदत के कारण सैकडों विघ्नों के पात्र बन जाते हैं, परन्तु बडा पेट रखने वाले गम्भीर पुरुष बड़ी से बड़ी आपत्ति को भी धीरतापूर्वक पार कर जाते हैं, इसलिये तादृश शिक्षा ग्रहण करने के लिये चतुर कलाकार ने इस विज्ञानमय पवित्र चित्र मे पेट को लम्बायमान अंकित किया है ।

मूषक वाहन क्यों ?

यदि हम यहां चूहे की चर्चा न करें तो यह रेखाचित्र अधूरा ही

रह जाए, पूरा चित्र तो तभी बनता है जबकि ऊपर महा विशाल हाथी का मस्तक ! उसके नीचे साढ़े तीन हाथ के मनुष्य का छोटा सा धड़ । और उसके भी नीचे अकिंचित्कर मूषक जैसे स्वल्पकाय जन्तु का क्षुद्रतम कलेवर । निस्सन्देह यह वैदिक रेखाचित्र सर्वसाधारण की समझ बूझ की वस्तु नहीं है । हमने प्रायः बहुत से शास्त्रार्थों में देखा है कि आर्य्योपदेशक महाशय गणेश के आधा हाथी और आधा मनुष्य-रूप पर तो 'सनातन धर्मियों का कलमी देवता' कहकर खूब उपहास करते हैं, परन्तु जब मूषक वाहन का प्रसंग आता है तो उनका वह उपहास आवेश और क्रोध के रूप में परिणत हो जाता है । मजाक उड़ाना भूलकर लड़ने मरने को उद्यत हो जाते हैं । हमने जब उनकी इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया तो मालूम हुआ कि उनका क्रुद्ध होना सहेतुक ही है, कारण ? सब जानते हैं कि स्वामी दयानन्द को जो कथित बोध हुआ था वह शिवलिंग पर चुहिया को चढ़े देखकर ही हुआ था, यह बात सब समाजी स्वीकार करते हैं, ऐसी दशा में आर्य्यसमाज की मूल उपदेष्ट्री कीमती चुहिया ही ठहरी, सो चुहिया में किसी भी महाशय की श्रद्धा का होना अस्वाभाविक नहीं, अब यदि सनातन धर्मियों का हस्ती सुण्ड, उद्दण्ड वक्रतुण्ड समाजियों की चुहिया पर सवार हो जाए तो उनका बिगड़ उठना निष्कारण नहीं । फिर सूक्ष्मांगी चुहिया और लम्बोदर गणेश का शारीरिक तारतम्य मिलाने पर तो यह चेष्टा और भी गुरुतर अपराधरूप में परिणत हो जाती है, परन्तु हम अपने मित्र महाशयों को नम्रता पूर्वक बता देना चाहते हैं, कि इसमें सनातन धर्म्मियों किंवा उनके गणेश का तनिक भी दोष नहीं क्योंकि उनकी यह चेष्टा अपनी इच्छा से नहीं किन्तु साक्षात् निराकार बाबा ने यजुर्वेद में आदेश दिया है कि—

आखुस्ते पशुः ।

अर्थात्—(हे गणेश ! मैं) तेरा पशु = वाहन आखु = मूषक = चूहा नियत करता हूं ।

इसीलिए गणेश भगवान् बेरोक टोक मूषक महाराज पर विराजते हैं । जिस भगवान् ने आम्र जैसे विशाल वृक्ष को छोटा सा फल चिपकाया और अकिंचित्कर तरबूज, सीताफल आदि की लहलही लतिकाओं में विशालकाय फलों को संयुक्त किया उसी भगवान् ने आपकी चुहिया का श्री गणेश के साथ सामंजस्य भिडाया । अस्तु,

सम्भव है, पाठक हमारे इस उपक्रम की विशालता में नीरसता अनुभव करें, परन्तु हमने वास्तव में एक अक्षर भी इसमें अनावश्यक नहीं आने दिया है—तात्पर्य्य यह है कि—समस्त विघ्नों का प्रधान कारण साधक के मन मे उठने वाले तर्क-वितर्क, ननुनच, किन्तु, परन्तु ही हैं । जो पुरुष आवश्यकता से अधिक शङ्काशील होता है वह श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों मे—'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात्—विनष्ट हो जाता है ।

सो जैसे सत्वगुण की प्रतीक गोमाता, रजोगुण का प्रतीक सिंह और तमोगुण का प्रतीक सर्प या महिष है, ठीक इसी प्रकार तर्क का प्रतीक मूषक = चूहा है । अहर्निश काट छाट करना, अच्छी से अच्छी वस्तुओं को भी निष्प्रयोजन कुतर डालना—यह चूहे का स्वभाव है—सो अपने कार्य्य मे विघ्न न चाहने वाले साधक को उचित है कि वह अपनी कुतर्कों को उपर्य्युक्त गणेश प्रतिमा से प्राप्त किए ज्ञान के द्वारा दबाए रक्खे, अर्थात्—तर्क को स्वतन्त्र न विचरने दे, किन्तु जैसे सवार वाहन को अपने वश में रखकर अपनी इच्छानुसार उद्दिष्ट स्थान की ओर चलाता है, ठीक इसी प्रकार 'तर्कोऽप्रतिष्ठ.' के अनुसार अपनी तर्क प्रणाली को उच्छृङ्खल न बनाकर उसको 'वेदशास्त्राविरोधिना' रूप से वेदादि शास्त्रों की अनु-

सन्धायक बनाए । यही गणेशवाहन मूषक का तात्पर्य्य है ।

आर्य्यसमाजी तथा कथित बुद्धिवादी तर्क ही को मुख्य मानते हैं, अतएव हमने बार बार अपने लेख में चुहिया को महाशयों की सम्बन्धिनी प्रकट किया है, और सनातनधर्म्मी प्रमाणवाद को प्रधान मानते हैं इसलिए गणेश को उनका सम्बन्धी प्रकट किया है, यही हमारे उपक्रमात्मक रूपक का तात्पर्य्य है ।

लोकव्यवहार में मूषक, सम्पन्न घरों के प्रतीक समझे जाते हैं, दरिद्रों के यहां प्रायः 'चूहे सूखे दण्ड पेलते हैं' कहकर उनकी स्थिति का निरूपण किया जाता है । जिस नगर किंवा जिस घर में चूहे मरने लग जाते हैं वहां आने वाली विघ्न बाधाओं का सहज में ही अनुमान हो जाता है । महामारी आदि बहुत सी बीमारियों का पूर्व रूप चूहों की मृत्यु समझा जाता है । जब तक चूहे घर में आनन्द से रहें घर वालों को कुछ चिन्ता नहीं । इस दृष्टि से भी चूहा का विघ्न विनाशक गणेश के वाहन मानना सर्वथा सङ्गत है ।

ऋद्धि सिद्धि सेविकायें ?

प्रत्येक गणेशचित्र के साथ हाथ में चँवर लिये बांए दाए दोनों ओर ऋद्धि और सिद्धि की समुपस्थिति प्रायः अङ्कित की जाती है, जिसका सीधा तात्पर्य्य यह है कि जो साधक सर्वविध विघ्न बाधाओं को पार करके तर्काश्रित बुद्धिवाद का समुपासक होगा, संसार भर की समस्त ऋद्धि और सिद्धि उसके चरण चूमने को सदैव उद्यत रहेंगी ।

इस प्रकार गणेश भगवान् के वाह्यचित्र की रूप रेखाओं के मनन करने से होने वाली शिक्षाओं का निरूपण करके हम घोरतम नास्तिकों से पूछना चाहते हैं कि—जब आप नित्य ही समाचारपत्रों

में छपे रेखाचित्रों का बडे चाव से अध्ययन करते हैं और सामयिक समस्याओं की वस्तुस्थिति प्रकट कर सकने योग्य व्यङ्ग्यचित्र पर उसके निर्माता की कला की दाद देते हैं, तब हमारे जीवन की एक प्रबल समस्या पर सर्वाङ्गपूर्ण प्रकाश डालने वाले गणेशचित्र और उसके प्रदर्शयिता भगवान् व्यासदेवकी अनुपम प्रतिभा पर नतमस्तक क्यों नहीं होते ? हम समझते हैं कि हमारी इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद घोरतम नास्तिक भी प्रत्येक कार्य्य के आरम्भ मे उपर्य्युक्त चित्र का मनन करके अपने आपको तादृश बनाने में कृतकार्य्य हो सकेगा, जैसा बन जाने पर कि वास्तव में किसी कार्य्य में भी विघ्न बाधा उपस्थित होने की सम्भावना शेष नहीं रह सकती ।

गणेश की विचित्र उत्पत्ति

पौराणिक स्वरूप—

पुराण ग्रन्थों मे गणेश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई कथाएँ उपलब्ध होती हैं, यद्यपि कल्प भेद के कारण तत्तत् कथानकों में किञ्चित् भेद भी पाया जाता है, परन्तु मूल बातें सभी कथाओं में समान ही पाई जाती हैं । यथा —

(१) गणेश—किसी कर्म्म-फल जन्य शरीर धारी माता पिता द्वारा गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु अमैथुनी सृष्टि के अनादि और स्वयम्भु देवता हैं ।

(२) उनका मस्तक छिन्न होने पर ही गज-मस्तक जोड़ा गया है

(३) वे सभी देवताओंसे एकस्वरसे प्रथमपूज्य नियत किए गए हैं,

(४) वे गजमुख, एकदन्त, चतुर्भुज और लम्बोदर हैं । इत्यादि

पौराणिक स्वरूप

(क) कदाचिन्मज्जमानायां पार्वत्यां वै सदाशिवः ।
नन्दिनं परिभत्स्र्यैवमाजगाम स्वयं तदा ॥
उत्तस्थौ मज्जमाना सा लज्जिता सुन्दरी तथा ।
एवं जाते तदा काले कदाचित्पार्वती शुभा ॥
मदीय सेवकः कश्चिद् भवेच्छुभ ... तदा ।
इत्थं विचार्य्य सा देवी करयोर्जलसम्भवम् ॥
शङ्खमुत्सार्य्य तेनैव निर्ममे पुत्रकं शुभम् ॥

(शिवपुराण ज्ञान संहिता अध्याय ३२)

(ख) कदाचिद् गन्धतैलेन गात्रमभ्यज्य शैलजा ।
चूर्णैरुद्वर्तयामास मलेनापूरितं वपुः ॥
तदुद्वर्तनक गृह्य नरं चक्रे गजाननम् ।
पुरुषं क्रीडती देवी साक्षेपं च तदम्भसि ॥

(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय ४५४—५५)

(ग) यच्चापि हसितं तेन देवेन परमेष्ठिना ।
मूर्तिमानपि तेजस्वी हसतः परमेष्ठिनः ॥
प्रदीप्तास्यो महादीप्तः कुमारस्त्रासयन् दिशः ।
तं दृष्ट्वा परमं रूपं कुमारस्य महात्मनः ॥
उमा निमेषनेत्राभ्यां सहापश्यत् सुभामिनी ।
तं दृष्टवा कुपितो देवः स्त्रीभावं चञ्चलं तथा ॥

मत्वा कुमाररूपं तं शोभनं मोहनं दृशाम् ॥
ततः शशाप तं देवो गणेशं परमेश्वरः ।
कुमार ! गजवक्त्रस्त्वं प्रलम्बजठरस्तथा ॥

(वाराह पुराण २३। १४—१८)

(ब) प्रतिष्ठाप्य तदा द्वारि निर्वाप्यो य इहागमेत् ।१९।
एतदन्तरमासाद्य शूलपाणिस्तथोत्तरे ॥
आगत्य च त्रिशूलेन शिरस्तस्य न्यपातयत् ॥६६॥
इत्येवमभिमन्त्रेण मन्त्रितश्च यदा पुनः ।
तदोतस्थौ पुनश्चायं शुभाङ्गः सुन्दरस्तथा ॥३९॥
अभिषिक्तस्तदा देवगणाध्यक्षैर्गजाननः ॥४०॥

(शिवपुराण ज्ञान संहिता अध्याय ३२-३३)

(ड) नायकेन विना देवि ! मया भूतोऽपि पुत्रकः ॥७२॥
यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः ॥७३॥

(शिवपुराण ज्ञान संहिता अध्याय ३३)

(च) शङ्कराय ददौ तां च पार्वतीं पर्वतो मुदा ॥१४॥
स रेमे नर्मदातीरे पुष्पोद्याने तया सह ॥१५॥
सहस्रवर्षपर्य्यन्तं दैवमानेन नारद ॥१६॥

(ब्रह्मवैवर्त गणपतिखण्ड अध्याय १)

दृष्ट्वा सुरान् भयार्तांश्च˝ स विष्णुर्विष्णुमायया ।१९।
गणेशरूपः श्रीकृष्णो बालरूपं विधाय सः ।८२—८३।
तल्पस्थे शिववीर्य्ये च मिश्रितः स बभूव ह ॥८४॥

(ब्र० वै० गण० ८)

(छ) एतस्मिन्नन्तरे तत्र द्रष्टुं शङ्करनन्दनम् ।
आजगाम महायोगी सूर्य्यपुत्रः शनैश्चरः ॥

(ब्र० वै० गण० ११।५)

शनैश्च दृष्टिमात्रेण चिच्छेद मस्तकं मुने ! ॥७॥
विस्मितास्ते सुराः सर्वे ···आरुह्य गरुडं हरिः ॥१०-११॥
गजेन्द्रं निद्रितं तत्र ···तथोदक् शिरसं रम्यम् ॥१२-१३॥
रुचिरं तत् शिरः सम्यग् योजयामास बालके ।२१।
जीवयामास तं शीघ्रं हुंकारोच्चारणेन च ॥२२॥
सर्वाग्रे तव पूजा च मया दत्ता सुरोत्तम ॥

(ब्र० वै० गण० १३।)

(ज) पितुरव्यर्थमस्त्रं च दृष्ट्वा गणपतिः स्वयम् ।
जग्राह वामदन्तेन नास्त्रं व्यर्थं चकार ह ॥३६॥
निपात्य पर्शुर्वेगेन छित्वा दन्तं समूलकम् ।
जगाम रामहस्तं च महादेवबलेन च ॥३४॥

(ब्रह्मवैवर्त गण० ४३)

विष्णुरुवाच—
पुत्राभिधानं वेदेषु पश्य वत्से ! वरानने !
'एकदन्त' इतिख्यातं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥

(ब्र० वै० गण० ४४। ८३)

अर्थात्—(क) किसी समय पार्वती स्नान कर रही थी, (रोकने पर) द्वारपालभूत नन्दीगण को झिड़ककर सदाशिव भगवान् स्वयं अन्दर आ पहुँचे। तब स्नान करती हुई सुन्दरी पार्वती लज्जित होकर

उठ खड़ी हुई। ऐसा होने पर पार्वती ने सोचा कि कदाचित् मेरा कोई निजी सेवक हो तो ठीक रहे। ऐसा विचार करती हुई पार्वती ने अपने हाथों से कमल निर्मित चूड़ियें उतार कर उन से ही एक पुतला बनाया।

(ख) शैल-पुत्री पार्वती ने कभी अपने शरीर पर सुगन्धित तैल की मालिश की और उबटन के साथ उस चिकनाहट को उतारते हुए सब शरीर मैल से परिपूरित हो गया। अनन्तर उसी मैल को लेकर हाथी जैसे मुखवाला एक पुतला बनाकर एक बार जल में डालती हुई क्रीड़ा करने लगी।

(ग) भूतभावन भगवान् शिव अद्भुतरूप-सम्पन्न गणेश को देखकर हँसने लगे। तब वह तेजस्वी कुमार सब दिशाओं को प्रदीप्त करता हुआ और भी अधिकाधिक शोभायमान होने लगा, पार्वती उस परमसुन्दर कुमार के रूप लावण्य को निर्निमेष नेत्रों से उत्कण्ठा पूर्वक देखने लगी। शङ्कर पार्वती की इस स्त्री-सुलभ चञ्चलता को देखकर और बालककी मनोमोहक सुन्दरता को देखकर क्रुद्ध हुए और गणेश को शाप दिया कि—हे कुमार! तुम्हारा मुख हाथी के समान हो! और तुम्हारा पेट भी लम्बा हो जाए।

(घ) पार्वती ने इस (मल निर्मित पुतले को) द्वार पर खड़ा किया और कहा कि—जो अन्दर आए उसे रोको। अनन्तर शूल हाथ में लिये शिव आ पहुँचे। (रोकने पर) शिव ने त्रिशूल से मस्तक काटकर गिरा दिया। (पुनः पार्वती को प्रसन्न करने के लिए) ज्यों ही मन्त्रजल से उसे अभिमन्त्रित किया, वह पूर्ववत् सुन्दर सजीव होगया। तब सब देवताओंने उसको समस्त गणों के अधिष्ठाता पद पर अभिषिक्त किया।

(ङ) महादेव ने कहा—हे पार्वती! यह कुमार मुझ नायक के

बिना ही उत्पन्न होकर पुत्र बना है, इसलिए इसका अन्वर्थ नाम 'वि-नायक' प्रसिद्ध होगा ।

(च) हिमाचल ने अपनी पुत्री पार्वती, शङ्कर भगवान् को प्रदान की। नर्मदा के किनारे पुष्पोद्यान में शङ्कर पार्वती से रमण करने लगे। देवताओं के एक सहस्र वर्ष बीत गए। (असुरों के) भय से त्रस्त हुए देवताओं को देखकर विष्णु भगवान् अपनी वैष्णवी माया से शय्या पर गिरे। शिव वीर्य्य मे मिश्रित होकर बालरूप श्रीकृष्ण भगवान् गणेशरूप में परिणत होगये ।

(छ) इसी समय महायोगी सूर्य्य-पुत्र शनैश्चर शङ्कर भगवान् के इस पुत्र को देखने के लिए यहां आ पहुंचे। शनि की दृष्टिमात्र पड़ने से बालक का मस्तक छिन्न होगया, तब सब देवता बहुत चकित हुए। (रङ्ग में भङ्ग देखकर) विष्णु भगवान गरुड़ पर चढ़ कर चले, मार्ग में उत्तर को शिर किये सोते हुए एक हाथी को देख-कर सुदर्शन चक्र के साथ उसका मस्तक काट कर ले आए और उस सुन्दर मस्तक को बालक के अङ्ग पर संयुक्त कर दिया। तत्काल 'हुं' मन्त्र के उच्चारण से उसे जीवित कर दिया, तथा सब देवताओं से पूर्व तुम्हारी पूजा होगी ऐसी व्यवस्था की।

(ज) (सहस्रार्जुन और परशुराम के युद्ध प्रसङ्ग के समय) गणेश जी ने देखा कि—(परशुराम ने) मेरे पिता का प्रदान किया हुआ अमोघ अस्त्र सन्धान किया है, तब जानबूझ कर उसे सफल बनाने के निमित्त अपने बांए दांत पर ओटा, पशु ने प्रहार वेग से दांत को जड़ से उखाड़ कर फैंक दिया और पुनः वह महादेव के बल से परशुराम के ही हाथ में चला गया। (चिंतित पार्वती को) विष्णु भगवान् ने कहा—हे देवि ! वेदों में अपने पुत्र का नाम देखो वहां 'एकदन्त' लिखा है, सब देवताओं से इसी नाम से पूजित हैं।

वैदिक स्वरूपः—

(क) रुद्रो वै ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च देवानाम् । (कौषीतकी २५।१३)

(ख) ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् । (शतपथ १४।३।४।४)

(ग) अस्माद् वीर्य्यमुदक्रामत् । (शतपथ ७।१।२।१–६)

(घ) ततो विराडजायत । (यजु० ३१।५)

(च) ...... त्वं कुमारः .... त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख ।
(अथर्व० १०।८।२७)

(छ) शिर इन्द्रोद्वर्तयः । (ऋग्वेद ८।१४ १३)

(ज) शिरः प्रत्यैरयतम् । (ऋग्वेद १।११७।२२)

(झ) गणानां त्वा गणपतिं हवामहे । (यजुः)

(ट) लम्बोदराय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि ।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात् । (गणेश गायत्री)

अर्थात्—(क) रुद्र भगवान् देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। (ख) तब पति और पत्नी होगये। (ग) इससे वीर्य्य गिरा। (घ) तब उससे (समस्त गणों के) विशिष्ट राजा (गणपत्ति) उत्पन्न हुए (च) तू कुमार = कुत्सित विघ्नों का सहार करने वाला है और तू सब ओर से मुख = मुख्य = सब देवों में अग्रपूज्य है। (छ) देवाधिदेव ने उसका शिर काट डाला। (ज) पुनः अन्य शिर को संयुक्त किया गया। (झ) आप समस्त गणों के पति हैं, हम स आपका अवाहन करते हैं। (ट) बड़ा पेट, हाथी की सूंड और एकदन्तोपलक्षित देव का हम विवेकपूर्वक ध्यान करते हैं, वह हमें शुभ कार्य्यों में प्रेरित करे।

पाठक उपर्युक्त पौराणिक और वैदिक दोनों स्वरूपों की तुलना करके देखें, वेद में बीजरूपेण सभी पौराणिक भावों का मूल सुस्पष्ट विद्यमान है। अब हम क्रम प्राप्त इसका आध्यात्मिक भाव प्रकट करते हैं। बनारस के 'पण्डित पत्र' में प्रकाशित एक लेख से इस अंश के सङ्कलन में बहुत सहायता मिली है, एतदर्थ हम अज्ञात लेखक के कृतज्ञ हैं—

आध्यात्मिक-भाव

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परम तत्व ही गणपतितत्व है, क्योंकि 'गणानां पति' गणपति', गण शब्द समूह का वाचक होता है। 'गणशब्दः समूहस्य वाचकः परिकीर्त्तितः।' समूहों के पालन करने वाले परमात्मा को गणपति कहते हैं। देवादियों के पति को भी गणपति कहते हैं। अथवा—'महत्तत्वादि-तत्वगणाना पतिः गणपतिः' अथवा—'निर्गुणसगुण ब्रह्मगणानां पतिः गणपतिः'; तथा च-सर्वविध गणों को सत्ता स्फूर्त्ति देने वाला जो परमात्मा है वही गणपति है। अभिप्राय यह कि "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इस न्याय से जिसमें ब्रह्मतत्व के जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलत्व, जगन्नियन्तृत्व सर्वपालकत्वादि गुण पाये जांय वही ब्रह्म होता है। जैसे आकाश का जगदुत्पत्तिस्थितिकारणत्व-"आकाशादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इस श्रुति से जाना जाता है। इसलिये वह भी आकाश पदवाच्य परमात्मा माना जाता है।

अतीन्द्रिय सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्णय केवल शास्त्र के ही आधार पर किया जा सकता है। जैसे शब्द की अवगति श्रोत्र से ही होती है वैसे ही पूर्ण परम तत्व की अवगति शास्त्र से ही होती है। इसीलिए "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, शास्त्रयोनित्वात्" इत्यादि

श्रुतिसूत्र तथा अनेकविध युक्तियों से भी यही साबित होता है कि सर्व जगत् कारण ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। यदि शास्त्रातिरिक्त अन्य प्रमाणों से वस्तुतत्व की अवगति हो जाये तो शास्त्र को अनुवादक मात्र होने से नैरर्थक्य-प्रसङ्ग दुर्वार होगा, इसीलिए गणपति तत्व की अवगति मे मुख्यतया शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रानुसार यही जाना जाता है कि 'गण्यन्ते बुद्धयन्ते ते गणाः' इस व्युत्पत्ति से सर्व दृश्य मात्र गण है और उसका जो अधिष्ठान है वही गणपति है। कल्पित की स्थिति-प्रवृत्ति अधिष्ठान से ही होती है; अतः कल्पित का पति अधिष्ठान ही युक्त है। यद्यपि कहा जा सकता है कि तब तो भिन्न २ पुराणों में शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि ही ब्रह्मरूप से विवक्षित हैं। जब कि ब्रह्मतत्व एक ही है तो उसके नाना नाम रूप भिन्न २ पुराणों में कैसे पाये जाते हैं। पर इसका उत्तर यही है कि एक ही परमतत्त्व भिन्न २ उपासकों की भिन्न २ अभिलषित सिद्धि के लिए अपनी अचिन्त्य लीलाशक्ति से भिन्न २ गुणगण सम्पन्न होकर भिन्न २ नामरूपवान् होकर अभिव्यक्त होते हैं। जैसे वामनीत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व सङ्कल्पत्वादि गुण विशिष्ट ब्रह्मतत्व की उपासना करने से उपासकों को उपास्यविशेषणभूत गुण ही फल रूप में प्राप्त होते हैं, ठीक वैसे ही प्राधान्येन विघ्नविनाशकत्वादि गुणगणविशिष्ट गणपति रूप में वही परमतत्व आविर्भूत होते हैं।

यदि कहा जाय कि फिर इसी तरह से बाह्याभिमत भिन्न २ देव भी ब्रह्मतत्व ही होंगे; तथा इतना ही क्यों, जब कि सारा ही प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व है तब गणपति ही क्यों विशेष रूप से ब्रह्म कहे जांय। इसका उत्तर यही है कि ठीक, यद्यपि अधिष्ठान रूप से बाह्याभिमत देव तथा तत्तद्वस्तु सकल ब्रह्मरूप कहे जा सकते हैं,

तथापि तत्तद्गुणगण विशिष्ट रूप से ब्रह्मतत्व तो केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है, अर्थात्—शास्त्र ही जिन २ नामरूपगुणयुक्त तत्वों को ब्रह्म बतलाते हैं वही ब्रह्म हो सकते हैं। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान कराने में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हो सकते हैं। शास्त्र मुख्य रूप से वेद और वेदानुसारी स्मृतीतिहासपुराणादि ही है, यह बात आगे पूर्ण रूप से विवेचित की जायगी। शास्त्र गणपति को पूर्ण परब्रह्म बतलाते हैं।

स्वरूप-विवेचन

गणपति के स्वरूप में नर तथा गज इन दोनों का ही सामंजस्य पाया जाता है। यह मानों प्रत्यक्ष ही परस्पर विरोध से प्रतीयमान तत्पदार्थ तथा त्वं पदार्थ के अभेद को सूचित करता है। क्योंकि तत्पदार्थ सर्व जगत्कारण सर्वशक्तिमान् परमात्मा होता है। एवं त्वं पदार्थ अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् जीव होता है। उन दोनों का ऐक्य ऊपरिष्टात् (स्थूल दृष्टि से) यद्यपि विरुद्ध है, तथापि लक्षणा से विरुद्धांशद्वय का त्याग कर एकता सुसम्पन्न होती है। तद्वत् लोक में यद्यपि नर और गज का ऐक्य असमञ्जस है, तथापि सकल-विरुद्धधर्माश्रय भगवान् में वह समञ्जस है। अथवा जैसे 'तत्पद' लक्ष्यार्थ सर्वोपाधिनिकृष्ट "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" एवं लक्षण लक्षित ब्रह्म है, वैसे ही 'त्वं' पदार्थ जगन्मय सोपाधिक ब्रह्म है। इन दोनों का अखण्डैक रस 'असि' पदार्थ में सामञ्जस्य है। इसी तरह नर और गज स्वरूप का सामंजस्य गणपति स्वरूप में है। 'त्वं' पदार्थ नर स्वरूप है तथा 'तत्' पदार्थ गज स्वरूप है एवं अखण्डैक रस गणपति रूप 'असि' पदार्थ में इन दोनों का सामंजस्य है।

शास्त्रों में नरपद से प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा है, तथाहि—

"नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।"

गज शब्दार्थ शास्त्रों में ऐसा किया है—**समाधिना योगिनो गच्छन्ति यत्र इति 'गः',—यस्मात् बिम्बप्रतिबिम्बवत्तया प्रणवात्मकं जगज्जायते इति 'जः'**। समाधि से योगी लोग जिस परमतत्व को प्राप्त करते हैं वह 'ग' है और जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, वैसे ही कार्य-कारण-स्वरूप' प्रणवात्मक प्रपंच जिस से उत्पन्न होता है उसे 'ज' कहते हैं। तथाहि "जन्माद्यस्य-यत" "यस्मादोङ्कार सम्भूतिः यतो वेदो यतो जगत्" इत्यादि वचन भी उसके पोषक है। सोपाधिक 'त्वं' पदार्थात्मक गणेश का पादादि कण्ठपर्यन्त नरदेह है। यह सोपाधिक होने से निरुपाधिकापेक्ष या निकृष्ट है। अतः अधोभूताङ्ग है। निरुपाधि सर्वोत्कृष्ट 'तत्' पदार्थमय गणेश जी का कण्ठादि मस्तक पर्यन्त गज स्वरूप है। क्योंकि वह निरुपाधिक होने से उत्कृष्ट है। सम्पूर्ण पादादि मस्तक पर्यन्त गणेश का देह 'असि' पदार्थ अखण्डैक रस है।

यह गणेश एकदन्त है। 'एक' शब्द 'माया' का बोधक है और 'दन्त' शब्द 'मायिक' का बोधक है। यथा.—'मौद्गले'

"एकशब्दात्मिका माया, तस्याः सर्व समुद्भवम्"

"दन्तः सत्ताधरस्तत्र, मायाचालक उच्यते।"

अर्थात्—गणेश जी माया और मायिका का योग होने से 'एकदन्त' कहलाते हैं।

गणेश जी वक्रतुण्ड भी हैं। 'वक्रं आत्मरूप मुख यस्य। वक्र

कहते हैं टेढ़े को। आत्मस्वरूप टेढ़ा है, क्योंकि—सर्व जगत् मनोवचन का गोचर है. किन्तु आत्मतत्व उसका (मनोवाणी का) अविषय है। तथा च--"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" और भी.--

कण्ठाधो माययायुक्तं मस्तकं ब्रह्मवाचकं।
वक्राख्यं तेन विघ्नेशस्तेनायं वक्रतुण्डकः॥

गणेश चतुर्भुज भी हैं। क्योंकि देवता, नर, असुर और नाग इन चारों का स्थापन करने वाले हैं। एवं चतुर्वर्ग चतुर्वेदादि के भी स्थापक हैं यथा—

स्वर्गेषु देवतांश्चायं पृथ्व्यां नरांस्तथाऽतले।
असुरान्नागमुख्यांश्च स्थापयिष्यति बालकः॥
तत्वानि चालयन्विप्रास्तस्मान्नाम्ना चतुर्भुजः।
चतुर्णां विविधानाञ्च स्थापकोऽयं प्रकीर्त्तितः॥

और वह भक्तानुग्रहार्थ चारों हाथोंमें पाश, अंकुश, दन्त और वरादि धारण करते हैं। सर्व जगन्नियन्तृ रूप ब्रह्म अंकुश है। दुष्टों को नाश करने वाला ब्रह्म दन्त है। सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला ब्रह्म वर है।

गणपति भगवान् का वाहन मूषक है, मूषक सर्वान्तर्यामी सर्व प्राणियों के हृदय रूप बिल में रहने वाला सर्व जन्तुओं के भोगों को भोगने वाला ही है। तथा वही चोर है, क्योंकि जन्तुओं के अज्ञात सर्वस्व को हरने वाला है। उसको कोई जानता नहीं, क्योंकि माया करके गूढ़ रूप अन्तर्यामी ही समस्त भोगों को भोगता है। इसीलिए 'भोक्तारं सर्वतपसां' कहा है। मुषस्तेये

धातु का मूषक बनता है। जैसे मूषक प्राणियों के सर्व भोग्य वस्तुओं को चुराकर भी पुण्यपाप वर्जित ही होता है, वैसे ही मायागूढ़ सर्वान्तर्यामी भी सर्व भोग्य को भोगता हुआ भी पुण्यपाप वर्जित है। वह सर्वान्तर्यामी गणपति की सेवा के लिये मूषक रूप धारण कर वाहन बना।

मूषकं व्यापकाख्यं च पश्यन्ति वाहनं परम् ।
तेन मूषकवाहोयम् वेदेषु कथितोऽभवत् ॥
मुषस्तेये तथा धातुर्ज्ञातव्य स्तेयब्रह्मधृक् ।
नामरूपात्मकं सर्वं तत्रासद् ब्रह्म वर्तते ॥
भोगेषु भोगो भोक्ता च ब्रह्माकारेण वर्तते ।
अहङ्कारयुतास्तं वै न जानन्ति विमोहिताः ॥
ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत् तत्र संस्थितः ।
तदेव मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः ॥

भगवान् लम्बोदर हैं, क्योंकि उनके ही उदर में समस्त प्रपंच प्रतिष्ठित है और वह किसी के उदर में नहीं हैं। तथा च—तस्योदरात्समुत्पन्नं नाना विश्वं न संशयः। एवं शूर्पकर्ण हैं, क्योंकि योगीन्द्र मुख से वर्ण्यमान तथा उत्तम जिज्ञासुओं से श्रूयमाण हृद्गत होकर शूर्प के समान पाप पुण्य रूप रज को दूर करके ब्रह्म-प्राप्ति सम्पादित कर देते हैं।

रजोयुक्तं यथा धान्यं रजोहीनं करोति च ।
शूर्पं सर्वनराणां वै योग्यं भोजनकाम्यया ॥
तथा मायाविकारेण युतं ब्रह्म न लभ्यते ।

त्यक्तोपासनकं तस्य शूर्पकर्णस्य सुन्दरि ।
शूर्प कर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलं विकारकम् ॥
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत् तेन यथास्मृतः ।

गणेश जी ज्येष्ठ राज हैं-सर्व ज्येष्ठों के अधिपति या सर्व ज्येष्ठ जो ब्रह्मादि उनके बीच मे विराजमान हैं। वही गणेश जी शिव-पार्वती के तप से प्रसन्न होकर पार्वती-पुत्र रूप होकर प्रादुर्भूत हुए हैं। जैसे रामभद्र और श्रीकृष्णचन्द्र दशरथ और वसुदेव के पुत्र रूप से प्रादुर्भूत होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं; वैसे ही भगवान् गणेश उनसे उत्पन्न होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं। अतएव उनकी शिवविवाह में विद्यमानता और पूज्यता भी हुई।

आधिदैविक-भाव

ब्रह्मवैवर्त पुराण मे लिखा है कि—पार्वती के तप से गोलोक-निवासी पूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्मा ही गणपतिरूप से प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्व हैं। इसी गणपति तत्व को सूचित करने वाला ऋग्वेद (अष्टक २ अध्याय ६ वर्ग ११) का यह मन्त्र है:—

"गणानां त्वा गणपतिं ह्वामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् । ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीदसादनम् ।"

इससे मिलता जुलता ही यजुर्वेद में भी गणपतिस्तावक मन्त्र है। "गणानान्त्वा गणपति ·····इत्यादि ऋग्वेद का जो मन्त्र है उसका सर्वथा ही गणपति-स्तुति में तात्पर्य है। एवं यजुर्वेदगत

मन्त्र का विनियोग यद्यपि अश्वस्तवन में है, तथापि केवल अश्व में मन्त्रोक्तगुण अनुपपन्न होने से अश्वमुखेन गणपतितत्व की ही स्तुति इस मन्त्र से होती है। मन्त्रार्थ यों है—

(हे वसो!) वसति सर्वेषु भूतेषु व्यापकत्वादिति तत्सम्बुद्धौ (गणानां) महदादीनां ब्रह्मादीनामन्येषां वा (गणपतिं) गणरूपेण साक्षिरूपेण, ज्ञेयाधिष्ठानरूपेण वा 'गणसङ्ख्याने' इत्यस्माद् गण्यते बुध्यते योगिभि साक्षात्क्रियते य. स गणस्तद्रूपेणवा पालकं, एतादृशं (त्वां आह्वयामहे) तथा (प्रियाणाम्) वल्लभाना (प्रियपतिं) प्रियस्य पालकं तच्छेषतयैव सर्वस्य प्रेमास्पदत्वात्. 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति श्रुतेः। (निधीनां) सुखनिधीनां सुखनिधेः (निधिपतिं) पालक (त्वां हवामहे) आह्वयामहे। मदन्तःकरणे प्रादुर्भूय स्वस्वरूपानन्दसमर्पणेन (ममापि) पतिर्भूया.। पुनः हे देव। (अहन्ते गर्भध) अजायां प्रकृतौ चैतन्य-प्रतिबिम्बात्मक चैतन्यम्, (तथाच—मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहमिति भगवत्स्मरणात्।) (आ) आकृष्य योगबलेन, (अजानि) स्वहृदि स्थापयानि, (त्वां च मम हृदि) (अजासि) क्षिपसि स्वस्वरूपं स्थापयसि।

भावार्थ—अधिकारी उपासक गणपति की प्रार्थना करता है—हे सर्वान्तर्यामिन्! देवादि समूहों को अधिष्ठान तथा साक्षीरूप से पालन करने वाले, प्रियों को प्रियरूप से पालन करने वाले, लौकिक प्रेमास्पदों को परम प्रेमास्पदरूप से स्वसम्बन्ध द्वारा पालन करने-वाले, लौकिक सुखराशियों को अलौकिक परमानन्दरूप से पालन करने वाले, अर्थात् अपने अंश से सम्पादन करने वाले आपको मैं पतिरूप से आह्वान करता हूं। आप मुझे भी स्वस्वरूपानन्द समर्पण द्वारा पालन करें। जगदुत्पादनार्थ प्रकृतिरूप योनि में

स्वकीय चैतन्य प्रतिबिम्बात्मकरूप गर्भ को धारण करने वाले बिम्बचैतन्यरूप को मैं अपने हृदय में विशुद्धान्तःकरण से धारण करूँ। एतदनुकूल आप अनुग्रह करें, ऐसी प्रार्थना है।

विघ्न-विनाशक गणेश

इस तरह मन्त्र प्रतिपाद्य गणपतितत्त्व सर्व विघ्नों का विनाशक है। अतएव गणपत्यथर्वशीर्ष के नवें मन्त्र में—"विघ्ननाशिने शिवसुताय वरदमूर्त्तये नमः" ऐसा आया है। सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान करते समय "कालात्मकभयहारिणे, अमृतात्मकपदप्रदत्वात्" अर्थात्, गणेश जी कालात्मक भय को हरण करने वाले हैं, क्योंकि वे अमृतात्मकपदप्रद हैं। स्कान्द तथा मौद्गल में विनायकमाहात्म्य विषयक एक ऐसी गाथा है—किसी समय अभिनन्दन राजा ने इन्द्रभागशून्य एक यज्ञ आरम्भ किया। यह जानकर इन्द्र कुपित हुआ। उसने काल को बुलाकर यज्ञभङ्ग की आज्ञा दी। कालपुरुष यज्ञ को नष्ट करने के लिए विघ्नासुर रूप में प्रादुर्भूत हुआ। जन्म मृत्युमय जगत् काल के अधीन है। काल तीनों लोकों को भ्रमण कराता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष काल को जीतकर अमृतमय हो जाता है। ब्रह्म ज्ञान का साधन वैदिक स्मार्त सत्कर्म हैं। "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः।" सत्कर्म से विशुद्धान्तःकरण पुरुष को भगवत्तत्त्व साक्षात्कार होता है, और उससे ही काल का पराजय होता है। यह जानकर काल उस सत्कर्म के नाश के लिए विघ्नरूप होकर प्रादुर्भूत हुआ। सत्कर्महीन जगत् सदा ही काल के अधीन रहता है। इस वास्ते काल स्वरूप विघ्नासुर अभिनन्दन राजा को मारकर जहां तहां दृश्यादृश्यरूप से सत्कर्म का खण्डन करता था। उस समय वशिष्ठादि भ्रान्त होकर ब्रह्मा की

शरण गये। ब्रह्मा की आज्ञा से भगवान्-गणपति की स्तुति की। क्योंकि गणपति को छोड़कर किसी भी देवता में कालनाश सामर्थ्य नहीं है। गणेश जी असाधारण विघ्न-विनाशकत्व गुण-सपम्पन्न हैं। यह बात श्रुतिस्मृति शिष्टाचार तद्वाक्य एवं श्रुतार्थापत्ति से अवगत है। श्री गणेश जी से विघ्नासुर पराजित होकर उनकी शरण में गया और उनका आज्ञावशवर्ती हुआ। अतएव गणेश जी का नाम विघ्नराज भी है। उसी समय से गणेशपूजनस्मरणरहित जो भी सत्कर्म हो उसमे विघ्न का प्रादुर्भाव अवश्य होता है। इसी नियम से विघ्न भगवान् के आश्रित रहने लगा। विघ्न भी काल-रूप होने से भगवत्स्वरूप है। "विशेषेण जगत्सामर्थ्यं हन्तीति विघ्न" ब्रह्मादिकों में भी जगत्सर्जनादि सामर्थ्य को हनन करने-वाले को विघ्न कहते हैं। अर्थात् ब्रह्मादि समस्त कार्य ब्रह्मविघ्नपरा-भूत होने के कारण स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते। किन्तु गणेश के अनुग्रह से ही विघ्नरहित होकर कार्यकरण क्षम होते हैं। विघ्न और विनायक ये दोनों ही भगवान् होने के कारण स्तुत्य हैं। अत-एव "भगवन्तौ विघ्नविनायकौप्रीयेताम्" ऐसा पुण्याहवाचन में लिखा है। विघ्न सिवाय गणेश के और किसी के वश में नहीं, जैसा कि—योग वाशिष्ठ में शाप देने को उद्यत भृगु के प्रति विघ्न-रूप काल ने कहा है—

"मा तपः क्षपयाबुद्धे ! कल्पकालमहानलैः ।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि ॥
ब्रह्माण्डावलयो ग्रस्ताः निगीर्णां रुद्रकोटयः ।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क न शक्ता वयं मुने ॥"

इससे सिद्ध हुआ कि, निःश्रेयस साधन गणेशस्मरण हीन

सभी सत्कर्म में कालरूप विघ्न के प्रादुर्भाव का होना अनिवार्य है। अतस्तन्निवारणार्थ गणेशस्मरण सभी सत्कर्मों में आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि ओंकार ही सर्वमङ्गलमय है, वेदोक्त समस्त कर्म उपासनाओं के आदि मे ओंकार का ही स्मरण किया जाता है, अतः गणेशस्मरण निरर्थक है, सो ठीक नहीं। क्योंकि ओङ्कार भी सगुण गणेश स्वरूप ही है। मौद्‌गल में भी कहा है—"गणेशस्यादिपूजनञ्चतुर्विधम् चतुर्मूर्त्तिधारकत्वात् ।" ब्रह्मा के चारों मुखों से अष्टलक्ष पुराणों का प्रादुर्भाव हुआ। उसके बाद द्वापरान्त में व्यासदेव ने कलियुगीय मन्दमति प्राणियों के बोधार्थ अष्टादश पुराणोपपुराणों का निर्माण किया। उनमें पहला ब्राह्म पुराण है। उसमें निर्गुण एवं बुद्धितत्व से पर गणेशतत्व का वर्णन है। अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण है, उसमें सगुण गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है, क्योंकि वह विशेष रूप से प्रणवात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन करने वाला है। उपपुराणों में भी पहला गणेशपुराण है, जो कि सगुण निर्गुण गणेश की एकता का प्रतिपादन करने वाला और गजवदनादि मूर्त्तिधर गणेश का भी प्रतिपादन करता है। यहां पर जो यह कहा जाता है कि उपपुराण अपकृष्ट है, सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे उपेन्द्र इन्द्र से अपकृष्ट नहीं, वैसे ही पुराणापेक्षया उपपुराण अपकृष्ट नहीं। मौद्‌गल अन्तिम उपपुराण है। उसमें योगमय गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है। इस तरह से वेद, पुराण, उपपुराण आदियों के आदि मध्य अन्त में गणेशतत्व का प्रतिपादन है। इतना ही क्यों ? ब्रह्मविष्ण्वादि भी गणेशांश होने से ही शास्त्र प्रतिपाद्य हैं। कोई लोग बुद्धिस्थ चिदात्मरूप गणेशस्मरण करके सत्कर्म करते हैं। कोई प्रणवस्मरणपूर्वक सत्कर्म करते हैं। कोई गजवदनाद्यवयवमूर्त्तिधर गणेश का स्मरण करते हैं। एवं कोई योगमय गणपति का स्मरण करते हैं। यों सभी शुभाशुभ कार्यारम्भ

में येनकेनचिद्रूपेण गणेशस्मरण देखा जाता है। कोई कहते हैं—प्राणप्रयाण समय में, पितृ यज्ञादि में गणेशस्मरण नहीं प्रसिद्ध है, सो ठीक नहीं, कारण ? गयास्थित गणेशपद पितृमुक्ति देने वाला है। वेदोक्त पितृयज्ञारम्भ मे गणेशपूजन का निषेध नहीं है। इसी लिए वहां भी गणेशपूजन होता है और वह युक्त है। इसीलिए श्रुति गणाधिपति को ज्येष्ठराज शब्द से सम्बोधित करती है।

'गणेशगीता' में मरणकाल में भी गणेशस्मरण कहा है—

'यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वितः।
स यात्यपुनरावृत्तिं प्रसादान्मम भूभुज ॥'

गणेशतापिनी में भी कहा है—

ओं गणेशो वै ब्रह्म तद्विधात्, यदिदं किञ्च, सर्वं भूतं भव्यं सर्वमित्याचक्षते"

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण एवं विघ्न विनाशकत्वादि गुणगण विशिष्ट गजवदनादि अवयव मूर्त्तिधर रूप में गणेश हैं।

क्या गणेश अनार्य्य देवता है ?

इस प्रकार आधिदैविक पक्ष में गणेशलोक के स्वामी भक्तों के समस्त विघ्नों को दूर करने वाले भगवान् गणेश हैं। वे 'यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति' के अनुसार भक्तों की भावना के अनुसार यथेच्छरूप बनाकर समय समय दर्शन देते हैं।

आजकल कुछ ग्रन्थ-चुम्बक पण्डितम्मन्य पाश्चात्यों के शिष्य होकर बाह्यकुसंस्कार दूषितान्तःकरण सुधारक श्री गणेशतत्व पर विचार करने का साहस कर बैठते हैं। वे अपने गुरुओं के विपरीत

कितना विचार कर सकते हैं। उनका कहना है पहले गणेश आर्यों के देवता नहीं थे किन्तु एतद्देशीय अनार्यों को पराजित करने पर उनके सान्त्वनार्थ गणेश को अपने देवताओं में मिला लिया गया। ग्रन्थ-चुम्बक होने के कारण कुछ पुराण, कुछ वेदमन्त्र, कुछ चौपाइयों का संग्रह कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय देते हुए ऐसे स्वरूप में गणपति का वर्णन किया करते हैं कि जिससे शास्त्रीय गणपतिस्वरूप समाच्छन्न हो जाता है। यद्यपि थोड़े से भी तत्वज्ञों के लिए ऐसे असम्बद्धालाप हेय ही हैं, तथापि मूर्खों के लिए व्यामोह होना स्वाभाविक ही है। कोई इन महानुभावों से पूछे कि गणेश नाम का कोई तत्व है यह कैसे जाना गया ? पुराणादि शास्त्रों से या यत्र तत्र गणपति की मूर्त्तियों को देखकर। यदि शास्त्रों से ही गणेशतत्व समझा जाय तब तो फिर उन्हें अनार्य देव कैसे कहा जाय, क्योंकि शास्त्र से तो वे ब्रह्मादियों के पूज्य पाये जाते हैं। यदि द्वितीय पक्ष उचित समझें तब तो उसे देवता या पूज्य समझना यह केवल मूर्खता ही है, कारण केवल काष्ठ मृत पाषाणादि को कौन अभिज्ञ समझेगा। यदि अदृश्य देव शक्तिविशेष का आवाहन कर उस मूर्त्ति का पूजन किया जाता है, तो भी वह देवशक्ति किस प्रमाण से जानी तथा आहूत की गई है, इसका उत्तर यदि यह कहा जाय कि शास्त्र ही से यह बात जानी गई तब फिर शास्त्र ने तो गणेशतत्व को अनादि ईश्वर ही कहा है। फिर वह अनार्यों के देवता कैसे हुए। फिर दूसरी विलक्षण बात यह है कि शास्त्रों के भी आधार पर गणेश को अनार्यों का अभिमत देव मानना और आर्यों का बाह्य देश से आना; भारतवर्ष में प्राथमिक अनार्यों का निवास, अनार्यों के देवता गणेश को आर्यों का ग्रहण! भला ऐसी बेशिरपैर की बातें अनार्य्य शिष्यों के सिवा किसे सूझ

सकती हैं ? भला कोई भी सहृदय क्या वेद पुराणादि शास्त्रों को मानता हुआ भी आर्यों का बाहर से आना तथा गणेश का अनार्य्य-देवत्व स्वीकार कर सकता है ? वस्तुतः यह सब फल दूषित संस्कारों तथा आचार्यशून्य मनमाने शास्त्रों के पुस्तकी ज्ञान का है। इसीलिए ज्ञानलवदुर्विदग्ध अनभिज्ञों से भी शोचनीय समझे जाते हैं, और इसीलिए हमारे यहां किसी भी सच्छास्त्र के अध्ययन का नियम है कि आचार्य्य परम्परा से शास्त्रीय निगूढ़ रहस्यों को समझना चाहिए, परस्पर विरोधी वाक्यों का समन्वय करना चाहिए। ऐसा न होने से गणपति की भिन्न २ लीलाए प्राणियों को मोहित करने वाली होती हैं, जैसे उनका नित्यत्व और पार्वती पुत्रत्व शनि की दृष्टि से शिरच्छेद गजवदन का सन्धानादि ।

इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा है कि अनादि देवता समझकर गणेशादि के रूप भेद, शिव पूज्यता आदि अंशों मे संशय न करें 'जनि कोई असससशय करै, सुर अनादि जिय जानि।

गणेश के द्वादश नाम

गणेश परमात्मा का विघ्न–नाशक स्वरूप है, इसीलिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ है सर्वप्रथम गणेश जी के पूजन व ध्यान का शास्त्रीय आदेश है, विघ्न—दैवी और लौकिक—दो प्रकार के होते हैं, दैवी विघ्नों की निवृत्ति के लिए ईश्वर प्रार्थना और लौकिक विघ्नों को दूर करने के लिए कार्य्यकर्ता का सर्वतोभावेन 'युक्त-चेष्ट' होना आवश्यक है। गणेश उपासना से ये दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। दैवी बिघ्नों का मूल पूर्वकृत तत्तत् कर्मों का विपाक है, परन्तु लौकिक विघ्नों का मूल कारण हमारी मूर्खता, अनवधानता एवं अयुक्त चेष्टा है। प्रायः देखा जाता है कि जो लोग

अभिमान, मात्सर्य, क्रोध, लोभ तथा प्रलाप आदि दुर्गुणों वाले होते हैं वह प्रत्येक कार्य में अपने अनेक शत्रु बना लेते हैं, शत्रुओं का बाहुल्य ही विघ्नों का मूल है। सो हमारे कार्य्यों में कोई विघ्न न पडे एतदर्थ जहां गणेश की गजवदन, लम्बोदर, एकदन्त-मूर्ति का ध्यान करते हुए पूर्व लेखानुसार साधक अनेक शिक्षाए प्राप्त करता है, वहा अपने मुख से गणेश के द्वादश नामों का उच्चारण करता हुआ भी उनके अर्थों का मनन करके अनेक शिक्षाओं से लाभान्वित होता है, वे द्वादश नाम प्रत्येक सनातन धर्मी गणेशपूजा के समय इस प्रकार बोलता है—

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलोगजकर्णकः ।
लम्बोदरश्चविकटो विघ्ननाशो विनायकः ।।
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः ।
द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि ।।
विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा ।
संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य न जायते ।।

(पूजा पद्धति)

अर्थात्—(१) सुमुख, (२) एकदन्त, (३) कपिल, (४) गजकर्ण, (५) लम्बोदर, (६) विकट, (७) विघ्ननाशक, (८) विनायक, (९) धूम्रकेतु, (१०) गणाध्यक्ष, (११) भालचन्द्र, (१२) गजानन। इन बारह नामों को जो पढ़ता है या सुनता है, विद्यारम्भ, विवाह, नगर प्रवेश, यात्रा-प्रस्थान, युद्ध और संकट के समय में उसके किसी भी कार्य में विघ्न नहीं पड़ता ।

मनोमूर्ति गणेश

वास्तव में गणेशतत्व मन का ही उपलक्षण है । चेतन पुरुष

और जड़ प्रकृति को ही शास्त्रों में 'शिव पार्वती' नाम से स्मरण किया गया है। पुरुष एक और अद्वितीय है, परन्तु प्रकृति के परा और अपरा दो भेद माने गये हैं, सो एक शङ्कर का प्रथम दक्ष कन्या सती से पुनः हिमालय कन्या पार्वती से सम्बन्ध प्रकट किया गया है। सती रूप परा प्रकृति का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं अतः पुराणादि ग्रन्थों में सती की सन्तान का वर्णन नहीं मिलता, अपरा प्रकृति ही संसार की हेतु है इसलिए उससे ही षण्मुख, गजमुख आदि विलक्षण सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। पत्थर जड़ता का उपलक्षण है तत्सम्भव पार्वती नाम भी इसी आशय से प्रयुक्त होता है, सो प्रत्येक प्राणी का चेतन जीव पुरुषतत्व का अंश है और जड़ देह प्रकृतिदेवी का विकाश। उक्त जड़ और चेतन दोनों के योगायोग से एक तीसरा तत्व उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि जब असमान गुण वाली दो वस्तुओं का सम्मेलन होता है तो उसका परिणाम अनिवार्य रूप से अन्य तीसरे पदार्थ का प्रादुर्भाव होता है, सो प्रकृति पुरुष के संयोग का परिणाम ही वह तीसरा तत्व मन है, प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है, और तत्सम्भव मनः— 'उभयात्मकं मनः' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जड़ चेतन दोनों की ग्रन्थि कहा जाता है, यही दार्शनिक भाव शिव पार्वती के सयोग से गणेश की उत्पत्ति के रूप मे प्रकट किया गया है। जड़ प्रकृति के पूर्ण विकाश का अन्तिम परिणाम-सर्वातिशायी शरीर-गुरुत्व हाथी में दीख पड़ता है और बुद्धिजीवी प्राणी के रूप में चेतनांश का अन्तिम विपरिणाम मनुष्य में व्यक्त हुआ है, इसलिए —'उभयं वा एतत्प्रजापतिः निरुक्तश्चानिरुक्तश्च'—के अनुसार वही द्वैततत्व मन रूप गणेश में गज और नर के सामंजस्य से व्यक्त किया जाता है।

कहना न होगा कि समस्त कार्य-कलाप की साधना एकमात्र मनस्तत्व पर निर्भर है—'मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयो' 'तन्मे मनः शिवः सङ्कल्पमस्तु' और 'मन जीत जग जीत' आदि सूक्तियें हमारे इसी आशय को पुष्ट करती हैं। सर्व प्रथम प्रत्येक कार्य का सङ्कल्प मन में उठता है, फिर वही वाणी और कर्म में परिणत होता है इसीलिए वेद कहता है कि.—

'यन्मनसानुमनुतेतद्वाचावदति, यद्वाचा वदति तत्-कर्म्मणा करोति।'

अर्थात्—जो मन से मनन करता है सो ही वाणी से बोलता है, जो वाणी से बोलता है सो ही कर्म से करता है।

इसलिए प्रत्येक कार्य की सिद्धि प्रबल मनोयोग पर अवलम्बित है, इसे ही लोक भाषा में 'लगन' कहते हैं। आधुनिक मिस्मरेजम आदि प्रणाली के अभ्यासी लोग इसको ही 'बिल पावर' कहकर पुकारते हैं। सो प्रत्येक कार्य के आरंभ में साधक को किस प्रकार आत्म विश्वास उत्पन्न करना चाहिए यह तथ्य गणेश के उपर्युक्त बारह नामों में निहित है, यथा:—

सुमुख—मन = समस्त इन्द्रियगण का मुख = मुख्य = मुखिया है।

एकदन्त—मनः 'युगपद्ज्ञानानुत्पत्ति मनसोलिङ्गम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार एक समय एक ही वस्तु में लगाया जासकता है।

कपिल—मनः अपनी चञ्चलता में कपि—वानर को भी मात देने वाला है।

गजकर्ण—मनः दूसरे के मन की गुप्त बात को भी आकार, इङ्गित चेष्टा, भाषण और गति आदि से तत्काल भांप लेता है।

लम्बोदर—समस्त संसार की दृष्ट श्रुत लबी चौड़ी घटनाएँ इस के एक कोने में समा जाती हैं।

विकट—यह इतना विकट है कि अर्जुन जैसे सव्यशाची योधा ने भी इसके प्राबल्य के सामने नतमस्तक होकर श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों में—'चञ्चल हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम्' कहते हुए हथियार डाल दिए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की इस क्रिया का प्रतिवाद न कर स्वयं भी—'असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्' कहते हुए इसका समर्थन ही किया है, तभी तो संसार में चलते पुर्जे पुरुष को कहा जाता है कि इसका तो विकटोपर्यन्त पाठ पहुंचा हुआ है।

विघ्ननाश—जब प्रबल मनोयोग से कोई कार्य किया जायगा तो विघ्न बाधाएँ अपने आप काफूर हो जायेगी।

विनायक—यही सब इन्द्रियों का विशिष्ट स्वामी है, जहां यह संयत हुआ कि इन्द्रियों मे कोई विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता।

धूम्रकेतु—सङ्कल्प विकल्पात्मक अविस्पष्ट धूम धूसर कल्पनाओं की सत्ता ही मन के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है।

गणाध्यक्ष—संख्या में आ सकने योग्य सभी सांसारिक पदार्थों का यह स्वामी है।

भालचन्द्र—शङ्कर भगवान् के मस्तक में विराजमान चन्द्रमा का ही यह संक्षिप्त सस्करण है। क्योंकि विराट के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है और उस चन्द्रतत्व से सब प्राणियों के मनः अनुप्राणित हैं।

गजानन—हाथी की भांति इसका मुख भाग ही विलक्षण है, यदि साधक धैर्यपूर्वक आरम्भिक कठिनाइयों को पार कर जाए तो

तो फिर कण्ठ से नीचे का उत्तर भाग तो चेतनांश का ही विपरिणाम है। अर्थात्—आरम्भ में ही साधक को मनः का अटपटापन खलता है पश्चात् वही मन साधना का इतना अभ्यासी हो जाता है कि उसके बिना अन्य किसी व्यापार में वह शान्ति अनुभव नहीं करता।

यह स्पष्ट है कि यदि साधक उक्त द्वादश नामों का अर्थ मनन-पूर्वक उच्चारण करें तो उनमें आत्म निर्भर होने की भावना जागृत हो सकती है।

गणेश विश्वतोमुख प्रणव है

गणपति अथर्वशीर्ष में लिखा है कि—

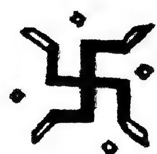
ओं नमस्ते गणपतये।

ओङ्काररूप गणपति के लिए नमस्कार।

हम पीछे मौद्गल पुराण के प्रमाण से यह सिद्ध कर आए हैं कि वास्तव में विश्वतोमुख सगुण ओङ्कार ही गणेशरूप में पूजा जाता है, सो यदि विश्वतोमुख ओंकार की लेख्य प्रतिमा बनाए तो वह इस प्रकार बनेगी—



इसे किसी ओर से देखो, ॐकार ही दीख पड़ेगा, परन्तु इसका निर्माण विचक्षण चित्र-कलाकार ही कर सकता है, अतः सर्व साधारण में इसका सरल रूप आज भी सर्वत्र इस प्रकार लिखकर पूजा जाता है जिसे स्वस्तिक कहा जाता है। भारतीय संस्कृति के इस पवित्र चिह्न को अन्य सभ्य देशों ने भी अपनी सस्कृति में परिगृहीत किया है, परन्तु जिस प्रकार गङ्गा से निकलने वाला गङ्गा प्रवाह ज्यों २ आगे बढ़ा है त्यों २ अनेक सह-



एक नदियों के सङ्गम से विचित्र होता गया है, ठीक इसी प्रकार हमारी संस्कृति और उसके चिह्न भी अन्यान्य देशों में कुछ विचित्र अवश्य हो गये हैं, सो जर्मनी आदि देशों में स्वस्तिक और भी लघुकाय हो गया है, जैसा कि प्रस्तुत चित्र से जाना जा सकता है।



नाजी लोगों ने जो कि अपने को विशुद्ध आर्य्य मानने में गौरव अनुभव करते हैं, इसी रूप को महत्व दिया है। परन्तु इङ्गलैण्ड आदि अन्यान्य सभी ईसाई जातियें इसे और अधिक सरल बनाकर 'क्रास' कह कर सम्मान देतीं हैं, इसका कुछ विवेचन पीछे लिख आए हैं। इस्लामी संस्कृति सम्पन्न जातियें इसे अर्धचन्द्र सहित सर्वतोमुख तारे के रूप में सम्मान देती हैं। वह वास्तव में ओंकार का अर्ध बिन्दु चिह्न ही है।





ग्रह पूजन विज्ञान

सनातन धर्म्मी प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के प्रारम्भ में नवग्रह पूजन अवश्य करता है, यह क्यों ?

योगी याज्ञ्यवल्क्य ने अपनी स्मृति में मन्त्र विनियोग पूर्वक ग्रह-शान्ति प्रकरण लिखा है, यथा—

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत्।

(याज्ञ० स्मृति आचाराध्याय २९४)

अर्थात्—श्री और शान्ति की कामना करने वाले मनुष्य को ग्रह यज्ञ करना चाहिए।

हम पीछे 'अण्ड पिण्ड' सिद्धान्त में और 'मुहूर्त विज्ञान'

प्रकरण में भी यह सिद्ध कर आए हैं, कि हमारा यह मानव पिण्ड तत्तद् देवताओं के दान से बनी एक पञ्चायती धर्मशाला के समान है। सो जैसे कोई संस्था धर्मशाला के निमित्त अपील करे तो सभी उदार दानी अपनी योग्यतानुसार दान देते हैं, एक ने भूमि दी तो दूसरे ने ईंट पत्थर, तीसरे ने लोहा लक्कड़, तो चौथे ने चूना सीमिण्ट—इस तरह उक्त दानियों के दान से थोड़े दिन में सर्वाङ्गपूर्ण धर्मशाला बनकर तैयार हो जाती है। संस्थाओं के सञ्चालक दाताओं के सम्मानार्थ पत्थर मे खुदा २ कर उक्त दानियों के दान का विवरण तथा नाम धर्मशाला के मुख्य स्थान में लगवा देते हैं। जिस दिन उक्त धर्मशाला का उद्घाटन मुहूर्त होता है तो उक्त सभी दानियों को सादर बुलाया जाता है और भरी सभा में मन्त्री जी अपनी रिपोर्ट उपस्थित करते हुए कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उक्त दानियों का नाम ले लेकर दान के उपलक्ष मे उन सब का धन्यवाद करते हैं, यह लौकिक शिष्टाचार सर्वत्र प्रचलित है। यदि कदाचित् संस्था का मन्त्री दानियों का धन्यवाद न करे तो दानी जो कुछ दे चुके हैं—वह वापिस छीनने से तो रहे, परन्तु उक्त संस्था के सञ्चालकों को कृतघ्न अवश्य समझा जायगा, क्योंकि दान मांगने के समय तो ये लोग टोली बनकर द्वार २ घूमते हुए प्रत्येक दानी को 'भवान् सोमः भवान् सूर्य्यः' कहते थे, परन्तु अब अन्त में 'धन्यवाद' देते भी न बना। यह ठीक है कि धन्यवाद से पेट नहीं भरता परन्तु हमने स्वय बहुत से उत्सवों में यह काण्ड देखे हैं कि यदि मन्त्री जी अमुक व्यक्ति का धन्यवाद करना भूल गये तो महाराज! अमुक व्यक्ति अप्रसन्नता प्रकट करने के लिए तत्काल सभा-स्थान छोड़कर नौ दो ग्यारह हो गये, पीछे मालूम पड़ने पर बड़ी २ क्षमा मांगने पर भी सीधे न हुए।

सो हमारे इस पिण्ड के निर्माण में भी सूर्यादि नवग्रहों का

प्रधान हाथ रहा है। मानवपिण्ड में सूर्य ने आत्मा फूंकी, चान्द ने मन दिया, मङ्गल ने रक्त का सचार किया, बुध ने कल्पनाशक्ति दी, बृहस्पति ने ज्ञान प्रदान किया, शुक्र ने वीर्य और शनि महाराज ने सुख दुःख की अनुभूति दी। इस प्रकार धर्मशाला-रूप हमारा यह शरीर इन्हीं महानुभावों की कृपा का फल है, सो उक्त धर्म-शाला का जब २ भी उत्सव होता है, अर्थात्--नींव डालने के समय=गर्भाधान से लेकर पुनर्निर्माण=अन्त्येष्टि सस्कार पर्यन्त जब जब भी कभी अवसर आता है तब तब उक्त सभी दाताओं के नाम लेकर--'सूर्याय नम', चन्द्रमसे नम', भौमाय नम', बुधाय-नम', बृहस्पतये नमः, शुक्राय नम और शनैश्चराय नम'—कहते हुए सबका धन्यवाद किया जाता है।

जो महाशय उक्त दाताओं से दान मांगते समय तो बड़ी २ चापलूसी से पेश आते हैं, परन्तु धन्यवाद करने के समय स्वयं भी मूक बन जाते है और उल्टा दूसरे लोगों को भी सन्मार्ग से परिभ्रष्ट करके अपने सदृश कृतघ्न=अहसान फरामोश बनाना चाहते हैं--वे निस्सन्देह ईश्वर के कोप भाजन बनते हैं।

ब्रह्माण्ड भर से भाईचारा

यह बात सभी जानते हैं कि जो पुरुष जैसा प्रतिष्ठित होगा उसकी प्रतिष्ठा के अनुसार ही उसके यहा दुःख और सुख में दूसरे लोग सम्मिलित होते हैं, जैसे मौलाना साहिब के यहां बारात में महल्ले भर के मियां जुट सकते हैं क्योंकि आखिर अपने सगे भाई की लड़की से ही तो शादी=खाना आबादी करनी है। पादरी साहिब के यहां इससे कुछ अधिक की सम्भावना की जा सकती है, क्योंकि चाय के एक कप पर ही तो बारात की दौड़ धूप हो रही

है। राजा साहिब के यहां राज्य भर के—और सम्राट् के यहां विदेशों तक के—महमान तशरीफ ला सकते हैं, क्योंकि इनका भाई चारा इतना फैला हुआ है बस ! अहिन्दू लोगों के भाई चारे की यही 'सा काष्ठा सा परा गति.' है, परन्तु एक सनातनधर्मी हिन्दू का 'भाईचारा' इतना विस्तृत है कि उसके यहां न केवल देश-विदेशों के ही अपितु सूर्य-लोक, चन्द्र-लोक, सुदूर शनि-लोक और ब्रह्माण्ड कक्षा के परले किनारे-नक्षत्र प्रदेश तक के भी महमान पधारते हैं, जिनको वह अपने प्रत्येक शुभाशुभ कार्य में सम्मान देता है।

यहां यह आशङ्का व्यर्थ है कि इतने बड़े महमानों को बुलाकर उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप सम्मान नहीं किया जाता किन्तु जल के छींटे और चावल के दो दाने चढ़ाकर सूखा टरका दिया जाता है, निःसन्देह यह प्रश्न—'सामग्रीनेमनिवर्तक' किसी धड़ीछक पेटू का ही हो सकता है अन्यथा—प्रेम पन्थ का तो यह प्रधान 'मोटो' है कि—

'भाव बिन थूकूं नहीं, गाड़ी भरे सामान पर।
रीझ जाता है मेरा मन, मान के एक पान पर ॥

शास्त्रीय स्वरूप

(क) शन्नो ग्रहाश्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा। शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥ (अथर्व १९।९।१०)

(ख) अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

अर्थ—(क) चन्द्रमा के साथ सब ग्रह, सूर्य के साथ राहु, मृत्यु-सूचक धूमकेतु तथा विकराल रुद्रगण हमारे लिये कल्याणकारी हों। (ख) अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अष्टवसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य,

४६ मरुत, विश्वेदेव, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण ये सब देवता हैं।

वेदादि शास्त्रों में सूर्यादि नवग्रहों की शान्ति के लिए पूजनादि का स्पष्ट विधान है। आज के अधकचरे वैज्ञानिकम्मन्य भले ही सूर्यादि ग्रहों को सर्वथा जड़ मानते रहें और तदनुयायी आलोचक भले ही वैदिक ऋषियों पर, सूर्य चन्द्रादि प्राकृतिक वस्तुओंके रहस्य से अनभिज्ञ होनेके कारण उनसे भयभीत हो अपने कल्याणकेलिए विविध प्रकारकी स्तुति प्रार्थना करनेका आक्षेप लगायें, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि दुर्जनतोष न्यायसे एक क्षण के लिए इन्हें जड़ स्वीकार कर लिया जाय तब भी जिस प्रकार जड़पृथ्वी की गति विगतिके तारतम्यसे संसारको भिन्न २ ऋतुओंमें सर्दी गर्मी वर्षा आदि का अनुभव करना पड़ता है इसी प्रकार अन्य ग्रहों की गति विगतिका ससार पर कोई प्रभाव न पड़ता हो यह कैसे सम्भव है ?

इसके अतिरिक्त जैसे अचेतन एव जड़ रेलगाड़ी को उचित नियन्त्रणमें रखने—उसे निर्दिष्ट समयपर चलने रोकने आदिकेलिए चैतन्य ड्राइवर तथा गार्ड की अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा स्टेशन के सब सिगनल और लाल हरी झण्डियें रखी रखाई रह जाय, इसी प्रकार शास्त्रों मे सूर्यादि ग्रह पिण्डाभिमानी चेतनांश को लक्ष्य करके की गई सब प्रार्थनाएं सर्वथा सुसङ्गत ही है।

आवाहन करने से ग्रह कैसे आ सकते हैं ?

सूर्यादि ग्रह हमारी पृथ्वी से लाखों योजन दूर हैं और लाखों गुणा बड़े हैं यह सभी वैज्ञानिक जानते हैं, सो सनातन धर्मियों के डेढ़ बालिस्त के मण्डप में अथवा चुटकीभर चावलों के छूमन्तर में कैसे समा सकते हैं ? और इतनी दूर से कैसे आ सकते हैं ?

फोटोग्राफी कैमरे के एक इंच के शीशे में देहली का लाल किला कुतुब की लाट और पुल सहित जमना की बाढ़ का विस्तृत प्रदेश

कैसे समा जाता है ? आपकी ही आंख के लघुतम काले तिल में न केवल सूर्य चांद अपितु सभी ग्रह नक्षत्र कैसे समा जाते हैं ? कभी शङ्कावादी महाशय ने इस रहस्य का भी परिशीलन किया है ? वास्तव में 'भावनावाद' सिद्धान्त के अनुसार ज्योंही वेद मन्त्रों के आध्यात्मिक वायरलैस से वेद पाठी ब्राह्मण तत्तद् ग्रहों के नाम अपना सन्देश ब्राडकास्ट करता है त्योंही तत्काल सर्वव्यापक परमात्मा के प्रबन्धानुसार विश्वभर की एकमात्र भाषा वेदवाणी के प्रताप से सूर्यपिण्डाभिमानी चेतनदेव पूजक भक्त के पिण्ड में राजदूत की भांति रहने वाली अपनी प्रतिनिधिभूत शक्ति सत्ता को प्रेरित करके पूजक भक्त का कल्याण कर देता है । इसलिए किसी भी ग्रहपिण्ड को अपनी कक्षा छोड़कर महाशय जी के मकान के कोने से टकराने की और उनके चौपट चौबारे में धँसने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे सब तो पहले से ही मानव पिण्ड में सूक्ष्मरूप से विराजमान हैं, आवाहन पूजनादि का तो केवल इतना ही प्रयोजन है जितना कि माचिस की सलाई मे पहले से ही विद्यमान अग्निदेव को रगड़ कर प्रकट करने की क्रिया में हो सकता है।

ग्रह मनुष्य पर कैसे चढ़ जाते हैं ?

कहा जाता है कि अमुक पुरुष पर शनि चढ़ रहा है, अमुक पर राहु केतु चढ़ रहे हैं,—यदि पुरुष पर छोटी सी चिउंटी भी चढ़ जाए तो वह तत्काल मालूम पड़ जाती है परन्तु ये करोड़ों अरबों टन तोल के ग्रह पिण्ड चढ़े हुए मालूम क्यों नहीं होते ?

लोक में जैसे मूर्खतापूर्ण चेष्टा करने पर कहा जाता कि 'क्या तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं'—और अमुक बुराई करने पर उद्यत मनुष्य को कहा जाता है कि 'उसके शिर पर तो भूत सवार हो रहा है।' ठीक इसी प्रकार जब ब्रह्माण्ड के ग्रहों की स्थिति के

तारतम्य से तदङ्गभूत मानवपिण्ड पर अमुक भलाई या बुराई के पड़ने की सम्भावना होती है तब इसी वैज्ञानिक भाव को प्रकट करने के लिए यह व्यङ्गयात्मक = मुहावरा बना हुआ है कि अमुक ग्रह चढ़ा हुआ है अर्थात्—उस ग्रह की दशा है। जैसे पाप और पुण्य किसी व्यक्ति को डण्डा लेकर मारने या बचाने नहीं आता किन्तु ईश्वर के न्याय से पापी की बुद्धि में विकृति हो जाती है जिससे वह अपनी हानि के लिये स्वयं ही ताना बाना बना लेता है, इसी प्रकार पुण्यात्मा की बुद्धि वास्तविकता समझने में समर्थ हो जाती है जिससे वह दुस्तर कार्यों को भी कर सकने में सफल हो जाता है, अर्थात्—भगवान् भक्त पर कृपा करके उसे—'ददामि बुद्धियोगं तम्' के अनुसार 'बुद्धियोग' ही प्रदान करते हैं जिससे सभी काम बन जाते हैं और रुष्ट होते हैं तो 'बुद्धिनाशात्प्रणस्यति' के अनुसार बुद्धि छीन लेते हैं जिससे उसका नाश हो जाता है। सो इसी प्रकार ग्रह भी जब किसी महाशय पर चढ़ते हैं तो उसकी बुद्धि मे ननु नच, तर्क वितर्क, अगर, मगर, की सनक सवार हो जाती है। जैसे उन्मत्त प्रमत्त को अपनी खोपड़ी का विकार स्वयं मालूम नहीं पड़ता, विक्षिप्त पागल को अपने पागलपन का पता नहीं चलता परन्तु दूसरे लोग उसकी अण्ड बण्ड बात सुनते ही तत्काल भांप लेते हैं कि 'अर्धविक्षिप्तोऽयम्' ठीक इसी प्रकार आप अपने ऊपर चढ़े हुए शनिदेव को नहीं देख पाते किन्तु साक्षर सनातन-धर्मी तुम्हारी जिह्वा के हिलते ही तत्काल अनुभव कर लेते हैं कि 'देवनां प्रियोऽयम्।'

क्या पोप जी ग्रहों के एजेन्ट हैं?

कहा जाता है कि अमुक वस्तु दान देने से ग्रह टल जाएगा। क्या ग्रह घूसखोर हैं और पोप जी ग्रहों के एजेण्ट हैं? जो इनकी

पाकेट भरने से सब काम ठीक बन जाएगा।

मालूम होता है कि महाशय जी को यह विदित नहीं है कि अचानक ही अमुक २ रोग क्यों आ जाते हैं और मन भी परेशान क्यों हो जाता है ? आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि—

पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते ।
तच्छान्तिरोषधैर्दानैर्जपहोमसुरार्चनैः ॥ (माधव निदान)

अर्थात्—पूर्वजन्म-कृत पाप व्याधिरूप बनकर मनुष्य को कष्ट देते हैं और उनकी शान्ति औषधि, दान, जप, होम और देवपूजन से होती है। कहना न होगा कि यहां रोगों का कारण पूर्व जन्मार्जित पाप बताया है, यजुर्वेद स्वयं एकमात्र औषधि से उनकी शान्ति नहीं मानता किन्तु दान, जप, होम, देवपूजन को भी आवश्यक बताता है, यूनानी वाले भी दवा के साथ दुवा=ईश्वर प्रार्थना और खैरात आवश्यक समझते हैं। रुपया पैसा कमाने में भी खून पसीना एक करना पड़ता है, अत. द्रव्य को मनुष्य का 'बाह्य प्राण' माना है, सो यदि कोई पुरुष स्वेच्छा से दान रूप में अमुक २ वस्तु प्रदान करेगा तो उसे मीठा २ किन्तु हर्षपूर्ण कष्ट अवश्य होगा, जिससे रोग कष्ट निवृत्त हो जायगा, यानी रोगी को जितना कष्ट भुगतना था वह द्रव्य के देने से हो जायगा। इसीलिए दान, हैसियत से कम करने पर फल नहीं देता, इसलिए ग्रह घूसखोर नहीं किन्तु पूर्व जन्म के पापों का बदला चुकाने के लिए परमात्मा की ओर से नियुक्त न्यायाध्यक्ष हैं। जैसे जज इतना जुर्माना या इतने दिन की कैद की आज्ञा देते हैं, जुर्माना भरने पर कैद में जाने की आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार शारीरिक मानसिक कष्ट या दान पुण्यादिक इन दोनों विकल्पों से एक चुना जा सकता है, दान

करने पर कष्ट अवश्य दूर होता है यह हमारा निजी अनुभव है। वेद पाठी ब्राह्मणों से अधिक भगवान् के एजेण्ट और कौन हो सकते हैं, यह स्वय वेद कहता है। यथा—

य: आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति आ स देवेषु वृश्चते। (अथर्व० १२।४।१२)

अर्थात्—जो पुरुष देवताओं के निमित्त याचित गाय को वेदपाठी ब्राह्मणों को नहीं देता, देवता उसको दण्ड देते हैं।

अण्ड पिंड मूलक आयुर्वेद

यहां इतना और भी अधिक समझ लेना चाहिये कि ब्रह्माण्ड व्याप्त तत्तद् दैवी शक्तियों का केवल 'मानव पिण्ड' मात्र पर ही प्रभाव नहीं पड़ता अपितु घास फूस मिट्टी पत्थर पानी जैसे जड़ पदार्थों पर भी पड़ता है। क्यों कि ये सब वस्तुयें भी ब्रह्माण्डाभिमानी कीसी न किसी देवता से ही सम्बद्ध हैं। आयुर्वेद शास्त्र मे जो अमुक लोहे लक्कड़ का क्वाथ देने की व्यवस्था की गई है वह इसी अण्ड पिण्ड सिद्धान्त पर अवलम्बित है। रोग का तात्पर्य है-मानव पिण्ड में रक्त, मांस, मज्जा, मेदा अस्थि, शुक्र और ओज इन तत्त्वों में से किसी तत्त्व की कमी या अधिकता हो जाना। और चिकित्सा का तात्पर्य है— उसी तत्त्व को ब्रह्माण्ड व्याप्त घास फूस, अन्न, धातु आदि किसी द्रव्य से पूरा कर दिया जाय।

बीमार को छिलकेवाली मूंग की दाल खिलाने का यही हेतु है, कि रुग्ण व्यक्ति का वीर्य क्षीण हो जाता है और ब्रह्माण्ड में वीर्य स्थानीय द्रव्य पारद, अर्थात् पारा है सो जिन द्रव्यों में पारा अधिक मात्रा में उपलब्ध हो वे द्रव्य बीमार के लिये लाभप्रद सिद्ध होंगे।

सो मूंग में और खास कर उसके छिलके में पारे का अंश अधिक मात्रा में पाया जाता है। यही बात घिया और लौकी के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

इसी तरह यकृत और प्लीहा, अर्थात् जिगर और तिल्ली की बिमारियों में लोहासव कुमारी आसव टमाटर आयरन कुनीन आदि औषधियें इसलिये दी जाती हैं, कि शरीर में खाये हुए सब पदार्थों का जो रस बनता है, वह यकृत और प्लीहा के द्वारा ही रञ्जित होकर रक्त अर्थात् लाल रंग वाला बनता है सो इन दोनों यन्त्रों के विकृत हो जाने पर वह रग लाल नहीं हो पाता, किन्तु पीला ही रह जाता है, इसी लिये ऐसे रोगीयों के नख, जिह्वा, नेत्र और मलमूत्र तक अतिपीले हो जाते हैं, सो इस रोग की निवृत्ति के लिये मंगल ग्रह से सम्बन्ध रखने वाली सब वस्तुएं औषधि के रूप में दी जाने पर लाभ होने की पूरी सभावना है। कहना न होगा कि उपरोक्त द्रव्य मांगलिक रसायन से भर पूर होते हैं।

अपामार्ग (ऊगा) अर्क (आक) पलाश (ढाक) खदिर (खैर) उदुम्बर (गूलर) अश्वत्थ (पीपल) और कुशा इन सातों औषधियों में सूर्य, चन्द्र, मंगल बुध, बृहस्पति, शुक्र, और शनि, सातों महा ग्रहों के क्रमशः विशेष तत्त्व विद्यमान हैं। इसी प्रकार सोने, चांदी, ताम्बा, पीतल, कांसी, पारा और लोहा—इन सातों धातुओं मे, तथा माणिक मोती विद्रुम (मूंगा) पन्ना, (पिरोजा) पद्माख (पुख राज) वज्र (हीरा) नील मणि (नीलम) इन सात रत्नों में क्रमशः सूर्यादि सात महाग्रहों के विशेष अंश उपलब्ध होते हैं। सो मानव पिण्ड में जब जिस देवता के प्रदत्त तत्त्व में न्यूनता किंवा अधिकता आ जाये तो उसके तारतम्य को ठीक करने के लिये तत्तद् औषधियों की विधिवत उपासना

की जाती है, यही आयुर्वेद शास्त्र का मूल सिद्धान्त है।

प्रत्यक्ष देखने मे आता है, कि सुदूर आकाश में अवस्थित ग्रहों का प्रभाव पृथ्वी के जड़ पदार्थों पर भी पर्याप्त मात्रा मे पड़ता है। पौर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा समस्त पृथ्वी को उद्वेलित करता है यद्यपि ठोस होने के कारण पाषाण वृक्ष, और मृत्तिका आदि पदार्थों में हम उस आकर्षण विकर्षण की प्रगति को देख नहीं पाते, परन्तु तरल होने के कारण अनन्त-जल-राशि समुद्र को बल्लियों उछलता प्रत्यक्ष देखते हैं।

शनि की उच्च नीचता के तारतम्य से नीलम की आभा में भी तारतम्य हो जाता है। यह अनेक रत्न परीक्षक जोहरियों की जबानी हमें मालूम हुआ है। सो इन्हीं विज्ञान पूर्ण भावनाओं के आधार पर भारतीय ऋषियों ने मानव पिण्ड की उन्नति के लिये किये जाने वाले प्रत्येक कार्य मे अधिकाधिक सफलता प्राप्त करने के निमित्त ग्रह नक्षत्र तारे, सितारे, सैयारे, और धूमकेतु, उल्का पिण्डों के तारतम्य से तैयार होने वाले विशिष्ट वातावरण "कुर्रे हवाई" किवा "एटमास्फीयर" की अनुकूलता निर्माण करना ही नव ग्रह-पूजन का वास्तविक उद्देश्य माना है।

हवन विचार

आरब्ध कर्म के निर्विघ्न परिसमाप्त्यर्थ जैसे प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में गणपत्यदि देवों का पूजन आवश्यक है इसी प्रकार प्राय सभी धार्मिक अनुष्ठानों में हवन भी तदङ्गभूत होने के कारण करणीय है यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। आजके इस युग में प्रत्यक्ष वाद मे पले हुवे व्यक्ति तो हवन को, ततद् बहुमूल्य पदार्थों को अग्नि मे व्यर्थ फूक देने की एक जंगली प्रथा मात्र समझते हैं

परन्तु प्रत्यक्ष वादियों की यह धारणा वैसी ही भ्रम पूर्ण है जैसी कि किसान को कीमती अन्न खेत की मिट्टी में डालते हुवे देखकर किसी कृषि-विज्ञान से अपरिचित व्यक्ति की हो सकती है।

हमें यत्र तत्र यज्ञ यागादि करते कराते हुवे आज कल प्रायः सर्वत्र ही कम्यूनिस्ट सोशलिस्ट एवं अधकचरे कांग्रेसियों द्वारा किये गए विरोध का सामना करना पड़ा है अतः हमें यह कटु अनुभव है कि आजका कथित शिक्षित समाज एक साधारण किसान जितना भी भौतिक विज्ञान नहीं जानता है। घर मे नपा तुला अन्न हो, घर के बालक आधा पेट खाते हों, तब भी चतुर किसान पाषाण का हृदय बनाकर सब अन्न खेत की मिट्टी मे मिला डालता है। घर में अन्न का दाना न हो तब भी गहना पत्ता बेच कर, उधार उठा कर यथातथा—बीज जुटाने का प्रयत्न करता है। प्रत्यक्षदर्शी अनभिज्ञ लोगों की दृष्टि में उसकी यह चेष्टा भले ही मूर्खतापूर्ण जंचती हो परन्तु बुद्धिमान् कृषक को विश्वास है, कि खेत की मिट्टी मे मिलाया हुवा उसका प्रत्येक अन्नकण शत-सहस्र गुणित होकर पुनः प्राप्त होगा, यद्यपि अतिवृष्टि अनावृष्टि मूषक, शुक, शलभ और राज-सेनाओं के गमनागमन रूप ईतियों की भीति किसान के सिर पर खड़ी रहती है उसे कोई यह गारन्टी नहीं दे सकता कि खेत में डाला हुवा यह अन्न अवश्य ही उसे निर्बाधरूपेण प्राप्त होगा ही, तथापि प्रारब्धवादी पुरुषार्थी किसान भगवान् के भरोसे पर ही पीढ़ियों से अपना कर्तव्य पालन करता चला आ रहा है।

यही बात यज्ञ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए; किसान का यज्ञ पार्थिव यज्ञ है और यह तैजस्! कृषि दोनों हैं एक आधि-भौतिक है तो दूसरी आधिदैविक! एक का फल है— स्वल्पकालीन

तृप्तिक्षम अनाजों के ढेर, तो दूसरे का फल देवताओं के प्रसाद से अनन्तकालीन तृप्ति। इसीलिये यह कृषि, की भी दूसरे ही तरीके से जाती है। देवता सूक्ष्म शरीरधारी होने के कारण 'अन्नाद' नहीं हैं अत 'द्रव्य' को विधिवत् अग्नि में होम कर उसे सूक्ष्म रूप में परिणत किया जाता है। अग्नि में डाली हुई वस्तु का स्थूलांश भस्म रूप में पृथ्वी पर रह जाता है। स्थूल–सूक्ष्म–उभय–विमिश्रित भाग धूम बनकर अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाता है जो अन्ततोगत्वा मेघ रूप में परिणित होकर पुनरपि भूमि पर जल रूप मे बरसता है, और सूक्ष्मतम भाग अर्चि रूप में परिणत होकर द्यूलोकस्थ देवगण को परितृप्त करता है। 'स्थूल सूक्ष्मवाद' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अंश अबाध गति से अपने अंशी तक पहुंचकर ही विश्राम लेता है। मृतपिण्ड ऊपर को फेंका हुआ पुनरपि भूमि की गोद में स्थिर होता है, जल प्रवाह अपने आदिम उद्गम स्थान समुद्र में पहुंचे विना दम नहीं लेता, इसी प्रकार भौतिक अग्नि की प्रत्येक अर्चिः ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त तैजस् पदार्थों के आदिम–मूल–केन्द्र सूर्य मे पहुंचे बिना परिसमाप्त नहीं होती। यह वैज्ञानिक विवेचन श्री मनुस्मृति के—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते'

(मनु० ३। ७६)

अर्थात्—अग्नि में डाली हुई विधिवत् आहुति, सूर्य में उपस्थित होती है, आदि श्लोकों मे सूत्ररूपेण विद्यमान है।

यहां पदार्थ विज्ञान के अनुसार यह समझ लेना चाहिये कि जैसे विधिवत् मिट्टी में मिला अन्न-कण शत–गुणित हो जाता है, ठीक इसी प्रकार जल में मिला पदार्थ सहस्र–गुणित, और अग्नि मे मिला लक्ष–गुणित हो जाता है। यहां शत, सहस्र

लक्ष आदि शब्दों का प्रयोग केवल समझाने की दृष्टि से किया गया है। तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि पृथ्वी, अपः, तेज, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतों के संसर्ग से तत्तत् पदार्थजात उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यापक रूप में परिणत हो जाते हैं। खेत में बोये हुये अन्न की अभिवृद्धि सर्वसाधारण को भी विदित है परन्तु जलादि के संसर्ग से वस्तु की व्यापकता जानने के लिए जरा गहराई में गोता लगाना पड़ता है।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि आयुर्वेद की पद्धति में अमुक गुटिका शीतोष्ण जल किंवा किसी अनुपान विशेष के साथ देने की विधि चली आती है। ऐलोपैथिक डाक्टर लोग भी अमुक द्रव्यों को जल में मिला कर 'मिक्स्चर' ही अधिकतया देते हैं। होम्योपैथी चिकित्सा पद्धति की तो स्थापना ही इस सिद्धान्त पर हुई है, कि औषधि की जितनी मात्रा जो गुण रखती है यदि उसे फिल्टर किये पानी में मिला कर ज्यों-ज्यों न्यूनतम किया जाए त्यों-त्यों वह अधिकाधिक गुणप्रद बनती जाती है, अर्थात् दवाई की एक बूंद में जो गुण है उसे यदि दश गुणित पानी मे हल करके एक बूंद ली जाए तो वह दश गुणित रोगनाशनी-शक्ति-सम्पन्न बन जाती है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर आगे भी यह वृद्धिक्रम जल संसर्ग से तथैव जारी रहता है, कहना होगा कि ये सब क्रियाएं इस सिद्धात की परिचायक हैं कि जल में मिश्रित हुवा पदार्थ सहस्र-गुणित हो जाता है।

अग्नि के ससर्ग से पदार्थ की व्यापकता का अनुमान लगाने के लिये अधिक दौड़ धूप करने की आवश्यकता न होगी, आप भले ही नित्य एक लाल मिरच खाते हों परन्तु वह एकले आप को ही अपनी चरचराहट से परिचित कराती है परन्तु यदि आप

उसको अग्नि में डाल कर तमाशा देखना चाहें तो वह न केवल घर भर के लोगों को बल्कि पास पड़ौस तक के व्यक्तियों को भी अपनी गन्ध से 'आंछी आंछी' करने को विवश कर डालेगी। रत्ती भर हींग का छौंक महल्ले भर में सूचना दे देता है, कि आज श्रीमन्नारायण के यहां कढ़ी बनाई जा रही है। गावों में गुड़ पकने की भीनी २ गन्ध वायु के संसर्ग से दूर तक आगन्तुकों की घ्राण को आप्यायित करती है। मोटर बसों में जलते हुए पेट्रोल की दुर्गन्ध और और आयल इञ्जनों में जलते हुये क्रूड आइल की बदबू सर्व साधारण के सिर में दर्द पैदा कर देती है, गाड़ियों में बीड़ी सिगरट की धुंवाधार से, न पीने वाले सैकड़ों व्यक्ति परेशान हो कर नाक पर कपड़ा डालने के लिये विवश हो जाते हैं, इन सब दृष्टान्तों का एक ही तात्पर्य है कि अग्नि में डाली हुई वस्तु लक्ष-गुणित हो जाती है।

सो हवन में जो २ द्रव्य डाले जाते हैं वे सब अनन्त गुणित हो कर देवगण को परितृप्त करते हुए, अन्त में कर्ता को नानाविध भोगों के रूप में उपलब्ध होते हैं।

आर्य्यसमाज की मान्यता है, कि हवन का प्रयोजन 'वायुशुद्धि' है, परन्तु उनकी यह मान्यता प्रत्यक्षवाद पर आधारित एक अकिंचित्कर मान्यता ही है, हवन के अनेक लाभों में 'वायु शुद्धि' भी अन्यतम लाभ हो सकता है परन्तु हवन का मुख्य प्रयोजन तो परमात्मा के अङ्गप्रत्यङ्ग भूत देवगण को परितृप्त करके स्वयमपि तत्तत् पदार्थों के भोक्ता हो सकने की योग्यता प्राप्त करना है। जैसे आम पर बैठे हुवे कव्वों को देखकर कोई मनुष्य यह कहने लगे कि आम्रवृक्ष के लगाने का प्रयोजन कव्वे महाशयों के लिए चौपाल प्रस्तुत करना है! अथवा वृक्ष की ठण्डी छाया को देख कर कोई

उसे ही वृक्ष का सर्वोपरि प्रयोजन मान बैठे। ये मान्यताएं प्रत्यक्ष सिद्ध होती हुई भी वास्तविकता से कोसों दूर है। आम्रवृक्ष का प्रयोजन यथार्थतः रस परिपूरित सुमधुर फल हैं जो कि समय आने पर उपलब्ध होते हैं।

यदि वास्तव में हवन का उद्देश्य 'वायु शुद्धि' ही है तो फिर घर में बैठकर तोला दो तोला घी फूंक देने से वायु क्या शुद्ध होगी? इसके लिये तो महाशय लोग यदि ईस्ट पंजाब रेलवे या ईस्ट इण्डिया रेलवे की सेवायें प्राप्त करें तो ज्यादा लाभ हो सकता है। सारी सामग्री इकट्ठी करके रेलवे के पास पहुंचादें और वहां से उसे यदि इंजन में झोंका जाय तो न केवल महाशय जी के घर की, न केवल उनके गांव नगर या जिले की, किन्तु अमृतसर से लेकर सुदूर बंगाल तक की वायु ही शुद्ध न हो जाय !! और फिर देश में कभी कोई बीमारी ही न फैले। बलिहारी ऐसी अक्ल की!

इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि हवन का प्रयोजन प्रत्यक्ष घ्राण तर्पण अनुभव अथवा वायु शुद्धि मात्र नहीं है किन्तु देवाराधन पूर्वक भगवत्परिचर्या है जिसका सुमधुर फल इस लोक में अभ्युदय के रूप में और परलोक में निश्रेयस् के रूप में यथा समय कर्ता को प्राप्त होता है।

देवताओं की तृप्ति से क्या लाभ?

यहां पूछा जासकता है, कि देवताओं की तृप्ति से मानवसमाज को क्या लाभ? —यहां यह समझ लेना चाहिये कि 'अण्ड पिण्ड वाद' सिद्धान्त के अनुसार मानव पिण्ड देवगण की विभिन्न देनों का मूर्त परिणाम है; सो जैसे नल की टूंटी को प्रधान जलाशय (वाटर वर्क्स) की, और विद्युत् वलय (बिजली के बल्ब) को शक्ति केन्द्र

(पावर हाउस) की सदैव अनिवार्य अपेक्षा रहती है ठीक इसी प्रकार अनुजीवी मानव पिण्ड को भी पदे २ अपने अनुजीव्य देव-गण की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। यद्यपि हम देवगण की अनु-कम्पा के बिना अभिलषित भोगों को जुटाने की भी शक्ति नहीं रखते तथापि हम यह निर्मूल कल्पना भी कर लेते हैं, कि मान लो मनुष्य अपने उद्योग के बलबूते पर खानपान की सर्वविध सामग्री जुटाने में सफल हो सके परन्तु एतावता भी वह संगृहीत पदार्थों का स्वतन्त्रता पूर्वक उपभोग कर सकेगा यह उसके अपने सामर्थ्य की बात नहीं है; सैकड़ों धनीमानी पुरुषों के यहां उपभोग सामग्री की कमी नहीं होती परन्तु अग्निमांद्य, अरुचि आदि रोगों के कारण वे कुछ भी खा पी नही सकते, पदार्थों को देख २ कर झींकते हैं। यह लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि 'गरीबों को दूध प्राप्त नहीं होता और अमीरों को हज्म नहीं होता'। सो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति-रूप 'योग' और प्राप्त वस्तुओं का उपभोग कर सकने की क्षमता रूप 'क्षेम' -उभय विध सौकर्य केवल देवतात्मा भगवान् की ही देन हो सकती है इसलिये हवन द्वारा परितृप्त देवता मनुष्य को प्राप्त पदार्थों के उपभोग कर सकने की वह योग्यता प्रदान करते हैं, जो कि अन्य उपायों द्वारा कथमपि प्राप्त नहीं हो सकती।

देहाती भाषा में इस गूढ़ प्रकरण को सरल शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि देवगण विविध प्रकार के दाता होने के कारण 'देवता' कहे जाते हैं और मनुष्य पदे २ उनसे लेनेवाला होने के हेतु 'लेवता' कहा जा सकता है, तो लेवता का देवता बिना काम चल ही नहीं सकता।

दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक राजा ने अपने पुरोहित से हवन के लाभ जानने की जिज्ञासा की। विद्वान् पुरोहित ने वेद शास्त्रानुसार

यज्ञ-प्रक्रिया का वर्णन किया परन्तु परोक्षवाद पर निहित यज्ञ-तत्त्वों को प्रत्यक्षवादी राजा पूरी तरह न समझ पाया। ननु नच किन्तु व परन्तु करता ही रहा, अन्ततोगत्वा पुरोहितजी ने यज्ञ-प्रक्रिया समझाने की एक नवीन युक्ति निकाली। राजा से कहा तुम ब्रह्मभोज करो तब कुछ समझ में आएगा। वैसा ही किया गया, पुरोहितजी ने यज्ञ प्रक्रिया के प्रगाढ ज्ञाता वेदपाठियों को एक भवन में बिठाया और दूसरे ब्राह्मणों को दूसरे भवन में। नानाविध पदार्थ परसे गए परन्तु भोजन से पूर्व पुरोहितजी के सङ्केतानुसार राजा ने समस्त ब्राह्मणों की कोहनी के साथ हाथ को एक २ डण्डा बांध दिया, और भोजन करने की आज्ञा दी। ब्राह्मणों ने ज्यों ही ग्रास उठाकर मुख में डालना चाहा तो वह मुड़ न सकने के कारण शिर से भी हाथभर ऊंचे गया। वे बड़े चकित हुए, राजा के भय के कारण कोई कुछ पूछ न सका और सामने पड़ा भोजन देखकर मास मरते रह गए। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणों ने आपस में परामर्श करके दो पंक्ति लगालीं, सामने वाला व्यक्ति भोजन ग्रास उठाकर अपने सामने बैठे व्यक्ति के मुख में डालने लगा और दूसरा भी इसी भान्ति उसको खिलाने लगा। क्योंकि बन्धा हुवा हाथ अपने मुख में नहीं पहुंच पाता था, सामने वाले के मुख में तो भलीभान्ति पहुंचता था। इस तरह सबने भरपेट भोजन किया और तृप्त होकर डकारें लेने लगे। राजा ने परितृप्त याज्ञिक ब्राह्मणों से जब इस सूझ का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि महाराज ! श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने कहा है कि—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

अर्थात्—हे मनुष्यो ! तुम यज्ञ प्रक्रिया से देवताओं को तृप्त

करो, देवता तुम्हें तृप्त करेंगे, इस प्रकार एक दूसरे, को तृप्त करते हुवे तुम दोनों का परम कल्याण होगा।

सो हमने यहां भी इसी यज्ञ सूत्र से काम लिया। कहना न होगा कि उपर्युक्त दृष्टान्त हवन विधान पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। निःसन्देह मनुष्य ससार में सब पदार्थों के होते हुवे भी कर्म-बन्धन में बंधा हुवा उनका स्वतन्त्रता पूर्वक उपभोग कर सकने में स्वाधीन नहीं है। यदि मनुष्य यज्ञ यागादि द्वारा देवताओं को तृप्त करे तो फिर देवता भी उपभोग क्षमता प्रदान करते हैं। इसलिये अमुक २ संस्कार के समय विहित होमादि का, श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।

गर्भाधान संस्कार विचार

वैदिक स्वरूप

(क) गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति। गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा।

(ख) गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः। गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥ (अथर्व ५, २५, ३-४)

अर्थ—(क) (सिनीवालि !) हे अमावस्याधिष्ठातृदेवते, तथा (सरस्वति) हे वागधिष्ठातृदेवते, आप इस स्त्री को गर्भ धारण करने की सामर्थ्य दें एवं उसे पुष्ट करें। (पुष्कर स्रजा) कमलों की माला से सुशोभित (उभाअश्विनौ) दोनों अश्विनीकुमार (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (आधत्तां) पुष्ट करें। (ख) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करें। (देवो बृहस्पतिः)

देव गुरु बृहस्पति (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करें। (इन्द्रः) इन्द्रदेवता (अग्निः) सम्पूर्ण प्राणियों मे—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रितः—वैश्वानर रूप से व्याप्तदेव, (धाता) सृष्टिकारक ब्रह्मा, (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (दधातु) पुष्ट करें।

उपर्युक्त वैदिक मन्त्रों के उद्धरण से यह ज्ञात होगया होगा कि यह संस्कार वेदानुमोदित है! चूंकि मानव जातिके प्रतिनिधि भावी शिशु का सम्पूर्ण भविष्य इस ही के ऊपर निर्भर है अतः इस संस्कार का महत्व निर्विवाद है। 'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे—इस श्रुति के अनुसार सन्तान माता पिता के आत्मा हृदय तथा शरीर से उत्पन्न होता है ऐसी दशा मे माता पिता मे होनवाले शारीरिक या मानसिक गुण अवगुण भी सन्तान मे अवश्य सक्रमित होंगे उन दोषों को दूर करने के लिये गर्भाधान संस्कार की आवश्यकता होती है। इसीलिये मनुजी ने इस संस्कार का उद्देश्य—

निषेकाद्बैजिकं चैनो गार्भिकञ्चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानं फलं स्मृतम् ॥

इस श्लोक में बीज तथा क्षेत्र दोनों की शुद्धि ही मुख्य रूपेण माना है।

प्रश्न हो सकता है कि—क्या चन्द मन्त्रों के उच्चारण तथा देवपूजनादि से शारीरिक और मानसिक दोषों की शान्ति सम्भव है? इसका उत्तर हम हां में ही देंगे। हमे यह न भूलना चाहिये कि मनुष्य के अच्छे या बुरे होने मे उसके मन का प्रधान हाथ होता है। शास्त्रों मे बतलाया गया है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मनुष्य का मन ही उसके सांसारिक कष्टपूर्ण बन्धन

और नित्य सुखमय मोक्ष का कारण है। ऐसी दशा में जब दोषों के उद्गम और उनके दुर्भेद्य दुर्ग का हमे पता लग गया तो हमारा कर्तव्य यह हो जाता है कि हम सीधा आक्रमण उसी पर करें—उसके प्रवाह को बदलें और अभीतक उसकी जो शक्ति दोषों को उत्पन्न करने की ओर लगी हुई थी उसीको दोषों एवं दुर्गुणों के विनाश की ओर लगावें। इस तत्त्व को समझने वाले महर्षियों ने ही इस संस्कार का विधान किया है। मद मोह वासना से अन्धे हुए पुरुष के अन्धकार पूर्ण हृदय मे ऐसे समय मे भी अध्यात्म-प्रदीप की एक लौ को प्रज्वलित रखना—भारतीय ऋषियों की ही विलक्षण बुद्धि का चमत्कार है। इस संस्कार के समय पढ़े जाने वाले—

(क) धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः।
पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥
(अथर्व ५।२५।१०)

(ख) यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाऽहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतं ॐ शृणुयाम शरदः शतम्।
(पारस्कर० १।११।६ यजु० ३६।२४)

अर्थ—(क)—(धात.) हे सृजनाधिष्ठातृ देवता ब्रह्माजी। (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ रूप के साथ (अस्या) इस (नार्याः) स्त्री की (गवीन्योः) पार्श्वस्थ नाड़ियों में (पुमांस पुत्रं) पुरुष सन्तान को (दशमे मासि) दसवें महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (आधेहि) भली प्रकार स्थापित कीजिए। (ख)—(सुसीमे) हे सुन्दरि, (यत्ते हृदयम्) तुम्हारा जो हृदय (दिवि चन्द्रमसि श्रितम्)

द्युलोकस्थ चन्द्रमा में स्थित है (तत् अहं वेद) उसे मैं जानता हूँ और (तत् मां विद्यात्) वह मुझे जाने । अर्थात् हम दोनों एक दूसरे के मनोभावों को भली प्रकार समझें । हम दोनों सौ वर्ष तक देखें, जीवें, और श्रवण शक्तियुक्त रहें ।

—इत्यादि मन्त्र मनुष्य के मन को सात्विक भावों की तरफ आकृष्ट करते हैं । उसमें पशुत्व का उदय नहीं होने पाता । विषयोपभोग में प्रवृत्त हुआ भी वह उसे कामवासना की शान्ति का साधन नहीं समझता किन्तु सृष्टि यज्ञ जैसे पवित्र एवं वेद निर्दिष्ट कर्तव्य की पूर्ति के लिये ही उसका सेवन करता है । उसके हृदय में अनुक्षण उठने वाली "मैं सत चित् आनन्दमय पूर्ण पुरुष का अंश हूं यह मेरी प्रकृति है: देव ऋषि पितृ ऋण से मुक्त होने के लिये हम गर्भाधान करते हैं" आदि भावनाएं भावी मानव के शरीर निर्माण पर बड़ा प्रभाव डालती हैं ।

यह सिद्ध हो चुका है कि गर्भाधान के समय पति पत्नी के हृदय में जिस प्रकार के विचार होते हैं—उनके हृदय और अन्तचक्षु के सन्मुख जो चित्र होता है—भावी शिशु उन्हीं सब के प्रतिबिम्ब को लेकर जन्म लेता है । अक्सर देखा गया है और समाचार पत्रों में प्रतिदिन ऐसे समाचार पाठकों को पढ़ने को मिलते हैं कि 'अमुक स्त्री ने एक ऐसे अद्भुत बालक को जन्म दिया जिसकी आकृति वानर की थी जिसके शरीर पर बाल थे और पूंछ थी' कभी 'दो सिर और चार हाथ वाले बालक का जन्म"। इन सब घटनाओं का मूल क्या है ? कहना होगा कि गर्भाधानकाल के ऊटपटांग विचारों ने ही ऐसी अद्भुत आकृतियों को जन्म दिया है । इसलिये गर्भाधान काल में मनुष्य के मन का प्रसन्न तथा धार्मिक भावयुक्त रहना नितान्त आवश्यक है ।

हम पीछे कह आये हैं कि शिशु का निर्माण माता पिता के शरीर आत्मा और हृदय से होता है इन तीनों में भी मन की ही प्रधानता है वह बड़ा चञ्चल और अनियम्य है। वह प्रतिक्षण गतिमान रहता है और बुद्धि को अपने साथ मिलाकर कुछ न कुछ मनन करता रहता है। यदि उसे कोई उचित सरणी न मिले तो उसके लिये विपथगामी होना कोई कठिन नहीं है। अन्य समय में मन की इस चञ्चलवृत्ति को सहन किया जासकता है किन्तु गर्भाधान जैसे पवित्र और महत्वपूर्ण काल में, जब कि हम अपने वंश जाति और परम्पराओं के उत्तराधिकारी के निर्माण के लिये प्रस्तुत हो रहे हों, इस प्रकार की चंचल तथा सरणीहीन मनोवृत्ति,—अयोग्य, कुलकलङ्की तथा सर्वदा संताप एवं अनुताप की आग में जलानेवाले शिशु के जन्म का कारण बन सकती है। इसलिये मन को देवभाव युक्त करने तथा इस पवित्र एवं महान् कार्य की जिम्मेवारी अनुभव कराने के लिये ही क्रान्तदर्शी महर्षियों ने इस संस्कार का प्रचलन किया था।

गर्भाधान, संस्कार क्यों ?

जब सृष्टि में मनुष्य पशु पक्षी आदि सभी प्राणी, बिना शास्त्रोक्त गर्भाधान संस्कार के ही, गर्भाधान कर लेते हैं और उनके सन्तान भी हो जाती है, बल्कि पशु पक्षी तो दो चार पांच सात बच्चे तक एक बार उत्पन्न कर लेते हैं तब यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि इसकी गणना संस्कारों में क्यों ?

यह सत्य है कि पशु पक्षी बिना शास्त्रोक्त गर्भाधान के ही सन्तान उत्पन्न करने में सफल हो जाते हैं और मनुष्य भी हो रहे हैं किन्तु फिर भी मनुष्य और पशु में अक्ल का—सोचने समझने की शक्ति का—जो महान् अन्तर है उसे भुलाना सहज नहीं है।

ज्ञान शक्ति देकर प्रकृति ने पुरुषों पर जो अनुग्रह किया है वह पशुओं पर नहीं। पशु पक्षी सर्वात्मना प्रकृति माता के ही आश्रय पर जीवन निर्वाह करते हैं। प्रकृति ही उनकी सम्पूर्ण वृत्तियों की संचालिका होती है। वह उनको एक नियम के अन्दर चलाती है और उससे रत्तीमात्र भी बाहर नहीं होने देती।

तात्विक दृष्टि से देखने पर तो हम कह सकेंगे कि आज के मनुष्य से पशु कई बातों में बढ़ा चढ़ा है और उसने मनुष्य के सामने एक आदर्श स्थापित किया है। गर्भाधान और समागम को ही लीजिये; पशु पक्षी एक निश्चित समय में ही—जो कि प्रकृति ने उनके लिये निश्चित कर दिया है—समागम करते हैं। उस समय भी वे अपनी घ्राण शक्ति द्वारा स्त्री के शरीर को सूंघकर यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि स्त्री गर्भिणी तो नहीं है। यदि ऐसा हुआ तो फिर उससे समागम नहीं करते। इसके विपरीत पुरुष,—ज्ञानशक्ति सम्पन्न पुरुष। प्रकृति के सभी वैज्ञानिक बन्धनों को ताकपर रखकर समय कुसमय का कोई विचार न करता हुए अपनी भोग लालसा को तृप्त करता है और इस प्रकार जान-बूझकर अपने अमूल्य स्वास्थ्य की हानि करके अकाल में ही मृत्यु के मुख में जा पहुंचता है। इसलिये प्रकृति प्रदत्त संयम—जो कि इस संस्कार के कतिपय प्रयोजनों में से एक है—के कारण पशु पक्षियों के लिये इस संस्कार की आवश्यकता भले ही न हो, किन्तु मनुष्य के लिये तो इसकी परमावश्यकता है।

इस संस्कार द्वारा स्त्री पुरुषों के सम्बन्ध की पवित्रता तथा संयम के महत्व का दिग्दर्शन होता है। विवाहित स्त्री पुरुषों के सामने यह आदर्श विचार रखा जाता है कि तुम दोनों का सम्बन्ध विषय भोग की तृप्ति के लिये नहीं, किन्तु एक महान उद्देश्य की

पूर्ति के लिये है। केवल इसी पुत्रोत्पत्ति रूप उद्देश्य के लिये ही इन्हें समागम करना चाहिये। संयम पूर्वक गृहस्थ जीवन ही उनका आदर्श है व्यभिचार नहीं। विवाह का तात्पर्य यह नहीं, कि अब उनको विषय सेवन की खुली छुट्टी दे दी गई है; वे चाहे जैसे भी विषयोपभोग करते रहें वह पाप न होगा क्योंकि वे तो पति पत्नी हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार का विषय-सेवन व्यभिचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

प्राय. हम देखते हैं कि--माता पिता भाई विरादरी—अर्थात समाज की अनुमति से एवं वैदिक मन्त्रों की शक्ति से ही स्त्री पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध मान्य होता है। इन दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त यदि कोई स्त्री पुरुष आपस मे ऐसा सम्बन्ध रखते हैं तो जहां लोक में उसे व्यभिचार गिना जाता है वहां परलोक मे भी दुर्गति करनेवाला कहा जाता है।

परन्तु व्यभिचार की यह व्याख्या अधूरी है। इसके विषय में अनेक विचारशील व्यक्तियों का यह मत है कि 'व्यभिचार के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह पराई स्त्री से ही हो, किन्तु अपनी विवाहिता स्त्री से भी शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध समागम करना व्यभिचार ही है।' पाश्चात्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् Dr Balfowr (डा० बैलफोर) ने इस विषय का विवेचन करते हुए एक जगह लिखा है :—

"विवाहित लोगों के मध्य में अत्यन्त विषय सेवन यथार्थ रूप से व्यभिचार है।" इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता में 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' कह कर धार्मिक भावना से उपभुक्त काम को ही अपनी विभूति में परिगणित किया है।

आज हमारे समाज में स्त्री पुरुष का पारस्परिक संबन्ध गोप्य

समझा जाता है। गर्भाधान की चर्चा और वह भी संस्कार के उत्सव में पधारे हुए उपाध्याय या रिश्तेदारों के सन्मुख–स्त्री और पुरुष दोनों के लिये ही लज्जा का कारण समझा जाता है, किन्तु वास्तव में ऐसी चर्चा न गोप्य है न लज्जा का कारण ही। जब से समाज में इस वैदिक संस्कार का अभाव हुआ और उसका स्थान गोपनीयता ने लिया तब से ही अधिक विषय सेवन रूप व्यभिचार की बाढ़ मी आगई। यदि आज फिर गर्भाधान को संस्कार रूप में करने की प्रथा प्रचलित हो तो समाज के बहुत से दोष स्वय शान्त हो जाएं। और तब, जिस प्रकार विवाहित हो जाने पर, पर-स्त्री और पर पुरुष से सम्बन्ध रखना पाप समझा जाता है, यथा सम्भव नर नारी इससे बचने का प्रयत्न भी करते हैं, इसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिये गर्भाधान संस्कार के समय ही स्त्री पुरुष समागम किया करें, अतिरिक्त समय में नहीं, यही इस संस्कार का मुख्य अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के निम्न उद्देश्य और कहे जा-सकते हैं।

गर्भाधान क्रिया ज्ञान

हिन्दू शास्त्रों में संसार के स्पृहणीय समस्त पदार्थों का वर्गीकरण करते हुवे उन्हें केवल चार भागों में विभक्त किया है। जिसे चतुर्वर्ग, कहा जाता है। उन चार पदार्थों के नाम हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारो पदार्थों को प्राप्त कराने वाले शास्त्र भी चतुर्विध हैं। जैसे मन्वादि स्मृतियें धर्म शास्त्र हैं। शुक्र, वृहस्पति, कणक, कामन्दक, और चाणक्य आदि के ग्रन्थ अर्थशास्त्र हैं तथा उपनिषद् गीता आदि २ मोक्ष शास्त्र हैं, इसी प्रकार वात्स्यायन आदि महर्षियों के बनाये हुए 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थ काम-शास्त्र हैं।

प्राचीन समय में ऋषिकुल गुरुकुलादि में २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत पूर्ण करके स्नातक होनेवाले छात्रों को अन्य विद्याओं की भांति आचार्य लोग इस रतिशास्त्र (Sexual Physiology) का भी उपदेश देते थे जिससे युवकवृन्द पहिले से ही गृहस्थाश्रम के आवश्यक नियमों से सुपरिचित हो जाते थे। किन्तु मध्यकाल में जब कि आश्रम प्रणाली समाप्त हो गई यह प्रथा भी जाती रही और धीरे २ देश दो दलों में विभक्त होगया। एक दल उन राजा नवाब और रईसों का था जो विलासान्ध होकर दिन रात रंगरलियां मनाते थे। सुरा सुन्दरी का मादक नशा प्रति क्षण जिनकी आंखों में छाया रहता था और मंगलामुखियों के मुजरों से जिन्हें क्षण भर का भी अवकाश न मिलता था। दूसरा दल धार्मिक भावना प्रधान जनता का था और वह इस प्रकार के कृत्यों से सख्त घृणा करता था। मध्यकाल के तुलसी सूर मीरा आदि भारतीय सन्तों ने—जो कि जनता के सच्चे मार्ग प्रदर्शक थे—इन विलास प्रवृत्तियों के विरुद्ध बड़ा प्रचार किया, फल यह हुआ कि 'दूध का जला छाछ को फूक २ कर पीता है' कहावत के अनुसार जनता, न केवल विलास से पराङ्मुख हुई, किन्तु उसने रति अथवा कामशास्त्र को—जिसे प्रजनन शास्त्र भी कहते हैं अश्लील और हेय समझना शुरू कर दिया। इस प्रकार चतुर्वर्ग के अन्यतम (काम) पदार्थ का विशुद्ध परिज्ञान उत्तरोत्तर समाप्त होगया।

संस्कार प्रणाली तो लुप्त हो ही चुकी थी, तब पुरुषों को गर्भाधानादि का यथार्थ ज्ञान कैसे आता ? आज भी हमारी यही स्थिति है। रति शास्त्र (Sexual Physiology) का वास्तविक ज्ञान देने वाली पुस्तकों का आज भी सर्वथा अभाव है। गृहस्थ में प्रवेश करने वाले युवक अपने आस पास के लोगों तथा विलासी युवकों

से जैसा तैसा सुनकर या बाजार में बिकनेवाले अश्लील, कथित 'सचित्र कोकशास्त्रों' से—जो बाजारू औषधियों के विज्ञापन मात्र होते हैं और पुरुषों को पथभ्रष्ट करके विनाश के गहरे गर्त में गिरा देते हैं--ऊट पटांग ज्ञान प्राप्त करके अपना सर्वनाश कर बैठते हैं। विदेशों में रतिशास्त्र के ऊपर आजकल सैकड़ों पुस्तकें निकल रही हैं। डा० पाइनकर डा० विलसन, डा० हैविलाक ऐलिस, डा० प्लोटस, डा० वनार्ड एवं डा० फ्रैंकलिन आदि प्रख्यात लेखकों ने इस विषय को वैज्ञानिक रूप में जन साधारण में समक्ष उपस्थित करने का प्रयास किया है। 'What a husband ought to know' 'Sexual questions' 'Before I wed' 'The Science of New life' 'Secrets of successful marriage' आदि २ पुस्तकों द्वारा वहां गृहस्थ में प्रविष्ट होनेवाले नव युवकों को गृहस्थ का रास्ता दिखाया जाता है। इस प्रयत्न में वहां की जनता का कुछ उपकार ही हुआ है। परन्तु भारत में इस विषय की सच्ची शिक्षा देने वाली जो पुस्तकें उपलब्ध हैं यदि भारतीय स्वय उनसे सुशिक्षित होकर अपने गार्हस्थ्य जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करें तो वह पुनरपि इस विषय में भी संसार का सच्चा नेतृत्व कर सकते हैं।

गर्भाधान संस्कार कराने वाले आचार्य को इस विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, इसलिये यदि यह प्रणाली पुनर्जीवित हो तो संस्कारार्थी को सब अपेक्षित सत्य ज्ञान गुरु से ही प्राप्त हो सकता है। अथवा इस संस्कार से पूर्व ही वह संस्कार सम्बन्धी योग्यता प्राप्ति के लिये इस विषय के ग्रन्थों द्वारा अपेक्षित ज्ञान लाभ कर सकता है। जिस प्रकार परीक्षा तिथि के निर्धारित हो जाने पर विद्यार्थियों की पढ़ाई में अधिक अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है

और वे उस दिन सफलता प्राप्त करने के लिये डटकर तैय्यारी करते हैं, इसी प्रकार मुहूर्त शास्त्रादि द्वारा गर्भाधान संस्कार का दिन नियत किया जाने पर संस्कारार्थी का उसके लिये यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा पाना स्वाभाविक ही होगा और तब धार्मिक क्रिया के रूप मे गर्भाधान के निष्पन्न करने पर भावी शिशु का धार्मिक भाव सम्पन्न, सत्पुत्र के रूप में उत्पन्न होना कुछ कठिन नहीं।

स्त्री की अनुमति—

नारी विषयभोग की पूर्ति का साधन नहीं है. वह सृष्टि सौन्दर्य की पवित्र प्रतिमा है। विश्व की समस्त सुकुमार भावनाओं को उद्ग्रथित करके विधाता ने नारी का सृजन किया है। प्रेम, दया, माया, ममता धैर्य और कोमलता की अतुल राशि से उसका हृदय सर्वदा प्लावित रहता है। त्याग और आत्म समर्पण के सहज वरदानों को लेकर कुमारी रूप मे उसका उदय होता है और मातृ रूप में पर्यवसान। 'माता' रूप में परिणति ही उसके जीवन की व्याख्या है। वह श्रद्धा की वस्तु है, विलास की नहीं। अत: जो व्यक्ति पुत्रोत्पत्ति के धार्मिक प्रयोजन के अतिरिक्त तथा स्त्री की इच्छा के प्रतिकूल भी अपनी विषय लालसा को तृप्त करते रहते हैं, वे न केवल अपने अमूल्य स्वास्थ्य का नाश करते हैं अपितु स्त्री के साथ एक बड़ा अन्याय भी करते हैं।

गर्भाधान संस्कार स्त्री पुरुष की सहवास के लिये पारस्परिक सम्मति तथा सन्तान की आवश्यकता द्योतक संस्कार है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सहवास के लिये स्त्री की सम्मति या सहमति कितनी आवश्यक है। स्त्री का शरीर स्वस्थ हो चाहे अस्वस्थ उसका मन प्रसन्न हो अथवा विषण्ण, आज के अधिकांश पति

इसकी कोई पर्वाह न करते हुए विना किसी पूर्व निश्चय के अपनी जघन्य वासना पूर्ति के लिये स्त्री को कष्ट में डालते हैं। सन्तान बाहुल्य से दुःखी निर्धन पुरुष, सन्तान की कोई इच्छा न रहते हुए भी, गर्भाधान मे प्रवृत्त हो जाते हैं और इस क्षणिक आनन्द का तात्पर्य होता है एक और बालक,—जिसकी कि परिवार में कोई आवश्यकता नहीं थी। अन्त में गरीबी और भूख से तंग आकर या तो बालक ही तड़फ २ कर मर जाते हैं या विलासान्ध पति महाशय को आत्महत्या का द्वार खटखटाना पड़ता है। यह सब क्यों होता है ? गर्भाधान प्रथा के लुप्त होने के कारण ही तो !

वर्तमान काल की अनेक भ्रूण हत्याओं और गर्भ निरोधक औषधियों के अन्धाधुन्ध प्रचार का कारण क्या इस संस्कार का लुप्त हो जाना ही नहीं है ? यदि आज समाज में इस संस्कार पूर्वक ही गर्भाधान का प्रचार हो, तो—न तो बेकारी के समय में अनायास ही जनसंख्या के बढ़ने की शिकायत रहे और न पुरुषों की स्वेच्छाचारिता पूर्ण प्रवृत्ति से त्रस्त तथा पददलित नारियों के आन्दोलन का सवाल,—जो आज पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने के लिये नारियों द्वारा चलाया जा रहा है।

पर्वादिकों में सहवास निषेध–

सनातन धर्मियों के समस्त क्रिया कलाप किसी मुहूर्त में होते हैं। मुहूर्त का तात्पर्य है—सर्वथा उपयुक्त काल। दूसरे शब्दों मे एक ऐसा समय—जो उस कार्य के लिये वैज्ञानिक दृष्टि से बिलकुल पूरा उतरे। इस उपयुक्तता का निर्धारण साधारण मानवों की बुद्धि से नहीं किन्तु प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित ज्योतिष शास्त्र (Astronomy) के द्वारा होता है।

स्त्री समागम के लिये शास्त्रों की आज्ञा है कि--

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥

अर्थात्--पुरुष को चाहिये पर्वादि रहित ऋतुकाल में धर्म कामना पूर्वक स्वकीय भार्या से ही समागम करे। संस्कार विषयक मुहूर्त का विचार करते हुए पारस्कर गृह्य-सूत्रकार ने लिखा है--

"ऋतुकाले रजोदर्शने सञ्जाते चतुर्थादि समदिने ज्योतिःशास्त्रोक्ते पुण्याहे, कन्यार्थी पञ्चमादिविषमदिने गर्भाधानं कुर्यात्। (पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात्--ऋतुकाल में, रजोदर्शनोपरान्त ऋतुस्नाता हो चुकने पर चौथे दिन, अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या पूर्णिमा संक्रान्ति आदि पर्वकाल रहित ज्योतिष शास्त्रोक्त शुभ समय में गर्भाधान करे।

गृह्य-सूत्र के उपरोक्त विधान में 'ज्योतिषशास्त्रानुमोदित शुभ समय' का निर्देश करके मनुष्य की अबाध विलास प्रवृत्ति को संकुचित एवं सीमित करके जहां मानव स्वास्थ्य को समुन्नत करने का प्रयत्न किया गया है वहां वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भाधान के लिये उपयुक्त समय का संकेत भी किया गया है। इस विषय में मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने बड़ा सूक्ष्म और गहन विचार किया है। मनु लिखते हैं--

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्र्यः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
(मनु० ३, ४६-४८)

अर्थात्--स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल रजोदर्शन के दिन से आगे १६ रात्रियें कहा गया है। इनमें प्रथम चार रात्रियें अतीव निन्दित हैं, इनमें सहवास तो क्या रजस्वला के हाथ का स्पर्श किया जल भी न पीना चाहिये। पहली चार रात्रियों के अतिरिक्त ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित है। शेष दश रात्रियें प्रशस्त हैं। पुत्राभिलाषी पुरुष युग्म-अर्थात् छठी आठवीं दशवीं बारहवीं चौदहवीं और सोलहवीं रात्रि में स्त्री समागम करे, इसी प्रकार कन्याभिलाषी पुरुष अयुग्म—पांचवी सातवी आदि शेष रात्रियों मे गर्भाधान करे।

मनु के उपरोक्त उद्धरण से यह भली भांति ज्ञात हो जाता है कि आज से हजारों लाखों वर्ष पूर्व जब कि शेष संसार अर्ध सभ्य अवस्था में नितान्त पशु तुल्य जीवन बिता रहा था तब भारतीय महर्षि अपनी सुदीर्घ तपश्चर्या तथा विज्ञानमय विश्लेषण द्वारा मानव जीवन की प्रत्येक दिशा में परिक्षण (Experiment) करने में लगे हुए थे। जीवन का कोई कोना ऐसा नहीं है जहा उनकी पैनी दृष्टि का प्रसार न हुआ हो। मानव जीवन के सभी पहलुओं पर उन्होंने विशद विचार किया है और तब जो सिद्धान्त और नियम उन्होंने स्थिर किये हैं वे कितना महत्त्व रखते हैं--यह कहने की आवश्यता नहीं।

अमुक २ रात्रि में सहवास निषेध क्यों ?

भौतिक विलास परिपूर्ण आधुनिक जगत् में उपरोक्त प्रश्न कोई

आश्चर्य नहीं है। Eat drink and be marry या 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्' जैसी सुन्दर एवं सरल फिलासफी के मुकाबले मनु के उपरोक्त विधि निषेधमय नियम, ज्वरार्त प्राणी के सामने से हलवे की तश्तरी हटाकर कड़वी कुनैन देने के समान है और तब रोगी का, ऐसा करने वाले वैद्य और घरवालों के प्रति क्षोभ, असहिष्णुता समर्थ होने पर आज्ञोल्लंघन भी स्वाभाविक ही है। आज यही दशा हमारे सामने है। लोग कहते हैं—धर्म ने मनुष्य की सब प्रकार की स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे कैदी बना दिया है। उसके सभी क्रियाकलापों पर सदा धर्म का अंकुश झूलता रहता है। खाना पीना सोना उठना बैठना--गर्ज यह कि सभी कार्यों में अदृष्ट प्रेत की छाया की भांति धर्म उसके पीछे लगा रहता है। आखिर यह सब क्यों ? 'धर्म मनुष्य के लिये है न कि मनुष्य धर्म के लिये।' इस प्रकार के विचार आज सर्वत्र सुनने को मिलते हैं। ऐसी दशा में उपरोक्त प्रश्न का समाधान आवश्यक ही नहीं अत्यावश्यक है।

पर्वादिकों में सहवास निषेध के रहस्य को समझने से पूर्व हमें निम्न लिखित पांच बातों को बुद्धि में उतार लेना चाहिये, जिससे प्रतिपाद्य समाधान को अनायास ही समझ सकें।

(१) भूगोल विद्या (Physical Zography) के अनुसार चन्द्रमा जलीय संघातों का—जिन्हें रस कहा जाता है—एक बहुत बड़ा पिण्ड है।

(२) हमारे शरीर में विद्यमान खून तथा प्राण--जो कि जीवन के मुख्य हेतु हैं—जल के विकार से बने हुए द्रव्य हैं, जैसा कि उपनिषद् के निम्न उद्धरण से भली भांति ज्ञात हो सकता है—

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातु स्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।

(छान्दोग्य उप० ६।५)

अर्थात्--मनुष्य जिस जल को पीता है उसका सब से स्थूल भाग मूत्र बन जाता है, उससे सूक्ष्म भाग रक्त बन जाता है और सब से सूक्ष्म भाग प्राण होता है।

(३) चन्द्रमा की उत्पत्ति विराट् के मुख से हुई है जैसा कि

चन्द्रमा मनसो जातः (यजु)

—इस मन्त्र से भली भांति जाना जा सकता है।

(४) भूमण्डल की उन सभी वस्तुओं पर जिन में जलीय अंश रहता है चन्द्रमा का प्रभाव पड़ता है; उदाहरणतया सभी औषधि वनस्पति आदि चन्द्रमा से ही रस को प्राप्त कर बढ़ती हैं इसीलिये चन्द्रमा को औषधीश कहा जाता है।

(५) पार्थिव जल संघात--समुद्र-पर चन्द्रमा का यह प्रभाव अमावस्या पौर्णिमा के दिन दीर्घ ज्वार (Spring tide) के रूप में तथा अष्टमी को लघु ज्वार (Neap tide) जल के उतार के रूप में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

उपरोक्त तथ्यों को हृदयंगम कर लेने के बाद यह बात सरलता से समझ में आ सकती है, कि शास्त्रकारों ने पर्व आदि काल में गर्भाधान तथा स्त्री समागम का निषेध क्यों किया है। पर्व से शास्त्र का अभिप्राय अमावस्या पौर्णिमा चतुर्दशी अष्टमी तथा सक्रान्ति से है। इनमें पूर्णिमा अमा, तथा दोनों चतुर्दशी इन चार तिथियों में चन्द्रमा सूर्य और पृथ्वी एक ही सीधी रेखा में होते हैं। चन्द्रमा और सूर्य के एक ही रेखा में होने से दोनों का सम्मिलित

आकर्षण अन्य दिनों से अधिक होता है और उसका प्रभाव भू-मण्डल के अन्य पदार्थों की भांति मानव शरीर पर भी विशेष रूप से पड़ता है।

हम पीछे बतला चुके हैं कि हमारे प्राण तथा रक्त, जलीय विकार से उत्पन्न पदार्थ हैं, इसलिये इन पर उसका विशेष प्रभाव होता है। इन तिथियों में शरीरस्थ रस, रक्त, प्राण, क्षुब्ध तथा उत्तेजित होते हैं, उनकी गति स्वाभाविक स्तर से विशेष बढ़ी हुई होती है। इसी प्रकार शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी को चूंकि सूर्य और चन्द्र एक दूसरे के साथ समकोण बनाने की अवस्था मे होते हैं, फलतः उनकी आकर्षण शक्तियों का परस्पर संघर्षण हो जाता है और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति स्वाभाविक स्तर से निम्न हो जाती है; इसलिये इन तिथियों पर पार्थिव द्रव्यों पर चन्द्रमा का प्रभाव स्वाभाविक अनुपात से कम होता है। इसका प्रभाव मानव शरीर पर भी पड़ता है। उस समय शरीरान्तर्वर्ती रस रक्त तथा प्राणों में ह्रास एवं निर्बलता आ जाती है। पूर्णिमा आदि पर रसों में अतिशय वृद्धि और अष्टमी पर ह्रास को देखने के लिये बम्बई या कलकत्ता में समुद्र के किनारे चले जाइये। इन समयों में प्राकृतिक प्रेरणा से ही उठनेवाले दीर्घ ज्वार और लघु ज्वार को देखकर आप स्वयं ही इसकी सचाई के कायल हो जायेंगे।

तात्पर्य यह है कि इन पर्व तिथियों पर मनुष्य के प्राण तथा रक्तादि स्वाभाविक दशा में नहीं होते। चन्द्र-प्रभाव-जन्य चढ़ाव एवं उतार से वे विषम अवस्थापन्न होते हैं, अतः ऐसे समय में समागम करने से जहां स्वास्थ्य वैषम्य से प्राणशक्ति क्षीण हो सकती है, वहां समागम से गर्भ स्थिति हो जाने पर भावी शिशु के शरीर में रक्तविकार तथा प्राणशक्ति दौर्बल्यादि दोषों का रह जाना

आश्चर्यकारक न होगा। वह बालक सम्पूर्ण आयु फोड़े फुन्सी दाद आदि रक्त विकारों से तथा प्राण शक्ति की दुर्बलता से होनेवाली हृदय दौर्बल्य (Heart weakness) आदि व्याधियों को भोगता हुआ अपने माता पिता के अज्ञान का फल चखता रहेगा।

इसके अतिरिक्त क्योंकि चन्द्रमा विराट् भगवान् के मन से उत्पन्न हुआ है और समस्त चराचर के प्राणियों के मन समूह का एक मात्र अधिष्ठाता है; इसलिये उसके वृद्धि क्षय के तारतम्य से मनुष्यों की मन की अवस्था भी बदलती रहती है। पर्वकाल में रस रक्त तथा प्राण के साथ २ मनुष्य का मन भी स्वाभाविक दशा में नहीं होता। ऐसे समय में गर्भाधान से उत्पन्न होने वाले बालक अतिशय क्रूर साहसी चारित्र्य हीन चञ्चल या अत्यन्त कायर डरपोक और धैर्यहीन होते हैं। इसलिये ऐसे समय में कभी स्त्री प्रसंग न करना चाहिये।

अमुक रात्रि में अमुक सन्तान क्यों !

श्री मनुजी महाराज ने पुत्राभिलाषी पुरुषों के लिये युग्म अर्थात्—छठी आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं रात्रि में, एवं कन्याभिलाषी पुरुषों के लिये अयुग्म—अर्थात पांचवीं सातवीं पन्द्रहवीं आदि रात्रियों में स्त्री प्रसंग का विधान किया है। प्रसंगानुसार इस विषय पर भी विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

सन्तति शास्त्र (Sexual physiology) के सभी विद्वान्—चाहे वे पौरस्त्य हों या पाश्चात्य, इस विषय में कम से कम एक मत हैं, कि वीर्य के आधिक्य से पुत्र और रज की प्रबलता से कन्या उत्पन्न होती है जैसा कि मनुजी महाराज ने कहा है—

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः (मनु ३)

अर्थात्—पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्तवाधिक्य होने से कन्या का जन्म होता है। किन्तु कब स्त्री के शरीर में रज की प्रबलता होती है और कब वह ह्रास को प्राप्त हुआ रहता है यही एक रहस्य है जिसे केवल क्रांतद्रष्टा भारतीय महर्षियों ने ही जाना और तदनुकूल विविध नियमों की रचना की। विदेशों में इस सम्बन्ध में जो नए सिरे से खोजें हुईं और हो रही हैं वे यद्यपि नितान्त अधूरी हैं किन्तु उनसे प्रतीत होता है, कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा कि वे लोग, तपोधन ऋषियों द्वारा बतलाये गये प्रजनन शास्त्र के तथ्यों को अन्तिम रूप मे स्वीकार करने का बाध्य होंगे।

इन तथाकथित परीक्षणों अनुसन्धानों और उन निर्धारित अधकचरे सिद्धान्तों के वर्णन जब हम इन लेखकों की पुस्तकों में पढ़ते हैं तो हमें बड़ी हंसी आती है और साथ ही दया भी। उस समय बलात् मुख से निकल पड़ता है काश। ये लोग संस्कृत साहित्य से परिचित होते.........'

हमें पिछले दिनों अमेरिका के सुप्रसिद्ध सन्तति शास्त्र वेत्ता डा॰ ट्राल (Dr. Tral) की इस विषय की एक पुस्तक देखने का अवसर प्राप्त हुआ। आपने उसमें एक स्थान पर लिखा है "१५ वर्ष पूर्व मैंने यह नियम प्रकाशित किया था, जिसका परीक्षण हजारों व्यक्तियों पर किया जा चुका है। वह नियम है—'रज बन्द हो जाने के पश्चात् एक प्रकार का आर्तव स्त्री के गर्भाशय से निकलना आरम्भ होता है और दश बारह दिन तक जारी रहता है। यदि बन्द हो जाने के दिन से लेकर दश या बारह दिनों के मध्य समागम न किया जाय तो गर्भ स्थिति कभी न होगी।'

पाठकों से यह बात छिपी न होगी कि डा० ट्राल जिसे अपने द्वारा १५ वर्ष पूर्व निश्चित किया नया आविष्कार कह रहे हैं वह सहस्रों वर्ष पूर्व मनु आदि स्मृतिकारों द्वारा निर्दिष्ट 'ऋतुकाल' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार आगे चलकर 'क्या इच्छानुसार लड़का या लड़की उत्पन्न की जासकती है' विषय पर विचार करते हुए आप लिखते हैं—

'हमारी वर्तमान विद्या सम्बन्धी दशा हमें एक मार्ग बताती है और वह यह है कि हम ऋतुकाल के अनुसार चलें। बहुतायत से साक्षियें इस बात की मिलती हैं, कि पहिले दिनों में गर्भाधान से लड़कियां और पिछले दिनों समागम से लड़के होते हैं।'

उपरोक्त उद्धरण का सीधा सा तात्पर्य यही हो सकता है कि डा० ट्राल या उन सरीखे दूसरे वैज्ञानिकों के मतानुसार प्रारम्भ के आठ दश दिनों में स्त्री के शरीर मे रज की प्रबलता होती है और बाद के दिनों में वह ह्रास को प्राप्त हो जाता है और तब पुरुष वीर्य के प्रबल होने के कारण लड़के उत्पन्न हुआ करते हैं। हमें इन अपूर्ण सिद्धान्तों की आलोचना करके पाठकों का समय खोने या कागज काले करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वे पहिले दिन कौन से होते हैं और पिछले कौन से यह तो वे वैज्ञानिक ही जानें या साक्षी देनेवाले। इस उद्धरण से हमें तो इतना ही प्रयोजन है, कि वे लोग भी कम से कम इस बात से तो सहमत हैं कि कुछ समय—वह चाहे पहिला हो या बाद का या अन्य कोई—ऐसा अवश्य होता है जब स्त्री शरीर में आर्तव का वेग अधिक बढ़ा हुआ होता है और कभी वह घटा हुआ।

अब मनु विहित युग्म-अयुग्म-रात्रि-व्यवस्था पर विचार कीजिए। उपरोक्त व्यवस्था का तात्पर्य यही है कि रजोदर्शन से शुद्ध

हो जाने के अनन्तर स्त्री के शरीर में आर्तव की वृद्धि के साथ एक प्रकार की तरङ्ग उठती है जिसे 'मदन तरंग' भी कहा जाता है। इसका वेग एक दिन अधिक होता है और एक दिन कम; जैसे— एकान्तर ज्वर ठीक एक दिन बीच मे छोड़कर अगले दिन होता है यह प्रायः सभी भुक भोगी जानते हैं। ठीक इसी प्रकार यह 'मदन तरङ्ग' समझनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि पांचवीं रात्रि से आगे एक एक रात्रि को छोड़कर—पांचवीं, सातवीं, नवीं—आदि अयुग्म रात्रि में इसका वेग बढा हुआ होता है जिससे स्त्री के शरीर में बल अधिक होता है और तब-- 'युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु' मनु के इस नियम के अनुसार उपरोक्त रात्रियों में समागम से कन्या का जन्म होता है और इससे भिन्न समय मे स्त्री का आर्तव निर्बल होता है इससे उनमे संयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखन काल में ली गई ५० साक्षियों में से ४० ऐसी थीं जिनमें उपरोक्त सिद्धान्त की यथार्थता का समर्थन पाया गया। ५ व्यक्ति ऐसे थे जो गर्भ स्थितिका यथार्थ समय न जान सके, २ गर्भस्राव के कारण पूर्ण समर्थक न हो सके और ३ मामले इसके विरुद्ध मिले। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय महर्षियों द्वारा आविष्कृत 'युग्मायुग्मरात्रि-व्यवस्था' नितान्त पूर्ण और शारीरिक विज्ञान की भित्ति पर अवलम्बित है। इसके पालन से आज भी उतना ही लाभ उठाया जा सकता है जितना कि पूर्वकाल में लोग उठाते थे। इसके साथ ही हमें यह आशा करनी चाहिये कि अवश्य ही पाश्चात्य विज्ञान अपनी अन्तिम खोजों के बाद इसी परिणाम पर पहुंचने को बाध्य होगा।

रजस्वला अशुचि क्यों ?

गर्भाधान संस्कार मे प्रसगवश रजस्वला स्त्री के विषय में कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। रजस्वला स्त्री के विषय में शास्त्रकारों ने लिखा है —

एवं शुद्धशुक्रार्तवा ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यंगनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनात्यायासान् परिहरेत्।

अर्थ :—इस प्रकार रजस्वला स्त्री को चाहिए कि ऋतुकाल के पहिले दिन से ही ब्रह्मचारिणी होकर रहे, दिन में शयन न करे। आंखों में अंजन न डाले, रोवे नहीं। स्नान करना, चन्दन अथवा उबटन लगाना, तेल मालिश, नख छेदन, दौड़ना, हसना, अधिक बोलना, भयंकर शब्द सुनना, केश संस्कार, उग्र वायु सेवन तथा परिश्रम से यथाशक्ति दूर रहे।

उपरोक्त शास्त्रीय वचन के अनुसार भारतवर्ष में अभी तक यही परिपाटी प्रचलित रही है। इन दिनों में उन्हें अस्पृश्य समझा जाता है। उनको सभी घरेलू कार्यों से अवकाश रहता था। यहा तक कि उनका छुआ हुआ जल भी लोग नहीं पीते थे। किन्तु समय के साथ आज अवस्था बदल रही है। प्रत्यक्षवादी जन समुदाय आज इस वैज्ञानिक बन्धन को दूर फेंक कर अपने मनमाने आचार विचारों का पालन करना चाहता है, विशेषतया शहरों में निवास करने वाली आजकल की बाबू पार्टी—जिसको ६ बजे ही दफ्तरों की हाजिरी बजानी होती है—इस वैज्ञानिक व्यवस्था का

असुविधा मूलक होने कारण मानने के लिए कतई तैयार नहीं है।

इसलिये इस स्तम्भ में हम इस सम्बन्ध की क्यों पर ही प्रकाश डालना चाहते हैं। जिससे पथभ्रष्ट होती हुई निरीह जनता का मार्ग प्रदर्शन हो सके।

'रजोदर्शन क्या है ?—इस विषय का विवेचन करते हुए पीयूषपाणि भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है :—

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥

(सुश्रुत शारीरस्थान अ० ३ वाक्य ८)

अर्थात्—स्त्री के शरीर में वह आर्तव (एक प्रकार का रुधिर) एक मास पर्यन्त इकट्ठा होता रहता है। उसका रंग काला पड़ जाता है। तब वह धमनियों द्वारा स्त्री की योनि के मुख पर आकर बाहर निकलना प्रारम्भ होता है इसी को रजोदर्शन कहते हैं।

रजोदर्शन की उपरोक्त व्याख्या से हमें ज्ञात होता है, कि स्त्री के शरीर से निकलने वाला वह रक्त काला तथा दुर्गन्ध युक्त होता है। अणुवीक्षणयन्त्र द्वारा देखने पर उसमें कई प्रकार के विषैले कीटाणु पाये गए हैं। दुर्गन्धादि दोषयुक्त होने के कारण उसकी अपवित्रता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ही। इसलिए उस अवस्था में जब कि स्त्री के शरीर की धमनियें इस अपवित्र रक्त को बहाकर साफ करने के काम पर लगी हुई हैं और उन्हीं नालियों से गुजर कर शारीरिक रोमों से निकलने वाली ऊष्मा तथा प्रस्वेद के साथ रज कीटाणु भी बाहर आ रहे होते हैं, तब यदि स्त्री द्वारा छुए हुए जलादि में वे संक्रमित हो जाएं तथा मनुष्य के शरीर पर अपना दुष्प्रभाव डाल दें, तो इसमें क्या आश्चर्य ? हस्पतालों में हम प्रति

दिन देखते हैं कि डाक्टर अक्सर ड्रेसिंग का कार्य करने से पूर्व और पश्चात् अपने हाथों तथा नश्तर आदि को—हालांकि वे देखने में साफ सुथरे होते हैं—साबुन तथा गर्म पानी से अच्छी तरह साफ करते हैं। आपने कभी सोचा—ऐसा क्यों किया जाता है? एक मूर्ख की दृष्टि में तो यह सब, समय साबुन और पानी के दुरुपयोग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, किन्तु डाक्टर जानता है कि यदि वह ऐसा न करे तो न जाने वह कितने व्यक्तियों की हत्या का कारण बन जाये। इसी सिद्धान्त को यहां लीजिए और तब विचार करें कि उस दुर्गन्ध तथा विषाक्त कीटाणुयुक्त रक्त के प्रवहण काल में स्त्री द्वारा छुई हुई कोई वस्तु क्यों न हानिकारक होगी ?

'भारतीय मैडिकल ऐसोसियेशन' नवम्बर १९४९ के अङ्क में हमें डा० रेड्डी तथा डा० गुप्ता का एक लेख देखने का अवसर प्राप्त हुआ है जिसमें बतलाया गया है कि पाश्चात्य डाक्टरों ने भी रजस्वला के स्राव में विषैले तत्त्वों का अनुसन्धान किया है। १९२० में डाक्टर सेरिक ने अनुभव किया कि कुछ फूल रजस्वला के हाथ में देते ही मुरझा जाते हैं। १९२२ में डा० मिकबर्ग और पाइके ने यह खोज निकाली, कि रजस्वला स्त्री का प्रभाव पशुओं पर भी पड़ता है: उन्होंने देखा कि उसके हाथ में दिए हुए मेंढक के हृदय की गति मन्द पाई गई। १९३० में डा० लेनजो भी इसी परिणाम पर पहुंचे और उन्होंने अनुभव किया कि कुछ काल तक मेंढक को रजस्वला के हाथ पर बैठा रखने से मेंढक की पाचन शक्ति में विकार आगया। डा० पालेण्ड तथा डील का मत है कि यदि खमीर, रजस्वला स्त्री के हाथों से तैयार कराया जाय तो कभी ठीक नहीं उतरता। यह सब तो दूर के तथा सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अनुभव हैं। हम इस विषय के कुछ स्थूल अनुभवों का निर्देश करते हैं, जिन्हें

प्रत्येक व्यक्ति जब कभी चाहे स्वयं करके देख सकता है। रजस्वला स्त्री के स्पर्श का तो कहना क्या यदि अचार पर उसकी छाया तक भी पड़ जाये तो वह बिगड़ जाता है। तुलसी के हरे भरे पौधों को आप रजस्वला द्वारा एक दो बार स्पर्श करवा दीजिए, आप देखेंगे कि वह उसी समय से मुरझाना प्रारम्भ कर देंगे और एक मास के अन्दर २ अवश्य सूख जायेंगे।

इसके अतिरिक्त स्त्री के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उसको सम्पूर्ण कार्यों से अवकाश मिला रहना नितान्त आवश्यक है। वैद्य या डाक्टर जब किसी को विरेचन अर्थात् जुलाब देते हैं तब उसे परिश्रम करने उष्णवायु सेवन स्नानादि से बिलकुल रोक देते हैं। वह पुरुष आराम से बैठा रहता है और शरीर की आभ्यान्तरिक सफाई के इस कार्य को पूरा करता रहता है। इसका कारण यह है कि उस समय जब कि शारीरिक प्रकृति शरीर में से मल निकालने के कार्य में लगी हुई है, यदि इस प्रकृति या मनोवृत्ति को किसी अन्य तरफ लगाया जायगा तो मल रुक जावेगा। मानव शरीर में रक्त का दबाव बहुत कुछ मानसिक दशा के ऊपर निर्भर है, क्योंकि हम देखते हैं कि भली भाति खाने पीने पर भी मानसिक चिन्ता के कारण मनुष्य का शरीर निर्बल पड़ता जाता है, और इसके विपरीत खाने पीने के अच्छा न होने पर भी मन को प्रसन्न रखने मात्र से शरीर स्वस्थ रहता है। अत किसी अन्य कार्य में मन को लगाने पर रक्त का दबाव उसी तरफ बढ़ेगा और तब उस रक्त में मल का अंश निश्चित ही अवशिष्ट रह जायगा जो कि आगे चलकर उस अग में विकार पैदा कर रोग का कारण बन सकता है।

रजोदर्शन भी एक प्रकार से स्त्री के लिये प्रकृति प्रदत्त विरेचन है। ऐसे समय में उसे पूर्ण विश्राम करते हुए इस कार्य को पूरा

होने देना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो इसका दुष्परिणाम जहां वह जन्म भर भोगेगी, वहां भावी सन्तान को भी विरासत में इस प्रकार के पुरस्कार सौंपेगी कि सन्तान भी सदा अपनी बुद्धिमती माता के गुणगान करती रहे।

जरा धन्वन्तरी जी के शब्दों मे उन चीजों के नमूने तो देखिए जो ऐसी माताए—अपने बालको को सौंपती हैं:—

दिवा स्वपंत्याः स्वापशीलो अञ्जनादन्धो रोदनाद्विकृत-दृष्टिः स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलस्तैलाभ्यंगात्कुष्ठी, नख कर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चंचलो हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालु जिह्वः प्रलापी चातिकथनादतिशब्दश्रवणाद् बधिरो अवलेख-नात्खलतिः मरुतायाससेवनान्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्। (सुश्रुत शरीरस्थान अध्याय २-५)

अर्थात्—यदि रजस्वला स्त्री दिन के समय सोए, और कदाचित् उसे ऋतुकाल मे गर्भ रह जाए तो, भावी शिशु बहुत सोने वाला उत्पन्न होगा। काजल लगाने से अन्धा, रोने से विकृतदृष्टि, स्नान और अनुलेपन से शारीरिक पीड़ा युक्त, तेल मलने से कोढ़ी, नाखून काटने से बुरे नाखूनों वाला, दौड़ने से चचल, हसने से काले दांतों, काले ओष्ठ विकृत जिह्वा तथा तालु वाला, बहुत बोलने से बकवादी, भयङ्कर शब्द सुनने से बहरा, कंघी आदि से बाल सवारने से गंजा, अधिक वायु सेवन से व परिश्रम करने से पागल बालक उत्पन्न होता है। इसलिये रजस्वला स्त्री इन्हें न करे।

कितने शोक की बात है, कि माता पिता पहिले तो इन बातों पर ध्यान नहीं देते। या यों कहिए इनका जानना भी आवश्यक नहीं समझते, किन्तु जब घर में इस प्रकार के बालक का जन्म हो जाता है तब भाग्य को कोसते हैं।

इसके आगे धन्वन्तरि भगवान् ने लिखा है कि—

ततः शुद्धस्नातां चतुर्थे अहन्यहतवाससमलंकृतां कृत-मंगलस्वस्तिवचनां भर्तारं दर्शयेत्, तत् कस्य हेतो :—

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमंगना ।
तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥

अर्थ—ऋतुस्नाता स्त्री को चौथे दिन सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहिना कर मंगलाचरण तथा स्वस्तिवाचन पूर्वक कुल वैद्य या गुरु, पति का दर्शन करावे । ऐसा क्यों किया जाए ? इसलिये कि—

ऋतु स्नान के अनन्तर स्त्री जैसे पुरुष का प्रथम दर्शन करती है उसके उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती है ।

इसलिये यह आवश्यक है, कि गृहस्थ मे प्रवेश करने से पूर्व नवयुवक और नवयुवतियां इन तथ्यों से पूर्णतया परिचित हो जायें और इनका कठोरता से पालन करें । यह तभी हो सकता है जब कि पुनः वैदिक संस्कार प्रणाली प्रचलित हो और गर्भाधान संस्कार काल में गृहस्थ स्त्री पुरुषों को इन वस्तुओं का ज्ञान कराया जावे ।

पुंसवन संस्कार विचार

(क) पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ।

(ख) पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः। पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमान्नु जायताम्। (साम० म ब्रा. १ ४.६.)

अर्थात्--(क) मित्रावरुण नामक दोनों देवता, पुरुष हैं। अश्विनीकुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं और अश्विनी वायु ये दोनों भी पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भ मे भी पुरुष का आविर्भाव हुआ है। (ख) अग्नि देवता भी पुरुष है और देवराज इन्द्र भी पुरुष है। देवताओं का गुरु बृहस्पति भी पुरुष है तेरे गर्भ पुरुषत्वयुक्त पुत्र ही उत्पन्न हो।

पुंसवन संस्कार में पढ़े जाने वाले उपरोक्त सामवेद के मन्त्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है, कि यह संस्कार 'गर्भ से पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये है।

'अथ पुंसवनम्। पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा'--पारस्कर गृह्य सूत्र के इस वचन के अनुसार यह संस्कार उस समय किया जाता है जब कि गर्भ दो मास अथवा तीन मास का हो; दूसरे शब्दों में जब कि गर्भ मांस का एक पिण्ड मात्र हो और उसमें स्त्री पुरुष विभेदक अंगों का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव नहीं हुआ होता। शारीरिक विज्ञान (Physical Scince) के अनुसार तीसरे चौथे महीने के बाद ही गर्भाशय मे शिशु के स्त्री पुरुष विभेदक अंगों का बनना प्रारम्भ होता है। इसलिये यह संस्कार इस समय से पूर्व ही किया जाता है।

देखा गया है प्राय सभी देशों में माता पिता, कन्या की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व देते हैं। पुत्र होने पर भांति २ के उत्सव मनाये जाते हैं और सभी व्यक्ति यथाशक्ति दानादि करते हैं। भारतवर्ष मे तो--जहां कि पुत्र को--

'पुं–नरकं ततस्त्रायते इति पुत्रः'

–इस यास्कोक्त वचन के अनुसार श्राद्धतर्पणादि द्वारा पितरों का उद्धारक कहा जाता है—सभी माता पिता पुत्र उत्पन्न हो जाने पर ही अपने जीवन को सफल समझते हैं। घरमे अनेक कन्याओं के होने पर भी पुत्र के अभाव मे स्त्रिये पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के व्रत अनुष्ठान कराती है मनौती मानती हैं और तरह २ की औषधि सेवन करती है। इसलिये समय पर इस संस्कार का विधान करके प्राचीन महर्षियों ने गृहस्थ नर नारियों की स्वाभाविक पुत्रैषणा को पूरा करने का प्रयत्न किया है।

पुंसवन के लिये दो अव्यर्थ उपचार

इस संस्कार के मुख्यतया दो पहलू हैं। (१) भावनामय, (२) शारीरिक चिकित्सा सम्मत। पति पत्नी दोनों, प्रेम पूर्वक पितरों की प्रसन्नता के लिये वृद्धिश्राद्ध माङ्गलिक यज्ञादि करते हैं। इसके बाद गर्भिणी स्त्री को बटांकुर गुडची ब्राह्मी आदि औषधियों का रस पिलाया जाता है।

वृद्धि श्राद्ध तथा मांगलिक होम की क्रियाये सर्वथा मनोविज्ञान (Psycolozy) पर आधारित हैं, उनके द्वारा गर्भिणी स्त्री के हृदय मे एक विशेष भावना को उत्पन्न किया जाता है। इन कार्यों में पढ़े जाने वाले मन्त्रों से उसके हृदय मे यह भावना दृढ़ हो जाती है कि मेरे गर्भ से पुत्र का ही जन्म होगा। भावना की इस दृढता का परिणाम यह होता है, कि यदि उस गर्भ मे कन्या शरीर का निर्माण भी हो तो भी उस स्त्री की प्रबल भावना (Willing Power) के बल से वह बदल जाएगा।

भावना--दृढ़ विश्वास या श्रद्धा--मे कितना बल है इसके

विवेचन की यहां आवश्यकता नहीं। पीछे भावनावाद प्रकरण में हम इस पर काफी लिख चुके हैं। विगत महायुद्ध में पराजित होते हुए मित्र राष्ट्रों ने सब स्थानों पर विजय का प्रतीक 'V' लगा कर और उससे जनता की गिरती हुई भावनाओं को पुनर्जीवित कर किस प्रकार युद्ध का पासा ही बदल दिया था—यह किसी से छिपा नहीं है। भगवान् कृष्ण ने—'यो यच्छ्रद्धः स एव स' कहकर मानव जीवन में श्रद्धा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। इसलिये भावनावाद पर आधारित वृद्धियाग तथा मन्त्रपाठादि पुत्राभिलाषिणी स्त्री के लिये कितने उपयुक्त होंगे यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

संस्कार का दूसरा कृत्य है—औषधि पान। वनस्पति विज्ञान के अनुसार वटाङ्कुर-व्रण के लिये हितकारी, सन्धीकारक, रक्त पित्त नाशक तथा स्त्रियों के योनि दोष को दूर करनेवाला है; इसके सेवन से योनि सम्बन्धी दोषों का नाश होकर गर्भ को पर्याप्त शक्ति मिलती है। कुछ ग्रन्थों में इन औषधियों में 'सोमलता' का भी नाम मिलता है। सोमलता बल तथा वीर्य के लिये आश्चर्यकारी किन्तु दुर्लभ महौषधि है। प्राचीन समय में यज्ञादि मांगलिक कार्यों में इसका उपयोग होता रहा है। सोमरस देवताओं का पवित्र एवं ओज प्रद पेय था। इसका उपयोग पुत्र प्राप्ति के लिये किये जानेवाले यज्ञों में विशेष रूप से होता था, जिसका फल यह होता था कि यज्ञावशिष्ट प्रसाद के रूप में इस दिव्य औषधि का सेवन कर पति पत्नी, स्वस्थ सुन्दर एवं पराक्रमी सन्तान उत्पन्न करते थे।

सच्चेप में हम कह सकते हैं, कि यदि इस सस्कार को विधिवत् सम्पन्न किया जाय तो कोई सन्देह नहीं, कि पति पत्नी अपनी इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं।

स्वा० दयानन्द तथा तत्परवर्ती कुछ विचारकों ने वेद मन्त्रों की शक्ति में तथा इन औषधियों मे सन्देह करते हुए इस सस्कार को 'पुरुषत्व' अर्थात् वीर्य लाभ के लिये किया जाने वाला पुरुष का सस्कार माना है जब कि श्री मनु जी महाराज ने—

'गर्भाद्भवेच्च पुंसूतेः पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम्'

अर्थात्—'गर्भ के अन्दर कन्या शरीर न बनकर पुत्र शरीर ही बने, यही 'पु सवन' सस्कार का फल है—कहकर स्पष्ट रूप से इसे गर्भस्थ जीव का सस्कार ही स्वीकार किया है। वैदिक धर्मी होने का दम भरने पर भी मन्त्र-शक्ति पर इतना अविश्वास कलियुगी ऋषित्व का प्रत्यक्ष नमूना है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार विचार

येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमान नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥

(ऋग्वेद)

अर्थात्—जिस प्रकार प्रजापति ने देवमाता अदिति का सीमन्तोन्नयन किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणी का सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्र पौत्रादिकों को मै जरावस्था पर्यन्त दीर्घजीवी करता हूं।

पुंसवन सस्कार की भाति यह संस्कार भी बालक के गर्भस्थ होते हुए ही किया जाता है। आश्वलायन-गृह्य-सूत्रकार ने इसका विधान चौथे महीने में और पारस्कर-गृह्य-सूत्रकार ने छठे या आठवें मास में किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र से यह भी जाना जाता है, कि यह संस्कार शुक्ल पक्ष मे चन्द्रमा के किसी पुरुषवाची नक्षत्र पर स्थित होने पर किया जाना चाहिये। यथा:—

चतुर्थगर्भमासे सीमन्तोन्नयनम् । आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ।

(आश्व० अ० १ कण्डिका १४ सूत्र १२)

भगवान् मनु ने इस संस्कार का फल गर्भाधान संस्कार के तुल्य ही निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गर्भाधान का फल, क्षेत्र अर्थात् स्त्री की शुद्धि पूर्वक गर्भगत शिशु के दोषों को दूर कर उसमें उन शुभ गुणों के बीजों को बोना है जो आगे विकसित होकर उस बालक को सर्वांश में 'मानव' बना सकें, उसी प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार भी क्षेत्र की पुनः शुद्धि तथा गर्भगत बालक की समुचित रक्षा एवं उपयुक्त शिक्षा दीक्षा के लिये किया जाता है। यह वह समय होता है जब गर्भ एक साधारण मांस पिण्ड की अवस्था से हाथ, पांव, आंख, नाक, कान तथा हृदय वाले व्यक्ति के रूप में परिणित हो रहा होता है। विशेषरूपेण मानव शरीर के प्रधान तथा प्रमुख अंग-हृदय के प्रकट हो जाने के कारण जहां गर्भस्थ शिशु में चैतन्य शक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है, वहां उसकी माता में भी एक विलक्षण शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा सब से बड़ा परिवर्तन यह होता है कि अब वह 'दौहृदा' अर्थात् दो हृदय वाली हो जाती है। एक गर्भस्थ बालक का हृदय दूसरा अपना। क्योंकि हृदय चैतन्याधिष्ठान है इसलिये चेतनता के प्रादुर्भाव के साथ गर्भस्थ जीव इन्द्रियों के अर्थ में रुचि करने लगता है और वह इच्छाएं माता के हृदय पर प्रतिबिम्बित होकर प्रकट होने लगती हैं।

आयुर्वेद में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्तभावाच्चेतनधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थमास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयाञ्च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते"

(सुश्रुत शरीर स्थान अ० ३)

स्त्री के 'दौर्हृदिनी' बन जाने के कारण ही उसके हृदय मे उठने वाली अभिलाषायें 'दौहृद' कहलाती हैं जिन्हे हर सम्भव उपाय से पूरा करना पुरुष का कर्तव्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो गर्भस्थ बालक को अतृप्त अभिलाषाए सम्पूर्ण जीवन अतृप्त ही बनी रहती है। इस प्रकार हम देखते है कि यह समय जच्चा एवं बच्चा दोनों के लिये ही बड़ा महत्वपूर्ण होता है। क्रान्तद्रष्टा महर्षियों ने इन्हीं सब बातों का अनुभव करके जहा क्षेत्र—स्त्री का पुन सस्कार करने की आवश्यकता अनुभव की वहां गर्भस्थ बालक के हृदय पर विशद भावनाओं को सदा के लिये अङ्कित कर देने के उद्देश्य से भी इस सस्कार का विधान किया।

इस सस्कार मे पढ़े जाने वाले मन्त्र, पुष्कल-घृत-मिश्रत यज्ञावशिष्ट प्रसाद भोजन, पति द्वारा उदुम्बरादि वनस्पति से गर्भिणी के सीमन्त (मांग) का पृथक्करणादि क्रियायें तथा वृद्धा स्त्रियों द्वारा दिया जाने वाला—'वीरसूस्त्व भव' तू वीर माता बन'—इत्यादि आशीर्वाद एक ऐसे अलौकिक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं, कि जिसकी स्मृति स्त्री के हृदय हटल पर चिरकाल के लिये अङ्कित हो जाती है। इस वैदिक अनुष्ठान से और स्त्रियों के बार बार कहने से उसके हृदय को एक नई प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त होती है। वह ऐसे उपायों में प्रवृत्त हो सकती है जिससे वह वीरमाता बने।

शास्त्रकारों का यह अभिप्राय भी इसमें अन्तर्निहित है, कि इसके लिये उसे रामायण महाभारतादि सद्ग्रन्थों का अनुशीलन करना चहिये। वीर पुरुषों के चरित्र पढ़ने सुनने चाहियें तथा अपने को वीर माता बनाने का सर्वविध प्रयत्न करना चाहिये।

सीमन्त की इति-कर्तव्यता का प्रभाव

माता के इस प्रकार के सद्विचारों का बालक के निर्मल स्वच्छ एव अछूते हृदय पर कैसा प्रभाव पडेगा, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। उसका नवोदित हृदय, नई मानसिक शक्ति और नवोन्मेषिणी बुद्धि मातृ हृदय से शुभ विचारों का सम्बल पाकर कितनी सरलता से विकसित हो सकेगी और दर्पण के समान निर्मल तथा स्वच्छ हृदय पर पड़ी हुई विचार रेखाये उसके सम्पूर्ण जीवन में कैसी अक्षुण्ण बनी रहेंगी—इसे सभी व्यक्ति भलीभाति समझ सकते हैं। हमारे प्राचीन इतिहास में इस प्रकार की घटनाओं की कमी नहीं जिनमें माता की गर्भावस्था की भावना के सर्वथा अनुरूप ही बालकों ने जन्म लेकर इस संस्कार की वैज्ञानिक लक्ष्यभूत भावना को सिद्ध कर दिया है। महाभारत में अभिमन्यु के सम्बन्ध में इसी प्रकार की एक रोचक कथा का उल्लेख मिलता है।

\+ \+ \+ \+

महाभारत का युद्ध अपने पूर्ण यौवन पर था। दोनों ओर के सहस्रों लाखों सैनिक प्रतिदिन नर मेध की इस भीषण ज्वाला में अपनी आहुति दे देते थे। चारों ओर विनाश का महाताण्डव था। भाई भाई के हृदय में वर्षों से संचित द्वेष और दर्प मानों ज्वालामुखी बनकर एक दूसरे को निगलने के लिये तत्पर हो। ऐसे समय में दुर्योधन के अत्यधिक आग्रह पर द्रोणाचार्य ने 'चक्रव्यूह'

की स्थापना की। उस दिन भाग्यवशात् अर्जुन अपने शिवर मे न थे। भगवान् कृष्ण के साथ वे समप्तकों के साथ युद्ध करने गए हुए थे। जब पाण्डवों को चक्रव्यूह का समाचार मिला तो वे बडे हैरान हुए। अर्जुन के अतिरिक्त पांचों पाण्डवों में कोई ऐसा न था जो चक्रव्यूह का भेदन कर सके।

अब क्या होगा ? क्या चक्रव्यूह पाण्डवों की पराजय का कारण बन जायेगा ? यह विचार करते २ युधिष्ठिर एक गहन निराशा में डूब गए। आज पाण्डवों के जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित था और तभी सहसा १६ वर्ष के कुमार अभिमन्यु ने वहां पहुच कर निराशा की अन्धकारमयी रात्रि को आशा के अरुणोदय में परिवर्तित कर दिया।

'महाराज। पिताजी नहीं हैं तो क्या ? उनके अश से उत्पन्न आपका बालक अभिमन्यु तो है। मै करूगा चक्रव्यूह भेदन, अपनी जान पर खेल कर भी मै पाण्डव कुल की लाज बचाऊंगा' अभिमन्यु ने कहा।

"तुम अभिमन्यु, तुम ! नहीं बेटा, ऐसा कैसे हो सकता है। चक्रव्यूह की अभेद्य रक्षा पंक्ति मे तुम्हें झोंककर हम अर्जुन को कौन मुह दिखाएंगे, और फिर यह साधारण युद्ध नहीं वत्स, यह चक्रव्यूह है। हममे से कोई भी तो इसका वेध करना नहीं जानता।'

'तभी तो कहता हूं महाराज ! आज मुझे व्यूह भेदन की आज्ञा दीजिए, मैंने गर्भावस्था मे इस व्यूह का ज्ञान पिताजी से प्राप्त किया था। वे एक बार माताजी की तबियत बहलाने के लिये उनके सामने इसका वर्णन कर रहे थे उन्होंने अभी भेदन करने की रीति का वर्णन ही किया था कि माताजी को नींद आगई और पिताजी ने भी इस प्रसग को वहीं छोड़ दिया, व्यूह भेद कर वापिस

लौट आने की रीति वे न बता सके। तात! इसलिये मैं वापिस तो चाहे न लौट सकूं। किन्तु व्यूह भेदन तो निःसन्देह कर सकूंगा. —अभिमन्यु ने कहा।

और फिर हुआ भी यही। भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न रणबांकुरे अभिमन्यु ने महाभारत युद्ध में जिस अपूर्व वीरता तथा शौर्य का प्रदर्शन किया है उसे भारत का प्रत्येक नर नारी जानता है। हमारा अभिप्राय महाभारत की कथा सुनाने का नहीं है। हम तो केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि किस प्रकार अनेक ऐतिहासिक साक्षियें सिद्ध कर रही हैं, कि गर्भस्थ जीव के हृदय पर अच्छे बुरे संस्कार डाले जा सकते हैं। और तब शास्त्रकारों ने इस अभिप्राय के लिये जिन संस्कारों का विधान किया वे क्या विज्ञान पर आधारित नहीं? अस्तु

प्रस्तुत सीमन्तोन्नयन संस्कार में पर्याप्त घी मिली हुई खिचड़ी जो कि यज्ञावशिष्ट होती है—खिलाने का भी विधान है। गोभिल गृह्यसूत्र में लिखा है—

किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्।१०। तं सा स्वयं भुञ्जीत।११। वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मंगल्याभिर्वाग्भिरुपासीरन्।१२। (गोभिल गृ०सू० २।७।६-१२)

क्या देखती है—यह पूछने पर स्त्री कहे—सन्तान देखती हूं। उस खिचड़ी को वह स्वयं खाये, और इस शुभ संस्कार के समय एकत्रित स्त्रियें उसे यह आशीर्वाद दें—'तू वीर सन्तान को उत्पन्न करनेवाली हो, तू जीवित सन्तान उत्पन्न करने वाली हो। तू चिरकाल तक सौभाग्यवती बनी रहे।'

यह विधान केवल कर्मकाण्ड का क्रिया कलाप मात्र नहीं। इस

क्रिया के द्वारा पति पत्नी का ध्यान एक विशेष आवश्यकता की ओर आकृष्ट किया जाता है। यह संस्कार जिस काल मे किया जाता है उस समय गर्भवती स्त्री को घृतादि पौष्टिक पदार्थों की बड़ी आवश्यकता होती है। अपने भोजन द्वारा इस समय एक ओर तो वह अपने शरीर का पोषण करती है दूसरी ओर उसे गर्भ गत बालक का भी पोषण करना पड़ता है। इसलिये उसे ऐसा भोजन मिलना चाहिये जो बलवर्द्धक एवं पुष्टिकारक हो जिसमें अधिक से अधिक विटामिन हो और साथ ही सुपाच्य भी हो। खिचड़ी इसी प्रकार का सुस्वादु भोज्य पदार्थ है। इसमे मिश्रित वस्तुओं में निम्न लिखित पौष्टिक तत्त्व निम्न प्रतिशत पाये गए हैं।

	प्रोटीन	चिकनाई	मिठास	नमक	पानी	ताकत ४० तोले में
मूंग की दाल	२३	२	६०	३	११	१५६५
चावल	६½	½	६१	१	११	१२४०
घी	०	१००	०	०	०	३६०५

इस प्रकार हम देखते हैं, कि खिचड़ी एक सुपाच्य किन्तु पौष्टिक तत्त्वों से परिपूर्ण वैज्ञानिक भोजन है। इसीलिये डाक्टर रोगी को पथ्य के तौर पर खिचड़ी का ही निर्देश किया करते है। स्त्री को चाहिये इसके बाद से इसी प्रकार के बलवर्द्धक और सुपाच्य भोजन करने का नियम बनाले जिससे उसका शरीर भी स्वस्थ रहे तथा भावि शिशु भी स्वस्थ एवं हृष्ट पुष्ट उत्पन्न हो। घृतादि के उचित मात्रा में सेवन से कब्जी आदि की शिकायत भी नहीं रहती है और प्रसव होने मे विशेष कष्ट नहीं होता।

संस्कार प्रथा के लुप्त हो जाने के कारण आज गृहस्थों मे स्त्री के सगर्भा हो जाने पर भी, क्योंकि ऐसा कोई अवसर नहीं आता जिसमें कि पुरुष को स्त्री तथा भावि शिशु के स्वास्थ्य के लिये पौष्टिक भोजन की आवश्यकता अनुभव कराई जाय। इसलिये

अधिकांश बालक इतने निर्बल उत्पन्न होते हैं, कि उनके शरीर में बाल्यावस्था में प्रथम अनुभूत होनेवाली गर्मी सर्दी को सहने की तथा तत्सम्बन्धी रोगों के कीटाणुओं से लड़ने की शक्ति ही नहीं होती फलतः वे अकाल में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

जात कर्म संस्कार विचार

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि (ऋग् ५। ७८। ९)

अर्थात—हे परमात्मन्, दश मास तक माता के उदर में सोने वाला सुकुमार जीव प्राण धारण करता हुआ अपनी प्राण शक्ति सम्पन्न अर्थात् स्वस्थ माता से सुख पूर्वक बाहर निकले।

उपर्युक्त संस्कार का तात्पर्य उसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। जातकर्म का अर्थ है वे क्रियायें जो बच्चे के उत्पन्न होने पर की जाती हैं। यह संस्कार आज अपने स्थूल रूप में तो सर्वत्र प्रचलित दिखलाई देता है किन्तु इसका भावना सम्बन्धी या यों कहिये आत्मा सम्बन्धी अंश सर्वथा लुप्त हो चुका है। भारतीय ऋषियों ने न केवल इस संस्कार में किन्तु सभी संस्कारों—नहीं नहीं मनुष्य के समस्त दैनिक कार्य कलाप में भी मनुष्य को एक अस्थि मांस निर्मित शरीर के साथ उसे आत्मवान् के रूप में देखा है। उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि केवल बाह्य शरीर पर ही नहीं रुकी किन्तु उसके अन्तर में विद्यमान—

'अंगुष्ठमात्रं हृदि शयानम्'

—आदि श्रुतिवाक्यों से बोधित प्रत्यक् चैतन्य आत्मा पर भी पड़ी। उन्होंने देखा पूर्ण मानव निर्माण के लिये शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति की परमावश्यकता है इसलिये उन्होंने दोनों ओर ध्यान दिया।

जातकर्म संस्कार की क्रियायें गृह स्वच्छता, बालक का स्नान, नाभि छेदन, दूध पिलाना आदि क्रियाए इस समय भी सभी घरों मे बालक के जन्मोपरान्त की जाती हैं तथा दाई नर्स आदि महिला चिकित्सकों की सहायता से बड़ी अच्छी तरह की जाती है—जिनसे जच्चा और बच्चा का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है, किन्तु उस सद्योजात शिशु के हृदय पर, उसके कोमल मन, मस्तिष्क, वाणी, आत्मा पर प्रभाव डालने के लिये आधुनिक डाक्टर वैद्यों ने क्या व्यवस्था की है ? क्या शारीरिक सस्कार की तरह उसके मानसिक तथा आध्यात्मिक सस्कार की आवश्यकता नहीं ?

जातकर्म सस्कार की यही अपनी विशेषता है। इसमें बालक को स्नान कराकर मधु स्वर्ण मिश्रित औषधि प्रदान, नालछेदन तथा मातृ स्तन पान कराकर जहां उसके शरीर को जीवन मार्ग की ओर बढ़ने के लिये सहारा दिया जाता है वहां उसके कान के पास गम्भीरता पूर्वक—

अग्निरायुष्मान्स वनस्पतिभिरायुस्मसंतेनत्वाऽऽयुष्मन्तं करोमि।

अर्थात्—जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियों द्वारा आयुष्मान् है उसी प्रकार उनके अनुग्रह से मै तुम्हें दीर्घायु युक्त करता हूं'
—इत्यादि ८ मन्त्रों को जपकर तत्तत् देवताओं से उसके आयुष्य की अभ्यर्थना करके बालक के हृदय में दीर्घ जीवन की भावना को दृढ़ किया जाता है। इसी प्रकार शिशु का शरीर स्पर्श करते हुए गाई जाने वाली—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमश्रुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।

अर्थात्—हे बालक 'तू पत्थर की भांति दृढ़ तथा कुल्हाड़े की भांति शत्रु विनाशक हो। स्वर्ण के समान स्वच्छ तथा तेजस्वी बने। तू पुत्र नाम से मेरा ही स्वरूप है, तू सौ वर्ष तक जी'

—आदि पावन ऋचायें बालक के निर्मल हृदय पर मानसिक दृढ़ता, पराक्रम, तेज, आदि शुभ गुणों की सदा के लिये अमिट छाप छोड़ देती हैं। इससे उसकी आत्मा और मन को अपूर्व पोषण प्राप्त होता है।

प्रसवोत्पीड़िता जननी जब वेद के—'हे वीर स्त्री! तू इडा है, तूने वीर पुत्र को उत्पन्न करके हमें वीर पुत्र वाला बनाया है, इस पुत्र से तू भी वीर माता बन।'

—आदि धैर्यप्रद शब्दों को सुनती है तो उसके हृदय में साहस का संचार हो जाता है। वह कष्ट मे घबराती नहीं और उस पीड़ा को वीर माता बनने के चाव मे सहर्ष झेलती है। इस प्रकार यह संस्कार बालक के शारीरिक और मानसिक दोनों पक्षों का अभिवर्द्धन परक कहा जा सकता है।

माता या धाय-किसका दूध?

विदेशी शिक्षा तथा वहां की सभ्यता के प्रभाव से आज भारतीय स्त्रियों मे जन्म के तुरन्त बाद पुत्र को किसी धाय (दूध पिलाने वाली) को सौंप देने या उसे ऊपरी दूध—जिसके लिये कि अधिकतर विलायती डब्बों का दूध पसन्द किया जाता है—पर पालन का बुरा फैशन दिनानुदिन बढ़ रहा है। कुछ मन चले पाश्चात्य डाक्टरों ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किये थे, कि स्त्रियों के स्वास्थ्य

नाश का कारण उनका बच्चों को दूध पिलाना है, इससे उनके शरीर में निर्बलता आती है और वे जल्दी वृद्ध हो जाती हैं आदि २।

इन शब्दों का विदेशी शिक्षादीक्षित जनों पर जादू का सा असर हुआ और आज शिक्षित नर नारी अपनी अबाध विलास प्रवृत्ति को पूरा करने के लिये इसी नुस्खे का प्रयोग कर रहे हैं। जन साधारण की कौन कहे, आर्य्य समाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द सरीखे कथित समाजोद्धारक भी इस विषय में बहक गए हैं और केवल ६ दिन तक ही मातृ दुग्ध पान की व्यवस्था का समर्थन करके विलायती डाक्टरों की आवाज को और भी बुलन्द कर दिया है— यह नितान्त शोक की बात है। *

वास्तव में अत्यावश्यक स्थिति के बिना, बच्चे को धाय से दूध पिलवाना बहुत हानिकारक है। इसीलिये इस संस्कार से विशेष रूप से, दोनों स्तनों को अच्छी तरह धोकर अमुक २ मन्त्र बोलते हुए बालक के मुख में देने का विधान है। यह मन्त्रोचारण अदृष्ट साधक होने के साथ २ माता को इस बात का उपदेश करता है, कि वह बालक को अपने उस स्तन का ही पान करावे जो मधु-अर्थात् प्रेम भावना का स्रोत है, तथा जो बालक के लिये पुष्टि तथा बलदायक है। माता का यह दूध उसके वात्सल्य प्रेम से मिश्रित होता है। वह बालक में उस वंश के उत्तम और शुभ विचारों को उत्पन्न करता है। ब्राह्मण वंशोद्भवा स्त्री के दूध से जो बुद्धि और ज्ञान बालक में उत्पन्न होता है, क्षत्राणी के दूध से उसकी रगों में जो शूरवीरता भर जाती है वह धाय के या डब्बों के दूध से नहीं। इतिहास साक्षी है, कि किस प्रकार वीर क्षत्राणी की कोख से उत्पन्न हुए महाराज जसवन्तसिंह के हृदय में ऐन वक्त

* टिप्पणी—यह प्रकरण हमारे 'चार शास्त्रार्थ' में द्रष्टव्य है।

पर कायरता की अप्रत्याशित भावना ने काबू पा लिया था और वे प्राणों का मोह लेकर युद्ध भूमि से भाग आये थे। कायरता के इस क्षणिक उफान के मूल में बचपन में रोते हुए ३ वर्ष के अबोध जशवन्त को चुप कराने के लिये दासी द्वारा पिलाया हुआ दूध ही तो था जो उनके जीवन के लिये अपरिमार्जनीय कलङ्क का कारण बन गया। इन सब बातों को देखकर ही अकबर इलाहाबादी ने कहा था--

तिफ्ल मे वू आए क्या, मां बाप के इतवार की।
दूध तो डब्बों का है तालीम सब सरकार की।

तात्पर्य यह है, कि इस सस्कार के मूल भूत उद्देश्यों में मातृ दुग्ध पान एक प्रमुख वस्तु है और यदि हम बालक को अपने कुल की विशुद्धता, महानता, उदात्तता और अन्य किसी विशेषता का सच्चा उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं तो हमें उसे माता का ही दूध पिलाना चाहिये।

मधु घृत क्यों चटाये ?

बालक के उत्पन्न होने पर उसकी शारीरिक मशीनरी को चालू करने के लिये तत्तत् स्थानों पर जमे हुए कफ मल आदि दोषों को दूर करना आवश्यक होता है, इसके लिये चतुर धाई अंगुली में रुई लपेट कर उसके नाक कान मुख आदि को तो स्वच्छ कर देती है किन्तु प्रसव यन्त्रणा के कारण बालक की ऊर्ध्वोन्मुखी रक्त गति तथा तज्जन्य कफ की शान्ति के लिये बालक को अन्य उपचार की आवश्यकता पड़ती है, इसके अतिरिक्त बालक की आंतों मे एक प्रकार का काला २ सा मल संचित रहता है, जिसके न निकलने से बालक को अनेक प्रकार की पीड़ायें हुआ करती हैं। इन सब बातों के उप

चार के लिये आधुनिक चिकित्सक शहद मिला हुआ रेंडी का तेल देने की व्यवस्था किया करते हैं किन्तु प्रयोगशालाओं में हाल ही में हुए परीक्षणों ने सिद्ध कर दिया है, कि इसके लिये शास्त्रवर्णित सुवर्णघृष्ट मधु मिश्रित घी, रेंडी के तेल की अपेक्षा अधिक हित प्रद होता है। सुवर्ण से घिसे हुए इस मधु मिश्रित घी को चटाने से बालक की उपरोक्त सभी शिकायतें दूर हो जाती हैं और उसकी शारीरिक मशीनरी ठीक प्रकार से कार्य करने लग जाती है।

सुवर्ण के लिये आयुर्वेद में लिखा है, कि वह वायु को उपशमन करनेवाला है, मूत्रको साफ करता है और रक्त की उर्ध्वगति को शान्त कर देता है। इसी प्रकार घृत, शरीर में तापवृद्धि करता है, बल वर्द्धक है और विरेचक भी है। मधुके खाने से मुख में लार—जो कि पाचन शक्ति के लिये अत्यावश्यक पदार्थ है—का सञ्चार होता है, पित्तकोष सजग होता है और कफ शान्त हो जाता है।

सत्तेप में हम कह सकते हैं, कि जातकर्म संस्कार की उपयोगिता और विशेषता गर्भाधान संस्कार से कम नहीं है। प्रथम यदि 'मानव' सन्तति निर्माण के पवित्र उद्देश्य से किया हुआ बीज वपन है, तो दूसरा उठते हुए कोमल पौदे को समुचित अवलम्बन द्वारा उन्नत करना। इन दोनों को ही सावधानी से करना चाहिये।

नामकरण संस्कार विचार

किसी पदार्थ के निर्णय में उसका नाम भी गुण अथवा अव-गुण बताने का एक साधन माना जाता है। प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि किसी भी पदार्थ विशेष या व्यक्ति विशेष का वैसा ही नामकरण हो जो कि अधिक से अधिक सीमा तक उसके गुण अवगुणों को प्रकट करने की शक्ति रखता हो। नाम रूपात्मक

इस जगत में—जहां कि नाम के द्वारा ही सम्पूर्ण व्यवहार चलना है—सभी बुद्धिमान् व्यक्ति, ग्रन्थ लेखक, कवि और वैज्ञानिक अपनी वस्तु का नाम चुनने मे बहुत सोच विचार किया करते हैं और चाहा करते हैं, कि उनका सम्भावित एवं अभिलाषित अर्थ उनके निर्वाचित (कम से कम अक्षरों के) नाम से अभिव्यक्त हो सके।

शायद विज्ञ पाठकों को यह बताने की आवश्यकता न हो, कि हमारे पूर्वजों ने इस नामकरण शैली की प्रथा को ऐसी सुव्यवस्थित बनाने की चेष्टा की थी कि जिसे ध्यान पूर्वक देखने पर चकित सा रहना पड़ता है। रामायण महाभारत आदि सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों के चरित्र नायक, प्रतिनायक तथा अन्यान्य पात्रों तक के नाम ऐसे विलक्षण हैं, कि जो उस २ व्यक्ति के चरित्र की विशेषता को सहसा प्रगट कर देते हैं।

'राम' जहां मर्यादाओं के आदर्श पालक होने के कारण प्रत्येक प्राणी के चित्त में रमण करने वाले थे, वहां 'रावण' भी अपने अन्वर्थ गुण में कम न था, अर्थात्—प्राणी मात्र का सर्वोपरि रुलाने वाला था। युधिष्ठिर को महाभारत के युद्ध मे स्थिर होना पड़ा और उसने अपनी इस स्थिरता को अनेक धर्म सकटों के अवसर में भी हाथ से न जाने दिया। दुर्योधन भी अपने नाम के अनुरूप योधन (योद्धा) तो अवश्य था परन्तु दुर्-दुष्ट अन्याय युक्त युद्ध ही उसे प्रिय था। भीम के समान भयंकर और अर्जुन के समान अपने गुणों से दूसरों को अपना बनाने वाला वीर दूसरा मिलना कठिन है। द्रौपदी जैसी प्रातः स्मरणीया अबला को भरी सभा में नग्न करने में ही जिसके शासन की शान बरकरार रहती हो उससे बढ़कर 'दुश्शासन' और कौन हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन समय में आर्य जाति में बहुत कुछ सोच समझ कर नामकरण करने की रीति प्रचलित थी, अब भले ही हजारों विद्यासागर विद्यालंकार वेद प्रकाश नाम वाले वज्र मूर्ख मिलते हों और बहादुरसिंह नामधारी चूहों की खड़खड़ाहट को चोर की सेंध समझकर लिहाफ से मुंह ढांप लेते हों, परन्तु प्राचीन समय में 'यथा नाम तथागुण.' सिद्धान्त पर बहुत बल दिया जाता था और ज्योतिष शास्त्र के पारंगत पुरोहित, वैज्ञानिक दृष्टि से नक्षत्र तिथि योग करण आदि के सम्मेलन से भावी गुणावगुणों की कल्पना कर उसके अनुसार ही नामकरण किया करते थे उनकी यह कल्पना कितनी सच्ची और पूरी उतरती थी यह बात पिछले उदाहरणों से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है।

नाम अथवा शब्द का प्रभाव बिजली से भी अधिक चमत्कारी है। प्रायः देखा जाता है जिस व्यक्ति को लोग जिस नाम से पुकारने लग जाते हैं उसमें उसी प्रकार के गुण अवगुण का सन्निवेश हो हो जाता है। लोगों द्वारा बार २ 'आलसी' कह कर पुकारा गया व्यक्ति जैसे कुछ दिनों बाद सचमुच आलसी बन जाता है उसी प्रकार शूरवीर के नाम से ख्याति प्राप्त व्यक्ति भी अपने नाम की लाज रखने के लिये समर भूमि में अपने प्राणों की आहुति देने में भी नहीं हिचकिचाता। अपनी नाम ध्वनि श्रवण के साथ ही उस नाम से सम्बद्ध यदि कोई प्राचीन चरित्र है तो निश्चय ही वह स्पष्टतया आंखों के सामने झलकने लग जाता है और मानव हृदय को एक तीव्र प्रेरणा प्रदान करता है। सती मदालसा ने-'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि' की प्रेममयी लोरी से, या यों कहिये बालक को बार २ 'तू विशुद्ध ब्रह्म है' कह २ कर आत्मज्ञानी बना दिया था।

नामकरण संस्कार क्यों ?

उपरोक्त भूमिका से नामकरण की आवश्यकता तथा अच्छा नाम रखकर कैसे हम मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों का सुधार कर सकते हैं यह तो स्पष्ट हो गया किन्तु प्रश्न हो सकता है कि प्रत्येक बालक का नाम तो स्वभावतया उसके माता पिता रख ही देते हैं इसके लिये नामकरण संस्कार जैसे उत्सव की आवश्यकता क्यों ?

इसका उत्तर कुछ कठिन नहीं है, इस संस्कार का उद्देश्य वर्णन करते हुए मनु जी महाराज ने कहा है कि नामकरण के दो प्रयोजन हैं, (१) आयु और तेज की वृद्धि, (२) सांसारिक व्यवहार में नाम का उपयोग, यथा—

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ।

इन दोनों प्रयोजनों के लिये सचमुच एक उत्सव के रूप में ही नामकरण की आवश्यकता है, अपने स्वजन सम्बन्धी गुरुजन एव मित्रों की उपस्थिति में इस संस्कार का विधान है। इसका अभिप्राय यही है कि उन सब की उपस्थिति मे नाम रखने से अधिक से अधिक लोगों में नाम प्रसिद्ध हो जायगा और लोग उसे जल्दी ही जान जाएंगे। वह समस्त एकत्रित सज्जनों की शुभ कामनाओं और आशीर्वादों का पात्र बनेगा जो उसके दीर्घायुष्य में सहायक होंगी। अधिक से अधिक जनता में नाम की ख्याति तथा प्रियता 'तेजस्विता' का लक्षण है। इसलिये मनुजी ने नामकरण संस्कार से आयु और तेज की वृद्धि बतलाई है।

संस्कार का दूसरा उद्देश्य व्यवहार सिद्धि कहा गया है। सांसारिक व्यवहार सञ्चालनार्थ प्रत्येक बालक का कुछ न कुछ नाम तो पड़ेगा ही। यदि माता ने विधि पूर्वक कोई नामकरण न किया

जन भी लोग या तो जन्म वार की कल्पना से मगलू, बुद्धू, बीरू आदि. या जन्मतिथि के अनुसार ग्यारसा, पुन्नू, दौजीराम आदि, और नहीं तो साधारणरूपेण मुन्ना काका आदि कुछ न कुछ रख ही लेंगे परन्तु इससे न तो किसी एक नाम का निश्चय होगा और बालक को न कोई निश्चित नाम ही मिल सकेगा, कोई उसे बुद्धू कहेगा तो कोई कूड़ामल। इन सब झंझटों से बचने के लिये क्या यह अधिक उपयुक्त न होगा कि एक निश्चित समय पर बालक का यथाविधि नामकरण संस्कार किया जाय।

नाम कैसा हो ?

साधारण व्यक्ति इस बात का महत्व नहीं समझते कि बालक का नाम किस प्रकार का रक्खा जाना चाहिये। उनका ख्याल है कि माता पिता आदि गृह जनों को जो रुचिकर मालूम हो वही नाम रख लिया जाना चाहिये। वास्तव में यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह कार्य कम महत्व का नहीं है। हम पीछे बतला चुके हैं कि 'नाम' मनुष्य के भविष्य निर्माण में एक प्रमुख भाग रखता है। अर्थ गाम्भीर्य के साथ २ नाम चुनने में ध्वनि सौकर्य का पूरा २ विचार रखना आवश्यक है। कोई भी नाम कितने ही सुन्दर अर्थ का वाचक हो, यदि उसके उच्चारण में बोलने वालों को विशेष परिश्रम करना पड़ता हो या उसकी ध्वनि क्लिष्ट होने के कारण कठिनता से बोली जा सकती हो तो वह नाम लोकप्रिय नहीं हो सकता। इसलिये शास्त्रकारों ने इस विषय में कुछ नियम निश्चित किये हैं जिनका निर्माण सर्वथा ध्वनि विज्ञान (Phonetics) और मनो विज्ञान (Psychology) की नींव पर किया गया है। यथा—

द्वयक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरमन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्। शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य।

(पार० गृ० का० १ कं० १७ सू० २४)

अर्थात्—पिता को चाहिये बालक का नाम दो या चार अक्षरों वाला रक्खे उसके आदि मे घोष—ग घ, ज झ, ड ढ, द ध न, ब भ म, य र ल व, ह, इनमें से कोई अक्षर होना चाहिये। मध्य में अन्तस्थ—य र ल व इनमे से कोई, अन्त में दीर्घ स्वर संयुक्त कृदन्त नाम रक्खे, तद्धित नहीं। स्त्रियों के नाम तीन अक्षरों के होने चाहियें और आकारान्त हो, यदि तद्धितान्त भी हों तो कोई हानि नहीं।

उपर्युक्त नियम कितने वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त हैं यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, इन नियमों में प्रधानतया चार बातों पर बल दिया गया है।

(१) नाम के आदि में अक्षर ऐसे रक्खे जायं जिनका उच्चारण साधारण व्यक्ति भी सरलता पूर्वक कर सके। भाषा विज्ञान के अनुसार घोष इसी प्रकार की ध्वनियें हैं जो अत्यन्त सरलता पूर्वक मुख से निकलती हैं। जन्म के अनन्तर ९० प्रतिशत बालक घोष वर्ण युक्त शब्दों के उच्चारण से ही बोलना सीखते हैं। यदि ध्यान पूर्वक पशुओं की बोलियों का अध्ययन करें तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा, कि कुछ अपवादों को छोड़कर सभी पशु पक्षी घोषवदादि ध्वनि मे ही बोलते हैं। बकरी की में मे, बिल्ली की म्यांऊ २, गीदड़ की हां हां, कुत्ते की भौं भौं, गाय भैंस की भा भा, आदि सभी पशुओं की बोलियों को देखिये, वे सब घोष

अक्षर से ही प्रारम्भ हुई हैं। यों तो 'भारोपीय परिवार' की सभी भाषाओं मे किन्तु विशेषकर भारतीय भाषाओं में तो अधिकाश शब्द घोष ध्वनियों से ही प्रारम्भ होते हैं। इसलिये उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से 'घोषवदादि' नियम कितना युक्तियुक्त है यह स्वय समझा जा सकता है।

(२) नामों को रखने में इस बात का पूर्ण विचार रखा जाय कि नाम कृदन्त हो तद्धित नहीं। कृदन्त का तात्पर्य है, धातुओं से विकार लगकर बने हुए शब्द जैसे—आनन्द, चन्द्र, प्रकाश, राम आदि शब्द नदि, चदि, कासृ, रमु आदि धातुओं (Root) से विकृत होकर ही बने हुए हैं, इसलिये ऐसे नाम रक्खे जाएं जिनके अन्त में उपरोक्त शब्द आवें। तद्धित का तात्पर्य है—नाम अर्थात् सज्ञा वाचक शब्दों से विकृत होकर बने हुए शब्द, जैसे पाण्डव, वासुदेव, भगवान, दयालु, कृपालु, आदि शब्द,—पाण्डु, वसुदेव, भग, दया, कृपा आदि शब्दों से तद्धित प्रत्यय लगकर बने हुए शब्द हैं। तद्धित नामों के रखने का निषेध इसलिये है कि तद्धित नाम सुस्पष्टार्थ नहीं होते और उसके प्रत्यय भी क्लिष्ट होते हैं। प्राय तद्धित प्रत्ययों का उपयोग माता पिता के नाम को सन्तान के नाम द्वारा प्रगट करने के लिये किया जाता है।

समझ लीजिए पाण्डु नामक एक व्यक्ति है। उसके एक लडका हुआ जिसका नाम पाण्डव रख दिया गया, इसके बाद दूसरा, तीसरा, चौथा यहां तक कि पांचवा भी पुत्र उत्पन्न हुआ। पाण्डव (पाण्डु का पुत्र) इस शब्द के अर्थ के अनुसार तो पाचों ही पाण्डव हुए। यदि हम किसी एक के विषय में कोई बात कहना चाहें तो हमारा इस प्रकार का नाम सर्वथा भ्रमोत्पादक ही होगा और उस व्यक्ति विशेष का बोध कराने के लिये हमे अन्य किसी

विशेषण या नाम का प्रयोग करना पडेगा, इन सब बातों को देखकर ही तद्धित नामों का निषेध किया गया है।

(३) स्त्री के नाम मे पुरुष की अपेक्षा ध्वनि में कोमलता और स्वर वैचित्र्य लाने के लिये भेद रक्खा गया है। इसके साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि कन्याओं के नाम ऐसे नहीं रक्खे जाने चाहियें जो नक्षत्र वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्पादि भयंकर वस्तुवाचक हों, क्योंकि इस प्रकार का नाम रखने से तदनुसार प्रकृति का परिवर्तन हो जाना कुछ कठिन नहीं।

(४) जन्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन अनिवार्य चार सामाजिक श्रेणियों के प्रदर्शन के लिये—शर्मा वर्मा गुप्त तथा दास यह चार उपाधियां अपने नाम के साथ लगानी चाहियें। इन उपाधियों के लगाने का तात्पर्य था अमुक अमुक कर्म में नैपुण्य बोध। आज लोग कर्मणा वर्णव्यवस्था का राग अलाप रहे हैं और वेदादि शास्त्रों मे इस नये आविष्कार का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वेदाभिमानी होने का दावा करनेवाले आर्य समाजी भी उन ही की हां मे हां मिलाकर किस प्रकार स्वयं वैदिक सिद्धान्तों की हत्या कर रहे हैं यह किसी से छिपा नहीं है। गृह्य सूत्र के उपरोक्त उद्धरण से भली भांति जाना जा सकता है कि वेदादि सभी शास्त्र तथा युक्तिवाद भी जन्मना वर्ण व्यवस्था के ही समर्थक हैं। आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने अपनी संस्कार विधि में पारस्कर गृह्यसूत्र के उपरोक्त उद्धरण को बिना किसी ननु नच के प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। किन्तु क्या इस उद्धरण में नाम करण संस्कार के समय ही ब्राह्मण माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न बालक को 'शर्मा' क्षत्रिय सन्तान को 'वर्मा', वैश्य कुलोत्पन्न को 'गुप्त' आदि विभिन्न शब्दों से सम्बोधन करने की आज्ञा नहीं दी

गई है ? क्या उस सद्योजात १० दिन के शिशु के किसी कर्म को देखकर उसे शर्मा वर्मा आदि उपाधि से विभूषित किया जाता है ? वस्तुत ऐसा नहीं है। इन उपाधियों का तात्पर्य केवल यह है कि उसके नाम के साथ जुड़े हुए इन शब्दों को देखकर प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सके कि उसे किस कर्म मे कुल परम्परागत एव जन्म से ही नैपुण्य प्राप्त है।

नामकरण कब ?

यह संस्कार बालक के जन्म के अनन्तर दश रात्रि व्यतीत होने पर करना चाहिये जैसा कि—

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति (पार० गृ० सूत्र)

—इस सूत्र द्वारा गृह्य सूत्र ने बताया गया है। गोभिल गृह्य सूत्रकार ने इस विषय मे तीन विकल्प रक्खे हैं, यथा—

जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेय-करणम्। (गो० गृ० सूत्र प्र० २)

अर्थात्—जन्म से ११वे दिन १००वें दिन या एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर नामकरण संस्कार करे।

दश रात्रि छोड़कर ग्यारहवें दिन के विषय में तो किसी का मत-भेद नहीं है। दश रात्रि छोड़ने का अभिप्राय यह है कि सूतिका-गृह में जितने लड़के लड़की मरते है उनमें से लगभग ६० प्रतिशत पहिली दश रात्रियों मे ही मर जाते है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के मतानुसार सद्य प्रसूता स्त्री के शरीर से दश दिन तक रक्त का प्रवाह चलता रहने से बड़ी निर्बलता रहती है। दश दिन बाद वह उठने योग्य हो जाती है। क्योंकि इस संस्कार मे माता की उपस्थिति भी आवश्यक है इसलिये यह दश दिन बाद किया जाता है।

गोभिल गृह्य सूत्रकार ने जो विकल्प रक्खे हैं उनका उपयोग तब होता है जब स्त्री बड़ी निर्बल हो और दश दिन बाद तक वह बिस्तर से उठ न सके तब लगभग सवा तीन मास बाद नामकरण किया जाय। यदि पिता आदि बाहर विदेश में हों और पीछे बालक का जन्म हो तो उनके आने के समय का ख्याल करते हुए वर्ष भर की अवधि दी गई है ?

निष्क्रमण संस्कार विचार

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ, शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे ।शिवा अभिक्षरन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः । (अ० ८।२।१४)

अर्थात्—हे बालक। तेरे निष्क्रमण काल में द्युलोक और पृथ्वी लोक कल्याणकारी सुखद एव शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी प्रकाश करे, तेरे हृदय में स्वच्छ वायु का सञ्चार हो। गंगा यमुनादि दिव्य सरिताएं तेरे लिए निर्मल और स्वादु जल का प्रवहण करें।

प्रार्थना एव मनोज्ञ भावों से परिपूर्ण उपरोक्त मन्त्र सृष्टि में निहित जीवन के उन तत्त्वों की ओर सङ्केत कर रहा है जिनके सम्बल से मनुष्य मनुष्य बनता है। इस मन्त्र का महत्व उस तीन चार मास के बालक के लिये उस समय चाहे कुछ न हो किन्तु जिनके जीवन की सभी आशाये सभी आकांक्षाएं और अभिलाषाएं उस नन्हे से बालक पर केन्द्रित हैं—उन माता पिताओं के लिये ईश्वर के इन अमोघ वरदानों का कुछ कम महत्व नहीं है।

इस प्रार्थनात्मक मन्त्र में सार रूप से उन सब वस्तुओं का निर्देश कर दिया गया है जो मानव जीवन के लिये परमावश्यक हैं। दुर्भाग्य से संस्कृत भाषा भारतीय जनता की भाषा से इतनी दूर हो गई है कि साधारण जनता इन वैदिक मन्त्रों में वर्णित अत्युपयोगी विषय को भी नहीं समझ सकती और हर एक काम के आरंभ में मन्त्र पढ़ने को पाधाजी का ढकोसला समझा जाता है, किन्तु समय था जब यही मन्त्र बीमार के लिये बताये गए डाक्टर के नुस्खे से कम महत्व न रखते थे। लोगों का दैनिक जीवन इतना व्यस्त हो चुका है कि उनको न इन बातों को जानने की फुर्सत है न आवश्यकता। छोटी २ तङ्ग कोठरियों में जहां न सूर्य की धूप, न प्रकाश, स्वच्छवायु का नाम नहीं, विशुद्ध जल भी जहा बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है—अधिकांश मध्य निम्नवर्ग के लोग अपना जीवन बिताने को बाध्य होते हैं और अन्त में तपेदिक या ऐसे ही अन्य रोगों का शिकार बनकर न केवल स्वयं कष्ट भोगते हैं किन्तु अपनी भावि सन्तान को भी विरासत में उन रोगों के कीटाणु सौंप जाते हैं।

इस वैदिक मन्त्र में बतलाया गया है कि बालक ऐसे स्थान पर रहे जहां खुला आकाश हो, सूर्य का प्रकाश एव धूप हो, शुद्ध वायु एवं स्वच्छ जल मिल मिल सकता हो। आज निष्क्रमण संस्कार में इन बातों पर कौन ध्यान देता है, ध्यान तब दिया जाता है जब बीमार होने पर डाक्टर की जेब गरम करदी जाती है और वह कहता है—इसे खुली हवा में रखो, पानी छान कर पीने को दो, धूप में लेटाओ आदि २।

निष्क्रमण संस्कार में की जानेवाली सभी क्रियाओं का तात्पर्य बालक के स्वास्थ्य को समुन्नत करना है। यह संस्कार चौथे मास

मे किया जाता है जब कि बालक की ज्ञान व कर्मेन्द्रिया सशक्त और वायु धूप आदि को सहन करने योग्य हो जाती हैं। सूत्रकार का अभिप्राय इस संस्कार से यह था कि उस दिन से बालक को प्रति दिन थोड़ा २ टहलाया जाय, उसे सूर्य स्नान कराया जाए जिससे उसके शरीर मे सर्दी गर्मी को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो और वह दृढ तथा निरोग बन सके।

इस संस्कार के रूढ़िगत नहीं, किन्तु उपरोक्त मुख्य उद्देश्य पर, जितना अमल विदेशों मे होता है उतना भारत मे नहीं। जब हम अंग्रेज माताओ को छोटे २ बालकों को गाडियों में लिये विशुद्ध वायु में टहलाते हुए देखते है तो—'श वातो वातु ते हृदे' की साकार व्याख्या कानों में गूंजने लगती है।

इस संस्कार की मुख्य क्रियाओं—सूर्यप्रदर्शन देवदर्शन एव रात्रि में चन्द्र दर्शन का अभिप्राय, जगत्प्राण प्रेरक सूर्य एव मनाधिष्ठातृ चन्द्रमा से जीवन शक्ति की प्रार्थना के साथ २ बालक के हृदय में प्राकृतिक पदार्थों के प्रति स्नेह उत्पन्न करना है। तथा माता पिता को भी एक प्रकार की शिक्षा है कि वे बालक को घर में घोटकर न रक्खें किन्तु उसे उन्मुक्त नभ के नीचे खुली वायु मे श्वास लेने दें।

अन्न प्राशन संस्कार विचार

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबला सावदो मधौ।
एतौ यक्ष्मं विबाधेते, एतौ मुञ्चतो अंहसः॥

(अथर्व० ८।२।१८)

अर्थ—हे बालक, जौ और चावल तुम्हारे लिये बलदायक तथा

पुष्टिकारक हों, क्योंकि यह दोनों वस्तुएं सभी प्रकार के यक्ष्मा-तपे-दक—नहीं होने देते तथा (देवान्न होने के कारण) मनुष्य को पाप से मुक्त करने वाले हैं।

वेद के उपरोक्त मन्त्र मे अन्न प्राशन संस्कार की महिमा पर प्रकाश डाला गया है। यह संस्कार उस समय किया जाता है जब कि बालक छः मात महीने का हो जाता है और उसकी पाचनशक्ति इस योग्य हो जाती है कि वह सुगमता से अन्न पचा सके। यह अवस्था प्राय ६ महीने के बाद प्रारम्भ हो जाती है। इस समय बालक के दांत निकलने आरम्भ होते हैं। इस कार्य के सुगमता पूर्वक होने के लिये शरीर मे क्षार-जो कि स्वास्थ्य के लिये उपयोगी पदार्थ है—की आवश्यकता उत्पन्न होती है, अगर उस आवश्यकता को बुद्धिमान माता पिता, क्षार अर्थात् लवण युक्त अन्नादि द्वारा पूरा न करें तो बालक उसकी कमी मिट्टी से—जिसमें कि क्षार की मात्रा पर्याप्त होती है—पूर्ण करने लगते है इसलिये माता पिता को इस ओर पहिले ही ध्यान देना चाहिये।

अन्न प्राशन संस्कार इस बात का चिन्ह है कि अब से बच्चे को क्रमश थोड़ा २ अन्न खिलाना आरम्भ कर दिया जाय और स्तन पान की मात्रा इसी प्रकार क्रमश घटाई जाय।

यह संस्कार हमे यह भी बतलाता है कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन अन्न है मास नहीं। आज का मानव इस तथ्य को भूलकर भक्ष्याभक्ष्य के नियम को तिलाञ्जलि दे सर्वभक्षी बन गया है, जिसका परिणाम स्पष्टतः आखों के सामने है। व्रीहि यवादि सात्त्विक अन्न खाने से उत्पन्न होने वाले पवित्रभाव आज ससार में कहा शेष हैं? स्वार्थपरता, वैमनस्य और पारस्परिक घृणा—जिनके कारण कि आये दिन विश्व युद्ध का खतरा आज के सभ्य ससार

के सामने छाया रहता है—इसी तामस भोजन से उत्पन्न दुष्प्रवृत्तियों का परिणाम है। आज जगह २ डाक्टरों हकीमों की दुकानों की वृद्धि का कारण यही मांसाहार है। तपेदिक और तत्सम्बन्धी अवान्तर रोग इसी प्रतिषिद्ध आहार विहार से उत्पन्न होते है।

पिछले दिनों 'मांसाहार से होनेवाले भयङ्कर दर्द' नामक पुस्तक में मांसाहार के विषय मे विदेशी विद्वानों की कुछ सम्मतियें प्रकाशित हुई थीं जिनको देखने से विदित होता है कि संसार के अधिकाश रोग मांसाहार से ही होते हैं। नासूर हर प्रकार के दांत आंख कान के दर्द, आंतों की बीमारियां, एपेन्डिसाइटिस जैसे भयङ्कर रोगों के रोगियों की परीक्षा करने पर डा० डगलस मेंकडानल्ड, सर जेम्स सीयर एम० डी० एफ० आर० सी० पी०, प्रो० कियथ, मि० होरेस फ्लेचर, डा० मेक फोर्ड आदि विदेशी विद्वानों ने एक सम्मति से इन रोगों का कारण मांसाहार ही निश्चित किया है। मांसाहार हमारे इस प्रकरण का विषय नहीं है, यथा स्थान इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। यहां यही समझ लेना चाहिये कि मांस, मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है। वेद ने उपरोक्त छोटे से मन्त्र में ही इस विषय की ओर सङ्केत किया है कि अन्न से ही यक्ष्मा सम्बन्धी रोगों का विनाश होता है मांस से तो यह बढ़ते ही हैं।

अन्न प्राशन संस्कार में बालक के आगे--पुस्तक, लेखनी, खिलौने, मिठाई, अस्त्र शस्त्रादि बहुत सी वस्तुओं का एक ढेर रख दिया जाता है, बालक को गोद में से छोड़ दिया जाता है और देखा जाता है कि वह किस वस्तु की ओर अधिक आकर्षित होता है। वह जिस वस्तु की ओर आकर्षित हो, उससे उसके भावी जीवन की रुचि की कल्पना की जाती है और समय पर उसी कार्य में पटु होने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। यह एक मनोवैज्ञा-

नक किया है। प्राय. देखा जाता है कि माता पिता बालकों को समुन्नत बनाने में उसकी रुचि का कोई विचार नहीं करते। बालक जहा चार पांच वर्ष का हुआ कि उसे स्कूल भेजना शुरू किया। आठ दश वर्ष तक यही चक्की चलती रहती है। बालक का पढ़न में मन नहीं लगता परन्तु फिर भी उसे स्कूल जाना पड़ता है, रुचि न होते हुए भी अध्यापक बरबस पुस्तकों के ज्ञान को उसमे उंडेल देना चाहता है। लड़का फेल हो जाता है। माता पिता फिर भी नहीं समझते उसे ठोंक पीटकर पढाना ही चाहते हैं फल यह होता है कि स्वाभाविक रुचि के अभाव में वह बालक पढने में सफल नहीं होता और उसके जीवन का वह अमूल्य भाग--जिसमें उसने भावी जीवन संग्राम की तैयारी करनी थी माता पिता की मूर्खता से नष्ट हो जाता है। हमें अपने जीवन में ऐसे बहुत से बालकों को देखने का अवसर मिला है जिनको यदि सचमुच उनकी रुचि के अनुसार उचित शिक्षण दिया जाता तो वे आज और ही कुछ आदमी होते। मेरे एक मित्र हैं बड़े सज्जन और संस्कृत भाषा के प्रेमी। उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार अपने पुत्र को संस्कृत भाषा पढ़ाने का प्रयत्न किया किन्तु उस बालक की रुचि उस ओर शायद कभी नहीं हुई। पाठशाला मे, घर में, पढ़ने के समय या खेलकूद के समय सर्वदा वह चित्र कला की ओर झुकी हुई अपनी रुचि को न दबा पाता। ज्येष्ठ आषाढ़ के लम्बे दिनों में जब माता पिता उसे धूप में जाने से रोकने के लिये घर के किवाड़ बन्द कर आराम करने लग जाते वह धीरे से उठता और किवाड़ों के समीप आ बैठता। मिट्टी के दीपकों में उसने कुछ रंग घोल रक्खे थे। वह भोला भाला बालक अपनी प्रतिभा के अनुसार कागजों पर चित्र बनाने का अभ्यास किया करता, ज्यों ही माता पिता जागने

को होते उसका भीत हृदय सहम उठता। आखिर एक दिन मेरे मित्र ने उस बालक की चोरी पकड़ ही ली, उन्होंने वे चित्र हमें दिखाये। मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे उसे किसी आर्टस्टुडियो में चित्रकला की शिक्षा दिलाये किन्तु मेरी यह सलाह और दूसरे लोगों की सम्मतियें भी उनके मन में न पैठी। उनका प्रयत्न यही रहा कि किसी प्रकार वह बालक 'लघु कौमुदी' रटले। फल यह हुआ न तो वह लघुकौमुदी ही रट सका और चित्रकार तो बनता ही कैसे? इस प्रकार न जाने देश के कितने होनहार बालकों की प्रतिभा बचपन में ही मसल दी जाती है और उनका जीवन नष्ट कर दिया जाता है।

इसलिये आवश्यकता है कि हम इस संस्कार द्वारा प्रथम बालक की रुचि का परिचय प्राप्त करलें और तब उसे उसमें होने के लिये प्रोत्साहित करें।

चूडाकरण संस्कार विचार

निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय। (यजु० अ० ३ म० ३३)

अर्थात्--हे बालक दीर्घायु के लिये, अन्न ग्रहण में समर्थ बनाने के लिये, उत्पादन शक्ति के लिये, ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये सुन्दर सन्तान के लिये और बल तथा पराक्रम प्राप्ति के योग्य होने के लिये तेरा मुण्डन करता हूं।

चूड़ाकर्म संस्कार बल आयु तथा तेज की वृद्धि के लिये किया जाने वाला आठवा संस्कार है, इससे पूर्व के

मान सस्कार दोष परिमार्जन श्रेणी के हैं। उन के द्वारा खान से निकले लोहे की—मिट्टी हटाना मांजना, तपाना आदि की तरह मानव शरीर को गर्भवास जन्य मलिनतादि निराकरण पूर्वक शुद्ध बनाया जाता है। चूडाकरण उपनयनादि चार संस्कारों द्वारा उसमें गुणाधान होता है—अर्थात् मानवोचित विशिष्ट गुणों का समावेश किया जाता है।

'चूडा क्रियतेऽस्मिन्' इस विग्रह के अनुसार चूडाकरण संस्कार का अभिप्राय है वह संस्कार जिसमें बालक को चूडा अर्थात् शिखा दी जाए। अमरकोष के 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु' इत्यादि श्लोकानुसार चूडा का अभिप्राय शिखा से ही है। गृह्य सूत्रकारों ने इसीलिये—

अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवेषां कुलधर्मः स्यात्। यथर्षिशिखा निदधात्येके।

अर्थात्—बालक को कुलधर्म के अनुसार एक शिखा, दो या तीन शिखा धारण करावे।

--इत्यादि वचनों से इस संस्कार के समय शिखा रखने का विधान किया है। इस संस्कार का समय जन्म से प्रथम या तीसरा वर्ष है जब कि बालक अपनी शैशव अवस्था के पहिले--किन्तु सब से भयपूर्ण—दौर को समाप्त कर चुकता है। शरीर विज्ञान के अनुसार यह समय ऐसा होता है जब कि दांतों के निकलने के कारण बालक के शरीर में कई प्रकार की व्याधि हो जाना अनिवार्य है। चूंकि उसका शरीर निर्बल हो जाता है और बाल झड़ जाते हैं ऐसे समय में इस संस्कार का विधान करके महर्षियों ने बालक को इन सब अस्वस्थकर कारणों से बचाने का प्रयत्न किया है।

इस सस्कार का दूसरा नाम मुण्डन सस्कार भी है। यह त्वचा सम्बन्धी रोगों के लिये अत्यन्त लाभकारी होता है। शिखा को छोड़ कर शिर के शेष बालों को मूड देने से शरीर मे तापक्रम कम हो जाता है और उस समय होने वाली फोड़े फुन्सी दस्त आदि व्याधि जो कि शरीर में उष्णता जन्य उबाल के कारण उत्पन्न होती हैं स्वतः शिथिल पड जाती हैं।

एक बार मुण्डन हो जाने पर फिर उगने वाले बाल बद्धमूल होने के कारण फिर झड़ते नहीं। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता के देखने से ज्ञात होता है कि चूडाकरण के सम्बन्ध में मन्वादि स्मृतिकारों के वचन कोरे अर्थवाद या रोचक नहीं हैं किन्तु वे सत्य पर आधारित है। मुण्डन चौर आदि के लाभ हानियों का वर्णन करते हुए महर्षि चरक ने लिखा है।

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्॥

(चरक सूत्रस्थान ५, सूत्र ९३)

अर्थात्—चौरादि कर्म करवाने से, नाखून कटवाने से और कघी आदि से बालों को साफ रखने से पुष्टि, वृष्यता, आयु, पवित्रता और सुन्दरता आदि की वृद्धि होती है। बालक का मुण्डन कराने के अनन्तर उसके शिर मे मलाई आदि की मालिश का विधान है जिससे मस्तिष्क के मज्जा तन्तुओं को कोमलता शीतलता तथा शक्ति प्राप्त होती है जो कि आगे चलकर बालक की बौद्धिक शक्ति के विकाश में बड़ी सहायक होती हैं। वैसे भी ठंडा शिर मनुष्य के स्वास्थ्य का चिन्ह है। बड़े बूढ़े मनुष्य,—हाथ पाव गरम और ठंडे शिर को स्वास्थ्य की निशानी समझते हैं। इसलिये

बालक को स्वस्थ तथा प्रसन्न रखने के लिये यह सम्कार अवश्य करना चाहिये ।

हम पीछे कह आये हैं चूडाकरण संस्कार का प्रयोजन महर्षियों ने बल आयु तथा तेज की वृद्धि माना है। इस विषय पर हम कुछ विशद दृष्टिकोण से विचार करना चाहते हैं और बतलाना चाहते हैं कि एक समय था जब समस्त भूमण्डल में इस वैज्ञानिक सम्कार की प्रथा प्रचलित थी। सभी देशों के निवासी 'चूडा अर्थात् शिखा के महत्व को समझते थे और उसे धारण करते थे।

बुद्धि बल आयु तथा तेज की वृद्धि के साथ शिखा का क्या सम्बन्ध है इसको समझने के लिये हमे सर्व प्रथम मानव शरीर की रचना को समझना होगा तब हम सुगमतया महर्षियों के उपरोक्त कथन की सचाई को आंक सकेंगे, तभी हमें ज्ञान हो सकेगा कि वेद भगवान्--

दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्—

अर्थात्--दीर्घ आयु बल और तेज के लिये शिखा को स्पर्श करता हूं--की घन गम्भीर वाणी से मानव मात्र को शिखा धारण के लिये क्यों प्रेरित कर रहे है। स्मृतिकारों ने--

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

--कहकर सभी धार्मिक कार्यों में शिखा को इतना महत्व क्यों दिया है? क्या कारण है कि बिना शिखा के, या उसमें ग्रन्थी लगाये बिना जो कुछ भी धर्मानुष्ठान किया जाता है वह सब निष्फल हो जाता है?

मानव शरीर की रचना पर अगर आप ध्यान दें तो आपको मालूम होगा कि सम्पूर्ण शारीरिक प्रवृत्तियों का केन्द्र हमारा मस्तिष्क है। क्या मानसिक क्या शारीरिक सभी प्रकार की क्रियाओं का सचालन उसी के द्वारा होता है। यदि वह स्वस्थ है, समुचित शक्ति सम्पन्न है तो मनुष्य भी स्वस्थ रहता हुआ वेदोक्त 'शत जीवेम शरद.' के अनुसार न केवल सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता है किन्तु इससे भी अधिक दीर्घजीवी हो सकता है। हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि दीर्घ जीवन का मूल रहस्य 'युक्ताहार विहार'-- अर्थात् अपनी दिन चर्या को नियमानुकूल बनाने मे छुपा हुआ है, और युक्ताहार विहार के लिये ज्ञान शक्ति अक्षुण्ण रहना अनिवार्य है। उसी ज्ञान शक्ति को प्रबल एव जागरूक रखने के लिये महर्षियों ने जिन अमोघ उपायों का आविष्कार किया है-शिखा भी उनमे से एक है।

हरिवंश पुराण में एक कथा आती है जिससे ज्ञात होता है कि शिखा न केवल ज्ञान शक्ति को सुसम्पन्न रखती है किन्तु बल पराक्रम एव तेज के साथ भी उसका गहरा सम्बन्ध है। कहा जाता है महर्षि वशिष्ठ का सगर नामक एक विश्वविजयी शिष्य था। उसके पिता को पश्चिम देश के कुछ राजाओं ने मिलकर मार डाला। सगर ने पिता की मृत्यु का बदला चुकाने की प्रतिज्ञा की और उन राजाओं का विनाश करना प्रारम्भ किया। वे व्याकुल हो महर्षि वशिष्ठ की शरण में गए तथा उनसे अपनी प्राण रक्षा की प्रार्थना की। वशिष्ठ जी ने उन्हें अभयदान दे दिया एव सगर को बुलाकर उनका विनाश करने से रोकना चाहा। सगर उनके वध की प्रतिज्ञा कर चुका था, इसलिये बड़ी दुविधा में पड़ा। एक ओर प्रतिज्ञा भंग का भय तो दूसरी ओर गुरु आज्ञा की अवहेलना का

पार। उसने महर्षियों से विचार विनिमय किया, अपनी संशयापन्न स्थिति को उनके सामने रक्खा और कर्तव्य का निर्देश चाहा। बहुत सोच विचार के बाद यह निश्चित हुआ कि उन राजाओं को सशिख मुण्डन करा कर छोड़ दिया जाय। तदनुसार ऐसा ही किया गया और सभी लोगों को यह देखकर आश्चय हुआ कि शिखा छेदन के उपरान्त वे बिलकुल प्रभाव शून्य और निर्जीव से होगए। इस प्रकार सगर ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करली एवं गुरु की आज्ञा भी भग न हुई। सारांश यह कि हम देखते हैं शिखा विज्ञान जानने वाले महर्षियों की दृष्टि में शिखा छेदन मृत्यु से कुछ कम नहीं समझा जाता था।

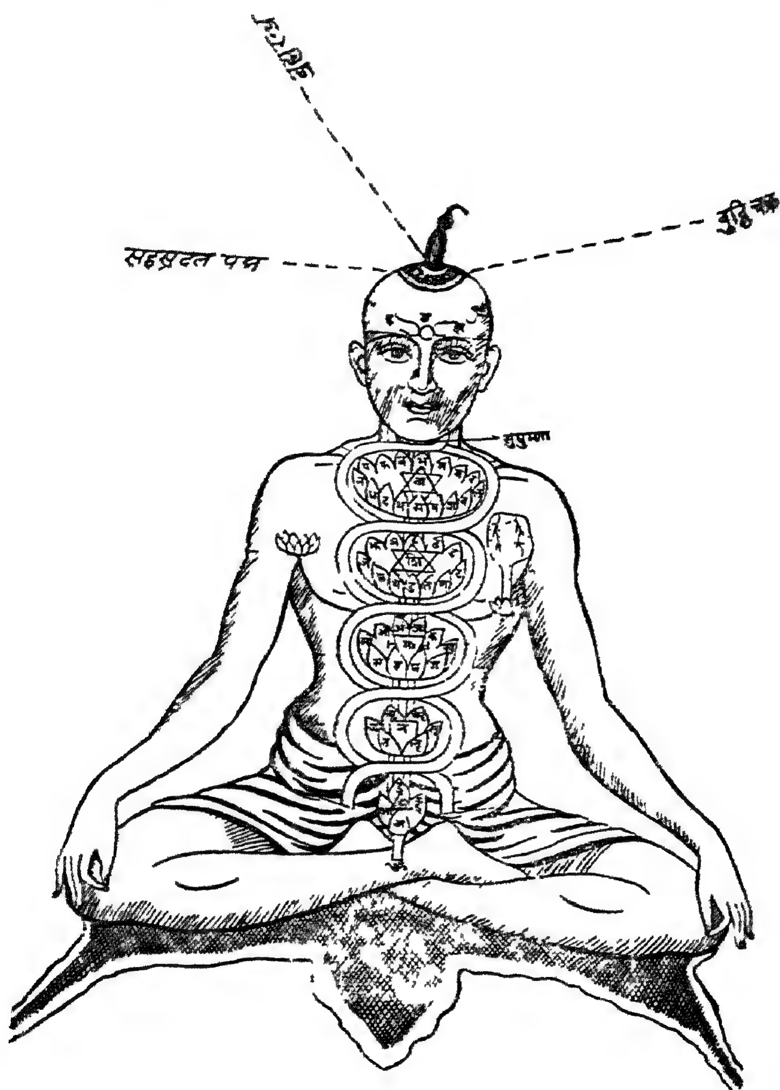
शिखा क्यों ?

वर्तमान भौतिक युग मे जब कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य-कलाप बिना मतलब के कभी नही होते, जब कि प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष दृष्ट लाभ उसमे प्रवृत्ति का कारण होता है तब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि शिखा क्यों रक्खी जाए ? अपटुडेट समाज में मनुष्य को पोंगापन्थी सिद्ध कर देने वाले, केश सौन्दर्य मे विघ्न स्वरूप बालों के इस गुच्छे को शिर पर पाल रखने से क्या फायदा ? इसलिये अब हम पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दृष्टि कोणों से शिखा के कतिपय लाभों पर विचार करते हैं।

(१) शिखा हमारी ज्ञान शक्ति को चैतन्य रखते हुए उसे सर्वदा अभिवृद्धि की ओर अग्रसर रखती है। यह विज्ञानानुकूल बात है कि काली वस्तु सूर्य की किरणों में से अधिक ताप तथा शक्ति का आकर्षण किया करती है। इस वस्तु को सिद्ध करने के लिये हमें दूर जाने की आवश्यकता न होगी। आप सफेद और

काले कपड़ों के दो टुकड़े लीजिये, इनको भिगोकर धूप में सूखने डाल दीजिये, आप देखेंगे कि काला कपड़ा, सफेद की अपेक्षा जल्दी से सूख गया। हमने अपनी प्रयोगशाला में इसे स्वयं अनुभव किया है। दो शीशे के बर्तन-जिनमें एक सुफेद था तथा दूसरा काला, एक ही समय में सूर्य की धूप में रखे गये और ५ मिनट बाद जब दोनों का तापांश नापा गया तो काले बर्तन का तापांश दूसरे की अपेक्षा ५ डिग्री ज्यादा था। इसके बाद हमने उनके मोटे तले के नीचे सफेद और काले कपड़े के दो टुकड़े रक्खे कुछ क्षण बाद काले वस्त्रखण्ड में धुंआ उठना शुरू हुआ और इसके पूरे १ मिनट बाद दूसरे में। हमारे इन सब उदाहरणों का तात्पर्य यही है कि काली वस्तु में सूर्य किरणों को विशेष रूप से अपने में आत्मसात् करने की शक्ति होती है। वैसे भी सूर्य की प्रखर किरणों से काले हुए व्यक्ति दक्षिण देश में खूब देखे जा सकते हैं। अस्तु

इसके अतिरिक्त प्रकृति में दूसरा नियम यह पाया जाता है, कि प्रत्येक क्षुद्रांश (जुज) सर्वदा अपने महान् अंशी (कुल) से मिल कर ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। प्रकृति की सभी वस्तुएं इसी नियम के आधीन काम कर रही हैं। सभी नदियें अतुल जलराशि समुद्र में मिल कर ही शान्त होती हैं। कोई भी पार्थिव वस्तु ऊपर फेंकने पर भी पार्थिवपन के कारण ही पृथ्वी की ओर आकर्षित होती हैं। दीपक की लौ—'जो कि तेजस् शक्ति भण्डार सूर्य का ही एक सूक्ष्मांश है—सर्वदा इसीलिये ऊर्ध्वगामी देखी जाती है। 'अण्ड पिण्डवाद' के अनुसार इसी नियम को अपने शरीर पर भी परखिये। हमारी बुद्धि को शास्त्रों ने सूर्य का अंश माना है। इसीलिये हम प्रतिदिन 'भू र्भुवस्व' आदि गायत्री मन्त्र से



शिखा के नीचे बुद्धिचक्र है और उस के ही समीप ब्रह्मरन्ध्र है।

[पृष्ठ—४५१]

अपनी बुद्धि एवं मेधा को जागृत करने के लिये भगवान् सूर्य की उपासना करते हैं और उनसे बुद्धि का दान मांगते हैं। पाश्चात्य विज्ञानवादियों ने इसे 'Sun is the first cause of life' कहकर जीवन शक्ति का मूलकारण स्वीकार किया है। इस सूर्यांश भूता बुद्धि तथा प्राणशक्ति को जागृत करने के लिए ऋषियों ने बुद्धि-केन्द्र मस्तिष्क पर गोखुर के बराबर बालों का एक गुच्छा रखने का विधान किया है। बालों का यह गुच्छा जिसे हम शिखा कहते हैं काले रंग का होने के कारण सूर्य से मेधा प्रकाशिनि शक्ति का विशेष आकर्षण करके ऊर्ध्वाभिमुखी बुद्धि को और भी उन्नत करने में सहायक होता है इसमें किसी को सन्देह का कोई स्थान ही नहीं।

(२) सामने के चित्र को ध्यान पूर्वक देखिये, इसे देखने से आपको विदित होगा कि ठीक शिखा स्थान के नीचे मज्जा तन्तुओं द्वारा निर्मित बुद्धि चक्र और उसके ही समीप ब्रह्मरन्ध्र है, इन दोनों के ऊपर सहस्रदल कमल में अमृत रूपी ब्रह्म का अधिष्ठान है। शास्त्रविधि से जब मनुष्य उस परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करता है या वेदादि स्वाध्याय करता है तब इनके अनुष्ठान से समुत्पन्न अमृत तत्व वायुवेग से इस सहस्र दल कर्णिका में प्रविष्ट हो जाता है। यह अमृततत्त्व यहीं नहीं रुकता किन्तु अपने केन्द्र स्वरूप भगवान सूर्य में लीन होने के लिये शिर से भी बाहर निकलने का प्रयत्न करता है। शिखा ग्रन्थि से टकराकर वह विद्युत प्रवाह स्वरूप अमृत वापिस लौट कर सहस्रदल कर्णिका में ही रह जाता है। कदाचित् शिखा खुली हो या न हो तो वह अमृत उस द्वार से निकलकर अल्पवेग वाला होने के कारण सूर्य से तो मिल नहीं पाता किन्तु अन्तरिक्ष में ही विलीन हो जाता है। इसलिये मन्वादि

धर्म शास्त्रकारों ने स्नान संध्या जप होम स्वाध्याय दान आदि कर्मों के समय शिखा मे ग्रन्थी लगाकर ही इन कार्यों के करने का विधान किया है, यथा—

स्नाने दाने जपे होमे, संध्यायां देवतार्चने ।
शिखा ग्रन्थि सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत् ॥

(मनु संहिता)

इसी अमृत तत्त्व को कुछ विचारकों ने 'ओरा' शक्ति के नाम से स्मरण किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इसी शक्ति को मिस्टीरियन फोर्स' (Mystirion force) के नाम से स्मरण करते हैं।

सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल मे फैली हुई एक दूसरी शक्ति और है जिसे हम सतत चिन्तन या ध्यान शक्ति द्वारा अपने शरीर में प्रविष्ट कर सबल तथा मेधावी बन सकते है, इसे ओज. शक्ति (Vrillic Power) नाम से स्मरण किया जाता है। दुनिया के सभी सन्त महात्माओं और आध्यात्मिक पुरुषों मे निरन्तर ध्यानावस्था में रहने से इसी अदृश्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाया करता है जिसके बल पर वे सहस्रों मनुष्यों के मन पर अपना अद्भुत प्रभाव डालने में समर्थ हो जाते है। शिखा बाधकर पूर्वोक्त कार्यों का अनुष्ठान करते हुए हम ऐसी दशा मे आजाते है कि हमारे शरीर मे विद्यमान शक्ति—जो रोमों द्वारा बाहर निकलते हुए क्रमशः क्षीण होती जाती है—क्षीण न हो और हम प्रकृति मण्डल से अन्य शक्ति का आकर्षण सुगमता पूर्वक कर सकें। बहुधा आपने ऐसे अनेक पात्र देखे होंगे कि जिनको उल्टा कर देने पर भी उनमे पड़ा हुआ जलादि तरल पदार्थ बाहर नहीं आता किन्तु उसमे और जल खप सकता है। स्कूलों में बालकों के पास ऐसी चोर दवातें प्राय देखने

को मिल सकती है। शिखाबद्ध मानव की भी यही दशा समझना चाहिये।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक एवं वेद भाष्यकार मैक्समूलर ने शिखा द्वारा प्राप्त होने वाली इसी शक्ति पर विचार करते हुए उपसंहार में लिखा है—

The concentrations of mind upwords sends a rush of this power through the top of the head.

अर्थात्—शिखा के द्वारा मानव मस्तिष्क अतीव सुगमता से इस (Vrillic power) शक्ति के प्रवाह को धारण कर सकता है।

इसी तथ्य की पुष्टि में स्वामी दयानन्द जी महाराज ने अपने 'धर्म विज्ञान' में पाश्चात्य जगत् के सुप्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता विक्टर ई० क्रोमर (Victor E. Cromir) लिखित पुस्तक से निम्न उद्धरण दिया है—

In meditation one receives the vrillic influx. While concentrating one pours it out. If one however, concentrates one's mind upon God there is an outgoing and an inflowing process set up. The concentration of the mind upwords sends a rush of this force through the top of the head and the respone comes as a fine rain of soft magnetism. These two forces cause a beautiful display of colour to the higher vision, The out pouring from above is beautiful beyoud description.

(Vril Kalpaka)

अर्थात्—ध्यान के समय ओज शक्ति प्रकट होती है। किसी वस्तु पर चिन्तन एकाग्र करने से ओज. शक्ति उसकी ओर दौड़ती है, यदि परमात्मा पर चित्त एकाग्र किया जाय तो मस्तक के ऊपर शिखा के रास्ते ओज' शक्ति प्रकट होती है। परमात्मा की शक्ति उसी पथ से अपने भीतर आया करती है। सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न योगी इन दोनों शक्तियों के सुन्दर रंग को भी देख लेते है। जो शक्ति परमात्मा से अपने भीतर आती है उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

(३) शारीरिक विज्ञान के अनुसार जिस स्थान पर शिखा रखी जाती है उसे पिनल ग्वेंड (Pinal jwend) कहा जाता है। इस के नीचे एक विशेष प्रकार की ग्रन्थी होती है जो पिचुइट्री (Pitu-etry) कहलाती है। इस ग्रन्थी में एक विशेष प्रकार का रस बनता है जो स्नायुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर शरीर को बढ़ाता और बलशाली बनाता है। शिखा द्वारा इन ग्रन्थियों को अपना कार्य करने मे बड़ी सहायता प्राप्त होती है एव वे चिरकाल तक अपना कार्य करती रहती हैं। इससे मनुष्य न केवल दीर्घ काल तक स्वस्थ रह कर जीवन यापन करता है किन्तु उसकी ज्ञान शक्ति भी अक्षुण्ण बनी रहती है।

विगत वर्षों मे इस सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जो खोज की है और वे जिस परिणाम पर पहुचे हैं उसका कुछ आभास उनके लेखो से अनूदित निम्न उद्धरणों से अच्छी तरह मिल सकता है।

सर चार्ल्स बार न्यूकस्—

'शिखा का जिस्म के उस जरूरी अग से बहुत सम्बन्ध है

क्यों ?—



सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन



महाकवि शेक्सपीयर



ऋग्वेदभाष्यकार डा० ओटोलिंग जर्मनी

बालों का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है ! पृष्ठ [४५२]

क्यों ? —



गोस्वामी तुलसीदास



विश्वकवि टैगौर



योगिराज अरविन्द

बालों का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है ?

पृष्ठ [२५५]

जिसमें ज्ञान वृद्धि और तमाम अंगों का सचालन होता है। जब से मैंने इस विज्ञान की खोज की है तब से मै खुद चोटी रखता हूं।

डा० हाख्मन—

"मैंने कई वर्ष भारत मे रहकर भारतीय सस्कृति का अध्ययन किया है। यहां के निवासी बहुत काल से शिर पर चोटी रखते हैं जिसका जिक्र वेदों मे भी पाया जाता है। दक्षिण में तो आधे सिर पर 'गोखुर' के समान चोटी रखते हैं। उनकी बुद्धि विलक्षणता देख कर मै अत्यन्त प्रभावित हुआ हू। अवश्य ही बौद्धिक विकाश में चोटी बड़ी भारी सहायता देती है। शिर पर चोटी या बाल रखने बडे लाभदायक हैं। मेरा तो हिन्दू धर्म में अगाध विश्वास है। मै खुद भी चोटी रखने का कायल होगया हू।

(गार्ड मैगजीन न० २५८, पृष्ठ १२२, सन १८६६,)

उपर्युक्त वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्ण परिचित होने के कारण ही न केवल भारतीय, किन्तु पाश्चात्य जगत् के भी प्राय सभी वैज्ञानिक, विचारक, सभ्रान्त लेखक एवं कवि शिर पर शिखा ही नहीं रखते थे किन्तु उनके समस्त शिर पर आपको जटा सदृश लम्बे बाल ही दिखाई देंगे। स्मृतिकारों के शब्दों में हम इन्हें 'पंच शिखी' कहदें तो कोई अत्युक्ति न होगी। पाठकों के अवलोकनार्थ हम कतिपय पौरस्त्य एव पाश्चात्य विद्वानों के चित्र दे रहे हैं जिन्हें देखकर पाठकों को यह जानने में देर न लगेगी कि बालों का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है।

(४) कुछ भारतीय विचारकों के मतानुसार सम्पूर्ण मानव शरीर में व्याप्त एक मुख्य नाड़ी है जिसे सुषुम्ना कहते हैं। प्रस्तुत चित्र में लाल रग वाली नाड़ी को ध्यान से देखिये, यही सम्पूर्ण

शरीर में व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी है जो मस्तिष्क में जाकर समाप्त होती है। इसके उत्कृष्ट रन्ध्र भाग शिखा स्थल के ठीक नीचे खुलते है जैसा कि चित्र मे भली भांति देखा जा सकता है। यही स्थान ब्रह्म रन्ध्र है और बुद्धि तत्व का केन्द्र है। कहा जाता है कि साधारण दशा मे जब कि हमारे शरीर के अन्य रोम पसीने आदि द्वारा शारीरिक ऊष्मा को बाहर फेंकते है सुषुम्ना केन्द्र के बालों द्वारा तेजो निःसरण होता है। उसी को रोकने के लिए शिखा में ग्रन्थी का विधान है जिससे वह तेज शरीर में ही रुक कर मन शरीर व मस्तिष्क को अधिक उन्नत कर सके। इस विचार का अनुमोदन भी कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों ने किया है, यथा —

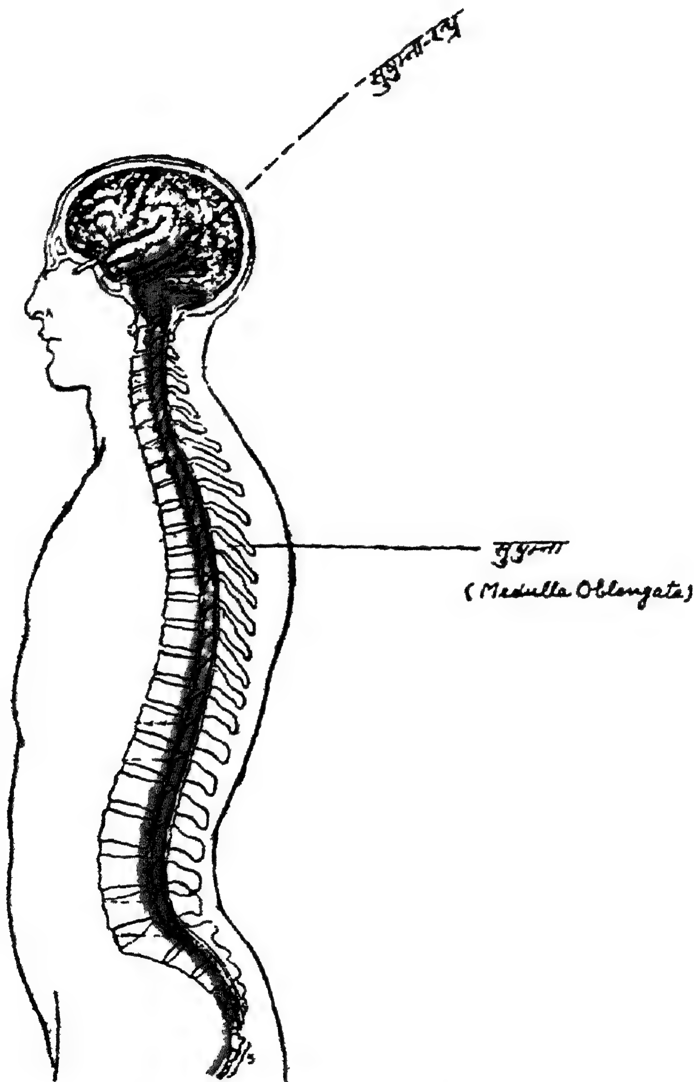
सुप्रसिद्ध डा० आई० ई० क्लार्क एम० ए० डी० ने लिखा है—

'जब मैं चीन भ्रमण करने गया, वहां मैंने देखा कि चीनी लोग भी हिन्दुस्तानियों की तरह आधे शिर से ज्यादा बाल रखते है। मैंने जब से इस विज्ञान की खोज की है तब से मुझे विश्वास हो गया है कि हिन्दुओं का हर एक नियम विज्ञान से भरा पड़ा है। चोटी रखना हिन्दुओं का धर्म ही नहीं सुषुम्ना के केन्द्रों की रक्षा के लिए ऋषि मुनियों की खोज का विलक्षण चमत्कार है।'

इसी प्रकार मि० अर्ल थामन् साहब ने अलार्म मैगजीन के १६२? के वार्षिकांक में पृष्ठ १६६४ पर लिखा है—

''सुषुम्ना की रक्षा हिन्दू लोग चोटी रखकर करते हैं जब कि अन्य देशों में लोग शिर पर लम्बे बाल रखकर या हैट लगाकर इसकी रक्षा का प्रयत्न करते है। इन सब में चोटी रखना सबसे मुफीद है। किसी भी प्रकार हो सुषुम्ना की रक्षा करना ही सबसे जरूरी है।'

क्यों ?—



लाल रंग वाली नाड़ी सुषुम्ना है जो मस्तिष्क के निम्न स्थान के नीचे जाकर समाप्त होती है। [पृष्ठ—४५६]

(५) मानव शरीर को प्रकृति ने यद्यपि इतना सबल बनाया है कि वह बड़े से बड़े अघात चोट आदि को सहन करके भी जीवित रह जाता है किन्तु फिर भी शरीर में कुछ ऐसे स्थान हैं, जिन पर आघात होने से मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो सकती है। ऐसे स्थानों को मर्म कहा जाता है। आयुर्वेद में कई प्रकार के मर्म स्थानों का वर्णन किया गया है। शिखा के अधोभाग में भी एक मर्म स्थान होता है जिसके लिये सुश्रुतकार ने लिखा है—

मस्तकाऽभ्यन्तरोपरिष्ठात् शिरासंधिसन्निपातो रोमा-र्वतोऽधिपतिस्तत्रापि सद्योमरणम्। (सुश्रुत ६।७१)

अर्थात्--मस्तक के भीतर ऊपर को जहां पर बालों का आवर्त (भंवर) होता है वहां सम्पूर्ण नाड़ियों और संधियों का सन्निपात है (मेल) है उसे अधिपति मर्म स्थान कहा जाता है। यहां पर चोट लगने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

शिखा इस अत्यन्त कोमल तथा सद्योमारक मर्मस्थान के लिये प्रकृति प्रदत्त कवच है जो कि न केवल आकस्मिक आघातों से इस मर्म को बचाती है किन्तु उग्र शीत आतपादि से भी इसकी रक्षा करती है। विदेशों में इसी मर्मस्थान को उग्र शीतातपादि से बचने के लिये टोप (Hat) धारण किया जाता है जिसकी कि नकल आजकल भारत के नव सभ्य समाज में खूब हो रही है। किन्तु प्रकृति प्रदत्त चन्द तोले बजन वाले इस शिखा रूपी त्राण के मुका-बले लगभग आधासेर बजन का व्यर्थ भार सिर पर उठाये फिरना कितनी बुद्धिमत्ता है--इसे स्वयं समझा जा सकता है।

आप प्रश्न करेंगे कि हैट के मुकाबले में शिखा का क्या महत्व हो सकता है ? किन्तु वस्तु विज्ञान की दृष्टि से देखें तो शिखा में

हैट से कुछ कम गुण न मिलेंगे। इस बात को आप चन्द उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं। ऊन को प्रायः सभी व्यक्ति जानते और पहचानते हैं। ऊन क्या है—भेड़ के शरीर के बाल ही तो—ऐसे ही बाल जैसे हमारे या आपके सिर पर होते हैं। इसलिये इन दोनों में गुणों की समता होना कोई आश्चर्य नहीं है। सांसारिक व्यवहार में ऊन का खूब प्रयोग होता है और उसकी विशेषताओं से सारा संसार परिचित है। अतः इन्हें जान लेने पर हम सहज ही शिखा की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

(क) ऊन की प्रथम विशेषता है बाह्य शीत आदि से रक्षा. उदाहरणतया—पशुओं को लीजिये, प्रकृति ने पशुओं के शरीर पर इसलिये घने बाल दिये हैं कि वे सर्दी से अपनी रक्षा कर सकें। बर्फीले पहाड़ों पर होने वाले रीछ आदि प्राणियों की रक्षा उनके बालों के ही कारण होती है अन्यथा उनकी मृत्यु निश्चित है।

(ख) सर्दी की तरह यह बाह्य गर्मी से भी शरीर को बचाता है--आपने देखा होगा बर्फ को गर्मी से बचाने के लिये ऊन के कम्बल या बोरी में लपेट दिया जाता है जिससे वह पिघल न जाय, ऊनी वस्त्र में लपटने से बाहर की गर्मी उस पर असर नहीं करती और वह वैसा ही बना रहता है।

(ग) ऊन बिजली के प्रवाह को बाहर से अन्दर और अन्दर से बाहर नहीं आने देता। इसीलिये यदि किसी आदमी को बिजली पकड़ ले तो उसे ऊनी कम्बल डालकर छुड़ाया जा सकता है क्योंकि उसको स्पर्श करके विद्युत् प्रवाह बाहर ही रुक जाता है। बिजली के तार तथा अन्य यन्त्रों में इसीलिये ऊनी तथा रेशमी धागों का प्रयोग किया जाता है।

जब शरीर से वियुक्त हुए बालों में (ऊन) में भी यह गुण सदा विद्यमान रहते हैं तब शरीरस्थ बालों का इन गुणों से युक्त होना कोई आश्चर्यप्रद नहीं। फलतः यह कहना अत्युक्ति नहीं समझनी चाहिये कि शिखा द्वारा अधिपति मर्म की रक्षा सम्भव है।

(६) शिखा आर्य जाति का एक पवित्र सामाजिक चिन्ह है, जिसने सैकड़ों सम्प्रदाय जाति उपजाति आदि भेदों में विभक्त हुई भी इस जाति की एकता को अक्षुण्ण रखने में प्रमुख भाग लिया है। जिसने भूमण्डल के लाखों वर्ग मील में फैले हुए विशाल हिन्दू समाज को सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता के सूत्र में पिरोकर एक बनाकर रखा है। यों तो सभा सभा सोसाइटियों ने अपने सदस्यों के लिये विभिन्न प्रकार के चिह्न निश्चित किये हुए हैं जिनके द्वारा तत्तत् समाज या पार्टी के मेम्बरों को सर्वत्र पहचाना जा सकता है, और उनमें परस्पर प्रेम तथा एकत्व की भावना का संचार होता है। जैसे मुसलमानों की तुर्की टोपी, ईसाइयों का क्रास, सिक्खों के केश तथा कृपाण, आर्य समाजियों की 'ओम्' वाली टोपियें, राजनैतिक आधार पर संगठित हुए समाजों में जसे—कांग्रेसियों की गांधी टोपी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघवालों की काली टोपी और नेकर खाकसारों की हरी वर्दी, आदि चिह्न उक्त पार्टियों या समाज के सदस्यों के परिचायक चिन्ह हैं।

किन्तु जरा ध्यान से विचार करें—यह सब चिन्ह कृत्रिम होने के कारण जहां व्यय साध्य हैं वहां साथ ही साथ इनके खोये जाने का भी भय रहता है। एक समय ऐसा भी हो सकता है जब पुरुष अनिच्छा से ही कहीं पहुँच जाए और इन चिन्हों को साथ ले जाना भूल जाय। ऐसी दशा में जब तक वह उस समाज में अपनी स्व-

म्यता का कोई निश्चित प्रमाण न दे सके, तब तक आदर का पात्र नहीं हो सकता। किन्तु शिखा आर्य जाति के लिये एक ऐसा सम्य सरल प्राकृतिक चिन्ह है जिसकी न सम्भाल की चिन्ता न खोये जाने का डर। जो सर्वदा शरीर के साथ रहकर जहां जीवन काल में आर्यत्व की परिचायक बन कर मनुष्य को सामाजिक स्नेह और सहानुभूति की प्राप्ति कराती रहती है, वहां यदि किसी कारण से अज्ञात स्थान या अज्ञातावस्था में मृत्यु भी हो जाए तो 'शव' की पहचान कराकर उसे दुर्गत होने से बचाकर अग्नि के समर्पण करवा सकती है।

१९४७ के भारतीय गृह विप्लव ने हिन्दु जाति की आंखों पर पड़े हुए परदे को हटाकर स्पष्ट दिखलाया कि शिखा जैसे सामाजिक चिन्ह का क्या महत्व है। इससे पहले शिक्षा दीक्षित हिन्दु समुदाय ने इसे व्यर्थ समझकर नाई की भेट चढ़ा दिया था। चोटी के चन्द बालों का वह गौरवमय उज्वल इतिहास, केवल चोटी के प्रश्न पर अपने अमूल्य जीवन की आहुति देने वाले हकीकत जोरावरसिंह और फतेहसिंह के वंशधरों की आंखों से ओझल होता जा रहा था। सदियों तक चलती हुई यवनों की दुधारी तलवारों के बीच भी जो बाल अक्षुण्ण रहे, उन्हें शिक्षित नामधारी हिन्दू स्वयं कटवाकर यवनों की नैतिक विजय की घोषणा करने लगे थे।

ऐसे समय में भारत में अचानक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ और गोरे शासक सदा के लिये यहां से विदा हो गए, किन्तु उन्होंने देश में साम्प्रदायिकता की जो चिनगारी वर्षों से सुलगा रक्खी थी वह ज्वालामुखी बन कर फट पड़ी! भारत और पाकिस्तान--हिन्दु एवं मुस्लिम आदर्शों के दो विभिन्न राष्ट्र, काफिरों और मोमिनों की दो बस्तियां॥ मिस्टर जिन्ना के चिर

आकांक्षित स्वप्न का सत्य और सुनहला प्रतिरूप पाकिस्तान ! फिर वहां हिन्दुओं के लिये क्या गुंजाइस, फलतः एक ऐसा भीषण गृह विप्लव हुआ जिसे आज का मानव कभी नहीं भूल सकता। ऐसे समय में हमने देखा चोटी और जनेऊ यह दो ही ऐसे चिन्ह थे जिनके द्वारा शत्रु मित्र की पहिचान होती थी। उस समय पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल की उस रक्त रंजित भूमि में इन दोनों चिन्हों के बिना किसी व्यक्ति का बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं था। प्रतिहिंसा पूर्ण हिन्दु जब चुन २ कर अपने शत्रुओं से प्रतिशोध ले रहे थे, तब चोटी और जनेऊ ही थे जो संदिग्ध व्यक्तियों की जान बचाने में समर्थ होते थे।

हमने देखा दफ्तरों के वे फैशनेबल बाबू और कालेजिएट छात्र—जिन्होंने चोटी को ओल्ड फैशन की निशानी कह कर अल विदा कह दी थी--अपने अनादृत उपेक्षित सामाजिक चिन्ह को उस समय पुनः अपना रहे थे। इस प्रकार अन्य किसी दृष्टिकोण से न सही, एक सामाजिक चिन्ह के नाते ही सही, शिखा रखना प्रत्येक हिन्दू का परम कर्तव्य है।

शिखा और संसार की विभिन्न जातियें

शिखा रखने की प्रथा का यद्यपि आज ह्रास होगया है और हिन्दुजाति के अतिरिक्त अन्य जाति के पुरुष शिखा विज्ञान की अनभिज्ञता के कारण शिखाहीन हो गये हैं किन्तु एक समय था जब कि सभी देशों मे और सभी जातियों में शिखा रखने की प्रथा विद्यमान थी, ईसाइयों के धर्मशास्त्र 'बाइबिल' में सामसन् एगोनस्टिस् (Samson Agonostis) के सम्बन्ध में एक कथा आती है कि वह एक बड़ा प्रतापी राजा था। उसके शत्रुओं ने उसे पराजित

करने के लिये सभी प्रकार के उपाय किये किन्तु वे सफल न हो सके। अन्त में उन्हें मालूम हुआ कि उसने अपने शिर पर शिखा धारण की हुई है जिसके कारण वह अजेय है (At last they discovered that all his power lay on account of the tuft on his head) उन लोगों ने चालाकी से प्रसुप्त दशा में उसकी शिखा कटवादी जिस से वह पराजित हो गया। इस कथा से पता चलता है कि ईसाइयों में भी एक समय शिखा को बुद्धि बल का कारण समझा जाता रहा है।

पीछे दिये गये डा० आर्द० ई० क्लार्क के उद्धरण से चीन में शिखा धारण करने की रीति का भली प्रकार पता चल जाता है।

हिब्रू जाति के मान्य ग्रन्थ (तलमद्) में इस प्रकार के कई वर्णन हैं जिनमें विदित होता है कि उस जाति में भी शिखा रखने की पद्धति प्रचलित थी।

मुसलमानों ने शिर से चोटी को उड़ाया, किन्तु वे उससे पीछा न छुड़ा सके, वह उनकी टोपी फाड़कर बाहर निकल आई है। उनकी टोपी को देखिये काले २ रेशमी धागों का चोटी सदृश गुच्छा आपको उनकी टोपी के ऊपर लटकता हुआ अवश्य दिखाई देगा। यह शिखा की नैतिक विजय नहीं तो क्या है ?

इस प्रकार धार्मिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक किसी भी दृष्टि से विचार करने पर 'शिखा' का मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान ठहरता है। आर्य जाति की तो लाखों वर्षों की परम्पराओं का इतिहास इसके साथ जुड़ा हुआ है। वीर शिवा गुरु गोविन्दसिंह हकीकत आदि की उज्ज्वल वीरता का इतिहास शिखा-सूत्र का इतिहास है। वीर बालक जोरावरसिंह और फतेह-सिंह ने इसी की रक्षा के लिये दीवारों में चुने जाकर हंसते २ मृत्यु

का आलिंगन किया किन्तु शिखा-सूत्र को नहीं छोड़ा। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण चिन्ह की ओर हमारी आज की उपेक्षा शोचनीय है, जिसका शीघ्र ही परिहार होना चाहिये और प्रत्येक हिन्दू को चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो—इससे भी अधिक हम तो कहेंगे प्रत्येक मनुष्य को--बल आयु तेज एवं बुद्धि की वृद्धि के लिये शिखा अवश्य धारण करनी चाहिये।

उपनयन संस्कार विचार

वैदिक स्वरूप

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रिस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभियन्ति देवाः॥

(अथर्व० ११।५।७)

अर्थ—आचार्य बालक का उपनयन संस्कार करके उसे ब्रह्मचर्य व्रत का आदेश देकर अपने पास रखता है। वह ब्रह्मचारी तीन रात्रि गुरु के पास रहता है और फिर जब वह द्विजत्व रूप दूसरा जन्म ग्रहण कर उत्पन्न होता है, तब उसे देखने के लिये देवता भी एकत्रित होते हैं।

आठवां संस्कार उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार है जिसकी महत्ता पूर्वोक्त सभी संस्कारों से अधिक है और आज के इस गये गुजरे जमाने में जब कि लोग प्रायः संस्कारों को भूल बैठे हैं, यह संस्कार आज भी किसी न किसी रूप में सर्वत्र देखने को मिल सकता है। यही क्यों प्रगतिवाद के इस नये युग में इस संस्कार का जितना प्रचार एवं प्रसार हुआ है, उसको देखकर प्रत्येक वेदाभिमानी

का हृदय रोने लग जाता है। इस संस्कार का जितना प्रचार बनाम छीछालेदर वर्तमान समय में हुई उसकी सम्भावना शायद पूज्यपाद महर्षियों ने कभी की भी न होगी।

धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के लिए इसका विधान किया था, दुःख है कि वे तो इसकी महिमा को भूलते जा रहे हैं किन्तु द्विजेतर दूसरी जातियों को जनेऊ क्या मिला एक जादू का डोरा मिल गया जिसे पहन कर वे एक ही क्षण में ब्राह्मण और न जाने उनसे भी ऊपर क्या से क्या बन जाते हैं। न किसी तप की आवश्यकता न संयम की। फूंक मारते ही सृष्टि परिवर्तन। इस प्रकार के प्रचार से कितना अनर्थ हो रहा है। इसका अनुमान सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ के निम्न उद्धरण से भलीभांति लगाया जा सकता है :—

"सहस्रों अन्त्यजों को पकड़ पकड़ कर उनके गले में यज्ञोपवीत डाले जा रहे हैं पर करोड़ों ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के बालक यज्ञोपवीत के बिना ही शूद्र हुए जाते हैं, उनको यज्ञोपवीत देने की किसी को चिन्ता ही नहीं। इनकी शिक्षा दीक्षा की किसी को परवाह नहीं है। अधिकारी अनधिकारी का ध्यान नहीं, पात्र अपात्र का विचार नहीं। न जाने क्या हो रहा है और न जाने क्या होकर रहेगा। और रोग यह हो गया है कि यज्ञोपवीत के गले में पड़ते ही ये लोग अपनी जाति आदि को पूछने पर भी ठीक ठीक नहीं बताते। इस प्रकार सब संकट हो रहा है। उद्धार चाहने वाले उपाय सोचते हैं पर अपाय नहीं सोचते।"

(आर्य समाज इतिहास प्रथम भाग)

यज्ञोपवीत के अधिकारी अनधिकारी प्रश्न पर तो हम आगे विचार करेंगे, प्रकृत में हमारे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि

यज्ञोपवीत संस्कार बड़ा महत्व पूर्ण एवं आवश्यक संस्कार है और इसीलिए लोग इसकी ओर इतने अन्धाधुन्ध आकर्षित हो रहे हैं।

इस संस्कार को महर्षियों ने 'द्विजत्व' साधक के स्थान पर बैठाकर अन्य संस्कारों की अपेक्षा इसका विशेष गौरव प्रदर्शित किया है इसके बिना ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय क्षत्रिय नहीं और वैश्य वैश्य नहीं। द्विज माता पिता के शरीर से जन्म ग्रहण करने के बाद भी द्विज सम्बन्धी शास्त्रीय अधिकार प्राप्त करने के लिए इस संस्कार की अपेक्षा रहती है। जब तक यह संस्कार न हो जाय तब तक—

'न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जीबन्धनात्।

(मनु २-१७१)

अर्थात्—यज्ञोपवीत संस्कार हुए बिना द्विज किसी कर्म का अधिकारी नहीं'—मनु के इस वचन के अनुसार न उसे सन्ध्या वन्दनादि किसी कर्म में अधिकार है और नांही उसे द्विज श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। एक प्रकार से यह आचार्य एवं वेद माता गायत्री के सहयोग से होनेवाला दूसरा जन्म है। और क्योंकि इस जन्म द्वारा, उपनीत बालक को विनश्वर स्थूल शरीर की अपेक्षा अविनाशी ज्ञानमय शरीर प्राप्त होता है इसलिए इस द्वितीय जन्म का महत्व पहिले जन्म की अपेक्षा अधिक है ही। यथा—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पितात्वाचार्य उच्यते॥

(मनु २-१७०)

अर्थात्—मौञ्जी बन्धन संस्कार (यज्ञोपवीत) ब्रह्मत्वाधायक जन्म है जिसमें गायत्री माता और आचार्य पितृस्थानीय होता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर दाता माता पिता की अपेक्षा वेद रूपी अलौकिक शरीर देकर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर करने वाले सावित्री एवं आचार्य रूपी माता पिता का गौरव स्पष्ट ही है। 'गरीयान् ब्रह्मदः पिता' कह कर मनुजी महाराजने आचार्य का जो अभिनन्दन किया है उसे युक्तियुक्त ही कहा जा सकता है।

किन्तु दुःख है ऐसे महत्वपूर्ण संस्कार का जो दुरुपयोग और उपेक्षा आज हो रही है उसे लिखते हुए लेखनी सहम जाती है, हृदय रोने लगता है और विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं सभ्यतम आर्य जाति का नैतिक अधःपतन शत-सहस्रमुखी बन कर आंखों के सामने छाजाता है। हिन्दू जाति ने शिखा और सूत्र के सहारे ही अपने को जीवित रक्खा है। उसका सम्पूर्ण विगत इतिहास शिखा और सूत्र का ही इतिहास है सभ्यताओं के उस संघर्ष काल में आर्य जाति, इन्हीं पावन प्रतीकों के साथ आगे बढ़ी। विधर्मियों ने सर्वदा अपने आक्रमणों का लक्ष्य शिखा-सूत्र को ही बनाया—यह बात इतिहास के परिचित पाठकों से छिपी हुई नहीं है। बौद्ध नरेशों के राज्य काल में यज्ञोपवीत सर्वदा उनकी क्रूर दृष्टि का लक्ष्य रहा और मुगल बादशाहों ने तो शिखा-सूत्र के विरुद्ध जो जिहाद बोला वह इतिहास की चिरस्मरणीय दुःखद घटना रहेगी। १। मन यज्ञोपवीत प्रति दिन उतरवाकर ही भोजन करने वाले मुगल शासक जीवन भर यज्ञोपवीत के विरुद्ध लड़ते रहे किन्तु आर्य-जाति ने उसे न छोड़ा। चमकती दुधारों के बीच भी सूत के ये चन्द धागे जिस दृढ़ता से आर्यजाति को बचाते रहे वह कुछ कम गौरवास्पद नहीं है, किन्तु आज? सृष्टि के प्रारम्भ से आर्य शरीर की शोभा बढ़ाने वाला वह यज्ञोपवीत आज कहाँ है? हमारी ऐतिहासिक विजयों का प्रतीक

यह यज्ञोपवीत आज हमसे विदा हो गया। हमने स्वयं उसे तुच्छ और व्यर्थ समझ कर निकाल फेंका। आज जब कि अन्य जातियां अपने सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय चिन्हों को खोज खोजकर उन्हें पुनः अपना रही हैं तब हम ही ऐसे बुद्धू हैं जो लाखों वर्ष पुराने अपने इस सस्कार को और इसके प्रतीक यज्ञोपवीत को उतार फेंकने पर तुले हुए हैं। जो लोग यज्ञोपवीत धारण भी करते हैं उनमें आज ऐसे कितने हैं जो इसे स्वयं तैय्यार करते हैं। रोजाना चर्खा चला कर अपने काते हुऐ सूत के ही वस्त्र पहिरने का व्रत लेने वाले कथित देश सेवक हिन्दू भी दो निचली धागे इस यज्ञोपवीत के लिये व्यय नहीं कर सकते। आज अन्य बाजारू सौदों की तरह जनेऊ भी आपको बाजार में बिकते हुए मिल सकते हैं। अधिकांश सज्जन शास्त्र विश्वासी होते हुए भी प्रमादवश इन्हें ही पहिरने पर बाध्य होते हैं। इन्हें हम तीन या छः तार के धागों का समूह मात्र ही कह सकते हैं जनेऊ नहीं। न इनके निर्माण में विधि का विचार है न पवित्रता का खयाल। मन्त्रों से प्रतिष्ठा की तो चर्चा ही क्या ?

यज्ञोपवीत धारण करने वालों में आधो से अधिक संख्या उन लोगों की है जो इसे किसी खास लौकिक मतलब से ही पहिनते हैं। उन्हें न उसके धारण से उत्पन्न कर्तव्य भार का ध्यान है न उसके नियमोपनियमों का। उनके लिये तो यज्ञोपवीत हरवक्त गले में पड़ा रहने वाला एक ऐसा सूत का डोरा है जो शास्त्रीय आज्ञा पालन के साथ २ उनको ट्रंक, सन्दूकों की चावियों को सुविधापूर्वक सुरक्षित रखने के काम आता है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

यज्ञोपवीत देख उनका धन्य भाग्य सराहिये ।
पर चावियों के बांधने को डोर भी तो चाहिये ॥

यह उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्तिका अच्छा खासा साधन है। ऐसे ही लोगों पर व्यंग्य कसते हुए कवि शिरोमणि शूद्रक ने अपने नाटक मे शर्विलक नामक चोर के मुख से कहलाया है—

"यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुकरणद्रव्यम् विशेषतो ऽस्मद्विधस्य चोरस्य कुत –

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम् ।
एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान् ॥
उद्घाटनं भवति यन्त्रदृढे कपाटे ।
दंष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च ॥

(मृच्छ अं ३, १६)

अर्थात्-जनेऊ ब्राह्मण के बड़े काम की चीज है और खास कर मुझ जैसे चोर के लिये, क्योंकि यह सेंध लगाने के समय दीवार नापने के लिये फीते का काम देता है। सोती हुई स्त्रियों और बच्चों के कसे हुए आभूषण इसकी सहायता से ढीले करके निकाले जासकते हैं। बद तालों को खोलने में तो यह खूब ही काम देता है (क्यों कि अनेक प्रकार की चावियों को सुरक्षित रखता है) और यदि कहीं कोई कीड़ा सांप विच्छु आदि काट जाय तो इसको लपेट कर विष को फैलने से रोका जा सकता है।

क्या यज्ञोपवीत धारण काम्य है ?

यज्ञोपवीत के विषय में आज अनेक भ्रान्तियां भी जन

साधारण में फैली हुई हैं। भगवान मनु के आदेशानुसार जबकि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बालकों का उपनयन ८,११ १२ वर्ष की अवस्था में ही होना चाहिये था तब वह आज बीस पच्चीस वर्ष की अवस्था तक भी अनुपवीत फिरते रहते हैं। कुछ लोगों में विवाह के समय ही यज्ञोपवीत करने का विधान है, कुछ महानुभाव रक्षा बन्धन या अनन्त के डोरे की भांति इसे किसी खास २ मौके पर पहिनने की वस्तु माने हुए हैं। कितनों को तो यह भी कहते सुना गया है कि हमारे यहां तो अमुक तीर्थ स्थान पर जाकर अपने पुरोहित जी से जनेऊ लेने का रिवाज है, उनकी दृष्टि में मानो यह भी तीर्थ यात्रा की एक निशानी ही है। आर्य समाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द ने तो इसे विद्या चिन्ह कहकर मिडल पास करने का सार्टिफिकेट ही करार दे दिया है। उनका मतलब है कि पढ़ेलिखे लोगों को ही इसे धारण करना चाहिये, वे चाहे अंग्रेजी मात्र ही पढ़े हों और संध्या का एक मन्त्र भी न जानते हों—फिर भी इसे धारण कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि कोई द्विज कम पढ़ा लिखा है मुश्किल से सन्ध्या जानता है तो स्वामी जी के कथनानुसार उस बेचारे विद्याविहीन को इस विद्याचिन्ह को धारण करने का कोई अधिकार नहीं—कितनी विचित्र बात है। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये यह विद्या-चिन्ह ही हो परन्तु स्वामी जी ने जो मनुस्मृति के अनुसार ही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बालकों का ८, ११, १२ वें वर्ष में उपनयन का विधान स्वीकार किया है-उस की सगति कैसे बैठ सकती है? बालक ने अभी पढना शुरु भी नहीं किया है उसे अभी गुरुकुल भेजने की तैय्यारी हो रही है और मजा यह है कि स्वामी जी बिना विद्या पढ़े ही उसके गले में विद्या का चिन्ह सर्टिफिकेट लटका देने का विधान कर रहे है, यह भी एक ही रही।

देखा जाता है कि सैकड़ों उपनीत ब्राह्मणादि तब भी निरे पाली पाण्डेय हैं और उन्हें द्विज ही कहा जाता है किन्तु बहुत से अनुपनीत शूद्रादि भी विद्वान हैं पर द्विज नहीं। इसलिये यज्ञोपवीत को विद्या चिन्ह मानना अज्ञान और कपोल कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है ?

इसी प्रकार जो लोग इसे केवल हिन्दुत्व का चिन्ह मानते हैं-वह भी भूल पर हैं। सभी अन्त्यज बिना यज्ञोपवीत के हिन्दु है ही, इस में किसी को क्या सन्देह हो सकता है ? कहा जाता है एक बार महात्मा गांधी गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर गये थे। गांधी जी के गले में यज्ञोपवीत न था। इससे वहां के उपाध्याय वर्ग ने महात्मा गांधी से इसका कारण पूछा। गाधी जी ने कहा पहिले मुझे इन चीजों के रखने के फायदे समझाइये। उन्होंने कहा-यह दोनों हिन्दुत्व के चिन्ह हैं। कहा जाता है इस पर महात्मा गांधी ने हसते हुए कहा—तब तो मुझे इन की कोई आवश्यकता नहीं है क्यों कि इन चिन्हों के बिना भी सारा भारत वर्ष मुझे हिन्दु जानता और मानता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन्हें केवल हिन्दुत्वज्ञापक चिन्ह मान बैठना भी उन महर्षियों के विज्ञान सम्मत सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष उपहास से कुछ कम नहीं हैं। इन्हीं सब पूर्वोक्त भ्रान्त धारणाओं का ही परिणाम है कि लोगों में यज्ञोपवीत के प्रति आस्था नहीं रही और उन्होंने इसकी उपेक्षा शुरु कर दी। आज हम देखते है पुलिस या सेना में कार्य करने वाला एक क्षत्रिय युवक वैशाख ज्येष्ठ की गर्मी में पसीने से तर और गर्मी से व्याकुल होते हुए भी अपनी वर्दी (Uniform) को तो लादे फिरता है किन्तु डेढ तोले का यज्ञोपवीत उसे बोझा मालूम देता है। यही दशा उन लोगों की है जो गले में चमड़े की पेटियें

डालकर फिरने में न तो भार अनुभव करते न शर्म, किन्तु यज्ञोपवीत उनकी शान में बट्टा लगाने वाला बन जाता है।

हिन्दू संस्कृति के इस पुनरुदय काल में हमें इन सब बातों पर गौर करना होगा। पहिले किसी भी धार्मिक विषय में प्रश्न करने पर लोग कहा करते थे कि हम भारतीय आज दास हैं, दासों का क्या धर्म? किन्तु भगवान के अनुग्रह से आज हम पुनः स्वतन्त्र हैं तो क्या लाखों वर्षों से चली आने वाली उस संस्कृति को—जिसने सभी प्रकार के सक्रमण काल में आर्य जाति को जीवित रक्खा—हमें न अपनाना चाहिये? स्वतन्त्रता के इस प्रभात में हमें अपनी इन सब विशृंखल प्रवृत्तियों को शृंखलाबद्ध करके वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करना चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि हम पूज्य महर्षियों द्वारा प्रचलित सिद्धान्तों की वैज्ञानिक एवं तथ्य व्याख्या जनता के सामने प्रस्तुत करें और उनके सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं का निराकरण हो।

यों तो यज्ञोपवीत के विषय में इतनी 'क्यों' उपस्थित हैं और जन साधारण के मस्तिष्क को तंग किया करती हैं कि यदि उन पर विशद विचार किया जाय तो एक वृहद् काय स्वतन्त्र ग्रन्थ तय्यार हो सकता है किन्तु हम इससे सम्बन्ध रखने वाले प्रमुख प्रश्नों पर ही विचार करेंगे, यथा—यज्ञोपवीत बांये कन्धे पर ही क्यों? पितृ कार्य के समय दाहिने कन्धे पर क्यों? शौचादि के समय कान पर क्यों? इसमें तीन ही तार क्यों? ब्रह्म ग्रन्थी क्यों? निर्माण की विशेष प्रक्रिया क्यों? ब्राह्मणादि का अमुक २ समय में ही यज्ञोपवीत क्यों? आदि २।

यह सब इस प्रकार की क्यों हैं जिनको समझे बिना वास्तव में यज्ञोपवीत की महत्ता नहीं जानी जा सकती और जबतक किसी

वस्तु के तथ्य रूप का हमें ज्ञान नहीं हो जाय–उसके महत्व को हम समझ न लें तब तक किसी वस्तु के प्रति हमारी श्रद्धा हो भी कैसे सकती है; अगर होगी भी तो वह स्थायी नहीं हो सकती इसलिये अब हम इस विषय पर विशेष विचार प्रारम्भ करते हैं।

यज्ञोपवीत क्या है ?

यज्ञोपवीत शब्द 'यज्ञ' और 'उपवीत' इन दो शब्दों के संयोग से बना हुआ एक समस्त शब्द है जिस का अर्थ है—यज्ञ को प्राप्त कराने वाला। वेद में—

यज्ञो वै विष्णुः - (शतपथ ।१।१।२)

--कह कर समस्त चराचर में व्याप्त सगुण परमात्मा को ही यज्ञ शब्द से ही स्मरण किया गया है। इसलिये यज्ञोपवीत का शब्दार्थ 'परमात्मा को प्राप्त कराने वाला' है। स्मृतिसार में यज्ञो-पवीत शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—

यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः ।

उपवीतं ततोस्येद—तस्माद् यज्ञोपवीतकम् ॥

इसके अतिरिक्त 'यज्ञेन संस्कृतमुपवीतं' इस मध्यम-पदलोपी समास द्वारा यज्ञोपवीत शब्द का दूसरा अर्थ 'यज्ञ से पवित्र किया हुआ उपवीत= 'सूत्र' होता है। चूंकि यह संस्कार यज्ञ पूर्वक होता है इसलिये द्वितीय अर्थ भी संगत हो जाता है। उपनयन भी इसी संस्कार का दूसरा पर्यायवाचक शब्द है जिसका अर्थ होता है-ऐसा संस्कार जिसके द्वारा बालक गुरु के समीप ले जाया जाय। कुछ व्याख्याकारों के मतानुसार 'यज्ञार्थ-उपवीतम् =यज्ञोपवीतम् =यज्ञ

के लिये जो सूत्र धारण किया जाय अर्थात जिसके धारण करने पर मनुष्य को सर्वविध यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त हो उसे यज्ञोपवीत कहा जाता है।

इस विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि उपरोक्त विग्रह से निष्पन्न यज्ञोपवीत शब्द का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि जैसे आजकल के सभ्य पुरुष सभा सोसाइटी आदि में जाते समय शोभा के लिये गले में दुपट्टा दुशाला या चादर आदि डाल लेते हैं और फिर उसे उतार कर रख लेते हैं इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी केवल यज्ञादि के समय पहिनने के काम आता है। स्मृतिकारों ने—"सदोपवीतिना भाव्यं सदाबद्धशिखेन च" कह कर--उसे सदा धारण किये रहने का विधान किया है। जिस से इस प्रकार की भ्रान्ति का भली भांति निराकरण होजाता है। पिछले दिनों हमे ऐसे ही किन्हीं 'भैरवदत्त शर्मा 'गौड़' नामक भ्रान्त विद्वान की 'वैदिक रहस्य' नामक पुस्तक देखने को मिली है, जो वैदिक मर्मज्ञों की श्रेणी में परिगणित होने का लोभ सवरण न कर सके और व्यर्थ की बाते लिखकर अर्थ का अनर्थ कर बैठे हैं। आप ने जो कुछ लिखा है उसका सार यही है-"कि प्राचीन काल में यज्ञादि के लिये दीक्षित करते समय दीक्षित पुरुष को पीले लाल या सफेद रंग का एक वस्त्र कन्धे से लेकर कटि पर्यन्त लपेटने के लिये दिया जाता था जो बाद में प्रमाद तथा लोभवश वस्त्र के स्थान मे डोरा रूप होगया। यज्ञोपवीत कोई सस्कार नहीं और नांही चतुः संहिता में उसके पहिरने का कोई मन्त्र ही विद्यमान है। यज्ञोपवीत का कोई मुहूर्त नहीं मिलता। उपनयन =विद्याध्ययनार्थ गुरु गृहगमन—के समय यज्ञोपवीत धारण गृह्यसूत्रों की मर्यादा से बाहर है। हो सकता है यज्ञोपवीत का वर्तमान रूप जैनियों के संसर्ग से हम लोगों मे आ

गया है। जैनेऊ, जिनेऊ, जनेऊ यह नामकरण ही इस बात का अच्छा परिचायक है।" इत्यादि

उपर्युक्त बातों में कितना सार है पाठक इसे बिना विशेष विवेचना के ही समझ सकते हैं। महाशय जी ने इसी पुस्तक में अन्यत्र आर्यसमाजियों द्वारा 'आश्वमेधिक' मन्त्रों पर किये गये आक्षेपों का समाधान भी किया है जिससे आपके सनातन धर्मानुयायी होने में कुछ सन्देह नहीं रह जाता। ऐसी दशा में आपने केवल चार संहिताओं को ही 'वेद' मानकर बालू की नींव पर अपने अपूर्वमत का जो दृढ़ प्राचीर खड़ा करने का प्रयास किया है वह कहां तक न्यायसंगत है? क्या चतुः संहिता के अतिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वेद नहीं हैं? यदि हैं तो फिर जब उनमें 'यज्ञोपवीतं परम पवि' आदि दो दो मन्त्र विद्यमान हैं—स्वा० दयानन्द को भी अगत्या जिनकी शरण लेनी पड़ी और आज भी चारों संहिताओं को ही वेद मानने वाले आर्यसमाजी भी जिन मन्त्रों से लोगों को जनेऊ पहिराते हैं—तब चतुः संहिता का ही इतना आग्रह क्यों?

यदि उपनयन काल में यज्ञोपवीत धारण गृह्य सूत्रकारों की मर्यादा से बाहर होता और यज्ञोपवीत केवल वस्त्र स्थानीय ही होता तो कात्यायन गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में यज्ञोपवीत निर्माण प्रकार को विशेष रूप से लिखने की क्या आवश्यकता थी? इसी प्रकार बौधायन गृह्यसूत्र में 'अथातो यज्ञोपवीतक्रियां व्याख्यास्यामः' आदि से प्रारम्भ करके 'इत्याह भगवान् बौधायनः' तक के लम्बे सूत्र में भी यज्ञोपवीत निर्माण प्रकार पाया जाता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यज्ञोपवीत धारण गृह्य सूत्रकारों की मर्यादा से बाहर है। यदि गृह्य सूत्रों में ही यज्ञोपवीत न हो तो फिर होगा कहां? केवल लोक प्रसिद्ध 'जनेऊ' शब्दसाम्य मात्र

देख कर यज्ञोपवीत को जैनियों के संसर्ग से उत्पन्न हुआ अनुमान कर लेना भी हेत्वाभास पूर्ण होने से परास्त हो जाता है। जैन संप्रदाय में 'जनेऊ' नाम का कोई सूत्र धारण भी नहीं किया जाता है। वस्तुतः 'यज्ञ' शब्द का ही अपर पर्य्याय 'यजन' है, सो यकार को छोड कर 'जन' और उपवीत के 'उ' मात्र को जोड़ने से 'जनेऊ' शब्द-यज्ञोपवीत का ही संक्षिप्त संस्करण है। जैसे पर्वतीय देशों में पण्डित शब्द का संक्षिप्त संस्करण 'पंत' आज भी प्रचलित है। इस प्रकार तो कल को कोई कहने लगेगा कि शिखा भी हिन्दुओं में सिक्खों के संसर्ग से ही आई हैं क्योंकि सिक्ख और शिखा में काफी श्रुतिसाम्य है। यज्ञोपवीत के मुहूर्त वाला आक्षेप भी ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि मुहूर्त ग्रन्थों में सर्वत्र विवाह संस्कार का मुहूर्त तो मिलता है परन्तु सप्तपदी का मुहूर्त कहीं भी नहीं मिलता। जब यज्ञोपवीत धारण उपनयन संस्कार का ही एक अंग है तब उसके लिये पृथक् मुहूर्त की क्या आवश्यकता ? तात्पर्य यह है कि यज्ञोपवीत शब्द के "यज्ञ के लिये धारण किये जाने वाला उपवीत (सूत्र)" इस अर्थ से किसी को भी भ्रान्त नहीं होना चाहिये।

ब्रह्मसूत्र शब्द भी यज्ञोपवीत का ही वाचक है जिसकी व्याख्या करते हुए स्मृतिप्रकाश मे लिखा है—

सूचनाद्ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात्।
तत्सूत्रमुपवीतत्वाद् ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम्॥

अर्थात्- चूंकि यह सूत्र द्विजाति को ब्रह्मतत्त्व तथा वेद ज्ञान की सूचना देता है इसलिये इसे ब्रह्मसूत्र कहा जाता है।

साकार परमात्मा को यज्ञ और निराकार परमात्मा को ब्रह्म कहा जाता है, दोनों को प्राप्त कराने वाला होने के कारण इसे यज्ञोपवीत या ब्रह्मसूत्र इन दोनों नामों से पुकारा जा सकता है। इसी प्रकार

यज्ञसूत्र सावित्री-सूत्र आदि भी इसी के नाम समझने चाहियें।

संस्कार का संक्षिप्त स्वरूप

इस संस्कार को उपनयन, यज्ञोपवीत, व्रतबन्ध मौञ्जीबन्धन आदि किसी भी नाम से यथेच्छ पुकारा जासकता है। यह सब नाम यों ही नहीं पड़ गये हैं, किन्तु इस संस्कार के समय होने वाली तत्तत् क्रियाओं के कारण अन्वर्थ हैं। उपनयन का अर्थ है-गुरु के समीप प्राप्त कराना अर्थात् प्राचीन समय में यह संस्कार करके बालक को विद्याध्ययन के लिये गुरु के सुपुर्द कर दिया जाता था। उसे सब प्रकार की उपयोगी शिक्षा देकर-राष्ट्र के लिये सदाचारी सभ्य एवं सुशिक्षित नागरिक बना देना गुरु का कार्य होता था। वह बालक को जहां स्नेह पूर्वक पढ़ाता था वहां उसके सदाचार का भी पूर्ण ध्यान रखता था, फलतः गुरुओं के आश्रमों से बालक पूर्ण सदाचारी एवं विद्वान् बनकर निकलते थे। बालक को विद्याध्ययन के लिये भेजने के समय जब कि यह संस्कार होता था अच्छा खासा समारोह मनाया जाता था। आज भी जिन घरों मे इस संस्कार का प्रचलन है वहां इसका समारोह विवाह से कुछ कम नहीं होता। आगन्तुक इष्ट मित्र परिजन एवं निमन्त्रित सज्जनों के हर्षोल्लास में, विविध वस्त्राभरणालंकृत कुल-वधुओं के मंगल गान तथा तपःपूत ब्राह्मणों के घन-गम्भीर वेदपाठ के बीच सम्पन्न होने वाले इस पावन संस्कार को होते हुए जिन लोगों ने देखा है वे ही इस समारोह के विस्मयकारी प्रभाव को जान सकते हैं।

यह सब समारोह और उत्सव मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। आज भारतवर्ष में जब बालक प्रथम बार स्कूल में पढ़ने भेजे जाते हैं, तो वे ऐसे घबराते हैं जैसे पशु बाड़े मे जाते हुए या अपराधी

भेज जाते हुए। मास्टर जी की शक्ल में उन्हें हौवे का रूप दिखाई देता है किन्तु मनोविज्ञानवेत्ता उन महर्षियों ने बालक के हृदय में विद्याध्ययन का चाव भरने, गुरु से भय की अपेक्षा प्रेम भाव हृदय में रखने, एक शब्द में कहें तो रोते झींकते नहीं किन्तु हंसते २ पाठशाला में जाने के लिये ही इस संस्कार का प्रचलन किया था। विविध प्रकार के समारोहों के बीच होने वाली इस संस्कार की विभिन्न क्रियाओं से बालक के हृदय में विद्याध्ययन के लिये रुचि उत्पन्न होती थी और जब उसके खेल कूद के साथियों की ही तरह गुरु, बालक के दाहिने कन्धे पर हाथ रखकर प्रेम पूर्वक उसे—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

अर्थात हे बालक। मैं तेरे हृदय को ग्रहण करता हूं। तुम अपने चित्त को सदा मेरे अनुकूल बनाना। मेरी वाणी को एकाग्र होकर श्रवण करना, देवगुरु बृहस्पति तुझे मुझ से संयुक्त करें।

—इत्यादि स्नेह भरी बातें कहता था तो बालक का अनायास ही गुरु से परिचय हो जाता था और वह उसे हौवा न समझ कर अपना अभिभावक समझने लग जाता था। इसके बाद आचार्य बालक को उस सप्रणव गायन्त्री मन्त्र का उपदेश देता है-जिसकी उपासना से उस ने अपने ब्रह्मचर्य जीवन को सफल बनाना है। हम पीछे कह आये हैं इस अवस्था में गायत्री ही उसकी माता होती है जिसकी अगुली पकड़ कर वह चलना सीखता है और जिसके ज्ञान विज्ञान रूपी दोनों स्तनों का पान करके वह बलवान् और ज्ञानवान् हो जाता है।

आचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के बाद ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए

भेजा जाता है। यह क्रिया यद्यपि आज नाटक के तौर पर पूरी कर दी जाती है किन्तु महर्षियों ने इसे वैज्ञानिक दृष्टि से ही इस संस्कार में सम्मिलित किया था। वैसे तो आजकल के भी सभी स्कूल, कालेज—चाहे वे डी० ए० वी० कालेज हों या फिर गान्धी मैमोरियल कालेज–भिक्षा द्वारा उपार्जित धन से ही संचालित होते हैं, जिसे आज की सभ्य भाषा में चन्दा (Subscription) कहा जाता है और जिस भिक्षा के लिये आज छात्रों को नहीं, किन्तु उनके अभिभावकों, संस्था के ट्रस्टी सदस्यों और दूसरे लोगों को घर घर 'नारायण हरि' करना पड़ता है, या फिर ऐसी भिक्षा को जनता से बलात् वसूल किया जाता है और उससे ऐसी संस्थाओं को चलाया जाता है। कुछ भी हो आज के वैज्ञानिक युग में भी नामान्तर से हम इसी भिक्षावृत्ति से ही संस्थाओं को चलता हुआ पाते हैं, परन्तु चूंकि इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों से फीस भी ली जाती है इसलिये वे अर्ध भिक्षार्जित स्कूल कहे जा सकते हैं। पूर्वकाल की संस्थाएं-गुरुकुल ऋषिकुल–इससे कुछ भिन्न प्रणाली पर चलते थे। उनका संचालन मुख्यत. जनता से प्राप्त भिक्षान्न पर ही होता था, उनमें गरीब, अमीर, राजा, रङ्क सभी बालक बिना किसी भेद भाव के बिना किसी फीस के–शिक्षा पाते थे। आचार्य सबको समान दृष्टि से देखते थे और उनमें भी परस्पर प्रगाढ़ प्रेम होता था। आदर्श मित्र कृष्ण और सुदामा ऐसे ही किसी आश्रम के सहाध्यायी थे, उनकी मित्रता का नवाङ्कुर ऐसे आश्रम की छाया में ही उगा और वृद्धि को प्राप्त हुआ। ऐसे आश्रमों में शिक्षा पाने वाले छात्र अपनी उस शिक्षा का—जो उन्होंने राष्ट्र धन से प्राप्त की हुई होती थी—देश के लिये अधिक से अधिक उपयोग करते थे। राष्ट्र के इस ऋण को वे कम से कम

पारिश्रमिक लेकर लोक सेवा करके चुकाना अपना कर्तव्य समझते थे। इन्ही आश्रमों से शिक्षा प्राप्त स्नातक सफलता पूर्वक राज्यतंत्रों का सचालन तक करते थे किन्तु उस समय भी उनके हृदय में यह भाव जागरूक रहता था कि मैंने यह सब शिक्षा जनता के अन्न से ही तो प्राप्त की है अतएव वह जनता के कर से इकट्ठे हुए राष्ट्र धन का उपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति और मौज मजा लूटने में नहीं करता था वह न महलों मे रहता था न हजारों रुपये मासिक का व्यर्थ बोझ राष्ट्र पर ही डालता था।

आप आइये हमारे साथ और पुरातन भारत की एक झांकी देखिये। हम आपको दिखायेंगे, प्राचीन भारतमें आश्रमोंसे निकलने वाले स्नातक बड़े २ राज्यतन्त्रों का सञ्चालन करते हुए भी किस तरह रहते थे, कितना व्यय वे राष्ट्र का अपने निजी खर्च के लिए करते थे। हम आपको दूर नहीं ले जाएंगे—न सत्ययुग कालीन लोमश के पास ले चलेंगे जो कि सर्वाधिक दीर्घायु होते हुए भी अपने लिये झोंपड़ी का झंझट मोल लेना व्यर्थ समझते हैं, अधिक धूप या वर्षा के समय एक पलाश पत्र मात्र ही शिर पर रखकर आयु बिता देते है, न हम त्रेता कालीन वशिष्ठ और विश्वामित्र के पर्ण कुटीर तक ही लेजाने की इच्छा रखते हैं, द्वापर कालीन सान्दीपन के आश्रम तक भी नहीं ले जाते किन्तु केवल दो सहस्र वर्ष पूर्ववर्ती एक ऐसे तपोधन के दर्शन कराने हैं जो भ्रू भङ्ग मात्र से वद्धमूल नन्द–साम्राज्य को धूल में मिलाकर एक नगण्य बालक को भारत का समृद्ध सम्राट् बनाने की शक्ति रखते हैं।

हां सचमुच यह वन ही है–नगर से दूर–पर इतना दूर नहीं कि यहां सर्व साधारण पहुँच न सके। यह सामने आप पर्णकुटी देख रहे

है न, यही है सम्राट् चन्द्रगुप्त के महामात्य आचार्य चाणक्य का निवास स्थान--जहां से वे सम्पूर्ण भारत की राजनीति का सञ्चालन करते हैं। यह सामने आचार्य ही तो बैठे हैं, कौपीन धारण किये हुए कुशा के आसन पर। कुटिया में क्या है ? हां सचमुच यह तो देखा ही नहीं, कभी आजकल की भांति बाहर से कुटी हो और अन्दर भोग विलास एवं ऐश्वर्य के सभी साधन। नहीं ऐसा नहीं है, अन्दर क्या है, यह देखिये कविवर भारतेन्दु के शब्दों मे :—

कहुं परे गोमय शुष्क, कहुं सिल परी शोभा दै रही।
कहुं तिल, कहूं जवरासि लागी बटुन जो भिक्षा लही॥
कहुं कुस परे कहुं समिध सूखत भारसों ताके नयो।
यह लखो, छप्पर महा जरजर होई कैसो झुकि गयो॥

(मुद्राराक्षस तृतीय अङ्क)

अस्तु यह तो है अपने सामान्य भ्रूभङ्ग से अनेक राष्ट्रों के भाग्य निर्णय कर देने वाले ऋषि आश्रमों मे भिक्षार्जित अन्न से शिक्षा प्राप्त महामात्य चाणक्य का घर, और आज अर्ध भिक्षार्जित स्कूल कालेजों एवं विश्वविद्यालियों से निकलने वाले इसी स्तर के किसी 'जन सेवक' की विदेशी ठाठ बाट से पटी कुटी बखूबी नई दिल्ली में आकर देखने का प्रयत्न कर लीजिए। शायद किसी पूर्व जन्म के पुण्य से आपको दर्शन हो सके। अस्तु

उपनयन संस्कार का अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण भाग वे शिक्षायें है जो बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व दी जाती हैं और जो न केवल उसके विद्यार्थी जीवन को सफल बनाने में सहा-

यक सिद्ध होती है अपितु इन्हीं महत्वपूर्ण नियमों के दृढ़ स्तम्भों के ऊपर उसके अशेष जीवन का उच्च प्रासाद खड़ा होता है। आज विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ करने वाले बालक को यह शिक्षाए कौन देता है और तत्परता से इनका पालन कौन करवाता है। इसका परिणाम स्पष्ट है आज के स्कूल कालेजों में पलने वाली राष्ट्र की नई पोद अपनी सदाचार विहीन विशृङ्खल प्रवृत्तियों के कारण अकाल में ही मुर्झा जाती है। कंघा शीशा तो आजकल हर वक्त विद्यार्थियों की जेब में रहता है। स्कूल में भी पुस्तकों के साथ जाता है और जब तक दिन मे दो चार वार बाल न संवारिये लिए जाय तब तक उन्हें सबर ही नहीं आता। जेबों में रक्खे हुई अभिनेत्रियों के चित्र और फिल्मी गानों की पुस्तकों की जबतक एक दो बार झांकी न ले लें तब तक रोटी ही हजम नहीं होती। तरह २ के कुव्यसनों में फंसकर अपने स्वास्थ्य और माता पिता की गाढी कमाई का सर्वनाश करके स्वच्छन्द घूमनेवाले राष्ट्र के उन भावि कर्णधारों के आन्तरिक जीवन के चित्र देखकर हमे इन शिक्षाओं के महत्व ज्ञान होता है जो इस संस्कार के अवसर पर आचार्य देता है।

"विद्यार्थी मधु मास का सेवन न करे नदी आदि के अगाध प्रवाह वाले जल मे घुसकर स्नान न करे, अष्टविध मैथुन का त्याग करे, स्वाग तमाशे नाटक आदि न देखे। सुगन्धित पाउडर- सुरमा सुगन्धित तैल आदि न लगावे। दुर्व्यसनों (ताश चौपड़ आदि) से सदैव दूर रहे। निन्दा स्तुति, व्यर्थ बकवास, मिथ्या भाषणादि से अपने को अलग रक्खे।"

उपरोक्त नियमों की यदि पृथक् व्याख्या हो और इनकी लापरवाही के जो परिणाम आज स्कूल और कालेजों मे देखने मे आते

हैं—यदि जनता के सामने रक्खे जांय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो सकती है। इसलिए हमने संक्षेप में इन नियमों का दिग्दर्शन कराकर इस प्रकरण को यहीं समाप्त किया है।

यज्ञोपवीत कब से ?

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और प्रचलन का ऐतिहासिक निर्धारण मानव बुद्धि से परे की वस्तु है क्योंकि यह कोई सौ दो सौ या हजार दो हजार वर्ष से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु नहीं है कि आज के इतिहास के पण्डित इस पर अधिकार पूर्वक अपनी लेखनी उठा सकें। इसका सम्बन्ध तो उस काल से है जब कि प्रलय के गर्भ में अनन्त कालसे प्रसुप्त मानव सृष्टि धीरे धीरे जागने लगी थी, मानव में नव चेतना का प्रकाश हुआ था और ज्ञान की प्रथम रश्मि से उसका हृदय आलोकित हो उठा था। सृष्टि के उस नवोदय काल में आदि मानवों=महर्षियों के मानस पटल पर उद्भूत हुआ वह ईश्वरीय ज्ञान ही आज 'वेद' नाम से पुकारा जाता है। यज्ञोपवीत की उत्पत्ति इस ईश्वरीय ज्ञान के साक्षात्कार से भी पूर्व हुई समझनी चाहिये, क्योंकि वेद मे भी इस संस्कार के महात्म्य के दर्शन होते हैं। हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कतिपय वैदिक मन्त्र दे आये हैं जिनसे हमारे इस कथन का भली भांति समर्थन हो जाता है।

यज्ञोपवीत धारण के पावन मन्त्र में भी यज्ञोपवीत की उत्पत्ति का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन विद्यमान है जिससे हमें इसके काल निर्धारण मे पर्याप्त सहायता मिल सकती है। वह मन्त्र है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

इस मन्त्र को यज्ञोपवीत धारण करने के समय प्रायः सभी लोग बोला करते हैं किन्तु इसके अर्थ गाम्भीर्य पर कदाचित् ही किसी ने ध्यान दिया होगा।

हम पीछे कह आये हैं कि यज्ञोपवीत संस्कार हुए बिना किसी को भी वेद पाठ या गायत्री जाप का अधिकार नहीं है।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। (मनु–२–१७३)

—भगवान् मनु के इस आदेशानुसार इस संस्कार के बाद ही मनुष्य को श्रुति स्वाध्याय का अधिकार मिलता है। यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि सृष्टि के आदि प्रवर्तक श्री ब्रह्माजी महाराज हैं। महाप्रलय के उस भीषणकाल में जब कि यह समस्त ब्रह्माण्ड जलप्लुत होता है, चारों ओर जल के अतिरिक्त कोई वस्तु प्रयत्न करने पर भी नहीं दिखाई देती तब 'ब्रह्म ब्रह्माऽभवत्स्वयम्' के अनुसार साक्षात् परब्रह्म ही श्री ब्रह्माजी महाराज के रूप में प्रादुर्भूत होकर पूर्व कल्पानुरूप वैदिक ज्ञान के सहारे ही सृष्टि का विस्तार करते हैं। वेद के सर्वप्रथम ज्ञाता प्रवक्ता और उपदेष्टा भी यही हैं। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि बिना यज्ञोपवीत संस्कार हुए ब्रह्मा को वेद ज्ञान और प्रवचन का अधिकार कैसे मिला ? उनका यज्ञोपवीत संस्कार किसने सम्पन्न कराया ? क्या बिना यज्ञोपवीत के ही उन्होंने वेद का स्वाध्याय और प्रवचन किया ? अगर ऐसा ही हो तो इसका तो अर्थ हुआ कि यज्ञोपवीत बाद के ऋषियों द्वारा आविष्कृत कोई सामाजिक या विद्या सम्बन्धी चिन्ह मात्र ही है।

नहीं, वास्तव में ऐसी बात नहीं है, यज्ञोपवीत धारण में विनियुक्त इस सुप्रसिद्ध मन्त्र मे इन सब प्रश्नों का बड़ी सरलता से

सुस्पष्ट उत्तर दिया गया है। श्रुति कहती है—यज्ञोपवीत परम पवित्र है, यह सृष्टि के प्रारम्भ मे ब्रह्माजी के साथ ही उत्पन्न हुआ है। यह आयु तेज बल को देने वाला है इसलिये इसे धारण करना चाहिये।"

मन्त्राथ से स्पष्ट है कि सृष्टि नायक श्री ब्रह्माजी महाराज यज्ञोपवीत धारण किये हुए ही प्रादुर्भूत हुए थे, इसी से उन्हें मर्यादानुसार स्वाध्याय का अधिकार प्राप्त हुआ और उसी वेदज्ञान के बल पर वे 'यथापूर्वमकल्पयन्' के अनुसार सृष्टि रचना मे समर्थ हो सके। इससे यह भी सुस्पष्ट हो गया कि यज्ञोपवीत वेद की ही भांति अनादि है उसका प्रारम्भ परवर्ती महर्षियों ने नहीं किया और नाही कभी सामाजिक या विद्या चिन्ह के रूप में उसका आविष्कार हुआ है।

आधुनिक गवेषकों के दृष्टिकोण से—

हमने पीछे कहा था, कि यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और उसके प्रचलन का ऐतिहासिक निर्धारण मानव बुद्धि से परे की वस्तु है किन्तु फिर भी कुछ आधुनिक विचारकों ने इस दिशा मे कुछ निर्णय करनेकी जो उपहासास्पद चेष्टा की है और भांति २ की कल्पनाओंकी उडान भरी है, उसका कुछ आभास स्वर्गीय श्रीलोकमान्य तिलक के नीचे लिखे विचारों में भली भांति मिल सकता है। यह विचार केवल लोकमान्य के ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृति के विषय में नवीन दृष्टिकोण से विचार करनेवाले पौरस्त्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों के विचारों का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। तिलक जी ने लिखा है—

"मृगशीर्ष नक्षत्र को वैदिक शब्दो मे प्रजापति और यज्ञ कहते हैं। किसी समय (तिलक के मत से लगभग ६००० ईसा

पूर्व) इस नक्षत्र से वर्ष का आरम्भ माना जाता था इसीलिये संस्कृत में इस मास को 'अग्रहायण' भी कहते हैं। वर्ष के आरम्भ से अन्त तक नाना प्रकार के यज्ञ किये जाते थे। मृगशीर्ष नामक नक्षत्र मण्डल में कुछ तारिकाओं की स्थिति मेखला के आकार की है। मृगशीर्ष, या प्रजापति, या यज्ञ की इस मेखला को देखकर प्राचीन आर्यों ने मेखला तथा यज्ञोपवीत धारण करना आरम्भ किया था, पट्टा डोरी या कपडे का एक टुकडा जो यज्ञ के समय कमर बन्द के रूप में कमर पर बांधा जाता था यही यज्ञोपवीत कहाता था।" (ओरायन)

उपर्युक्त कल्पना में कितना तथ्य है इसे पाठक अनायास ही समझ सकते हैं। हम नहीं पूछना चाहते कि आकाशमें चमकनेवाले सूर्य चन्द्र आदि अन्य ग्रहों की नकल करके आर्यों ने तत्सदृश अन्य चिन्ह भी क्यों न धारण किये ? प्रजापति तो वेदों में सूर्य को भी कहा गया है और बार २ कहा गया है, यथा—

प्रजापतिर्वै सविता (बृहदारण्यक)

—इसके अतिरिक्त यज्ञ यागादि प्राय: दिनमें ही सम्पन्न होते हैं तब सूर्य के अनुकरण पर उन लोगों ने कोई चिन्ह क्यों न धारण किया ? हम यह भी नहीं पूछना चाहते कि यज्ञ यागादि का विधान करने वाले शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रस्तुत कल्पना की कोई झलक क्यों नहीं मिलती ? यदि यज्ञोपवीत उन नक्षत्रावलियों का अनुकरण मात्र ही था तो इसके निर्माण के लिये पृथक् विधि विधान की क्या आवश्यकता थी। उन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में—जिनके अनुसार वर्ष के आरम्भ से अन्त तक यज्ञादि हुआ करते थे—यज्ञोपवीत निर्माण का एक विशेष प्रकार मिलता है जो स्पष्टतया इस बात

का प्रतिपादक है कि यज्ञोपवीत किसी वस्तु का अनुकरणात्मक चिन्ह नहीं किन्तु द्विजाति के उन सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों, कर्तव्यभारों व उदात्तभावनाओं का प्रतीक है जो ईश्वर ने उसे सौंपे हैं। इसलिये ऐसी कोई भी कल्पना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई मूल्य नहीं रखती और सर्वथा हास्यास्पद ही है।

यज्ञोपवीत की व्यापकता

यज्ञोपवीत के सदृश ही सूत्र निर्मित चिन्ह विशेष प्राय सभी देशों और सभी जातियों में पाये जाते हैं जो इस बात के सूचक हैं कि एक समय सभी जातियें आर्य जाति का अभिन्न अंग थी, किन्तु कालान्तर में अशिक्षावश अथवा देश विदेशों में प्रसार आदि के कारण वे आर्यत्व से पतित हो गईं किन्तु बहुत से पुराने रीति रिवाज धार्मिक चिन्ह आज भी भग्नावशेष अवस्था में उन लोगों में प्रचलित है। इनका क्या रहस्य है इस बात को तो वे लोग नहीं जानते, किन्तु रूढ़ि रूप में इन्हें धारण अवश्य करते हैं।

मुसलमान

मुसलमानों में सूत्रात्मक यज्ञोपवीत की तरह गण्डे का प्रचलन है, जिसे मौलवी आयु बल आदि के सिद्धि के लिये उन्हें पहिरने को देते हैं। इसके अतिरिक्त ताजियों के वक्त—जो कि एक प्रकार से मृतक श्राद्ध का ही विकृत रूप है—बांये कन्धे पर लाल कपड़े का एक टुकड़ा या डोरा जिसे हम उपवस्त्र कह सकते हैं—रखना आवश्यक माना जाता है और ऐसा करना उन मृतात्माओं की सद्गति का हेतु समझा जाता है। यह हिन्दुओं के श्राद्धकालीन यज्ञोपवीत के अपसव्य का ही अनुकरण है। इसी प्रकार 'हज्ज'

यात्रा के समय भी सफेद रंग का वस्त्र-खण्ड गले में बांधे रखना हाजी के लिये अनिवार्य है।

ईसाई

रामन कथोलिक ईसाई यज्ञोपवीत की ही भांति ऊन का बना हुआ एक सूत्र विशेष हरवक्त अपनी कमर में बांधे रहते हैं। जिसमें यज्ञोपवीत की भांति तीन ही ग्रन्थी लगाई जाती हैं। वे लोग इसकी पवित्रता का विशेष ध्यान रखते हैं और प्रोटेस्टैन्ट ईसाई पादरी भी कमर में रस्सी बांधना धार्मिक अनुष्ठान मानते हैं। इङ्गलैण्ड की वर्तमान प्रथा के अनुसार वहां का राजा ही 'धर्माचार्य' भी होता है, तदनुसार 'धर्माचार्य' के रूप में वर्तमान इङ्गलैण्ड के किसी भी बादशाह के चित्र में तादृश रस्सी के दर्शन किये जा सकते हैं।

पारसी

पारसी लोग मन्त्र पाठ पूर्वक सूत्रनिमित एक डोरा अपनी कमर में पहिनते हैं और उसे अपने धर्म का मुख्य अंग समझते हैं। भारतीयों की भांति उनके यज्ञोपवीत धारण का भी एक विशेष मन्त्र है। वह है—

फाते मजदा ओवरत् पौखनिम् आयम्य ओं धनेम् स्तेहर पाए संघेम् मैन्यु—तस्तेम् वंधुहिम् दा एनम् मज दयास्निम् ॥

अर्थात्—मजदा या सनिन धर्म के चिन्ह, हे तारका मण्डित कुरता! तुझे पुराने काल में मजदा ने धारण किया है।

सिक्ख

अंग्रेजों के कूटनीति के शिकार और वर्तमान में राजनैतिक अधिकारों की लिप्सा से मोहान्ध सिक्ख भाई आज चाहे यज्ञोपवीत धारण नहीं करते किन्तु सिक्ख सम्प्रदाय प्रवर्तक श्री गुरु नानक से गुरु गोविन्दसिंह तक के सभी गुरु शास्त्रीय विधि से यज्ञोपवीत धारण करते रहे हैं। यह बात उनके जीवन चरित्रों से बिलकुल प्रमाणित हो जाती है, यथा—

गुरु नानक

(क) असविध श्री नानक गतिदानी।
उपदेशन की उचरत बानी॥
वदन वदन विप्रन वरि आई।
यज्ञोपवीत दियो पहिराई॥ (ना० प्र० ४२)

छठे गुरु हरि गोविन्दसिंह

(ख) गुरु निदेश सुन विप्र तब शुभ जञ्जु कर धार,
कर पूजा गुरु पुत्र गर लागो प्रोहित डार।
हरि गोविन्द कह्यो हम गरे जञ्जु हरि अस पाई,
कुल प्रोहित कुलरीति कहि पाइओ गर हर्षाई॥
(गु. वि. पा. अध्याय ५ अङ्क ६)

९वें गुरु तेग बहादुर

तिलक जञ्जु राखा प्रभु ताका, कीनों बड़ो कलू महीं साका।
(दशम ग्रन्थ विचित्र नाटक अ. ५)

१०वें गुरु गोविन्दसिंह

पन्थ प्रकाश में गुरु गोविन्दसिंह का विवाह कालिक शरीर सौन्दर्य वर्णन करते हुए लिखा है—

पीत पुनीत उपरना धोती जोती रवि नव छाजैं।
पीत जनेऊ मनों वदन शशि पैं बिजरी विजुरी भ्राजैं॥

बौद्ध

बुद्ध गया के प्रसिद्ध मन्दिर मे सुप्रतिष्ठित बुद्ध प्रतिमा को ध्यान पूर्वक देखने से भली भाति जाना जा सकता है कि चतुर शिल्पी ने जहा पाषाणको टांककर शिरके बालोंके गुच्छक और शरीरपर ओढ़ा हुवा महीन उत्तरीय वस्त्र दिखाने का प्रयत्न किया है वहां उत्तरीय वस्त्र मे झलकता हुवा सव्य यज्ञोपवीत भी कलापूर्ण ढग से दिखाया है। लामा लोगों की कमर मे अनिवार्य रूपेण बन्धा ऊर्णामय रस्सा भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

उपनयन कब ?

स्मृतिकारों ने उपनयन के लिये वर्णों के आधार पर पृथक् २ समय का निर्देश किया है, यथा—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ (मनु २-३६)

अर्थात्—ब्राह्मण वालक का गर्भ से आठवे वर्ष क्षत्रिय का ११वें वर्ष और वैश्य का वारहवे वर्ष मे उपनयन संस्कार करना

चाहिये। यदि किसी विशेष कारण से उपरोक्त समय में न किया जा सके तो उससे दुगने अर्थात्—ब्राह्मण बालक का १६ क्षत्रिय का २२ और वैश्य का ३४ वर्ष की अवस्था तक यह संस्कार सम्पन्न हो सकता है, जैसा कि मनुजी ने कहा है—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।

आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धो राचतुर्विंशतेर्विंशः॥ मनु२०-३८

इसके बाद भी यदि यह सस्कार न हो तो फिर द्विज व्रात्य हो जाता है, अर्थात् सावित्री पतित हो जाने के कारण संस्कारानर्ह हो जाता है।

उपरोक्त अवस्थाओं के साथ २ गृह्यसूत्रकारों ने उपनयन के लिये प्रत्येक वर्ण के लिये ऋतु विशेष का भी निर्धारण किया है, यथा—

वसन्ते ब्राह्मण ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्॥

अर्थात्—ब्राह्मण बालक का वसन्त ऋतु में क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में, और वैश्य का शरद ऋतु में होना चाहिये।

काल विभाग क्यों ?

यह प्रश्न सुसम्भव है कि जब काल एक है अखण्ड है दिन रात, चैत्र वैशाख, घडी प्रहर आदि सब व्यवहार सिद्धि के लिये मनुष्य कल्पित वस्तुएं हैं, तब उपनयन के लिये आयु एवं ऋतुभेद की क्या आवश्यकता ? शुभ कार्य—फिर उपनयन जैसा शुभ कार्य है—'यस्मिन्कस्मिन्दिने मर्त्यो श्रद्धाभवितसमन्वित' के अनुसार किसी भी दिन क्यों न कर लिया जाय ?

निःसन्देह देश काल की एकता और अखण्डता असामान्य नहीं हो सकती परन्तु 'देशकाल वैचित्र्यवाद' के अनुसार समस्त विश्व में व्याप्त प्रकृति के उन अगणित चमत्कारों की ओर से भी वादी सर्वथा आंख नहीं मूंद सकता जिनके कारण एक ही भूमण्डल—उर्वर बञ्जर, जलमय और शुष्क, समतल और ऊबड़ खाबड़ आदि अनेक विभागों में और एक ही काल दिन रात, सर्दी गर्मी वर्षा आदि विविध भागों में स्वयमेव विभक्त हो जाता है। विदेशों की तो चर्चा छोड़िये जहां साइबेरिया के वर्खोयान्सक (Verk hoyansk) नामक स्थान में तापक्रम, शून्य से भी ६५ अंश तक कम हो जाता है और इस अंश पर पहुँच कर पारा भी जम जाता है। भारत को ही देखिये, ज्येष्ठ और वैशाख के झुलसते दिनों में भी जहां लिहाफों व कम्बलों में सोना पड़ता है ऐसे शिमला आदि ठण्डे प्रदेश और पौष तथा माघ के ठिठुरते महीनों में भी जहां एक साधारण चादर में आनन्द से सोया जा सकता है ऐसे मद्रास आदि गर्म प्रदेश इसी भारत भूमि पर विद्यमान हैं। भूस्वर्ग काश्मीर जैसा रमणीय हरा भरा प्रदेश—जहां आत्म सौन्दर्य में विभोर प्रकृति उन्मत्त सुन्दरी की भांति खिल खिलाकर हंसती ही रहती है इसी भारत में है और राजपूताने का वह शुष्क रेगिस्तान—जहां मीलोंतक सिवाय रेत के और कोई चीज दिखाई ही नहीं देती—भी यहीं है। यदि अंगूरों का बाग लगानेवाला व्यापारी भूमण्डल की एकता के इसी सिद्धान्त से ही चिमटा रहे और मारवाड़ में बाग लग वाए तो उससे वह कितना कमाएगा यह अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसी से मिलती जुलती बात काल के सम्बन्ध में भी है, प्रत्येक वस्तु के विकास के लिये एक काल विशेष प्रकृति की ओर से निर्धारित है जिसके आने पर तत्तद् वस्तुएं स्वभावतः ही विक-

सित हो उठती हैं, यही इनका मौसम कहलाता है। आमों की बहार आषाढ़ और श्रावण में ही होती है, नारंगी और सन्तरों की पौष माघ में ही। गेहूं की फसल चैत्र वैशाख में ही पककर तय्यार होती है आश्विन कार्तिक मे कदापि नही। यद्यपि काल तो एक ही रहता है किन्तु प्रकृति उसमे कितना महान अन्तर डाल देती है। यह सब बातें अमुक २ देश विशेष एवं काल विशेष की महत्ता की निर्णायक हैं। इनका पूर्ण ज्ञान तत्तत् विषय के विशेषज्ञों को ही होता है सर्व साधारण को नहीं।

धार्मिक विधि विधानों में समय विशेष का महत्व प्रायः सभी सम्प्रदायों और मतों मे मान्य है। स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि में—

"जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे"

—कहकर मुहूर्त के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया है। मुसलमान शुक्रवार को पाक मानते है और ईसाई रविवार को ही परमात्मा का विश्राम दिन होने के कारण पवित्र समझते हैं। जैन और बौद्ध अष्टमी एवं चतुर्दशी तिथिमे विशेष प्रेम रखते है इसलिये अशोक के समय में चतुर्दशी के दिन किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती थी।

उपनयन के लिये भी क्रान्तद्रष्टा महर्षियों ने अमुक २ वर्ण के लिये आयु एवं ऋतु आदि का जो क्रम निर्धारित किया है वह भी कोरा धार्मिक विधान मात्र नहीं है किन्तु सर्वथा प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित रहस्यमय तथ्य है। यही वह समय है जिसमें किया हुआ कर्म अनन्त गुण फलदायक हो सकता है। पाठक नीचे दिये

गण इन तत्त्वों का ध्यान पूर्वक मनन करेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि पूज्य महर्षियों ने कितनी गहराई में उतरकर उन तत्त्वों की खोज की है जिनका मानवशक्ति के विकास के साथ गहन सम्बन्ध है।

१—बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने महर्षि शाकल्य के प्रति ३३ देवता गिनाते हुए कहा है—

महोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रि ὖ शत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रि ὖ शदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या एकत्रि ὖ शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रि ὖ शाविति ॥ (बृहदारण्यकोपनि० ६–२)

अर्थात्—तेतीस देवता कौन से हैं ? ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। देवताओं में वसु ब्राह्मण स्वरूप हैं, रुद्र क्षत्रिय स्वरूप और आदित्य वैश्य स्वरूप। वसुओं में सर्व प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई है जैसा कि—"अग्नि प्रथमो वसुभिर्नोऽव्यात्" इस श्रुति से स्पष्ट ज्ञात होता है। अग्नि का ब्राह्मण वर्ण के साथ कई प्रकार का सम्बन्ध है 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' तथा 'मुखादग्निरजायत' इन दोनों श्रुति वचनों में विराट् के मुख से ब्राह्मण और अग्नि इन दोनों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, इसलिये यह दोनों सहोदर भाई हैं। 'गुरुरग्निर्द्विजातीनाम' कहकर स्मृतिकारों ने अग्नि को द्विजाति का गुरु माना है और उपनिषदों में उसे ब्राह्मण वर्ण का उपास्य देवता भी माना गया है। तात्पर्य यह है कि अष्ट वसुओं का ब्राह्मण के साथ सजातीय सम्बन्ध है। ब्राह्मण देवराज्य में इन अष्ट वसुओं के साथ मिलकर ही शक्ति सञ्चय करता है इसलिये आठ वर्ष की अवस्था में ही ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत उचित है।

रुद्र ग्यारह हैं। क्षत्रिय की भांति ये भी रजोगुण प्रधान उग्र प्रकृतियुक्त देवता है और उपनिषदों मे इन्हें क्षत्रिय जाति का उपास्यदेव वतलाया गया है इसलिये शक्ति सञ्चयार्थ किया जाने वाला यह संस्कार क्षत्रिय बालक का ११वें वर्ष मे जितना उपयुक्त हो सकता है उतना अन्य वर्षों में नहीं।

आदित्य १२ हैं। वैश्य की भांति इनका कार्य अपनी संचित समृद्धि से संसार का पोषण करना है। संसार के सम्पूर्ण धन धान्य इन्हीं की कृपा से फूलते फलते और पकते हैं, और हैं भी ये वैश्य वर्ण के उपास्य ही, इसलिये उपास्य देव के अनुकूल १२वें वर्ष में वैश्य बालक का यह मेधा जनन संस्कार सम्पन्न हो तो उसके लिये कितना हितप्रद न होगा ?

२--पारस्कर गृह्य सूत्रकार ने छन्दों से सृष्टि विस्तार का प्रकरण लिखते हुए लिखा है—

गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्।

अर्थात्- गायत्री छन्द से ब्राह्मण की सृष्टि हुई, त्रिष्टुभ से क्षत्रिय की और जगति छन्द के योग से वैश्य की।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे इन गायत्री आदि छन्दों की विवेचना करते हुए बतलाया गया है।

अष्टाक्षर ७५ हवा एक गायत्र्यै पदम्। (बृ० उ० ५-१४-१)

अर्थात्— गायत्री छन्द का एक पाद आठ अक्षर का होता है, सुतरां ब्राह्मण बालक के उपनयन के लिये आठवें वर्ष से उपयुक्त

समय दूसरा कौन हो सकता है। जब गायत्री अष्टाक्षरपदा है तब उसे ग्रहण करनेवाला बालक भी क्यों न आठ वर्ष का ही हो ?

त्रिष्टुभ छन्द के प्रत्येक पाद में ११ अक्षर होते हैं, उससे उत्पन्न क्षत्रिय का उपनयन ११वें वर्ष में ही सम्यक् प्रतीत होता है।

इसी प्रकार जगति छन्द का प्रत्येक चरण १२ अक्षर का होता है इसलिये शास्त्रकारों ने वैश्य बालक के उपनयन के लिये बारहवां वर्ष ही उपयुक्त समझा है।

३—उपनयन काल मे ऋतु निर्धारण भी तत्तद् वर्णों की प्रकृति के साथ सामञ्जस्य रखने के विचार से ही रक्खा गया है।

ब्राह्मण स्वभाव से ही शांत होता है उसमें क्रोध नहीं होता लेकिन आत्म गौरव की उष्णता अवश्य होती है और वसन्त ऋतु ? वह भी ब्राह्मण की तरह शांत ही, न उसमें पौष माघ का सा प्राणियों को सुन्न बना देनेवाला भयङ्कर शीत और न ज्येष्ठ आषाढ़ की प्राण पीड़क गर्मी। ब्राह्मण प्रकृति के साथ कितना सुन्दर समन्वय ! ऐसे समय मे ब्राह्मण बालक का उपनयन करने पर उसमें द्विगुणित शक्ति का विकास होना स्वाभाविक है।

ग्रीष्म ऋतु ताप प्रधान है और क्षत्रिय बालक में भी वह ताप पराक्रम एवं तेज स्वाभाविक रूप से निहित होता है। ग्रीष्मऋतु जैसी अनुकूल परिस्थितियों में उसका विकास स्वभाव सिद्ध ही है, इसलिये क्षत्रिय बालक का उपनयन ग्रीष्म में ही होना चाहिये।

धन धान्य परिपूर्ण शरद ऋतु में वैश्य प्रकृति का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है। व्यापार के लिये भी यही ऋतु सर्व श्रेष्ठ है। फलतः वैश्य बालक में विद्यमान इन गुणों के विकास के लिये शास्त्रकारों ने इसी ऋतु में उसके उपनयन का विधान किया है।

उपनीत के लिए आवश्यक नियम

संसार में प्रत्येक वस्तु की सफलता का रहस्य उसके नियम पालन पर ही निर्भर है। इसके बिना उस वस्तु से लाभ न हो यह तो सुसम्भव है ही किन्तु कभी २ तो वह इतनी विपरीत फलदायक हो जाती है कि जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। नियम का यह प्रतिबन्ध—जिसे उग्र शब्दों में 'अडङ्गा' कहा जाता है—मनुष्य के लिये सर्वथा अपरिहार्य है। आप चाहे स्वस्थ हैं या बीमार नियम की परिधि से बच नहीं सकते। बीमार होकर डाक्टर के पास जाइये, बीमारी की दवा के साथ २ वह आपको अनुपान के नियम, पथ्य परहेज आदि भी अवश्य बताएगा। अगर इस अनुपान आदि को रोगी बेकार समझे और उसका पालन न करे तो वह चाहे मकरध्वज भी खाय तो भी उसके लिये हितकारी नहीं हो सकता। यज्ञोपवीत के लिये भी शास्त्रकारों ने इसी प्रकार कुछ नियम स्थिर किये हैं जिनका पालन उपवीतधारी के लिये आवश्यक है। आज लोग आक्षेप करते हैं कि आर्य जाति के सम्पूर्ण धार्मिक विधि विधान एवं वेद शास्त्र सब अर्थहीन हो गए हैं, जिस यज्ञोपवीत के विषय में श्रुति डिण्डिम घोष के साथ कहती है कि—"यह बल आयु तथा तेज का देनेवाला है इसे धारण करो" किन्तु उसके धारण करनेवालों में आज कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो पूर्णायु बलिष्ठ और तेजस्वी हों? उन विदेशी राष्ट्रों के मुकाबिले में जहां कि लोग यज्ञोपवीत का नाम भी नहीं जानते, भारतवर्ष—जहां कि यज्ञोपवीत का प्रचार है स्वास्थ्य आयु आदि सभी दृष्टि से गिरा हुआ है। तब—"यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः" का पाठ क्या कोरा पुण्य पाठ नहीं है? इस प्रकार के आक्षेप करनेवाले व्यक्ति इस

बात को भूल जाते है कि उपवीत धारण करनेवालों में आज ऐसे कितने व्यक्ति है, जो यज्ञोपवीत धारण के साथ उसके नियमों के पालन के ऊपर भी तत्परता पूर्वक ध्यान देते हैं ? जब तत्परता एवं सावधानी पूर्वक इन नियमों का पालन ही नहीं होता तो बल आयु एवं तेज की वृद्धि कैसे हो ? जब अनुपान और पथ्य पर ध्यान नहीं तो दवा के गुणों पर सन्देह क्यों ? इसलिए कल्याणाभिलाषी सज्जनों को नियम पालन का पूरा ध्यान रखना चाहिये, तब वे देखेंगे कि महर्षियों के वचन तथा श्रुति का वह डिण्डिम घोष असत्य नहीं।

(१) शुद्ध स्वदेशी एवं हाथ के बने हों—

यज्ञोपवीत के लिए शास्त्रकारों का पहिला नियम है कि वह स्वदेशी सूत से अपने हाथ से शास्त्रीय विधि पूर्वक बनाया हुआ हो। उसका सूत भी—अधिक अच्छा तो यही कि स्वयं कातकर तैयार किया हो किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो वह ब्राह्मण की कन्या या सौभाग्यवती ब्राह्मण स्त्री द्वारा काता होना चाहिये, यथा—

ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या ब्राह्मण्या वा कृतं सूत्रमादाय (कात्यायन परिशिष्ट)

यह नियम उपवीत धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में स्वावलम्ब की भावना पैदा करनेवाला एवं स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग का सञ्चार करनेवाला है। महर्षियों ने यज्ञोपवीत को बाजारू चीज नहीं बनाया कि कोई भी रल्ली छल्ली खरीद कर उसे गले में डाल ले। बाजारू वस्तु में उस विधि का और उन पवित्र भावनाओं का विचार कौन रखता है। जिस प्रकार पिछले दिनों

जब खद्दर धारियों की बाढ़ सी आगई और कांग्रेस के रचनात्मक प्रोगाम के अनुसार सूत कातनेवालों की संख्या कम हो गई तो महात्मा गांधी ने यह नियम बना दिया था—जो कि कल तक भी खद्दर भण्डारों में चलता रहा है—कि खद्दर पहिनने का अधिकार केवल उसे है जो चर्खा कातकर अपने लिये सूत तैयार कर सके, इसी प्रकार यज्ञोपवीत का अधिकार स्वयं तय्यार करके पहिनने वाले द्विज को ही दिया गया है।

(२) सदोपवीतिना भाव्यम्

हम पीछे कह आये हैं 'उपवीत' कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे किसी खास अवसर पर धारण करें और शेष समय में वह गले के दुपट्टे की भांति खूंटी या ट्रंक की शोभा बढ़ाता रहे। वह तो संस्कार के दिन से लेकर मृत्यु पर्यन्त शरीर से अलग न होना चाहिये। चिता में भी वह शरीर के साथ ही रहता है। धर्मशास्त्रकारों ने केवल एक अवस्था ऐसी रक्खी है जिसमें उपनीत द्विज अपने यज्ञोपवीत को स्वयं उतार देता है और उसे फिर कभी धारण नहीं करता। वह है सन्यासाश्रम—एक ऐसी परिस्थिति जब मनुष्य—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के नित्य सिद्धान्त की ओर अग्रसर होता है। उसकी आत्मा देश एवं काल की परिधि को भेदकर शाश्वत् ब्रह्म में लय होने के लिये प्रस्तुत होती है, केवल उसी दशा में शास्त्रकारों ने यज्ञोपवीत और शिखा का परित्याग कहा है। अन्यथा तो द्विज को सर्वदा यज्ञोपवीतधारी ही होना चाहिये। आज इस नियम की ओर से भी लोग उदासीन से हैं। कभी मिल गया तो पहिन लिया नहीं तो नहीं सही। कभी वह बाबूजी के कमीज के साथ धोबी को दे दिया जाता है और कभी खूटी की ही शोभा बढ़ाता है। कभी

खण्डित अर्थात् टूटा हुआ भी गले में पड़ा रहता है। घर में सूतक पातक भी हो जाता है फिर भी वही पुराना यज्ञोपवीत गले में पड़ा रहता है यही सब ऐसी बातें हैं जिनके कारण यज्ञोपवीत को हम सूत का डोरा मात्र बना देते हैं, इसलिये इन बुराइयों से बचना चाहिये. टूट जाने पर. घर में किसी का जन्म या मृत्यु होजाने पर, रजस्वला. चाण्डाल. शव आदि से स्पर्श हो जाने पर, श्रावणी. सूर्य चन्द्र ग्रहणादि के अनन्तर, यज्ञोपवीत को अवश्य बदल लेना चाहिये. यथा :—

(क) सूतके मृतके क्षौरे चाण्डालस्पर्शने तथा।
रजस्वलाशवस्पर्शे धार्यमन्यन्नवं तदा (नारायण संग्रह)

(ख) मलमूत्रं त्यजेद्विप्रोविस्मृत्यैवोपवीतधृक्।
उपवीतं तदुत्सृज्य धार्यमन्यन्नवं तदा॥ (सायण)

शौचादि के समय कान पर क्यों ?

गृह्य सूत्रकारों ने शौच लघुशङ्का आदि के समय यज्ञोपवीत को कान पर लपेटने का विधान किया है, जैसा कि—

दिवासन्ध्यासु कर्णस्थो ब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः॥

—इत्यादि शास्त्रीय वचनों से स्पष्टतया प्रतीत होता है। शास्त्र के इस विज्ञान पूर्ण विधान के विषय में प्रायः अनेक प्रकार की शङ्कायें आस्तिक जन के हृदय में भी विद्यमान रहती है। प्रायः कहा जाता है कि यज्ञोपवीत कान पर ही क्यों लपेटा जाय—और वह भी दाहिने पर ही क्यों ? क्यों न उसे शिर पर रख लिया जाय या कन्धे पर इस प्रकार डाल लिया जाय कि उसके अपवित्र होने का यदि

कोई भय है तो वह भी दूर हो जाय। इसलिये हम इस विषय पर कुछ पंक्तियें लिखना आवश्यक समझते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से

यों तो मानव शरीर का ऊपरी भाग शिर आदि ज्ञान का केन्द्र होने के कारण परम पावन माना जाता है किन्तु उसमे भी दाहिने कान को शास्त्रकारों ने विशेष महत्व दिया है, जैसा कि—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः ॥

—इत्यादि अनेक उक्तियों द्वारा दाहिने कानमें आदित्य वसु रुद्र आदि देवताओंका निवास स्थान बतलाया गया है। इसलिये दाहिने कान की पवित्रता तथा महत्ता के अभिप्राय से ही पूज्य महर्षियों ने यज्ञोपवीत को उस दशा में जब कि सम्पूर्ण शरीर ही अपावन होता है पवित्रता के सब से महान् केन्द्र कान पर रखने का विधान किया है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से

शास्त्र विहित नियम प्रायः अनेक दृष्टिकोणों को अपने साथ समन्वित करके चलते हैं इसलिये इस नियम को हम शारीरिक शास्त्र (Physiology) दृष्टि से परखना चाहते हैं। मानव शरीर को ध्यान से देखिये। मध्य में वीर्यकोष है, यहां से चलने वाली लाल लाल रंग की नाड़ी—जिसे आयुर्वेद में लोहितिका या रक्तवाहिनी कहा जाता है—दाहिने कान से होकर

मनुष्य के मल मूत्रद्वार तक पहुँचती है। यों तो मनुष्य शरीर के नवों दर्वाजों से अनेक प्रकार का मल निकलता रहता है किन्तु वीर्य रूपी मल जो कि शरीर रूपी भवन की नींव के समान है—मल या मूत्र द्वार से ही क्षरित हुआ करता है। प्रायः शौच के समय ज़ोर लगाने से या लघुशङ्का के साथ वीर्य अज्ञात रूप से स्खलित होने लगता है और ध्यान न देने पर यह एक भयङ्कर रोग का रूप धारण कर लेता है जिससे शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट होकर मनुष्य जीवित ही मृतवत् हो जाता है, यदि इस नाड़ी को किसी प्रकार वेध दिया जाय या उसके प्रवाह को किसी भांति रोक दिया जाय तो फिर वीर्य के स्खलित होने का किसी प्रकार का भय नहीं रहता। क्रान्तदर्शी महर्षियों ने इन सब बातों का प्रत्यक्ष अनुभव करके इस नाड़ी के भेदन के लिये जहां एक ओर कर्णवेध की रीति प्रचलित की थी, वहां यज्ञोपवीत द्वारा उस नाड़ी को बांधने का स्वास्थ्यकर नियम भी प्रचलित किया था। इसके कारण वे वीर्य रक्षा में तो समर्थ होते ही थे किन्तु यज्ञोपवीत की पवित्रता को भी अक्षुण्ण रखते थे।

लौकिक दृष्टि से

लौकिक दृष्टि से कान पर यज्ञोपवीत का होना, मनुष्य के अपवित्र हाथ पांव होने का एक चिन्ह है—जिसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति दूर से ही समझ सकता है कि अमुक व्यक्ति जब तक मिट्टी आदि से हाथ मांज कर शुद्धि आदि न कर ले तबतक वह अस्पृश्य है। आजकल नयी सभ्यता में पले हुए महानुभाव शौचोपरान्त शुद्धि का ख्याल नहीं रखते जिससे हाथों में समाये मल के कीटाणु अनेक प्रकार के रोगों के कारण बनते हैं। यज्ञोपवीत ऐसी दशा में शुद्धि

करने की प्रेरणा करता है उसका यह मोटा लाभ है जिसे सर्व साधारण समझ सकते हैं ।

यज्ञोपवीत निर्माण विधि—

यज्ञोपवीत है सूत के धागों से बना हुआ नौ तार का एक डोरा ही,—परन्तु यह नौतार एक विशेष विधि से बने हुए ही होने चाहियें, मनमाने तरीके से सूत के कुछ धागों को बटकर यज्ञोपवीत नहीं बनाया जा सकता—वह तो सूत का डोरा मात्र होगा—यज्ञोपवीत नहीं ।

विशेष विधि क्यों ?

हमने पीछे बतलाया है कि यज्ञोपवीत द्विजाति के उन सम्पूर्ण उत्तरदायित्व, कर्तव्य भार, एवं उदात्त भावनाओं का प्रतीक है जो ईश्वर ने उसे सौंपी हैं । इसका सीधा अर्थ है कि यज्ञोपवीत महज एक सूत का डोरा नहीं किन्तु भावना सम्बन्धी अंश से व्याप्त एक ऐसा सूत्र है, जो हमारे जीवन को श्रुति-स्मृत्यनुमोदित मार्ग से भटकने से रोकता है । यदि उसके भावना सम्बन्धी अंश को हम सर्वथा भुलादें तो वह यज्ञोपवीत नहीं किन्तु सूत के चन्द धागों के अतिरिक्त कुछ न होगा । इन भावनाओं की जागृति के लिए ही शास्त्रकारों ने यज्ञोपवीत निर्माण की विधि निर्धारित की है और साथ ही यह भी व्यवस्था दी है कि प्रत्येक यज्ञोपवीत धारी स्वयं अपने हाथ के परिमाण से यज्ञोपवीत का निर्माण करे । जब हम स्वयं अपने हाथ से निर्माण करेंगे तभी उस विधि मे होनेवाली तत्तद् क्रियाओं के प्रति हमारे हृदय में जिज्ञासा पैदा होगी जिसका समाधान हम आचार्य या कुल गुरुओं की सेवामें प्राप्त कर सकेंगे।

इससे हमारे हृदय का अज्ञान ही दूर न होगा अपितु यज्ञोपवीत धारण से हम कितना गुरुतर भार अपने कन्धों पर उठाने को प्रस्तुत हो रहे हैं, कितनी भारी ज़ुम्मेदारी हमारे ऊपर आपड़ी है यह सब बातें भी हमें भली भांति ज्ञात होंगी। यदि बिना परिश्रम या बिना किसी विशेष विधान के हम सूत से यज्ञोपवीत तैय्यार करें या बाजार से खरीदें तो इन सब भावनाओं की ओर हमारा ध्यान जाना सर्वथा असम्भव है।

वह कौन २ भावनायें हैं ? इसका विवेचन तो हम आगे करेंगे पहिले संक्षिप्त में यज्ञोपवीत निर्माण विधिका वर्णन करना अनुचित न होगा। महर्षि कात्यायन कहते हैं--

अथातो यज्ञोपवीतनिर्माणप्रकारं वक्ष्यामः। ग्रामाद्बहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वाऽनध्यायवर्जितपूर्वाह्णे कृतसन्ध्याष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथाशक्ति गायत्रीं जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या वा कृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमां षण्णवतीं मिनोति, भुवरिति द्वितीयां, स्वरिति तृतीयां मीत्वा, पृथक् पलाशपत्रे संस्थाप्य, आपोहिष्ठे ति तिसृभिः, शन्नो देवीत्यनेन सावित्र्याचाभिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रिः संताड्य, व्याहृतिभिस्त्रिवलितं कृत्वा, पुनस्ताभिस्त्रिगुणितं कृत्वा, पुनस्त्रिवृतं कृत्वा प्रणवेन ग्रन्थिं कृत्वोङ्कारमग्निं नागान् यमपितॄन् प्रजापतिं वायुं सूर्यं विश्वान् देवान् नवतन्तुषु क्रमेण विन्यस्य सपूजयेद्। देवस्येत्युपवीतमादाय, उद्वयं तमसस्परित्यादित्याय दर्शयित्वा यज्ञोप-

वीतमित्यनेन धारयेदित्याह भगवान्कात्यायनः ।

(कात्यायन परिशिष्ट)

अर्थात्--अब हम यज्ञोपवीत बनाने की विधि कहते हैं। यज्ञोपवीत बनानेवाले को चाहिये गांव से बाहर किसी तीर्थ स्थान मन्दिर या गोशाला में जाकर अनध्याय रहित किसी भी दिन संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म तथा यथाशक्ति गायत्री जप करके ऐसे सूत से यज्ञोपवीत बनावे जो किसी ब्राह्मण द्वारा या ब्राह्मण कुमारी द्वारा अथवा सधवा ब्राह्मणी द्वारा बना हुआ हो। इस सूत को 'भूः' इस मन्त्र का उच्चारण कर ९६ अंगुष्ठ सहित चारों अगुलियों के मूल पर लपेटे और उसे उसे उतार कर किसी ढाक के पत्ते पर रख दे। इसी प्रकार 'भुवः' इस शब्द का उच्चारण कर दूसरी बार, और 'स्वः' इस शब्द का उच्चारण कर तीसरी पर हाथ पर लपेटे। अनन्तर 'आपोहिष्ठा' 'शन्नोदेवी' 'तत्सवितुः' इत्यादि तीन मन्त्रों से उन्हें जल से भिगोकर बांये हाथ मे रखकर तीन बार फटकारे। फिर तीन व्याहृतियों से उसे एक बटा देकर एक रूप बनाले। फिर फिर उन्हीं मन्त्रों से उसे त्रिगुणित करे और बटकर एक रूप बना ले उसको फिर त्रिगुणित करके प्रणव से उसमे ब्रह्मग्रन्थी लगावे। उसके ९ तन्तुओं में ॐकार अग्नि आदि देवताओं का क्रमशः आवाहन और स्थापन करे। 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि मन्त्र से सूर्य के सन्मुख करके 'यज्ञोपवीतं' इस मन्त्र से धारण कर ले।

कात्यायन से मिलती जुलती निर्माण विधि ही अन्य गृह्यसूत्रों में भी मिलती है। महर्षि देवल आदि स्मृतिकारों ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। इस विधि को पढ़कर साधारण व्यक्ति एक बारगी चकित रह जाता है, वह समझता है यह व्यर्थ का गोरख

धन्धा है जो श्रद्धालु जनता को भरमाने के लिये बनाया गया है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उपरोक्त सभी क्रियाएं वैज्ञानिक एवं गूढ़ अभिप्रायपूर्ण हैं जिनको समझ लेने पर हमें उन मेधावी मह-र्षियों की बुद्धि का कायल होना पड़ता है जिन्होंने आजसे लाखों वर्ष पूर्व इन तत्वों का प्रत्यक्ष अनुभव करके उससे मानव जातिको कृत-कृत्य किया।

९६ चप्पे क्यों ?

सब से प्रधान प्रश्न यह है कि यज्ञोपवीत का परिमाण ९६ चप्पे ही क्यों है ? ९५ या ९७ क्यों नहीं, एकाध ज्यादा या कम हो गया तो उससे क्या हानि ? कम से शायद कुछ हानि हो सकती है किन्तु 'अधिकस्याधिक फलम्' तो होना चाहिये।

वादी का उपरोक्त प्रश्न ठीक है, किन्तु क्या सांसारिक व्यवहार में हम ऐसे उदाहरण नहीं देखते जहां एक निश्चित परिमाण ही कार्य की सफलता का कारण माना जाता है। उससे कम या उससे अधिक परिमाण से उसका फल सर्वदा विपरीत हो जाया करता है। रासायनिक विज्ञान (Chemistry) के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं कि उसमें एक निश्चित परिमाण में अमुक वस्तुओं का संयोग ही पदार्थान्तर की उत्पत्ति का कारण बन जाया करता है।

उदाहरणतया—कार्बन के अणुओं में एक निश्चित पृथक् २ क्रम और ताप उत्पन्न करके उसे हीरा, काला सीसा (Graphite) और चारकोल में परिवर्तित कर दिया जाता है। यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि यदि दो दो तोले शहद और मक्खन मिला लिया जाय तो वह विष बन जाता है, कम या अधिक को मिलाने से कुछ नहीं बनता। इस प्रकार हम लोक में देखते हैं कि एक निश्चित परिमाण

ही कार्य सिद्धि का निमित्त होता है। फलत यज्ञोपवीत में ६६ चप्पों के परिमाण का सिद्धिदायक होना कोई लोक विरुद्ध बात नहीं है यह तो हुआ कम या अधिक को सम्मिलित करने के विषय पर विचार। अब ६६ ही क्यों ग्रहण किये जांय इस विषय में शास्त्र सम्मत नीचे लिखे हेतुओं का अनुशीलन कीजिए।

(१) हमने पीछे कहा है गायत्री वेदमाता है। समस्त वेदों में वह इसी प्रकार व्याप्त है जैसे माता पृथक् होते हुए भी मांस रक्त मज्जा आदि धातुओं के रूप से पुत्रों के शरीर में सर्वदा व्याप्त रहती है। गायत्री के चौवीस अक्षर होते हैं. चारों वेदों में व्याप्त गायत्री छन्द के सम्पूर्ण मिलाकर २४ × ४ = ६६ अक्षर हो जाते हैं। चूंकि यज्ञोपवीत एक ऐसा संस्कार है जिसमें द्विज बालक को गायत्री एवं वेद दोनोंका अधिकार प्राप्त होता है इसलिये इस सख्या को दृष्टि मे रखते हुए श्रुति ने ६६ चप्पे वाले यज्ञोपवीत को ही धारण करने का विधान किया है। निम्नलिखित कारिका मे आचार्यों ने इसी भावको व्यक्त किया है—

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी ।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत् ॥ (शिष्टस्मृति)

(२) हमारा शरीर २५ तत्वों से बना हुआ है, सत्वरजस्तम इन

टिप्पणी—आयुर्वेद के मतानुसार मानव शरीर में विद्यमान पदार्थों में से वीर्य, अस्थि ओज शिरा स्नायु आदि की उत्पत्ति पिता के शुक्रसे होती है और रक्त मज्जा मांस मेदकी उत्पत्ति माताके रज से। वीर्य एवं रजगत सभी गुण दोष सर्वदा मनुष्य शरीर के मूल में विद्यमान रहते हैं और इसी से कुल परम्परागत रोग एक से दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाया करते हैं। (सुश्रुत ३–३६)

गुणत्रय से यह सर्वदा व्याप्त रहता है। फलतः २८ संख्यात्मक— समुदाय वाला यह शरीर तिथि, नक्षत्रादि विविध भागों में विभक्त अनेक मानव संवत्सर पयन्त, इस ससार मे जीवन धारण करता है। यह जीवन लक्ष्यहीन नहीं है। 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' आज के सभ्य तथा प्रगतिशील मानव समाज का सिंहनाद भले ही हो किन्तु जीवन के एक २ क्षण को प्रभु का अमित वरदान समझने वाले महर्षियों ने इसका सर्वात्मना सदुपयोग किया और ईश्वरीय ज्ञान वेद का अवलम्बन करके ब्रह्म प्राप्ति का शाश्वत लक्ष्य मनुष्य के सामने रक्खा। अब यदि उपरोक्त सभी पदार्थों की संख्या का समन्वित योग किया जाय तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि वह भी ९६ ही होता है, यथा—

तत्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३, मास १२, इन सब का जोड़ ९६ हुआ।

सामवेद छान्दोग्य परिशिष्ट में इसी अभिप्राय को लेकर '९६ चप्पे क्यों' के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

तिथिवारञ्च नक्षत्रं तत्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्॥

(३) 'लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षमेकं तु भारतम्' इस आप्त वचन में वैदिक ऋचाओं की संख्या एक लाख बताई गई है। श्री भगवान् पतञ्जलि ने भी महाभाष्य मे वेद मन्त्रों की संख्या एक लाख बतलाई है। इन एक लाख मन्त्रों में ८०००० मन्त्र कर्मकाण्ड संबंधी हैं, १६०० उपासना काण्ड सम्बन्धी और ४००० ज्ञान काण्ड

सम्बन्धी। ब्रह्मचर्यावस्था--अर्थात् उपवीत होने के अनन्तर से वानप्रस्थ पर्यन्त प्रत्येक द्विजाति कर्म और उपासना का अधिकारी होता है और चतुर्थाश्रम- सन्यास में चले जाने पर उसे ज्ञान का अधिकार मिलता है। वेद की उपर्युक्त मर्यादा के अनुसार चूंकि उपनीत होने वाले व्यक्ति को ९६ हजार ऋचाओं का ही अधिकार प्राप्त होता है इसलिये उस उपवीत का परिमाण भी ९६ चप्पे होना युक्ति संगत ही है। शेष ४००० ऋचाओं के स्वाध्यायादि का जब अधिकार प्राप्त होगा तब यज्ञोपवीत की--जो कि प्रवृत्ति मार्ग के प्राणियों के लिये ही है कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये सन्यास धारण करने के समय उस मार्ग पर प्रस्तुत होने वाले व्यक्ति की शिखा एवं सूत्र दोनों वस्तुएं दूर कर दी जाती हैं।

यज्ञोपवीत की लम्बाई मोटाई के विषय में धर्मशास्त्रकारों की व्यवस्था है—

पृष्ठवंशे च नाभ्याञ्च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥
सिद्धार्थफलमानेन धार्यं स्यादुपवीतकम्।
यशोहरमतिस्थूलमतिसूक्ष्मं धनापहम्॥

अर्थात्—द्विजाति को ऐसा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये जो कन्धे के ऊपर से आता हुआ और नाभि का स्पर्श करता हुआ कटि तक ही पहुँचे, न इससे नीचे और न ऊपर। उसकी मोटाई सरसों की फली की तरह होनी चाहिये यदि उससे अधिक मोटा होगा तो वह यश नाशक होगा और पतला धन नाशक। यह व्यवस्था ९६ चप्पे का यज्ञोपवीत होने पर ही ठीक बैठती है। ऋषिकुल

ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार की वैदिक प्रयोगशाला में जब इस सिद्धान्त का इसी दृष्टि से परीक्षण किया गया तो यह देखकर आश्चर्य की सीमा न रही कि ९६ चप्पेवाला यज्ञोपवीत नितकुल कटि पर्यन्त ही पहुँचा जब कि अन्य परिमाण वाले यज्ञोपवीत इस कसौटी पर पूरे न उतरे। उसकी मोटाई आदि के बारे में जो कुछ कहा गया है वह कोई रहस्यमय उक्ति नहीं है। सभी लोग जानते हैं कि यज्ञोपवीत इस परिमाण से अधिक मोटा होना अपने फूहड़पन तथा अयोग्यता का निर्देशक होने के कारण जहां स्पष्ट ही यश का नाशक है, वहां बहुत पतला यज्ञोपवीत बार २ टूट जाने के कारण धन नाशक होगा ही।

(५) सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार मानव शरीर का आयाम ८४ अंगुल से लेकर १०८ अंगुल तक होता है जिसका कि मध्यमान ९६ ही होता है। इस दृष्टि से यज्ञोपवीत के ९६ चप्पे होने ही उपयुक्त हैं।

तात्पर्य यह है कि विभिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से परखे गये उपरोक्त समाधानों का अनुशीलन करने के बाद प्रयेत्क विचारशील पाठक इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि श्रुतिविहित स्मृत्यनुमोदित एवं मेधावी महर्षियों द्वारा समर्थित यज्ञोपवीत मान सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा सोच समझकर ही निर्धारित किया गया है।

तीन सूत्र और त्रिवृत क्यों?

तीन की संख्या ऐहलौकिक और पारलौकिक आध्यात्मिक और आधिदैविक सभी क्षेत्रों में अपना विशेष स्थान रखती है। ऋग्, यजु, साम,—वेद तीन; पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु,—लोक तीन; सत्व, रजः

तम–गुण तीन; ब्रह्मा, विष्णु, महेश–प्रधान देवता तीन; गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणा–अग्नि तीन, और यज्ञोपवीत के अधिकारी भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–तीन ही। ऐसी दशा मे यज्ञोपवीत के निर्माण में भी तीन सूत का उपयोग सर्वथा सुसंगत ही है। जब यह समस्त विश्व ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अभिन्न निमित्तोपादान कारण से निर्मित है, इसके प्रत्येक कण में त्रिगुण ओतप्रोत है तब यज्ञोपवीत का त्रिगुणात्मक तन्तुओं से निर्माण और त्रिवृतकरण कोई समझ मे न आने लायक बात नहीं है।

इसका एक अभिप्राय यह भी है कि इसे ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ तीन आश्रमों में रहते हुए धारण किया जाता है। चतुर्थाश्रम में पहुँचने पर जब मनुष्य ज्ञान मार्ग की ओर अग्रेसर होता है तब यज्ञोपवीत से उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता।

चूंकि यज्ञोपवीत के धारण से मनुष्य देवत्व की ओर अग्रेसर होता है– मृत्युलोक से ऊपर उठता है। इसलिये उन तीन सूतों को महाव्याहृति मन्त्रों से ऊपर को ही ऐंठा जाता है यह क्रिया मानो उसे ऊर्ध्व गमन की प्रेरणा देती है।

तीन सूत्र से निर्मित यह उपवीत उपरोक्त विधि से निर्मित होने पर अब नव तन्तुमय सूत्र बन जाता है। यह नवों तन्तु साधारण तन्तु नहीं किन्तु विभिन्न देवताओं के आवास स्थान होते हैं। गृह्य सूत्रकारों ने लिखा है कि यज्ञोपवीत तैय्यार हो जाने पर इसके नवों तन्तुओं मे विधिवत् निम्न लिखित देवताओं का आवाहन प्रतिष्ठापन करे। अमुक २ देवताओं का यह आवाहन और प्रतिष्ठापन 'भावनावाद' के अनुसार हमारे हृदय में तत्तद् देवताओं के विशेष गुणों का सञ्चार करेगा। —'मैंने तेज धृति शुचि आदि विविध गुण परिपूर्ण देवताओं से अध्यासित उपवीत को

धारण किया है। मैं तेजस्वी हूं, मैं धृतिमान हूं, मैं शुद्ध हूं' आदि भावनाएं हमारे चारित्रिक एवं नैतिक विकास में कितनी उपयोगी सिद्ध होती हैं इसे प्रत्येक विचारशील पाठक सहज ही अनुभव कर सकता है।

इन देवताओं की विद्यमानता से मनुष्य की मानसिक वृत्तियं विपथगामी न होकर शास्त्र निर्दिष्ट श्रेय मार्ग के प्रति प्रवृत्त होती हैं, कलुषित विचारोंका दमन होता है और शुभ विचारों का उदय। जिस प्रकार राजा के सानिध्य मे मनुष्य दुराचरण मे प्रवृत्त होते हुए भयभीत होते हैं इसी प्रकार इन देवताओं के सान्निध्य से भी उसका मन पाप की ओर प्रवृत्त होने मे भय का अनुभव करता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा भली भांति देखी जा सकती है कि जब मनुष्य विपथगामी होने लगता है तो सब से पहिले वह यज्ञोपवीत को ढोंग समझकर निकाल बाहर फेंक देता है। इससे उसका स्वच्छन्द मन भारमुक्त हो जाता है। जिन देवताओं के सान्निध्य से पाप करतेहुए उसका हृदय कांपता था, उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों में बाधा पड़ती थी उन्हें दूर करके ही उसका अज्ञ हृदय प्रसन्नता अनुभव करने लग जाता है। अब उसके सामने भक्ष्याभक्ष्य और कार्याकार्य का कोई बन्धन नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञोपवीत में ऐसी कोई शक्ति अवश्य थी जो बार २ उसके हृदय को टोकती थी और उसे पापाचरणमें प्रवृत्त होते समय रोकती थी।

यह ६ देवता कौन २ हैं इसके लिये सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट में लिखा है--

ॐकारोऽग्निश्च नागश्च सोमः पितृप्रजापती।
वायुः सूर्यश्च सर्वश्च तन्तुदेवा अमी नव॥

ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च ।
ततीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवताः ॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः ।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च ॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः ॥

निम्न लिखित कोष्ठक से आह्वनीय देवताओं और उनके गुण विशेष का परिचय मिल सकता है।

नाम तन्तु	अधिष्ठाता	गुण
१	ॐकार	ब्रह्मलाभ
२	अग्नि	तेजस्विना
३	अनन्त	धैर्य
४	चन्द्र	आह्लादकत्व
५	पितृगण	स्नेह
६	प्रजा	प्रजापालन
७	वायु	शुचित्व
८	सूर्य	प्राणत्व
९	सर्वदेव	सर्वगुण

ब्रह्मग्रन्थि क्यों ?

यज्ञोपवीत निर्माण विधि में पीछे बतलाया गया है कि यज्ञ सूत्र के तैय्यार हो जाने पर उसमें प्रणव रूपी महामन्त्र का उच्चा-करता हुआ ब्रह्मग्रन्थी लगावे। यह ब्रह्मग्रन्थी ब्रह्म सूचक ग्रन्थी होने के कारण ही ब्रह्म ग्रन्थी कहलाती है। यह समस्त विश्व ब्रह्म

से प्रादुर्भूत हुआ है और अन्त में उसी में लय हो जायगा। 'हरि रेव जगद् जगदेव हरिः' के अनुसार यह समस्त संसार ब्रह्म की ही छाया माया है और उससे भिन्न संसार में कुछ भी नहीं है। मनुष्य इस महान् तत्व को भुलाकर ही काम क्रोध लोभ मोहादि सांसारिक प्रपंचोंमें लिप्त हो जाता है। इस सर्वदा स्मरणीय तत्त्वको प्रति क्षण ध्यान में रखने के अभिप्राय से ही यज्ञोपवीत अन्त में ब्रह्मग्रन्थी पर समाप्त होता है। संसार में प्रायः यह परिपाटी प्रसिद्ध है कि जब हम किसी वस्तु को विशेष रूप से स्मरण रखना चाहते हैं तो उसके लिये कपड़े में एक गांठ लगा लिया करते हैं। 'गांठ बांध लेना' ऐसे ही अर्थ में एक सुप्रसिद्ध लोकोक्ति तक बन गई है। फलतः ब्रह्मप्राप्ति रूप चरम लक्ष्य की स्मारक ही यह ग्रन्थी 'ब्रह्मग्रन्थी' कहलाती है। प्रणव रूपी महामन्त्र स्वयं समस्त वेद राशि का सङ्क्षिप्ततम रूप है। उसमें विद्यमान अ+उ+म् यह तीनों वर्ण सत्वरजस्तम तथा ब्रह्मा विष्णु रुद्र रूपी ब्रह्माण्ड नियामक तीनों शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक वाङ्मय मूलाधारभूत प्रणवसे उस उपवीत में ग्रन्थी बन्धन 'प्रणव जप द्वारा ब्रह्म में लय होने की शास्त्रीय पद्धति का कितना सुन्दर निदर्शन है—यह अनायास ही समझा जा सकता है।

ब्रह्म ग्रन्थी के ऊपर अपने २ गोत्र प्रवरादि के भेद से १, २, ३, या ५ गांठ लगाने के शास्त्रीय विधान का तात्पर्य अपनी कुल परम्परा से आती हुई शास्त्र मर्यादा की रक्षा है और है उन पुण्यात्माओं पूर्व पुरुषों का स्मरण जिनके हम उत्तराधिकारी हैं, जिनकी सुदीर्घ तपश्चर्या अटूट परिश्रम और सत्य निष्ठा के कारण आज हम सन्मान के साथ जीवित हैं।

दो यज्ञोपवीत क्यों ?

(क) ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातकस्य द्वे बहूनि वा।

(आश्वलायन गृह्यसूत्र)

(ख) यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।

तृतीयमुत्तरार्थे च वस्त्राभावे तदिष्यते ॥ (हेमाद्रि)

अर्थात्—(क) ब्रह्मचारी का एक यज्ञोपवीत होना चाहिये, स्नातक के दो या उससे अधिक। (ख) श्रौत स्मार्त कर्मों की निष्पत्ति के लिए दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहिये, यदि उत्तरीय वस्त्र न हो तो तीसरा धारण किया जा सकता है।

धर्म शास्त्रकारों की उपर्युक्त व्यवस्था सम्बन्धी 'क्यों' का उत्तर (ख) भागोल्लित श्लोक में ही दे दिया गया है। ब्रह्मचर्यावस्था में द्विज बालक का कार्य केवल अग्नि परिचर्या और गुरु शुश्रूषापूर्वक विद्याध्ययन है। कर्मकाण्ड के अन्य जटिल जंजाल से उस बटुक को शास्त्रों ने सर्वथा दूर रक्खा है क्योंकि ऐसा न करने से उसके अध्ययन में विघ्न पडने की पूरी सम्भावना है जैसा कि आजकल भी विद्यार्थियों को सब प्रकार के राजनैतिक संघर्षों से दूर रखने का प्रयत्न किया जाता है। चूंकि उस बालक को ब्रह्मचर्य्यावस्था में रहते हुए गृहस्थाश्रम में होने वाले काम्य कर्मादि नहीं करने पड़ते, इसलिए गृह्य सूत्रकारों ने उसे यज्ञ वेदी पर एक ही यज्ञोपवीत धारण करने का विधान किया है। स्नातक हो जाने के उपरान्त मनुष्य को सभी प्रकार के श्रौत और स्मार्त कर्मों के करने की आवश्यकता पड़ती है इसलिये उभयविध कर्मों के प्रतिनिधि स्वरूप दो यज्ञोपवीत धारण करने का शास्त्रीय नियम सुसंगत होता है। लोग

कहा करते हैं कि दूसरा यज्ञोपवीत स्त्रीके हिस्से का है। उनके इस कथन का तात्पर्य इतना ही हो सकता है कि चूंकि स्त्री के आजाने पर—समवर्तनान्तर गृहस्थ में प्रवेश कर लेने पर—ही यह दूसरा यज्ञोपवीत धारण किया जाता है अतः लक्षण से स्त्री मूलक होने के कारण इस यज्ञोपवीत को स्त्री के हिस्से का कहना अनुपयुक्त नहीं। इसके अतिरिक्त सगुण और निर्गुण भेद से उभयविध ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले होने के कारण दो ही ब्रह्मसूत्र धारण करने चाहियें।

स्त्री शूद्रोपनयन विचार

सभ्यता संस्कृति एवं विभिन्न विचारों के इस संघर्षमय युग का विषाक्त प्रभाव सभी दिशाओं में पडा है और उससे मानव हृदय में अनन्तकाल से विद्यमान श्रद्धा एवं विश्वासमयी भावनाओं की सुदृढ़ नींव भी एक बारगी हिल उठी है। लोग शास्त्रवाद से, तर्क—अनैकान्तिक तर्कवाद की ओर आरहे हैं और प्राचीन समय से चली आनेवाली सभी व्यवस्थाओं को छिन्न भिन्न करके मनमाना आचरण ही आज का धर्म हो गया है। जन-कल्याण-विधायनी श्रुति माता ने क्रान्तदर्शी महर्षियों तथा स्मृतिकारों ने जिन त्रैवर्णिक पुरुषों को यज्ञोपवीत धारण करने का आदेश दिया था उन्हें तो वह व्यर्थ भार प्रतीत हो रहा है और जिनको श्रुति ने उपनयनके कठिन नियमों से मुक्त कर सरल पद्धति से कल्याण का अधिकारी बनाया वे स्त्री शूद्रादि, आज यज्ञोपवीत धारण करने के लिये उतावले दिखाई पड़ते हैं।

उनके उपनयन और वेदाध्ययन को सिद्ध करने के लिये जहां एक ओर हृदय ग्राही रोचक तर्कों का आश्रय लिया जाता है वहां

साथ ही वेद धर्मशास्त्र स्मृति पुराण का आलोडन करके—उसमें लम्बी चौड़ी डुबकियें लगाकर तत्सम्बन्धी प्रमाणों की पडताल करने में भी आकाश पाताल एक किया जा रहा है।

हमारे विचार में यदि उपनयन सम्बन्धी इस निबन्ध में उपरोक्त विषय पर प्रकाश न डाला जाय तो यह अधूरा ही रहेगा एतदर्थ इस पर भी लगे हाथों कुछ विचार व्यक्त करना अप्रासंगिक न होगा।

आज के प्रगतिशील कहे जाने सुधारकों की ओर से कहा जाता है कि—जब भगवान् की प्रत्येक वस्तु मनुष्य मात्र के लिये बनाई गई है, यथा—सूर्य, चन्द्र, तारागण, वायु, जल, जंगल, पहाड़, पशु पत्ती इत्यादि। तब वेद से या वेद प्रोक्त उपनयनादि संस्कारों से—जिनमें मनुष्यमात्र का कल्याण निहित है—स्त्री एवं शूद्रों को क्यों वंचित रखा जाता है? ज्ञान पर ताला लगाना या उसे किसी की बपौती समझ कर दूसरों को उसे प्राप्त करने से रोकना कहां तक उचित है? इस प्रकार की कल्याणमयी पद्धतियों पर और संस्कारों पर मनुष्य मात्र का समान अधिकार होना चाहिये। ऐसा न करना जहां एक ओर स्त्री शूद्र के प्रति घोर अन्याय है, वहां साथ ही वेद की उस आज्ञा का प्रत्यक्ष विरोध भी, जिसके द्वारा उसने मनुष्य मात्र के लिये ज्ञान के द्वार खोल रक्खे हैं। 'यथेमां वाचं कल्याणीं' आदि अनेक मन्त्र और ऐतिहासिक साहित्य इस बात के जीते जागते प्रमाण हैं कि प्राचीन काल में प्रत्येक पुरुष को समान रूप से उपनयन वेद पाठ आदि का अधिकार था ... आदि २।

उपरोक्त तर्कोंको सुनने और पढ़ने का अवसर हमें प्रायः मिलता ही रहता है। इधर सं० २००२ में जब कि हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस के धर्म विज्ञान विभाग के प्रोफेसरों द्वारा विश्व विद्यालय

के फारसी के प्रोफेसर मु० महेश प्रसाद जी एम० ए० मौलवी 'फाजिल' की कन्या कल्याणी देवी को वेद पढ़ाना अस्वीकार कर दिया गया तबसे इस विषय की ओर लोगोंका अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ। इस घटना ने शांत वातावरण में एक क्रान्ति सी पैदा कर दी। सुधारकों और नव शिक्षित वेदज्ञाभिमानियों ने अखवार के कालम के कालम रंग डाले। तरह २ की पुस्तकें प्रकाशित की गईं जिनका एक मात्र उद्देश्य उसके वेदाधिकार का समर्थन था।

इस आन्दोलन में हमें दो प्रकार के व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं। एक वे जो वेद धर्मशास्त्र आदि के नाम पर ऐसा करना चाहते हैं, दूसरे वे जो वेद शास्त्रादि को कोई प्रामाण्य न देते हुए तर्क के बल पर ही आरूढ़ हैं। पहिलों का कथन है कि वेदमें कोई इस प्रकारका वचन नहीं है जिससे स्त्री शूद्रों के उपनयन या वेदाध्ययन का निषेध हो, यह तो रूढ़िवादियों द्वारा प्रचलित संकुचित मनोवृत्तिपूर्ण सिद्धान्त है—जिसका कि किसी आर्ष ग्रन्थ से समर्थन नहीं होता। तदनुसार हम प्रथम इस प्रकार के प्रमाण उपस्थित करेंगे जिनसे विदित होता है कि वेदसे लेकर तदुपबृंहण रूप स्मृति, सूत्र, पुराणादि सभी ग्रन्थों मे कितने स्पष्ट शब्दों में स्त्री शूद्र के उपनयन तथा वेदाध्ययन का निषेध समुपलब्ध होता है।

यहां यह समझ लेना चाहिये कि उपनयन तथा वेदाध्ययन इनका परस्पर आश्रयाश्रयी भाव सम्बन्ध है। यज्ञोपवीत या ब्रह्मसूत्र की परिणति यज्ञ और ब्रह्म-अर्थात् वेद के अध्ययन में है। सीधे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि यज्ञोपवीत इसलिये किया जाता है कि उपनीत व्यक्ति को यज्ञ और वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो सके। यज्ञोपवीत और ब्रह्मसूत्र इन दोनों शब्दों से स्वयं ही यह अर्थ ध्वनित हो रहा है। इसी प्रकार यज्ञ और ब्रह्म- वेद की सार्थ-

कना भी यज्ञोपवीत से ही है। बिना यज्ञोपवीत के न यज्ञ किया जा सकता है न वेद पाठ। किम्बहुना, यज्ञोपवीत, यज्ञ और वेद यह तीनों परस्पर समाश्लिष्ट हैं और एक दूसरे के लिये सापेक्ष्य भी। इसलिये इनमें से एक वस्तु का भी विधान तीनों का विधान है और एक का निषेध तीनों का निषेध। इसलिये अधोलिखित निषेध वचनोंमें किसी एकका विधान या निषेध देखनेपर इस प्रकार का संशय व्यर्थ है कि अन्यों का तो विधान या निषेध है ही नहीं।

निषेध परक प्रमाण

(क) स्तुता मया वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। (अथर्व० १६।७१।१)

(ख) सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्रायनेच्छन्ति सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्री-शूद्रः स मृतोऽधो गच्छति, तस्मात्सर्वथा नाचष्टे स आचार्य स्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति।

(अथर्व०, नृसिंह पू० ता० १।३)

(ग) स्त्रीणां शूद्रान्धपंगूनां वधिराः पतिताश्च ये।
क्लीबानां नैव कामानां वेदविद्याधिकारिता॥

(अस्यवामीय सूक्त आत्मानन्द भाष्य)

(घ) आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः।

(अथर्व ११।५।३)

(ङ) ब्रह्मचारी एति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। (अथर्व० ११।५।६)

(च) वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥
(मनु० १ । ६७)

(छ) न वै देवा सर्वेणैव संवदन्ते ब्राह्मणेनैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञीयाः ।

(ज) नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥
(मनु० ११ । ३६)

(झ) तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ।
(याज्ञ शिक्षा १ । २ । १३)

(ञ) तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ।
(मीमांसा दर्शन ६ । १ । २४)

(ट) सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति, शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययन-निराकरणेन कृतत्वात् । (१ । ३ । ३४)

(ठ) अयं स होता यो द्विजन्मा । (ऋ० १ । १४६ । ५)

(ड) तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः । (तै० सं० ७ ।१।१।६६)

(ढ) 'अपि तत्र भवान् वृषलं याजयति' अहो अन्याय्यमेतत् । 'कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत् । यच्च यत्र वा तत्र भवान् वृषलं याजयेद्, गर्हामहे

अन्याय्यमेतत् ।

(स्वा० दयानन्द लक्कारार्थ प्रक्रि० पृ० २६२, ६३, ६४)

(ण) स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । (श्रीमद्भा०)

(त) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला… ..

(सस्कार विधि पृ० २३०)

अर्थात्—(क) द्विज=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को पवित्र करने वाली वेद रूपी माता मेरे द्वारा स्तुत होकर मुझे (ज्ञान की) प्रेरणा करे। (ख) गायत्री मन्त्र ॐकार, यजुर्वेदोपलक्षित यज्ञादि का अधिकार स्त्री शूद्र के लिये अभीष्ट नहीं, यदि वे हठात् इनको ग्रहण करें तो मरने पर नरक को प्राप्त होते हैं। यदि आचार्य उन्हे इनका उपदेश दे तो वह भी नरक को प्राप्त हो। (ग) स्त्री शूद्र अंधा लंगड़ा, बहरा, पतित, नपुंसक और काणा—इन्हें वेद का अधिकार नहीं। (घ) आचार्य ब्रह्मचारी को (ब्रह्मचारिणी को नहीं) उपनीत करके तीन रात्रिपर्यन्त अपने पास रखता है और फिर वह जब ज्ञानी बनकर बाहर आता है तब देवता भी उसके दर्शन के लिये लालायित होते हैं। (ङ) मृगचर्म मेखलाधारी दीर्घ श्मश्रुवाला ब्रह्मचारी (क्या स्त्री मेखला कौपीन धारण पूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करती है और मूछ दाढ़ी वाली होती है ?) यज्ञ के लिये समिधा लेकर आता है। (च) स्त्रियों का विवाह ही उनके यज्ञोपवीत संस्कार के समान है, पति सेवा गुरुगृहवास स्थानीय है, और घर का काम काज-भोजनादि बनाना ही अग्न्याधान है। (छ) देवता सभी से हवि ग्रहण नहीं करते, वे तो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य से दी हुई ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि इनका ही यज्ञ मे अधिकार है। (ज) कन्या, युवति स्त्री, थोड़ा पढ़ा हुआ, मूर्ख, बीमार, संस्कार हीन को अग्निहोत्र में

होता नहीं बनाया जा सकता। (झ) विवाह को छोड़कर स्त्रियों के शेष सभी संस्कार बिना मन्त्र के ही होते है। (ञ) स्त्री पुरुष के तुल्य नहीं हो सकती क्योंकि वह ब्रह्मचर्य आदि कई बातों में उससे भिन्न है। (ट) केवल 'उसमें ऐसा करने की ताकत है' इतने मात्र से किसी को अधिकार नहीं दिया जा सकना, क्योंकि शास्त्रीय विषय में तो शास्त्रीय शक्ति की ही आवश्यकता है। स्त्रियों की शास्त्रीय सामर्थ्य तो यज्ञोपवीत के न होने से ही उनमें न रही फिर उनका यज्ञ में अधिकार कैसा ? (ठ) जो, द्विज माता पिता से उत्पन्न है वही 'होता' हो सकता है। (ड) इसलिये शूद्र का यज्ञ में अधिकार नहीं। (ढ) क्या तुम शूद्र को यज्ञ करवाते हो, यह तो बड़ा अन्याय है। आप शूद्र का यज्ञ कैसे करवाओगे। आप जहां कहीं शूद्रों को यज्ञ करायगे हम उसको निन्दा करेंगे, यह बड़ा अन्याय है। (ण) स्त्री शूद्र और पतित द्विजों को वेदत्रयी का अधिकार नहीं।

श्रुति स्मृति पुराण प्रतिपादित शतश' प्रमाणों में से उद्धृत इन कतिपय प्रमाणों को देखकर पाठक स्वयं सत्यासत्य का निर्णय कर सकते हैं, कि स्त्री शूद्रों का वेदाऽनध्यन तथा उपनयनाभाव रूढ़िमात्र पर अवलम्बित है या शास्त्रीय प्रमाणों पर ? इन डेढ़ दर्जन प्रमाणों की उपस्थिति में इस प्रकार की उक्तियें बालविजृम्भित ही नहीं किन्तु आर्ष साहित्यके प्रति अपनी अज्ञता का स्पष्ट प्रदर्शन भी हैं।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कुछ और भी बातें विचारणीय हैं जिनसे इस दिशा में काफी प्रकाश पड़ता है।

(१) जैसा कि हम पीछे कह आये हैं उपनयन काल के सम्बन्ध में श्रुति की व्यवस्था है कि—'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्। भगवान् कृष्ण ने—'ऋतूनां कुसुमाकरः' कह

कर वसन्त को अपनी विभूति वतलाया है, अतः दैवी सम्पत्ति युक्त ब्राह्मण बालक के उपनयन के लिये वसन्त ऋतु का, निदाघ के उत्तप्त सूर्य के सदृश प्रखर तेजस्वी क्षत्रिय बालक के लिये ग्रीष्म का और शरद् ऋतुकी पोषक शक्ति के अनुरूप वैश्य पुत्रके लिये शरद् ऋतु का विधान तो शास्त्रकारों ने कर दिया किन्तु शूद्र के लिये उन्हें अनुकूल ऋतु ही नहीं मिली इसलिये उसके लिये कोई विधान नहीं किया गया। यदि आज उनका यज्ञोपवीत किया जाय तो वह किस ऋतु में हो और क्यों? श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज भी —जिन्होंने शायद स्त्री शूद्रों के उपवीत के लिये प्रथम वकालत की है उनके लिये किसी ऋतु का निर्धारण नहीं कर सके हैं और संस्कार विधि में—

'ब्राह्मण पदाधिकारी बालक का वसन्त, क्षत्रिय पदाधिकारी का ग्रीष्म, और वैश्य पदाधिकारी बालक का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करे।' (स० वि० पृष्ठ ३३४)

—केवल ब्राह्मणादि तीनों वर्ण का ही यज्ञोपवीत कहकर रह गये हैं।

(२) इसी प्रकार—'अष्टमेऽब्दे ब्राह्मणम्, गर्भैकादशे राजन्यम्, गर्भाद् द्वादशे वैश्यम्' इस श्रुति द्वारा ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की उपनयन कालिक अवस्था का विधान है, जिस पर स्वामी दयानन्द जी भी एकमत हैं। इसमें भी शूद्र बालक की अवस्था की कोई चर्चा नहीं, तब यदि उनका यज्ञोपवीत हो तो किस अवस्था में हो और उसी में क्यों? यह प्रश्न भी असमाधेय ही है।

(३) श्रुति के आदेशानुसार उपवीत होने वाले व्यक्ति को

मुण्डन कराकर गुरु के सन्मुख यज्ञवेदी पर उपस्थित होना पड़ता है जहां आचार्य उसे ब्रह्मसूत्र पहिनाता है। उसके पुराने वस्त्रों को उतारकर उसे कौपीन दण्ड मेखला आदि ब्रह्मचर्याश्रम के चिन्ह धारण करने को दिये जाते हैं। तब आचार्य उसे अपने सान्निध्य में ले लेता है और शास्त्रादेशानुसार ब्रह्मचर्य समाप्ति पर्यन्त उसे गुरु गृह में रहकर विद्याध्ययन करना पड़ता है। श्री स्वा० दयानन्द जी ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है—जिस दिन उपनयन करना हो उसदिन प्रातःकाल बालक का क्षौर स्नानादि कराके ······ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठाये"। अब यहां प्रश्न होता है कि क्या श्रुति प्रतिपादित एवं स्वामी दयानन्द जी से समर्थित यह क्षौर मुण्डनादि कन्याओं का भी कराया जाएगा। वे भी कौपीन मेखला दण्ड आदि धारण कर गुरुगृह में रहेंगी या उन्हें इस नियम से मुक्त कर दिया जाएगा। यदि प्रथम वस्तु हो तो वह कहां तक सम्भव है। यदि दूसरी रीति का अवलम्बन करे तो उसके ग्रहण करने का शास्त्रीय वचन भी तो चाहिये। कदाचित् कहा जा सकता है कि—इन अंग भूत कर्मों के अनुष्ठान किये बिना भी यज्ञोपवीत पहिनाया जा सकता है—किन्तु किसी प्रमाणभूत शास्त्रीय वचन के के अभाव मे ऐसी व्यवस्था जहां कपोल कल्पित होने के नाते अमान्य है वहां साथ ही कर्म वैगुण्य सम्पादक भी हो सकती है। ऐसी दशा में किया हुआ कर्म फिर उपनयन नहीं रहा वह तो उपनयन का नाटक मात्र ही हुआ और विधिहीन होने के कारण तामस् ही कहा जायगा।

(४) लौकिक दृष्टि से देखने पर भी स्त्रियों के उपनयन और वेदाध्ययन का अनौचित्य स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, क्योंकि स्त्री का स्त्रीत्व उन्हें प्रायः अपवित्र दशा में रहने के बाध्य करता है जिससे

यज्ञोपवीत के नियमों का पालन उनके लिये कठिन बन जाता है। प्रतिमास रजस्वला होनेपर, प्रसवकाल मे, तथा बालकों के मलमूत्र आदि में ही स्त्री का समय व्यतीत होता है। स्त्रीके जिस वक्षःस्थल पर ब्रह्मसूत्र लटकाना चाहते हैं वह तो धूलि धूसरित मल मूत्र दिग्धांग नवजात शिशु का दिन रात स्तनपान के समय क्रीड़ास्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरी के साथ कुतुहल से कल्लोल करेगा ? तब—'यज्ञोपवीत परमं पवित्रम्' कहां रहा ?

(५) प्रकृति ने स्त्री को अबला बनाया है। उसका कारण यह है, कि पिता के थोड़े शुक्र तथा माता के अधिक रज से कन्या का शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु होती है और रज तृतीय। पहिला सौम्य है दूसरा आग्नेय, अतः शुक्र की अपेक्षा रज सर्वदा निर्बल होता है। शुक्र से अस्थि आदि कठोर तथा शरीर को सबल बनाने-वाली वस्तुएं बनती हैं कन्याके शरीरमें अस्थि आदि कठोर वस्तुओंकी गौणता होती है और रजोमूलक कोमल वस्तुओं की अधिकता। अतः स्त्री प्रकृति से ही पुरुष की अपेक्षा निर्बल है। उसका शरीर अत्यन्त परिश्रम साध्य वेदाध्ययन और २५ वर्षपर्यन्त कठिन ब्रह्मचर्यके सर्वथा अनुपयुक्त है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—शुक्र निरोध। कन्याओं में शुक्र स्थानीय रज होता है किन्तु उसका निरोध स्त्री के वश की बात नहीं। वह तो १२ वर्ष के बाद प्रतिमास प्राकृतिक नियमानुसार अवश्य क्षरित होता है। जब वह मुख्यार्थ में ब्रह्मचारी भी नहीं हुई ऐसी दशा में ब्रह्मचर्याश्रम मूलक उपनयन तथा वेद में भी उसका अधिकार कदापि नहीं हो सकता। रज को पुष्प कहा जाता है, उसके प्रकट होने का तात्पर्य प्रकृति के इस इंगित की ओर है कि उसे अब फलवती होना चाहिये। प्रकृति का इंगित उसके विवाह में है, १२ वर्ष के बाद विद्याध्ययनार्थ गुरुकुल भेजने में नहीं। यदि

स्थान स्त्री को वेदाध्ययन में प्रवृत्त किया भी जाय तो उस परिश्रम से उसके वे शारीरिक मज्जातन्तु—जिनकी सहायता से वह सन्तान प्रसव करती है निर्बल पड़जाते हैं। जिसका परिणाम भावि सन्तान को भुगतना पड़ता है।

स्मृतिकारों ने जैसे अन्तिम वर्ण के अधिकार मे सेवा का काम सौंपा था तथा ऐसे वेदाध्ययन और यज्ञोपवीत रूप कठोर व्रत से मुक्त कर दिया था। वैसे ही स्त्री को भी पति, उसके परिवार एवं सन्तति की सेवाका भार सौंपकर इस कर्तव्य पालनसे ही उसे यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययनजन्य फल प्राप्तिका अधिकार दे दिया था; इसी सेवा से वह परलोक सुधारके साथ सामाजिक सुधार भी करती थी।

(६) उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि भेद से मन्त्रों का ठीक २ उच्चारण शारीरिक तथा कण्ठ सम्पूर्णता विना सम्भव नहीं। वेदाध्ययनाधिकार में इस तथ्य का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है और—'स्त्रीणां शूद्रान्धपंगूनां'—इत्यादि वचनानुसार जिनमे यह सम्पूर्णता जरा भी व्याहत दिखलाई पड़ी उन्हें वेदाधिकार से वञ्चित रक्खा गया है। श्रुति में उच्चारण शुद्धता का पूर्ण ध्यान रखना अत्यावश्यक है अन्यथा–'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति'–इस महाभाष्योक्त के अनुसार उसका जरा सा भी अशुद्ध उच्चारण लाभप्रद होने की बजाय प्रत्यवायजनक बन जाता है। असंख्य पीढ़ियों से वेदोच्चारण में अभ्यस्त द्विज बालकों के कण्ठ में जो सम्पूर्णता विद्यमान है वह शूद्र बालकों के कण्ठ में नहीं। हिन्दी पढ़े लिखे अंग्रेज हिन्दी का पर्याप्त अभ्यास करने पर भी दन्त्य अक्षरों का उच्चारण नहीं कर पाते। उनका—'बोलते हो' के स्थान में—'बोलटे हो' का उच्चारण प्रायः प्रसिद्ध है। यही बात अन्य भाषाओं के विषय में भी है। अंग्रेजी और अरबी का जितना शुद्ध

निर्विकार उच्चारण एक अंग्रेज और अरब कर सकता है उतना हम लोगों से सम्भव नहीं। फलतः शूद्र बालकों से विशुद्ध और निर्विकार वेदोच्चारण की आशा करना शशशृंगायित है।

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ ।

स्वरितप्रभवाः शेषाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥

अर्थात्—उदात्त में निषाद गान्धार स्वर आते हैं, अनुदात्त में ऋषभ धैवत और शेष षड्ज मध्यम पञ्चम-ये तीन स्वरित के अन्तर्गत होते हैं। ऐसी दशा में कोकिल कण्ठी नारियों से ऋषभ धैवत स्वर कैसे निकलेंगे और असंस्कृत शूद्र इनका कैसे प्रयोग कर सकता है? इसलिये दूरदर्शी महर्षियों ने उनके लिये वैदिकी व्यवस्था न कर पौराणिकी व्यवस्था ही की है, अतः यह उनकी वंचना नहीं, किन्तु महती कृपा ही समझनी चाहिये।

इस विषय पर इतना अधिक लिखा जा सकता है कि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ तैय्यार हो जाय किन्तु विषय विस्तार भयात् हम अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही इस पर विचार करने के लिये विवश हैं। इस प्रकार प्रामाण्य और बुद्धिवाद द्वारा इस विषय पर विचार करने के अनन्तर हम उन प्रमाणों, नहीं नहीं प्रमाणाभासों का भी परीक्षण करना चाहते हैं जिनको वेदवेत्ता होने का झूठा दावा करने वाले आधुनिक-ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध पाश्चात्य शिक्षा प्रभावित भारतीय आलोचक जनता के समक्ष उपस्थित करके उसे पथ भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया करते हैं। आश्चर्य यह है कि इस प्रकार के बुद्धिवादी, प्रामाण्यवाद में कोई विश्वास न रखते हुए अपना मतलब सिद्ध करने के लिये जहां वेद, पुराणादि ग्रन्थों के अनेक प्रमाण उपस्थित करते हैं वहां उन ही प्रामाण्य ग्रन्थों को 'प्रक्षिप्त' 'बीसवीं

मती के अयोग्य' आदि २ अनेकों सार्टिफिकेट देने में भी देर नहीं लगाते। श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री के शब्दों में अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये ये लोग कभी किसी अप्रसिद्ध ग्रन्थ की टीका तक भी मान लिया करते हैं तो कभी प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक मूल ग्रन्थ को भी मानने से इन्कार कर दिया करते हैं। यदि ऋग्विधान, भूत प्रेतादि का वर्णन कर दे तो इनके मत में वह अप्रमाण हो जाता है और यदि कहीं स्त्री को जप विशेष लिख दे प्रमाण हो जाता है, अस्तु अब पाठक उन प्रमाणाभासों का परीक्षण करें।

प्रमाणाभास-निरास

(क) यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥
(यजु. २६।२)

(दयानन्द भाष्यानुसारी अर्थ) हे मनुष्यो! जैसे मैं ईश्वर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अपने स्त्री सेवकादि और उत्तम लक्षण युक्त अन्त्यजादि के लिये भी संसार में प्रकट की हुई चार वेद रूप वाणी का उपदेश करता हूं वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें।

दयानन्द सरस्वती कृत उपरोक्त अर्थ को जब हम आलोचना की कसौटी पर कसते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि या तो वे अपनी वेदानभिज्ञता के कारण इस अर्थ के करने में पर्वतायमान भूल कर गये हैं या उन्होंने वेदों का 'मुताअला' करने वाले अंग्रेजीदां बाबुओं को बहकाने के लिये जान बूझकर अर्थ का अनर्थ कर डाला है। यह अर्थ न केवल उनके उर्वर (?) मस्तिष्क की नवीन

कल्पना मात्र ही है किन्तु विरुद्धार्थता असम्भवता, पुनरुक्ति, वदतो-व्याघात, आदि समस्त दोषों का एकत्र संग्रह भी इनमे बखूबी देखा जा सकता है। वेद जैसे प्रामाणिक ग्रन्थ का भाष्य करते हुए भी वे उसमें अपनी ओर से नये पद जोड़कर अर्थ विकृत करने में नहीं चूके। इस मन्त्र में 'हे मनुष्यो !' 'मैं ईश्वर' 'स्त्री सेवकादि' 'उत्तम लक्षण युक्त अन्त्यजादि' 'इस संसार में प्रकट की हुई चार वेद रूपी वाणी को' 'वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें' यह सभी शब्द स्वामीजी के अपने ही हैं, इन अर्थों को बतलाने वाले शब्द प्रकृत मन्त्र में कोई भी नहीं है। इस विषय में सब से मजे की बात यह है कि स्त्री शूद्रों के वेदाध्ययन के समर्थन में उपस्थित किया जाने वाला यह मन्त्र आधा है। पूरा मन्त्र उपस्थित करने पर कहीं इस अर्थ की कलई न खुल जाय इसलिये इसे इतना ही उपस्थित किया जाया करता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्। अयं मे कामः समृध्यताम्। उपमा अदो नमतु। (यजुः २६।२)

पूरे मन्त्र का अनुशीलन करने पर पता चलता है कि न तो इस मन्त्र का वक्ता ईश्वर है और नांही इसमें सब को वेद का समान अधिकार देने की गन्ध ही। किसी मन्त्र के वास्तविक अर्थ को समझने की कसौटी है उस मन्त्र के ऋषि देवता और विनियोग का ज्ञान। इन तीनों वस्तुओंको जाने बिना मन्त्रका वास्तविक अर्थ नहीं जाना जा सकता। प्रकृत मन्त्र का देवतादि निर्णय करते हुए स्वामी

जी ने अपने भाष्य में लिखा है--"यथेमां इत्यस्य लौगाक्षी ऋषि ईश्वरो देवता।" इससे हमें पता चला कि इस मन्त्र का साक्षात्कार करनेवाला ऋषि लौगाक्षी है और देवता ईश्वर। देवता का क्या अर्थ होता यह भी समझ लेना चाहिये। "या उच्यते सा देवता" या "यत्काम ऋषियस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" इस निरुक्त वचनानुसार वद मन्त्र में प्रतिपाद्य विषय अथवा स्तोतव्य या सम्बोध्यमान देव का नाम ही देवता होगा। जो प्रतिपादक अथवा स्तोता अथवा सम्बोधयिता होगा वह ऋषि होगा। सीधे शब्दों में वर्णन करनेवाला ऋषि और जिसका वर्णन हो वह देवता।

जब 'यथेमां' मन्त्र का देवता 'ईश्वर' है तो वह प्रतिपाद्य होगा प्रतिपादक नहीं, ऋषि से स्तोतव्य होगा स्वयं स्तोता नहीं, ऋषि द्वारा उक्त होगा स्वयं वक्ता नहीं। जब वह वक्ता नहीं तब—मनुष्यो! जैसे मैं ईश्वर······इत्यादि स्वामी दयानन्द कृत अर्थ कैसे संघटित हुआ। ऐसा अर्थ करने से तो ईश्वर इस मन्त्र का वक्ता अर्थात् ऋषि बन गया, देवता कहां रहा? और फिर मन्त्र के उत्तरार्ध में विद्यमान—'प्रियो देवानां भूयासम्'--देवताओं का प्यारा बनूं, 'अयं मे कामः समृध्यताम्'—यह मेरी कामना पूरी हो, 'माम् अद उपनमतु'—वह फल मुझे प्राप्त हो--यह सब कामनाएं क्या आप्तकाम ईश्वर करता है? और किसके प्रति? कितना आश्चर्य है कि यह मामूली बात भी स्वामीजी और उनके अनुयायियों की विशाल बुद्धि में न समा सकी।

इस बात का स्पष्टीकरण इससे अगले मन्त्र से और भी अच्छी तरह हो जाता है। 'यथेमां वाचं' यह यजु के २६वें अध्याय का दूसरा मन्त्र है। इससे अगला मन्त्र है—'बृहस्पते अतियदर्यो······'

तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (यजुः २६। ३) इस मन्त्र का भी देवता स्वामीजी ने ईश्वर को ही माना है। इसलिये दोनों मन्त्रों में समान रूप से या तो ईश्वर वाच्य होना चाहिये या वक्ता। यह कदापि सम्भव नहीं, कि एक मन्त्र में तो ईश्वर स्वयं वक्ता हो और अगले में वर्ण्य या स्तुत्य हो। इस मन्त्र में स्पष्ट ही ईश्वर से ऋषि प्रार्थना कर रहा है कि 'हे बृहस्पते मुझे धन दे।' क्या कोई इसका यह अर्थ करनेका साहस कर सकता है कि 'हे बृहस्पति! मैं ईश्वर तुझ से धन की याचना करता हूं'—जैसा कि पूर्व मन्त्र में किया है।

तात्पर्य यह है कि 'यथेमां वाचं' मन्त्र के वक्ता चूंकि स्वामीजी के मतानुसार लौगाक्षी ऋषि हैं इसलिये इस मन्त्र मे पठित आवदानि=कहूं—क्रिया के कर्ता भी वही हैं। इस 'आवदानि' क्रिया का कर्म 'वाचं=वाणी है। फलतः वह लौगाक्षी कर्तृक वाणी ही हुई न कि ईश्वर कर्तृक चारों वेद रूपो वाणी। जब इस मन्त्र में वेद रूपी वाणी की चर्चा ही नहीं रही तब इससे सबको वेदाधिकार मिलने का स्वप्न देखना कितना अविचारपूर्ण है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। इस मन्त्र का अर्थ करने की धुन में स्वामीजी ऐसे भूले हैं कि उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि वे तो ईश्वर को निराकार मानते हैं फिर उसके स्त्री सेवक नौकर चाकर आदि कहां से आयेंगे जो कि इस मन्त्र के भाष्य में उन्होंने लिख मारे हैं।

संक्षेप में—यह मन्त्र न ईश्वर प्रोक्त है और न सबके लिये वेदाध्ययन का ज्ञापक ही। वेद वाणी का तो यहां कोई प्रसंग ही नहीं, नाहीं अधिकारी अनधिकारी चर्चा का यह स्थल है क्योंकि ग्रन्थ के मध्य में इस चर्चा का क्या प्रसंग? यहां तो ऋषि की ओर से परमात्मा के प्रति प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार मैं 'दीय-

ताम्, भुज्यताम्' यह जन हितकारिणी वाणी, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि को कहूं अर्थात्--लीजिए खाइये' आदि कहने के योग्य बन सकूं (ऐसी आप कृपा करें)। आशा है इन कतिपय पंक्तियों से इस मन्त्र से वेदाधिकार सिद्ध करने वालों का समाधान हो जाएगा।

२-(क) यज्ञं दधे सरस्वती।

(ख) सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमानो।
सरस्वतीं सुकृतोऽह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वीर्यधात्॥
(ऋग् १०।१७।७)

उपरोक्त दोनों मन्त्रों में पठित सरस्वती शब्द का अर्थ सामान्य मानुषी स्त्री करके इस मन्त्र से उन्हें यज्ञ में बुलाना सिद्ध की जाने की चेष्टा की जाती है किन्तु यहां पठित सरस्वती शब्द 'वागाधिभूत' देवता का अपर पर्याय है और उनका ही आवाहन विवक्षित है, मानुषी स्त्री का नहीं। वही यजमान के लिये वीर्य=पराक्रम देने वाली है।

३—तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवा पुत्रैर्भ्रात्रैरुत वा हिरण्यैः।

इस मन्त्र में पत्नी के साथ यज्ञ में जाने का विधान किया गया है जो सर्वथैव मान्य है। अवश्य ही उसे साथ लेकर यज्ञ करना चाहिये किन्तु इसमें वेदाध्ययन का तो कोई प्रसंग ही नहीं। मन्त्र में तो सोना पासे आदि भी पठित हैं क्या वे भी वेद पढ़ते हैं ?

४—अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः

का समाधान भी पूर्ववत् है और सनातन धर्म की दृष्टि से पत्नीशून्य यज्ञ अयज्ञ ही है। तभी श्री रामचन्द्र जी ने स्वर्ण

की प्रतिमा सीता को पत्नी की प्रतिनिधि बनाकर यज्ञ को पूरा किया था।

५—प्रावृतां यज्ञोपवीतनीम् (गोभिल २।१।१)

कहा जाता है गोभिल के इस सूत्र में स्त्री को यज्ञोपवीत वाली बताया गया है जिससे उसका यज्ञोपवीत सिद्ध होता है, किन्तु वस्तुतः इसका अर्थ है 'वस्त्रको यज्ञोपवीतकी भांति पहिनी हुई'। यह विवाह का प्रसङ्ग है।' वर ने कन्या को एक वस्त्र दिया है जिसे उसे यज्ञोपवीत की तरह डाल लेना चाहिये। तभी श्री स्वामीजी ने इस की व्याख्या में लिखा है--'ॐ या अकृन्तन अवयन्' इस मन्त्र को बोलकर वधू को वर उपवस्त्र देवे, वह (वधू) उस वस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे।' यहां वास्तविक यज्ञोपवीत की कोई कथा नहीं।

६—निर्मन्त्रास्तु क्रियाः सर्वा विवाहस्तु समन्त्रकः। (मनु)

कहा जाता है इस श्लोकमे स्त्रियों के विवाह के समय मन्त्र पाठ पूर्वक संस्कृत होने का विधान है। वादी के इस कथन से हम सहमत हैं परन्तु कतिपय मंत्र विशेष के बोल लेने मात्र से उसे सम्पूर्ण वेद का अधिकारी समझ लेना भूल है। इस प्रकार के मंत्र तो यज्ञोपवीत हुए बिना यदि किसी बालक का पिता मर जाय तो उससे भी प्रेत कर्म मे बुलवाने का विधान है। क्या एतावता यह मान लें कि यज्ञोपवीत के बिना भी वेद पढ़ा जा सकता है ?

७—स होत्रं स्म पुरा नारी समनं वावगच्छति।

कहा जाता है इस मन्त्र में स्त्रियों को पुरुषों के समान यज्ञ में जाने का विधान किया गया है, परन्तु वास्तव में यह मन्त्र इन्द्राणी

के विषय में है। नारी का अर्थ यहां इन्द्राणी से ही है, यह बात इसके उत्तरार्द्ध को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है, यथा—वेधा ऋतस्य वीरिणी इन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्माद् इन्द्रः उत्तरः' स्पष्ट ही इस मन्त्र में इन्द्र और उसकी पत्नी का वर्णन है।

८—अधः पश्यस्व मोपरि सतरां पादकौ हर।
आनेकशप्लकौ दशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥
(ऋ० ८।३३।१६)

तथा कथित सुधारक अर्थ—'जो स्त्रियां विद्याभ्यास करके उद्धृत नहीं होती जो अपने घुटनों को ढककर चलती हैं और अपने पैर ऊंचा नीचा देखकर रखती हैं ... वे योग्य आचरण वाली ब्रह्मा तक बन सकती हैं' यह अर्थ कितना संगत है इसे साधारण लघुकौमुदी पढ़ा लिखा छात्र भी समझ सकता है। 'पश्यस्व' का अर्थ 'देखती है' किस व्याकरण के अनुसार शुद्ध हो सकता है यह वे ही जानें। यह अर्थ सर्वथा कपोलकल्पित है और 'तरु तारम्' से तार विद्या सिद्ध करने के समान है। इसका वास्तविक अर्थ है—'तू नीचे देख, ऊपर न देख, पैरों को ठीक रख, तेरे अंग न दीखें, आत्मा ही तुझ में स्त्री रूप में प्रकट हुआ है।' यह स्त्री को शिक्षा दी जा रही है न कि उसे ब्रह्मा बनाया जा रहा है।

९—भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता (ऋ० १०।१०९।४)

यहां जाया और उपनीता इन दो शब्दों को देख लोग भ्रम में पड़ जाते हैं, वे नहीं सोचते कि यहां जाया शब्द के साथ 'भीमा' अर्थात् भयङ्कर विशेषण भी तो है उसकी क्या संगति होगी? 'यज्ञोपवीत धारण करके ब्राह्मण की पत्नी भयङ्कर सबला बनजाती

है' इस अनर्थ से तो उपवीत बड़ी विचित्र वस्तु ठहरी जिसे धारण करते ही सौम्य भी पत्नी भयङ्कर बन गई और परमात्मा का शुक्र करो कि यह तो ब्राह्मण की पत्नी थी जो उपवीत की करामात से भयङ्कर ही बनकर रह गई, यदि क्षत्रिय और वैश्य की होती तो शायद राक्षसी बन जाती। बलिहारी ऐसे अर्थ की !!

१०—ततः शैलवरः सोऽपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम्।
कारयामास सोत्साहं वेदमन्त्रैः शिवस्य च ॥ (शि०पु०)

कहा जाता है कि यह श्लोक प्रमाणित करता है कि शिव और पार्वती का यज्ञोपवीत हुआ था।

यह श्लोक पार्वती के विवाह प्रसंग का है तो क्या उनका विवाह में यज्ञोपवीत हुआ था। यज्ञोपवीत विवाह में हुआ करता है या ब्रह्मचर्याश्रम में ? यदि विवाह में, तो वह स्त्री घरके काम करेगी या गुरुकुल में पढ़ेगी ? इसलिये यह समझलेना चाहिये कि दुर्गोपवीत नामक एक कर्म विशेष है जो शिव का हुआ था पार्वती का नहीं।

११—यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी।
सा पृथिव्यां पृथुश्रोणी पपात प्रियदर्शिनी ॥

(बा० रा० ६।८१)

बाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त श्लोक में श्री रामचन्द्र जी के सामने रावण द्वारा मायामयी सीता का वध करने का उल्लेख है। वादी का कथन है 'उस समय सीता को यज्ञोपवीत के समीपसे काट दिया' किन्तु वास्तव में यहां सीता के गले में यज्ञोपवीत की कोई चर्चा नहीं। इसका सीधा तात्पर्य है कि मायावी रावण ने सीता के

शरीर को बांये कंधे से लेकर दाहिनी कोख तक अर्थात् जैसे यज्ञोपवीत पहिना जाता है उस ढंग से अपने खड्ग से दो टुकड़े कर दिया। यहां सीताके सूत्रमय यज्ञोपवीत आदि का कोई प्रसंग नहीं।

१२—सन्ध्याकालमना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी ॥ (वा० रा०)

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए सभी टीकाकारों ने सीता को सन्ध्याकाल के समय किये जाने वाले कृत्य—स्नान भगवद्ध्यान आदि के लिये ही उस सुन्दर नदी पर आने की सम्भावना परक अर्थ किया है। यह प्रात.काल के समय की बात है। सीतान्वेषण रत हनूमान जी सुन्दर जलवाली नदी को देखकर विचार कर रहे है, कि अगर सीता लंका में है तो वह अवश्य ही स्नानादिके लिये इस सरिता पर आएगी ही। सन्ध्या शब्द यौगिक है जिसका सीधा अर्थ है भगवान् की सम्यक् प्रकार से ध्यान करने की कोई भी पद्धति। सो इससे सीता का वेदाध्ययन कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

१३—अग्निं जुहोतिस्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला। (वा० रा०)

इस श्लोक में जुहोतिस्म-हवन करती थी इस पद को देख कर कुछ लोगों में बड़ा भ्रम हो जाता है। श्री वाल्मीकि जी महाराज ने मूल में ही इस भ्रम का निराकरण कर दिया है जिसका ज्ञान पूर्वापर प्रसंग देखने से भली भांति हो जाता है। यह प्रसंग श्री रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक सम्मारम्भ समय का है जिसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये कौशल्या ने ऋत्विजों को बुलाकर हवन कराया। इस श्लोक में कहा गया है कि 'जब श्री रामचन्द्र जी माता के पास

पहुंचे तो उन्होंने उसे हवन करवाती हुई देखा' जैसा कि अगले श्लोक के 'हावयन्तीं हुताशनम्' से महर्षि ने स्पष्ट कर दिया है। प्रकृत श्लोक में भी अन्तर्भावितण्यर्थ 'हु' धातु का प्रयोग समझना चाहिये तब भ्रम का कोई कारण नहीं रह जाता।

१४—कुछ लोग गार्गी मैत्रेयी आदि ब्रह्मवादिनी एवं वेदों का साक्षात्कार करनेवाली ऋषिकाओं के उदाहरण देकर अपने इस पक्ष को पुष्ट करना चाहा करते हैं किन्तु इस प्रकार के अपवादों से सामान्य नियम का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। अपनी पूर्व-जन्मोपार्जित अलौकिक प्रतिभा एवं मेधा के कारण यदि किन्हीं स्त्रियों के हृदय में वेद का साक्षात्कार होगया हो तो एतावता क्या उनका गुरु सम्प्रदाय द्वारा विधिवत् वेदपाठ स्वीकार कर लिया जाय ? जहां तक मन्त्र साक्षात्कार का प्रश्न है तो अनेकों ऋचाओं का साक्षात्कार कबूतर कुत्ती आदि को भी हुआ है। वेद में 'कपोत सूक्त' 'सरमा सूक्त' आदि इसी प्रकार के सूक्त हैं, क्या इनसे हम समझलें कि कबूतर और देवताओं की कुत्ती 'सरमा' ने गुरु चरणों में विधिवत् बैठकर वेद का स्वाध्याय किया था ऐसा कहना महा भूल होगी। यह तो पूर्वजन्मार्जित अलौकिक मेधा के परिस्फुरण का ही ऐसा प्रभाव था कि उनके हृदय मे भी मन्त्रों का साक्षात्कार हो सका। यह सर्वत्र सम्भव नहीं, इसलिये ऐसे उदाहरणों द्वारा स्त्री सामान्य को वेदाधिकारिणी ठहरा देना कहां तक संगत है इसे पाठक सहज ही समझ सकते हैं।

इस प्रकार हम यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन के विषय में सांगोपांग विवेचन करने के अनन्तर इस प्रकरण को यहीं समाप्त करते हैं।

समावर्तन संस्कार विचार

वैदिक स्वरूप

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरास कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥
(ऋ० ३ । ८ । ४)

जब पुरुष यज्ञोपवीत के अनन्तर पूर्ण ब्रह्मचर्य से युक्त होकर युवावस्था प्राप्त कर (समावर्तन हो जाने पर) सुन्दर वस्त्र धारण करके गृहस्थाश्रम में आता है इस नवजन्म को प्राप्त करके वह कल्याणयुक्त हो जाता है और धैर्यशाली विद्वान् पुरुष उसे उन्नति की ओर ले जाते हैं ।

गुरुगृह या शिक्षालय में रहते हुए यथाविधि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करके शिक्षा सम्पूर्ण कर लेने पर शास्त्रकारों ने समावर्तन संस्कार का विधान किया है। यह आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है जिसे कन्वोकेशन (Convocation) या दीक्षान्त समारोह के नाम से स्मरण किया जाता है, किन्तु इसके वैदिक और वर्तमान कालिक रूप में आकाश पाताल का अन्तर है। आज इस अवसर पर दिये जानेवाले भाषणोंमें, स्नातक युवकों के लिये न कोई संयमित जीवन की शिक्षा न आदर्श जीवन का कोई चित्रण ही ! यही कारण है कि आधुनिक शिक्षणालयों – जिन्हें दूसरे शब्दों में विलासता तथा व्यसनों का केन्द्र भी कहा जा सकता है—से निकलनेवाला छात्रवर्ग अपने चरित्र दौर्बल्य के लिये काफी वदनाम है। आधुनिक शिक्षा के ये केन्द्र

चरित्रगठन ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षा के सर्वथा अभाव के कारण देश के लिये बलशाली नागरिक उत्पन्न करने में सर्वथा अक्षम हैं। इनसे निकलने वाले अधिकांश युवक युवावस्था में ही जर्जर तथा अस्थि पञ्जर मात्रावशिष्ट देह यष्टि को पतलून और कोट के आवरण मे छिपाए देश में क्षयवृद्धि के कारण बन रहे हैं।

गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो क्षय का मूल कारण संस्कार परम्पराओं के लुप्त होने में ही हैं। ब्रह्मचर्य एवं तपोबल सम्पन्न महर्षियों के आश्रमों का स्थान आज के स्कूल और कालेजों ने लिया हुआ है। इनमें शिक्षा देनेवाले रसिक एवं सहृदय अध्यापक तथा प्रोफेसर महानुभाव ही जब स्वयं विषय वासनाओंके दास होते हैं और सिनेमा नाच गाने आदि मनोरंजक अवसरों पर बढ़ बढ़ कर अपनी रसिकता का परिचय देते हैं तब उनके शिष्यों में ब्रह्मचर्य की भावना के स्वप्न देखना निरी मूर्खता ही तो है। फलतः स्कूल एवं कालेजों के विषाक्त वातावरण में पले हुए वे युवक जब शिक्षा समाप्त कर बाहर आते हैं तब अबाध गति से विषयभोग में प्रवृत्त होकर क्षय को निमत्रण देते हैं। पुरातन काल में समावतन संस्कार के अवसर पर जहां स्नातक को एक सभ्य नागरिक बनने के लिये उपयुक्त शिक्षायें दी जाती थी वहां 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' का अनुपम आदर्श उसके सामने रखकर उसे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति देते हुए भी संयम का पुनीत पाठ सिखाया जाता था।

इस संस्कार के अवसर पर निम्न लिखित क्रियाओं का विधान शास्त्रकारों ने किया है यथा—गृहयज्ञ, ८ घटों द्वारा दीक्षान्त स्नान, वस्त्रालङ्कार धारण एवं दीक्षान्त उपदेश, यह सभी क्रियाएं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण हैं और अत्यन्त महत्वशाली हैं। ग्रह पूज-

नादि के विषय में हम पिछले अध्यायों में पर्याप्त वर्णन कर आये हैं और बतला चुके हैं कि हमारे इस मानव जगत से दूर रहते हुए भी सूर्य चन्द्रादि ग्रह किस प्रकार इस पर अपना प्रभाव डालते हैं आदि २।

आठ घटों द्वारा जलाभिषेक–

आठ घंटों द्वारा जलाभिषेक इस संस्कार का मुख्य अंग है। यह आठों घट पूर्वादि आठों दिशाओं में क्रम से रख दिये जाते हैं और अभिमंत्रित जल से समावर्तन कराने वाले ब्रह्मचारी को स्नान करना पड़ता है। वेदमन्त्रों से अभिमन्त्रित यह जल आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण होने के कारण स्नातक को शक्ति सम्पन्न तो बनाता ही है साथ ही उसको भावि गृहस्थ जीवन में भी उन आठ मैथुनों से सावधान रहने की प्रेरणा भी देता है जो (अष्ट मैथुन) ब्रह्मचर्याश्रम में उसके लिये सर्वथा त्याज्य थे। यद्यपि इस अवसर पर स्नातक, अपनी ब्रह्मचर्यावस्था के सम्पूर्ण कठोर नियमों को समाप्त कर गृहस्थ में प्रवेश का अधिकारी बन रहा होता है, कोट कमीज, जूता, छत्तरी, अलंकार, सुगन्धित तेल पुष्पमाला आदि वे सभी वस्तुएं जो उसके लिये अभी तक सर्वथा त्याज्य थीं स्वयं गुरु द्वारा उसे धारण करवाई जा रही हैं किन्तु एतावता यह न समझ लेना चाहिये कि अब उसे सब बातों की खुली छुट्टी दी जारही है कि वह चाहे कुछ कर और अपने उस जीवन को 'सद् गृहस्थ' बनाने में लगाने की बजाय विषय लम्पट और अवारा बनाने में लगादे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी उसे पर–स्त्री ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन आलिंगन, एकान्त–वास और समागम रूप आठ मैथुनों से सर्वदा इसी प्रकार बचना

चाहिये, जैसे कि वह ब्रह्मचर्यावस्था में बचता रहा है। इस महत्व पूर्ण शिक्षा को हृदय गम्य कराने के लिये ही शास्त्र ने ८ घटों के जल से स्नान करने का विधान किया है जिससे ८ की संख्या हृदय में सर्वदा स्मरण रहे और युवकवर्ग उससे बचता हुआ अपने गृहस्थ जीवन को सुखमय बना सके।

इस महत्वपूर्ण शिक्षा से बेखबर रह जाने के कारण आधुनिक युवकों का गृहस्थ जीवन दुःखमय बन जाता है। विवाह के बाद घर में आनेवाली भोली भाली पत्नी को जब मालूम पड़ता है कि पतिदेव को तो कालेज की जिन्दगी से ही 'ताक झांक' का चस्का है और उसके घर में होने पर भी न जाने किसके विरह के गीत गुन गुनाते रहते हैं तो उसके हृदय पर वज्रपात हो जाता है। इससे ऊपर की यदि किसी घटना का उसे भान हो जाय तो फिर उसका हृदय इस गृहस्थी से फट जाता है, घर में क्लेश रहने लगता है और अन्त में 'तू तू मैं मैं' होने के बाद तलाक की नौबत आती है।

इस शिक्षा पर समुचित ध्यान न देने का दूसरा परिणाम यह होता है कि स्त्रियों के निरन्तर चिन्तन कथा सम्भाषण दर्शनादि विकारों से युवक वर्ग का चारित्रिक पतन हो जाता है और वहां तरह २ की बिमारियों का ग्रास बन जाता है इसलिये इस आठ की संख्या पर सर्वदा ध्यान रहे यही इस क्रिया का उद्देश्य है।

वस्त्रालङ्कार-धारण

मानव जीवन में वस्त्र अलङ्कारादि का उत्कृष्ट स्थान है। सर्दी गर्मी वर्षा आदि से शरीरको बचाकर यह उसके विकास में ही सहायक नहीं होते अपितु उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि में भी सहायक

सिद्ध होते हैं। उत्तम वस्त्र उत्तम जीवन स्तर के सूचक समझे जाते हैं और उनमें मनुष्य के विचारों, उसकी आर्थिक स्थिति आदि की पर्याप्त झलक देखने को मिल जाती है यह सुन्दर भाव किसी कवि ने—

वासः प्रधानं खलु योग्यताया'

आदि प्रसिद्ध पद्य मे व्यक्त किया है कि वस्त्रों से मनुष्य की परिस्थिति तथा योग्यता को पहिचाना जाता है और उसी से मनुष्य का आदर होता है। समुद्रने भगवान् विष्णु को तो सुन्दर पीताम्बर-धारी देखकर अपनी पुत्री लक्ष्मी समर्पित की और भगवान् शङ्कर को दिगम्बरत्व (वस्त्र रहित) के कारण हालाहल विष !

उपरोक्त सूक्ति में कवि ने उत्प्रेक्षा द्वारा वस्त्रालङ्कारादि के महत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। ब्रह्मचर्यावस्था के दश बारह वर्षों में स्नातक को धोती कौपीन गाती आदि साधारण वस्त्रों में ही रक्खा गया है। पुष्पमाला, अलङ्कार, तेल, साबुन, अंजन, दर्पण आदि वस्तुओं से उसका सख्त परहेज था। बारह वर्ष के दीर्घकालिक अभ्यासवश यदि स्नातक इन वस्तुओं के प्रति उपेक्षा तथा अरुचि का भाव रखने लग जाए तो यह कोई आश्चर्य नहीं होगा। किन्तु जिस जीवन में अब वह पदार्पण कर रहा है उस जीवन में यह वस्तुए उसके लिये हेय नहीं किन्तु ग्राह्य हैं। इनके बिना एक सीमा तक अब वह अपने समस्तर समाज में आदर का अधिकारी नहीं बन सकता, साथ ही इनके प्रयोग से होने वाले लाभ से वंचित रहकर वह अपने शरीर की सुरक्षा को भी खतरे में डाल देता है इसलिये इस संस्कार के अवसर पर आचार्य स्नातक को विधिवत् मन्त्र पाठपूर्वक वस्त्रादि धारण करवा

मानो शिष्य को अपने भावि गार्हस्थ्य जीवन में इन वस्तुओं के प्रति अरुचि न रखने की शिक्षा दे रहा है।

इस अवसर पर पढ़े जानेवाले सभी मन्त्रों में अमुक अमुक वस्तुओं के गुणों का पर्याप्त वर्णन मिलता है जिससे उनके महत्व को भली प्रकार समझा जा सके।

दीक्षान्त उपदेश—

यों तो आचार्य निरन्तर ही शिष्य को उपदेश देते रहे हैं किन्तु इस अवसर का उनका उपदेश अत्यधिक महत्वपूर्ण और गम्भीर है। उनके एक एक वाक्य में समस्त जीवन के अनुभव का निचोड़ निहित है और उनके द्वारा दिया गया उपदेश चाहे हमें साधारण सी बातें मालूम पड़े किन्तु इन साधारण सी शिक्षाओं में मनुष्य जीवन को बनाने और बिगाड़ने की अतुल शक्ति विद्यमान है। आचार्य का यह सदुपदेश जो कि शिक्षा के रूप मे शायद अन्तिम बार दिया जा रहा है केवल इसी अभिप्राय से दिया जाता है कि स्नातक के हृदयमें सर्वदा स्मरण रहे और जीवन में उपयोग करे।

हम ग्रन्थ विस्तार भयात् इस उपदेश को उद्धृत करना उचित नहीं समझते पाठक संस्कार पद्धतियों मे इसे देख सकते हैं।

विवाह संस्कार विचार

वैदिक-स्वरूप

(क) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टि-
र्यथा सः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गा-
र्हपत्याय देवाः॥ (अथर्व १४।१।५०)

(ख) ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः। मया-
पत्या प्रजावति, संजीव शरदः शतम् ॥ (अथर्व०)

अर्थात्—(क) हे शोभने! मैं ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, तू मेरे साथ वृद्धावस्था तक सुखपूर्वक निवास कर। भग अर्यमा सूर्य इन्द्र आदि देवताओं ने तुझे गृहस्थ धर्म के लिये मुझे दिया है। (ख) यह पत्नी मेरे द्वारा पोषणीया बने। हे शुभ्रे! देव गुरु बृहस्पति ने तुझे मुझे दिया है। हे प्रजावति, तुम मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक कल्याणपूर्वक जीवित रहो।

षोडश संस्कारों मे सब से मुख्य तथा महत्वपूर्ण संस्कार 'विवाह' है। यह संस्कार न केवल सम्पूर्ण आश्रमों और वर्णों का मूल आधार है किन्तु समस्त सृष्टि का ही मूल कारण है। विशद दृष्टिकोण से देखने पर हम कह सकते हैं कि विवाह=स्त्रीत्व पुरुषत्वयुक्त दो विभिन्न पदार्थों का संयोग—एक प्राकृतिक संस्कार है जिसकी प्रक्रिया समस्त भूमण्डल में नैसर्गिक रूप से विस्तृत है। जगत् के छोटे से छोटे अणु से लेकर बड़े से बड़े पदार्थ का उद्भव इसी प्रक्रिया द्वारा होता है। मानव, पशु, पक्षी, आदि की चर्चा ही क्या, वनस्पति औषधि लता आदि उद्भिज्जों का जन्म भी इसी स्त्री पुरुष संयोगात्मक प्रक्रिया से ही होता है। मानव पशु पक्षी आदि स्थूल प्राणधारियोंका संयोग तो प्रसिद्ध ही है किन्तु बहुत कम व्यक्ति इस बात से परिचित होंगे कि सभी प्रकार के फल अनाज, धान्य, फूल औषधि आदि भी स्त्री पुरुष वनस्पतियों के विवाह अर्थात् संयोग के ही परिणाम हैं। वृक्ष पौदे आदि भी स्त्री और पुरुष भेद से दो प्रकार के होते हैं। रज वीर्य की तरह इनके पराग या पुष्परेणु भिन्न २ प्रकार के होते हैं। ऋतुकाल में

प्रकृति वायु द्वारा या मक्खियों भ्रमरों आदि द्वारा उन विभिन्न परमाणुओं को संयुक्त कर गर्भाधान करती है और तब आगे फलादि उत्पन्न होते हैं। बहुत से पौदों में एक में ही दोनों शक्तियों का पृथक् २ निवास होता है और वायु के संचालन से उनका सम्मिलन हो जाता है और इस प्रकार वे फलादि देने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह सम्पूर्ण भूमण्डल ही वैवाहिक भाव पर अवलम्बित है। जहां तक मानव जाति का सम्बन्ध है हम कह सकते हैं कि यह संस्कार शिक्षित से शिक्षित और असभ्य से असभ्य सभी जातियों मे भिन्न २ प्रकार के रीति रस्मों के बीच सम्पन्न होता है। इस अवसर पर सभी देशों में समान उल्लास और प्रसन्नता देखने को मिलती है। प्रत्येक देश ने अपनी धारणा के अनुसार कुछ ऐसी क्रियाओं और रिवाजों का निर्धारण किया हुआ है जिसे विवाह कहा जाता है किन्तु यह क्रियाएं और रीतियां वैज्ञानिक भित्ति पर स्थिर न होने के कारण तथा अध्यात्मभाव की शून्यता के कारण न केवल दम्पति को विवाह के वास्तविक लाभ से ही वंचित रखती हैं किन्तु उनमें परस्पर अनेक प्रकार की कलह तथा विरोध की सृष्टि करके गार्हस्थ्य जीवन को दु:खमय भी बना देती हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों के ९० प्रतिशत विवाह सम्बन्ध असफल रहते हैं और वहां के गृहस्थ जीवन को शान्ति एवं सुख के स्थान पर संघर्ष, पारस्परिक कलह तथा दु:ख का ही सामना करना पड़ता है।

आर्य जाति के अतिरिक्त दूसरी जातियों में इस बात की शायद कल्पना भी न की जासके कि विवाह का सांसारिक सुख के अतिरिक्त अन्य कोई आध्यात्मिक उद्देश्य भी हो सकता है। वहां तो विवाह का एक ही उद्देश्य समझा जाता है वह है केवल सांसा-

रिक भोगविलास और उसकी सिद्धि के लिये स्त्री पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध—इन्द्रिय तृप्ति पर्यन्त दो प्राणियों का स्वल्पकालिक लौकिक सम्बन्ध मात्र ही समझती है। परन्तु भारतीय ऋषियों ने इस संस्कार द्वारा न केवल दो शरीरों का ही सम्मिलन चाहा है, किन्तु दम्पति के आत्मा, मन, प्राण, शरीर सभी का एकीभाव ही वैदिक विवाह संस्कार की अपनी विशेषता है। इसका उद्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति जैसी तुच्छ वस्तु नहीं, किन्तु आदर्श गार्हस्थ्य धर्म द्वारा मोक्ष लाभ करना ही है। आर्य दम्पति समझते हैं कि उन दोनों का (स्त्री पुरुष का) केवल इस जन्म का ही नाता नहीं है किन्तु वे जन्म-जन्मान्तर से एक दूसरे के संगी हैं और सर्वदा रहेंगे। यही,—केवल यही भावना है जिसने अनन्तकाल से आर्य गृहस्थ को सुदृढ़ और सुखी बनाया है। इसी भावना के वश होकर दो अपरिचित प्राणी—जिन्होंने कभी एक दूसरे को देखा भी नहीं होता इस पुनीत संस्कार के सम्पन्न हो जाने के अनन्तर एक दूसरे को सदा के लिये आत्म समर्पण कर देते हैं। उनकी आत्माएं प्रथम मिलन में ही एक दूसरे को इतना स्नेह करने लगती हैं मानो उनका जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध है। संक्षेप में, महर्षियों की दृष्टि में विवाह, सांसारिक सुख प्राप्ति के लिये इस जन्म में किया जाने वाला स्त्री पुरुष का (Contract) ठेका नहीं और न सौदा ही, यह तो आत्म-त्याग संयम और आध्यात्मिक भावों का उज्ज्वल आदर्श है।

विवाह की विभिन्न रीतियां—

हमने पीछे कहा है कि यह संस्कार भिन्न २ देशों में भिन्न २ रीति रस्मों के बीच सम्पन्न होता है। पाठकों के अवलोकनार्थ

हम भिन्न २ देश, जातियों और मतों में होनेवाली एतत्कालीन रीतियों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराना उचित समझते हैं--

विलायत-- में ईसाई वर वधू इस अवसर पर किसी चर्च में उपस्थित होते हैं। पादरी के समक्ष वे अपने रूमाल अगूठी आदि बदलते हैं और उससे वे बाइबिल सुनते हैं। जीवन पर्यन्त भलाई बुराई, अमीरी गरीबी, बीमारी और तन्दुरुस्ती में एक दूसरे से मिला रहने एक दूसरे को प्यार करने और एक दूसरे की खबर गिरी करने की कसमें खाते हैं। स्त्री के बाये हाथ की अनामिका अंगुली में छल्ला पहिनाते हुए वर कहता है—"इस छल्ला से तुझे व्याहता हूं और अपना 'दुनियावी माल' तुझे देता हूं, बाप बेटे और रूह उल कुदूस के नाम से"। और इस प्रकार उनकी शादीकी रस्म सम्पन्न हो जाती है।

आस्ट्रेलिया--में वैवाहिक रस्मों में वधू का भाई जलता हुआ मशाल लेकर वर के घर जाता है और वर का भाई वधू के घर पर। इसके अनन्तर उनका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

बापर द्वीप--मे शादी के लिये आवश्यक है कि वर, घने अन्धकारावृत कमरे में छिपी हुई वधू को ढूंढ निकाले। निश्चित समय के अन्दर यदि वह ढूंढ ले तो शादी हो जाती है अन्यथा नहीं होती।

बलगेरिया--दूल्हा और दुलहिन शादी से पूर्व एक सप्ताह तक अंधेरे कमरे मे बन्द कर दिये जाते हैं। इसके बाद दोनों की सहमति से विवाह सम्पन्न हो जाता है।

जेरुसलम--में इस अवसर पर वधू की आंखों में पट्टी

बांध दी जाती है और जब तक विवाह की सब रस्में पूरी नहीं हो जातीं तब तक नहीं खोलीं जाती।

जापान——मे स्त्रियों का सफेद कपडा पहिनना अच्छा नहीं समझा जाता, परन्तु शादी के अवसर पर वहां दुलहिन को सफेद वस्त्रों मे सजाया जाता है इन कपडों का मतलब होता है कि लडकी अब परकीया बन चुकी है।

मिश्र—मे विवाह की रस्म पूरी होने तक वर वधू एक दूसरे को बिलकुल नहीं देख सकते। इस नियम का पालन करवाने में वहा अत्यन्त कठोरता बरती जाती है।

कोर्यक और शबर—नाम की जातियों में विवाह की रस्म वधू द्वारा बेत की छडी से वर को खूब पीटकर पूर्ण की जाती है। इस मार को वर, विवाहान्तर सुख की आशा मे खुशी २ सहते हैं।

तिब्बत——में इस अवसर पर वधू को वर का जूठा दूध पिलाया जाता है। उस देश में विवाह का यही मुख्य नियम समझा जाता है।

महाशयों में विवाह संस्कार की मिट्टीपलीद

विवाह के इस आलोचनात्मक प्रसंग मे आर्य सामाजिक विवाह प्रणाली पर भी दो शब्द लिखना अप्रासंगिक न होगा।

पिछले दिनों हमें अपने एक मित्र की कन्या के विवाह मे उपस्थित होना पड़ा। मित्र महाशय उदारधर्मी थे किसी विशेष धर्म के प्रति उनका आग्रह न था परन्तु वर पक्षवाले कट्टर समाजी विचारों के थे फलतः आर्य समाजी विधि से ही विवाह होना निश्चित हुआ। विवाह का कार्य प्रारम्भ होगया। वर पूजन, मधु-

पर्क प्राशन गोदान कन्यादानादि सभी विधियें सामने आई। वे ही मन्त्र थे और लगभग वही सब कुछ जैसा कि सनातन पद्धतियों में देखता आरहा था। रह रहकर हृदय में यही विचार उठ रहा था कि गणेश पूजनादि आध्यात्मिक अंश को निकाल देने के अतिरिक्त आर्य सामाजिक पद्धति में अन्य क्या विशेषता है? स्वामी जी ने प्रत्येक दिशा में अपनी डेढ चावल की खिचड़ी रांधने का प्रयत्न क्यों किया? तभी आर्य समाजी पुरोहित ने किन्ही मस्तराम जी को ऊंची आवाज से पुकारा और आगे आने के लिये कहा। मैंने देखा एक लठ्ठधारी हट्टा कट्टा नौजवान बडी शीघ्रता से वेदी की ओर लपका जारहा है। विचारों की सरणी टूट गई; मन, यह जानने को उत्सुक हो उठा कि इस सुख शांतिमय मांगलिक वातावरण में अचानक क्या उपद्रव उठ खड़ा हुआ जो ये महाशय लठ्ठ लिये भीड़ को चीरते हुए आगे जा रहे हैं। मैं उत्सुकता पूर्वक खडा हो गया कोई विशेष बात नहीं थी, फेरों की तैय्यारी हो रही थी। रंग विरंगे वस्त्रों मे सजी कन्या आगे खड़ी थी वर उसके पीछे, और इन दोनोंके पीछे कन्धे पर पानीका एक घड़ा सम्भाले लठ्ठधारी मस्तराम। इस दृश्य से हृदय मे बडा कुतूहल सा हुआ और तब तो मेरे अचम्भे का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि मस्तराम तो साथ २ फेरे भी ले रहा है। विवाह पढ़ानेवाले आर्य पुरोहित जो कि आरम्भ से ही समस्त वैवाहिक विधियों की व्याख्या करके उपस्थित जनता को स्वामी दयानन्द का भक्त बना डालने का शिर तोड़ प्रयत्न कर रहे थे—लठ्ठधारी मस्तराम के सम्बन्ध मे भी कहना आरम्भ किया।

'सज्जनो! श्री स्वामीजी महाराज ने यह विधि सुरक्षाको ध्यान मे रखकर बनाई है। जैसे राजा महाराजाओं के अङ्ग रक्षक होते हैं

इसी प्रकार दूल्हा भी चूंकि बारात का राजा होता है इसलिये उसके साथ भी एक दृढांग--लट्ठधारी पुरुष. संरक्षक होना चाहिये जो विवाह में उपद्रव करनेवालों का दमन कर सके। कदाचित् हवन की अग्नि वस्त्र आदि में न लग जाए, इसी कारण यह पानी का घड़ा साथ उठा रक्खा है जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसे बुझाया जासके। इसीलिये इसका नाम 'दृढ पुरुष' रक्खा गया है।'

वर का राजा होना और लट्ठधारी जवान का अङ्ग रक्षक होना किसी अंश तक समझ में आगया किन्तु राजा साहब के अपने अन्त पुर में एकान्त सेवन के समय भी 'बाडी गार्ड' महाशय का दाल भात में मूसलचन्द बन जाने को प्रस्तुत होना तो समझ से परे की बात थी।

आग के भय की बात भी खूब कही गई। यदि वास्तव में हवन की अग्नि भडक ही उठे और ईश्वर न करे मण्डप और शामियाने को छू जाए तो फिर उन लट्ठधारी महाशय का एक छोटा सा पानी का घड़ा उसे कहांतक बुझा पाता? हमारा सुझाव है कि इसके लिए तो आर्य समाजी भाइयों को पहिले ही से कुछ माशकी तनात रखने चाहिये, तथा म्युनिसिपल कमेटी में सूचना देकर दमकल (Fire Brigade) को तय्यार रहने का प्रबन्ध कर रखना चाहिये जिससे समय पर अग्नि दुर्घटना से रक्षा हो सके। विवाह में उपद्रव मचानेवाले दल को दबाने के लिये भी एक मात्र बेचारा मस्तराम कहांतक सफल हो पाएगा, इसके निमित्त तो पूर्व से ही कोतवाली में 'नुकसेअमन' की रिपोर्ट करके पुलिस का एक सशस्त्र दल तय्यार रखना चाहिये था। मस्तराम के बाडीगार्ड होने और उसके लट्ठ तथा पानी का घड़ा उठाने की 'तुक' तो आर्य्य पुरोहित ने मिलादी, परन्तु यह दोनों काम तो एक जगह तैनात

सत्तराम भी आवश्यकता पड़ने पर कर सकता था परन्तु भांवरें (फेरे) लेने के समय भी वर के साथ २ उसके अग्नि परिक्रमा करने से तो आर्य समाज में एक कन्या का दो व्यक्तियों से विवाहा जाना सिद्ध हो रहा है इस अनर्थ का भी कुछ समाधान है ? हो सकता है आर्य समाज मे नियोग की प्रथा का विधान है अत भावि उम्मीदवार पति का स्वत्व स्थापन करने के लिये पूर्व से ही यह उपक्रम किया जाता हो !

विवाह कितने हैं ?

विवाह विधि पर विचार करते हुए भगवान् मनु ने भिन्न २ जातियों एवं देशों मे होनेवाले विवाहों को अष्टविध विवाहों के अन्तर्गत परिगणित किया है । उनके नाम क्रम से ये है—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोधमः ।। (मनु० ३ २१)

अर्थात्—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह है ।

उपरोक्त आठों विवाहों मे ब्राह्मादि पहिले चार विवाह—जिनमे कि सदाचारी गुण सम्पन्न वर को आदर पूर्वक बुलाकर गृहस्थ धर्म पालन के लिये कन्या प्रदान की जाती है—श्रेष्ठ माने गए हैं। इसके अतिरिक्त आसुर आदि चार विवाह सर्वथा लोक निन्दित और निकृष्ट ही हैं ।

खेद का विषय है, कि भारतेतर अन्य देशों की भांति आज भारत में भी आसुरादि अन्तिम चार प्रकार के विवाहों का प्रचार दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है । मनु के—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥

—के अनुसार पंजाबादि कुछ प्रान्तों में जहां एक ओर वर पक्ष वालों से हजारों रुपयों की रकम ऐंठकर—'कन्या विक्रय द्वारा इस आसुर विवाह को पर्याप्त प्रोत्साहन मिल रहा है, वहां बंगाल बिहार आदि दूसरे प्रान्तों में टीके और दहेज के रूप में अच्छी खासी रकम कन्या पक्षवालों से ऐंठने का उद्योग करके 'पुत्र-विक्रय' की एक नई सामाजिक कुप्रथा को पनपने दिया जा रहा है। यह बुराई धीरे २ सम्पूर्ण देश में फैल रही है। और अन्य स्थानों पर भी लोग देखा देखी ऐसा करने लगे हैं। परिणाम स्पष्ट है; आये दिन न जाने कितनी मूक कन्याएं इस टीके और दहेज की वेदी पर बलि हो जाती हैं। इस सौदेबाजी का दूसरा परिणाम यह है कि एक ओर योग्य किन्तु गरीब युवक पांच हजार की रकम न होने के कारण सुशिक्षित और सभ्य पत्नी नहीं प्राप्त कर पाते, दूसरी ओर सुशिक्षित कुलीन एवं गुण सम्पन्न कन्यायें भी पांच हजार की रकम का टीका न दे सकने के कारण अयोग्य पात्रों को सौंप दी जाती हैं, जहां वे जीवन्मृत दशा में चार २ आंसू रो रोकर इस आसुरी सामाजिक कुप्रथा के कारण हिन्दू समाज को कोसती हुई अपना जीवन पूरा करती हैं। आज के समय की सबसे बड़ी पुकार है कि, न केवल भारत में ही किन्तु सम्पूर्ण संसार में ही ब्राह्म विवाह का प्रचलन होना चाहिये जिसके लिये मनु के अनुसार न किसी विशेष रुपये पैसे की आवश्यकता, न किसी अन्य आडम्बर की। चाहिये तो केवल एक विशुद्ध खद्दर का वस्त्र तथा वन से अनायास ही प्राप्त हो सकने वाली पुष्प जल गन्ध आदि पूजन सामग्री। वर को

मांगलिक वस्त्र पहिनाकर उसका विधिवत् पूजन सन्मान हो और उसे कन्यादान दे दिया जाए। यथा--

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ (मनु०)

यह है भारतीय विवाह का आदर्श और एक ऐसी प्रणाली जिसे अमीर और गरीब सब भली प्रकार निभा सकते हैं।

ब्रह्म विवाह बनाम प्रेम विवाह

आधुनिक काल के प्रेम विवाह (Love Marriage) या मनु के शब्दों में 'गन्धर्व विवाह' का वर्णन किये बिना यह प्रकरण अधूरा ही समझा जाएगा। आज सम्पूर्ण नव शिक्षित समाज में यही 'गन्धर्व विवाह' लोक प्रियता को प्राप्त हो रहा है। अनेक प्रकार के उपन्यास कथा कहानी तथा ६० प्रतिशत चल चित्रों (Films) द्वारा इसकी महत्ता प्रदर्शित की जारही है और जनता को यह समझाने की कोशिश की जा रही है कि उचित या अनुचित किसी भी रीति से यदि किन्हीं स्त्री पुरुषों का आपस में प्रेम--वासनामय आसक्ति, हो जाय तो उनका परस्पर विवाह सम्बन्ध न होने देना सामाजिक अत्याचार है। इस आशयको प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार की काल्पनिक रोमाञ्चकारी कथाओं द्वारा इस प्रेम विवाह का समर्थन किया जाता है। यही नहीं किन्तु आज के पढ़े लिखे लोगों की धारणा हो चली है कि विवाह से पूर्व ही भावी दम्पतियों का आपस में प्रेम सम्बन्ध होना आवश्यक है और तभी उनका विवाह होना चाहिये जब वे एक दूसरे को प्रेम करने लगें। संक्षेप में आज के जड़ जगत का यह वैवाहिक सूत्र बन गया है।

चूंकि अमुक का अमुक से प्रेम होगया है फिर चाहे वह वासनामय और क्षणिक ही क्यों न हो—अत: उन दोनों का विवाह हो जाना चाहिये'। परन्तु आध्यात्म प्रधान आर्य्य जाति का वैवाहिक सूत्र सदा से यह चला आ रहा है—'क्योंकि अमुक कन्या का अमुक वर के साथ अनुभवी अभिभावकों की अनुमति से विवाह सम्बन्ध स्थिर होगया है अतः अब इन दोनों को जीवन भर एक दूसरे से स्थायी प्रेम करना चाहिये।'

'जहां प्रेम वहां विवाह' धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है और बाह्य सौंदर्य पर आश्रित होने के कारण स्थायी भी नहीं है। क्षणिक शारीरिक सौंदर्य या इसी प्रकार के अन्य गुणों की नींव पर खड़ा होनेवाला यह गार्हस्थ्य रूपी प्रासाद स्थायी नहीं हो सकता अवस्था तथा परिस्थिति-वशात् उत्पन्न होनेवाला एक हल्का सा परिवर्तन ही इसे धूलिसात् करने के लिये बस है। जिन विदेशों के अन्धाधुन्ध अनुकरण पर आज प्रेम विवाह, उन्मुक्त प्रेम, आदि समाज विरोधी तत्त्वों का प्रसार हो रहा है इनके कारण उन देशों का गृहस्थ जीवन कितना कष्टमय बन गया है इसे हम देखकर भी नहीं देख पाते। इस प्रकार के संयम तथा आदर्शहीन क्षणिक प्रेम सम्बन्धों ने वहां विवाह को एक खेल बना दिया है—गुड्डा गुड़िया का खेल, जो आज है कल नहीं। पतिदेव को बाहर काम पर जाने पर हर घड़ी यह सन्देह बना ही रहता है कि दफ्तर से लौटने पर बीवी मिलेगी भी या नहीं, इस प्रेम विवाह या उन्मुक्त प्रेम से जो भयङ्कर परिणाम निकलते हैं और समाज में जिस अव्यवस्था का प्रसार होता है उसका अनुमान करना भी कठिन है। इस प्रकार पाशविक प्रेम के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए मोलकुस (Mol-

kus) महोदय ने 'लिटरेरी डाइजेस्ट' में एक लम्बा लेख लिखा है। वे रूस के विषय में लिखते हैं :—

"यदि स्त्री पुरुष शादी करना चाहें तो बस 'इच्छा' ही कानून के लिये काफी है। वे चाहें तो उसे रजिस्टर मे दर्ज करादें चाहे न करायें यह भी इच्छा पर निर्भर है। सोमवार को शादी होती है, मंगल को तलाक हो जाता है। १९२६ मे १,००,००० स्त्रियों को उनके पति छोड़ गए, ९०,००० स्त्रियों के बच्चों का 'अपना' स्वीकार करनेवाला कोई नहीं मिला; १८,००० स्त्रियों ने अदालत में दरख्वास्त दी कि उन्हें अपने पतियों से बच्चों के भरण पोषण के लिये खर्चा दिलवाया जाय। इस प्रकार २,०८,००० स्त्रियों का कुछ ठिकाना नहीं मालूम पड़ता। ये अक सरकारी कागजों के हैं और जो संख्या सरकारी कागजों में आने से रह गई है उसका हिसाब ही नहीं। दो लाख आठ हजार स्त्रियों की सन्तान का भरण पोषण कौन करेगा? रूस मे लावारिस बच्चे जो--इस प्रकार की सोमवार की शादी और मंगलवार के तलाक से पैदा हुए हैं, ४० लाख की संख्या में मौजूद हैं।

(लिटरेरी डाइजेस्ट ६ अगस्त १९२५).

अभी हाल ही में रूस की एक युवती ने १ घंटे में दो बार विधवा होकर ससार के सामने एक नया रिकार्ड रक्खा है और भारतेतर देशों की गार्हस्थ्य जीवन की अवस्था को नग्न रूप में संसार के सामने उपस्थित कर दिया है। यथा--

एक घण्टे में दो बार विधवा

'लेलिनग्राड १३ जनवरी ४०

यहां की एक युवती ने १ घन्टे में दो बार विधवा होकर दुनिया

में एक नया रिकार्ड कायम किया है। कहा जाता है उसका सैनिक पति बन्दीगृह मे था। युवती को सूचना मिली, कि बन्दी सैनिक छोड दिये गये है और उसका पति घर लौट रहा है। वह स्टेशन जाने को तैय्यार थी, तभी तार मिला कि उसके पति की मृत्यु होगई है। उस युवती ने तुरन्त अपने दूसरे प्रेमी से शादी कर ली, तभी किसी से पता चला कि वह सकुशल वापिस लौट रहा है। युवती अपने नये प्रेमी को छोड़ उसे लेने स्टेशन पर गई जहां जाने पर उसने देखा कि वास्तव मे उसका पति मर गया है और उस नाम का एक दूसरा बन्दी सैनिक उन मुक्त बन्दियों मे विद्यमान है। वह घर लौटी तो देखा कि उसके निराश प्रेमी ने फांसी लगाकर आत्म हत्या कर ली है।

(दैनिक 'अमर भारत' देहली १५ जून ५०)

सभ्य राष्ट्रों की सामाजिक दशा के उपरोक्त दयनीय चित्र हमारी आंख खोल देने के लिये पर्याप्त है। इनसे हमे शिक्षा लेनी चाहिये और विदेशी आदर्शों के अन्धाधुन्ध अनुकरण की दुष्प्रवृत्ति का परित्याग करना चाहिये। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि इस प्रकार के विचारों को बढ़ावा देनेवाले उपन्यास नाटकों और सिनेमा चित्रों को सर्वथा रोका जाय और सर्वत्र विवाह के ब्राह्मरूप का ही प्रचार होना चाहिये। आर्य्य जाति ने दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिये यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि प्रेम मूलक विवाह न होकर विवाह मूलक प्रेम ही श्रेयस्कर है। महाभारत रामायणादि ग्रन्थ इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं क्योंकि क्षत्रियों मे प्रचलित स्वयम्वर प्रथा से होनेवाले सभी विवाहों का परिणाम अन्त मे बुरा ही निकला है। शकुन्तला दुष्यन्त, नल दम-यन्ती की कौन कहे, सीता और द्रौपदी के स्वयम्वरों का भी परि-

णाम महायुद्ध के रूप में जन संहारक ही सिद्ध हुआ। संयोगिता के स्वयंवर का कुपरिणाम तो जयचन्द और पृथ्वीराज के पारस्परिक विरोध की सीमा को लांघकर समस्त भारत को अन्यून एक सहस्र वर्ष तक विदेशी दासता के अभिशाप रूप में भोगना पड़ा है।

विवाह कब ?

विवाह की अवस्था के विषय में आज संसार में एक विचित्र हास्यास्पद स्थिति दिखलाई देती है। एक ओर हमें इस प्रकार के विवाह देखने को मिलते हैं जिनमें वर-वधू की अवस्था इतनी छोटी होती है कि उन्हें उस विवाह में सिवाय चहल पहल, सुन्दर भोजन और कौतुहल जनक तमाशे के अन्य कुछ ज्ञात नहीं होता। दूसरी ओर विलंबित विवाह की प्रवृत्ति जोरों पर है जिसके अनुसार लड़कियों को बीस पच्चीस वर्ष की अवस्था तक बलात् कौमार्य में रक्खा जाता है और उनके अभिभावक आंखों पर ठीकरी रखकर समय की गतिविधि से बिलकुल आंखे मूंदकर उन निष्पाप कन्याओं को दुराचरण के अन्धकूप में स्वयं धक्का दे देते हैं। हमारी नम्र सम्मति में यह दोनों ही प्रथाएं शास्त्र विरुद्ध होने के कारण समाज के लिये घातक ही नहीं सर्वथा विनाशकारी हैं। लेखक को जब अपने गांवों में अशिक्षित ग्रामीणों के यहां दुधमुंहे बच्चे बच्चियों का विवाह देखने का अवसर पड़ता है, मुहावरे की रीति से 'दुधमुंहे' नहीं किन्तु वास्तव में ही चार पांच साल की दुधमुंही कन्याओं को गोद में लेकर भांवरें पढ़ते, या इससे भी छोटी अवस्था की होने पर लड़की के स्थान पर गुड़ की भेली से ही वर को भांवरे लेते देखकर उसके हृदय में जो अपार क्षोभ होता है उसकी सीमा का उस समय कोई पारावार नहीं रहता।

जब उसे आधुनिक शिक्षित और सभ्य घरों में यूरोप के शीत प्रधान देशों के अनुकरण पर बीस पच्चीस वर्ष की कुंआरी कन्याओं को देखने का अवसर पड़ता है, या जब उसे समाचार पत्रों में ऐसे विलम्बित विवाहों से उत्पन्न होनेवाली दुराचारपूर्ण घटनाओं के सम्बन्ध में समाचार पढ़ने को मिलते हैं।

प्रथम कोटि के विवाह जहां बचपन मे अर्थात् समय से पूर्व ही बालकों में काम भाव का उदय करके उन्हें तथा उनकी भावी सतान को निर्बल बनाने के कारण बनते हैं, वहां दूसरी प्रकार के विवाह भी लड़के लड़कियों में समय पर काम भाव की प्राकृतिक प्रेरणा के उदय होने पर उसकी पूर्ति के वैध साधनाभाव में अवैध व्यभिचार को प्रोत्साहन देकर समाज को खोखला बनाने म कम सहायक नहीं सिद्ध होते। इसलिये यह आवश्यक है कि वैवाहिक अवस्था पर भी इस प्रघट्ट मे कुछ प्रकाश डाला जाय।

हम पीछे कह आये हैं कि विवाह एक प्राकृतिक संस्कार है और स्त्रीत्व पुंस्त्व नामक दो विभिन्न तत्त्वों के समिश्रण से सृष्टि विस्तार ही इसका फल। इसलिये हमें विवाह काल के निर्णय में प्रकृति का ही प्रधानता देनी चाहिये। इस बात को दृष्टि मे रखकर अगर हम विवाह काल पर विचार करें तो सर्व प्रथम हमे देखना होगा कि लोक में स्त्रीत्व या पुरुषत्व का विकाश किस अवस्था में पूर्णरूप से हो जाता है। भिन्न २ देशों के जलवायु एवं वातावरण के अध्ययन से पता चलता है कि इस विकाश का काल सर्वत्र एक नहीं है। शीत प्रधान देशों में स्त्रीत्व विकाश १२ से १६ साल की अवस्था के अन्दर होता है तो उष्ण प्रधान देशों में १० से १४ साल की अवस्था में। प्रायः सभी व्यक्ति जानते हैं कि स्त्रीत्व के विकसित होने पर शरीर में लावण्यवृद्धि, स्तनों का प्रादुर्भाव, हाव

भावों का उदय, इत्यादि लक्षणों के अतिरिक्त रजोधर्म का भी प्रारंभ हो जाता है। मुख्य रूप से यह उसके गर्भधारण सामर्थ्य का सूचक चिन्ह है और प्रकृति की ओर से होनेवाला एक ऐसा विचित्र परिवर्तन है जो उसे बचपन के आनन्दपूर्ण निश्चिन्त जगत से बरबस खेंचकर चिन्ता हर्ष शोक से परिपूर्ण यौवन के मधुर द्वार पर ला खड़ा कर देता है। इस समय उसकी स्त्रीभावात्मक चैतन्यशक्ति जागृत हो जाती है। सांसारिक विषयों के सम्बन्ध में उसके हृदयमें ज्ञानोदय होने लगता है। मादक अभिलाषाएं धीरे २ उसके हृदय में प्रवेश करके उसके सामने एक रंगीन दुनिया का नक्शा खेंच देती हैं और तब स्त्री चाहती है एक ऐसे पुरुष का संसर्ग—जो उसकी अभिलाषाओं को साकार रूप प्रदान करे। कामशास्त्र में लिखा है—

रजस्वला च या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने।
पीड़िता कामबाणेन ततः पुरुषमीहते॥

अर्थात्—ऋतुस्नाता नारी पांचवे दिन काम पीडित होकर पुरुष सम्बन्ध को चाहती है।

यह तो हुई स्त्रीभाव के विकास की चर्चा। पुरुषत्व विकाश १८ वर्ष से प्रारम्भ होता है और लगभग २५ वर्ष की अवस्था में पूर्ण होता है। किशोरावस्था की समाप्ति और यौवन के प्रारम्भ के तीन चार वर्षों में युवकवर्ग की वही स्थिति होती है जो नवयौवना कन्याओं की। अवस्था का यह छोटा सा परिवर्तन जिसे हम कोई विशेष महत्व नहीं देते--बालकों के जीवन में वस्तुतः अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नीतिकारों का कहना है कि इस समय बालकों का हृदय दूध की प्रथम उफानी अवस्था में से गुजरता है और जिस

प्रकार उस उफनते हुए दूध को उस समय यदि सावधानी पूर्वक कोई न सम्भाले तो उसका बिखर जाना अस्वाभाविक न होगा, वैसे ही यदि उस समय बालकों के सदाचार पर कठोर नियन्त्रण न हो तो उनका उत्पथगामी बनकर किसी कुसगति में फंस जाना आश्चर्यजनक न होगा।

स्त्रीत्व और पुंस्त्व विकाश की इन अवस्थाओं को समझने के उपरान्त विचार का विषय यह है कि विवाह इस शारीरिक विकास के बाद किया जाय या पूर्व में ही।

गहराई से इस प्रश्न को देखने पर हमें ज्ञात होगा कि कन्याओं के लिये विवाह की अवस्था 'रजोदर्शन' से तुरन्त पूर्वकी ही समुचित है, न इससे बहुत पहिले की और न बहुत बाद की ही। पुरुष की आयु यथेच्छ युवा हो और वह ब्रह्मचर्य पूर्ण कर चुका हो। इस प्रकार के विवाह से जहां पति पत्नी में आयु भर प्रेम रहेगा वहां उनसे होनेवाली सन्तान भी बलवान हृष्ट पुष्ट और दीर्घजीवी होगी।

महर्षि सुश्रुत ने, जो कि भारतीय शारीरिक विज्ञान के प्रमुख आचार्य है इस विषय का विचार करते हुए लिखा है :—

"अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत्।

(सुश्रुत शारीरस्थान १०, सू० ५८)

अर्थात्—पच्चीस वर्ष के पुरुष को बारह वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना चाहिये।

हमें यहां इस बातको भली भांति समझ लेना चाहिये कि विवाह और गर्भाधान दो पृथक् २ संस्कार हैं और पृथक् २ अवस्थाओं में ही किये जाते हैं। सुश्रुत आदि महर्षियों ने जहां विवाह के

लिये कन्या की उपयुक्त आयु १२ वर्ष स्वीकार की है वहां गर्भाधान के लिये १६ वर्ष की। उपर्युक्त उद्धरण से अनुपद अगले हैं सूत्र में महर्षि कहते हैं :--

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थः स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

(सुश्रुत शारीरस्थान १०, ५६-६०)

अर्थात्—यदि पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष सोलह वर्ष से कम आयुकी स्त्री मे गर्भाधान करे तो वह गर्भ कोख में ही मर जाता है। यदि किसी प्रकार सन्तान उत्पन्न भी हो जाय तो वह देर तक जीवित नहीं रहती, यदि जीवित रह भी जाय तो वह सदा दुर्बल ही रहेगी। इसलिये इससे कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिये।

आज लोग अज्ञान के कारण इस भेद को भूल गए हैं। उनके विचार मे विवाह मानों इस ग्राम्य व्यवहार के लिये पूरी स्वतन्त्रता मिलने का ही दूसरा नाम है। जो आलोचक 'शीघ्र विवाह' के कारण स्मृति प्रणेता महर्षियों की कटु आलोचना करते नहीं थकते उन्हें भी इस बात का पूरा ज्ञान नहीं कि महर्षियों को 'शीघ्र विवाह' ही अभिमत है 'शीघ्र गर्भाधान' नहीं, यही एक रहस्य है कि जिस तक सर्व साधारण की पहुंच नहीं। जरा विचार कीजिए कि क्यों सभी स्मृतिकार और सुश्रुत सरीखे शारीरिक शास्त्र के महान् ज्ञाता आचार्य, एक स्वर से विवाह के लिये दश बारह वर्ष की छोटी

आयु का ही समर्थन करते हैं और गर्भाधान के लिये १६ वर्ष से अधिक अवस्था का ? क्या कारण है कि रजस्वला होने से पूर्व विवाह न करने की दशा में महर्षियों ने :--

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्या पिता पिबति शोणितम् ॥

(यम संहिता)

--कहकर पिता को कन्या के रज पान जैसा घृणित पाप का भागी कहने में भी हिचकिचाहट नहीं अनुभव की और विवाह के अनन्तर गर्भाधान के लिये १६ वर्ष से पूर्व की आज्ञा भी नहीं दी ।

वस्तुत बात यह है कि ऋतु दर्शन होनेके बाद स्त्री के हृदय में काम वासना का उन्मेष होने लगता है, उसका मन पुरुष समागम के लिये उत्कण्ठित हो उठता है । ऐसी दशा में आवश्यकता इस बात की है कि उसकी इन मानसिक प्रवृत्तियों को एक केन्द्र पर स्थिर किया जाय, वे इधर उधर न भटककर एक ही केन्द्र पर अव-लम्बित रहें । यह तभी सम्भव है जब पहिले से उसका विवाह सम्पन्न हो चुके क्योंकि उस दशा में स्त्री के हृदय की सम्पूर्ण वासनाएं और आकांक्षाएं उसके पति पर ही आश्रित होंगी । उसकी प्राप्ति की आशा मे ही वह अन्य चिन्तन छोड़ सकेगी । ऐसा न होने पर उसकी नैसर्गिक काम भावना एक अवलम्बन न पाकर जहा तहां भटककर उसके पातिव्रत्य में हानिकारक सिद्ध हो सकती है । यदि जीवन की उस प्रारम्भिक दशा में वह अपने मार्ग से च्युत होगई तो फिर सम्पूर्ण जन्म मे उसका सुधार होना बड़ा कठिन है । यही सब सोच समझकर महर्षियों ने रजोदर्शन से

तुरन्त पूर्व ही विवाह की आज्ञा दी है। विवाह के अनन्तर स्त्री अपने पिता के घर ही रहे और फिर उचित अवस्था आने पर उसे पति के घर भेज दिया जाय। इसीलिये द्विरागमन या गौने की प्रथा आज भी बहुत से देशों में प्रचलित है जो कि इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सर्वथा उपयुक्त है।

आज जिस अवस्था में कुमारियों का विवाह किया जाता है उस अवस्था तक पहुंचते २ उनकी पातिव्रत्य की पवित्र मानसिक पृष्ठभूमि प्राय. मलिन हो चुकी होती है। उस पर न जाने कितने चित्र बन और बिगड़ चुके होते हैं ऐसी दशा में उनमें पातिव्रत्य की सम्भावना करना व्यर्थ ही है। जब किसी भवन की नींव ही डगमगा जावे तब उसपर खड़ा होनेवाला भवन—चाहे दृढ़ चट्टानों से ही क्यों न तैय्यार किया गया हो—अवश्य ही पतनोन्मुख रहेगा।

संसार के सभी विचारशील पुरुष फिर चाहे वे भारतीय हों या वैदेशिक विवाह की इस अवस्था के विषय में एकमत हैं, भारतीय आचार्यों की सम्मति उद्धृत करने के बाद प्रकृत प्रसंग में कतिपय विदेशी विद्वानों की सम्मति उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा।

'It is not good for a man or women to live alone. Our tendency of the times is the apparently increasing avoidance of marriage or its postponement untill an age when the adaptation of one individual of the couple to the other is difficult. because habits have become fixed so firmly that their adjustment is a difficult or at least, an

annoying process. Obcviously, therefor, it seems to me that early marriages should be encouragd.

(Thomas A. Edison)

श्री ऐडिसन महोदय—जिनसे संसार 'ग्रामोफोन' मशीन के आविष्कारक रूप मे भली भाति परिचित है लिखते हैं—"स्त्री या पुरुष के लिये अकेला अर्थात अविवाहित रहना अच्छा नही है। आज के समय मे लोगों की प्रवृत्ति होती जा रही है कि विवाह बिलकुल ही न किया जाय, देर मे किया जाय--इतनी देर मे कि वर-वधू की प्रकृति का सामञ्जस्य ही न हो सके। यह सब अनुचित है क्योंकि बडी अवस्थाओं में पहुंचने तक उनकी आदत इतनी मजबूत हो जाती है कि बाद मे उसमें परिवर्तन करना कठिन हो जाता है। इसलिये मुझे यही अच्छा मालूम होता है कि शीघ्र विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिये।

इसी प्रकार मिस्टर लेकी साहब ने अपने 'यूरोपीय आचार का इतिहास' नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है--

The nearly universal practice of the custom of early marriages among the Irish peasantry has alone rendered possible that high standerd of female chastity that intence and jealous sensitiveness respecting female honour, for which among many failings and some vices the Irish poor have long been pre-eminen in Europe.

अर्थात्--आयर्लैण्ड के गरीब किसानों में होनेवाली 'शीघ्र विवाह' प्रथा ने वहां की स्त्रियों में उच्चतम पातिव्रत्य और उसके

प्रति आदरभाव को बनाकर रक्खा है अनेक दोषयुक्त होनेपर भी वे आयरिश लोग वर्षों तक यूरोप मे सन्मान भाजन रहे है ।'

इसी प्रकार अन्य भी बहुत से पाश्चात्य विचारकों ने विवाह की आयु के विषय में भारतीय शास्त्रकारों की दूर दर्शिता को स्वीकार किया है और माना है कि वास्तव मे यदि गृहस्थ जीवन में हम सच्चा प्रेम सच्ची सुख शान्ति चाहते हैं तो हमें इसी प्रणाली का आश्रय लेना चाहिये ।

विवाह क्यों ?

विवाह वह पुनीत और महत्वपूर्ण सस्कार है जिसने मानव-पशु को सच्चे अर्थों में 'मानव' बनानेमें महत्वपूर्ण भाग लिया है। विवाह संस्था अत्यन्त प्राचीन है और हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि सभ्यता और संस्कृति के प्रथमोदय काल में जब मानव वंशधरों ने सामाजिक जीवन का सूत्रपात किया तभी विवाह प्रणाली का प्रारम्भ हुआ होगा। यह प्रणाली जिस राष्ट्र में जितनी ही विकसित और उत्कृष्ट रूप में अपनाई गई, वह राष्ट्र उतना ही सभ्य सुसंस्कृत तथा उन्नत बनता गया। विवाह संस्था के अभाव में मनुष्य, पशु से भी बदतर होता, न उसकी कोई पत्नी होती न मां न बहिन न बेटी। अपनी भोगलिप्सा को पूरा करने के लिये वह कुत्तों की तरह स्त्री मात्र की तलाश में भटकता फिरता, बलात्कार करता, छीना झपटी करता, गुर्राता, लड़ता और बुद्धिहीन खूंखार जानवर से कहीं अधिक अपनी सारी बुद्धि का उपयोग विनाश के उपाय सोचने में करता। उसके इस प्रकार के व्यभिचार से उत्पन्न मानवपिल्ले गली २ ठोकरें खाते फिरते न उनका घर होता न दर, न स्कूल, न कालेज ! शिक्षा, सभ्यता, सस्कृति, कला, विज्ञान

से सर्वथा गन्न एक पशु-राष्ट्र ही हमारे सामने होता। यह विवाह ही है जिसने मनुष्य को परिवार दिया. घर बसाने की प्रेरणा दी. परिवार के भरण पोषणार्थ विविध कार्यों और पेशों को जन्म दिया और आज का हमारा यह सुनहला संसार बन पाया।

विवाह सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन का अंगमात्र ही नहीं है किन्तु इसका उद्देश्य इससे भी कहीं अधिक महान गहन और दिव्य भावपूर्ण है। उसकी इस महत्ता और गम्भीरता तक पाश्चात्य जगत् पहुंचे या न पहुंचे किन्तु आर्य महर्षियों और दार्शनिकों ने भारतीय जनता के सामने जो उद्देश्य रक्खे हैं उनकी प्रतिष्ठा सर्वथा लोकोत्तर आदर्शों पर की है।

विवाह के पांच उद्देश्य--

१--विवाह का प्रथम उद्देश्य सृष्टि विस्तार के लिये स्त्रीत्व और पुरुषत्व धारा का सम्मेलन है। हमने पीछे कहा है कि प्रकृति के अणु २ में उपरोक्त दोनों शक्तियें विद्यमान रहती हैं और सृष्टि विस्तार के लिये इन दोनों का सम्मेलन प्राकृतिक प्रेरणा से होता है। यह सम्मेलन ही सृष्टि कारण है और प्रवाह रूप से संसार को अनन्तकाल तक जीवित रखता आया है।

२--चौरासी लाख पशु पक्षी कीट पतङ्गादि योनि भोगकर ही मानव देह प्राप्त होती है। इस योनि में यद्यपि परमात्मा ने मनुष्य को दया करके सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्रदान की है किन्तु अनेक योनियों मे पड़ा हुआ पशु संस्कार उससे छूटता नहीं है, जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति स्वच्छन्द आहार विहार की ओर स्वभावतया ही झुकी रहती है। प्रत्येक पुरुष के हृदय में संसार भर की स्त्रियों के लिये और स्त्रियों में सभी पुरुषों के लिये भोग भावना प्राकृतिक

रूप से विद्यमान रहती है। जब कभी उसे अवसर मिलता है वह अपनी इस पशु प्रवृत्ति को चरितार्थ करने में नहीं चूकता। इतिहास के पाठक जानते हैं कि यवन राजाओं ने अपने समय में सैकड़ों की तादाद में सुन्दर स्त्रियों का अपहरण करके अपने हरमों को भर लिया था। अभी पिछले दिनों भारतीय गृह विप्लव के समय कामान्ध नर-पशु ने स्त्री जाति पर बलात्कार अपहरण धर्षणादि जो बर्बर अत्याचार किये हैं वे मानव-व्याप्त पशुता के नंगे उदाहरण हैं। नर नारियों की इस पशु सदृश स्वच्छन्द तथा निर्बाध काम भावना को एक स्त्री व एक पुरुषमें ही बांध देना और अनेक प्रकार के शास्त्रीय नियमों द्वारा धीरे २ उसे निवृत्ति की ओर ले जाना ही विवाह का दूसरा उद्देश्य है।

३—विवाह का तीसरा उद्देश्य है प्रजोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति तथा वंश रक्षा! पीछे लिखा जा चुका है कि विवाह का उद्देश्य भोग विलास नहीं किन्तु—'प्रजायै गृहमेधिनाम्' के अनुसार सन्तानोत्पत्ति ही उसका प्रयोजन है, प्रारम्भ में दिये गए वैदिक उद्धरण में—'मया पत्या प्रजावती' कहकर वेद ने प्रजोत्पादन ही विवाह का लक्ष्य माना है। शास्त्र दृष्ट्या मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं (१) देवऋण (२) ऋषिऋण (३) पितृऋण। इनमें से यज्ञ याग देव पूजनादि द्वारा देवऋण से, शास्त्रों एवं वेदों के स्वाध्याय से ऋषिऋणसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, शेष पितृऋणसे मुक्ति प्रजोत्पादन द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त चूंकि आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु का ही अंश है इसलिये सत चित् आनन्द रूप तीनों गुणों की ओर उसकी प्रवृत्ति स्वभावतः ही होती है। इनमें से सत का ही प्रकृत विषय से सम्बन्ध है। सत् का अर्थ है सत्ता। मनुष्य अपनी सत्ता को सर्वदा अक्षुण्ण रखना चाहता है उसकी इस

अभिलाषा का फल ही सन्तान है जिसे उत्पन्न करके वह सन्तोष अनुभव करता है। पुत्र उसका अपना ही रूप है और उसकी उपस्थिति से वह अपनी 'स्व' भावना को सफल समझता है। यही प्रवृत्ति विवाह मूलक वंश परम्परा को जन्म देती है, जिस की रक्षा के लिये--अनेक प्रकार के यज्ञानुष्ठानादि का आश्रय लेकर--भी मनुष्य सतत प्रयत्नशील रहता है।

४--मनुष्य स्वार्थी प्राणी है। अपने शरीर में उसकी जितनी मोह ममता होती है उतनी और किसी वस्तु में नहीं। विवाह द्वारा मनुष्य के इस ममत्व क्षेत्र को विस्तार मिलता है अब तक उसका जो प्रेम और मोह अपने शरीर मात्र में था, वह क्रमशः पत्नी पुत्र कन्या सगे सम्बन्धी आदि परिवार में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यह स्वार्थ परक प्रेम पहिले घर की चार दिवारी से प्रारम्भ होकर मुहल्ला, गली, नगर, प्रान्त, देश और समस्त विश्व में व्याप्त होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुनीत आदर्श का व्यवहारिक रूप धारण कर लेता है। विश्व प्रेम ममत्व की अन्तिम श्रेणी है और इस पर पहुंच कर मनुष्य—'स माम पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति' के उच्च शिखर पर पहुंच जाता है। इसलिये स्वार्थ परक प्रेम को विस्तृत कर उसका मुक्ति में पर्यवसान ही विवाह का चौथा उद्देश्य है।

५—त्याग क्षमा धैर्य सन्तोषादि गुणों का संग्रह तथा अभ्यास विवाह का पांचवां उद्देश्य है। गृहस्थ में रहते हुए दम्पती को एक दूसरे के हित के लिये स्वार्थ त्याग, मनः प्रतिकूल व्यवहार में क्षमा, अत्यन्त कष्ट में भी धैर्य आदि गुणों का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यही गुण विकसित होकर मनुष्य को सामाजिक क्षेत्र में विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। गृहस्थ की इस पाठशाला में

त्याग प्रेम आदि का पूर्ण अभ्यास कर जब दम्पती इनका प्रयोग ईश्वर प्राप्ति के अध्यात्म मार्ग मे करते हैं तो वे भगवत्प्राप्ति के अत्यन्त सन्निकट पहुच जाते हैं। यही उनके जीवन का लक्ष्य है।

विवाह संस्कार की रूपरेखा

कन्या के लिये योग्य सुशील स्वस्थ सुन्दर एवं शिक्षित वर का निश्चय करने के उपरान्त शास्त्रीय विधि से उसका वरण होता है इसे वाग्दान (सगाई) कहा जाता है। इसके अनन्तर गुरु शुक्रास्तवर्जित मुहूर्त शास्त्र की दृष्टि से शुभयोग में विवाह का दिन निश्चित किया जाता है (मुहूर्तादि के विषय मे इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाश डाला जा रहा है) इसकी सूचना वर पक्षवालों को दे दी जाती है और तब दोनों घरों में तैय्यारी प्रारम्भ हो जाती है। विवाह से पूर्व तदङ्गभूत कुछ शास्त्र मूलात्मक और कुछ देशाचार तथा कुलाचार मूलक कृत्य किये जाते हैं। यद्यपि उनका स्वरूप अनेक रूप में पाया जाता है अनेकता के कारण सब रूपे पर प्रकाश डालना असम्भव है तथापि बहुजन सम्मत विधियों की कुछ रूप रेखा लाभप्रद समझकर यहा प्रकट की जाती है।

हाथ

सात निर्गर्भा सुहागिन स्त्रिये मगलगान के बीच विवाह का वस्तु संग्रहात्मक प्राथमिक कृत्य प्रारम्भ करती हैं जिसे हाथ कहा जाता है। यह प्रथा विवाहार्थ अन्नादि सग्रह का प्रतीक है और अभिभावकों को विवाह की सब प्रकार की तैय्यारी के लिये प्रेरणा करती है। चूंकि स्त्री विधाता की विषम प्रकृति का रूप है अतः विषम संख्याक स्त्रियां संगठित रूप से एकत्रित होकर इस महान

कार्य का आरम्भ करती हैं। निर्गर्भा स्त्रियें इसलिये विशेष रूप से चुनी जाती हैं कि विवाह की तैय्यारी में खूब परिश्रम कर सकें और थकें नहीं। सुहागिन इसलिये कि खूब प्रसन्नता पूर्वक इस कार्य में योग दे सकें। विधवा आदि का ऐसे कृत्यों के समय अपने पूर्व सुखादि के संस्मरण से और भी विक्षुब्ध हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

हरिद्रा-हस्त (हलधात)

यह विवाह की पूर्ववर्ती मांगलिक क्रियाओं का अंग है, इसका उद्देश्य पितृगणों की वन्दना और नृत्य गीतादि के द्वारा मांगलिकता की अभिवृद्धि करना है। इस अवसर पर वर में विधिवत् पितृगणों की स्थापना की जाती है जिसे थापा कहते हैं। सब पारिवारिक और सजातीय बन्धु बान्धव इस अवसर पर एकत्रित होकर पितृ अर्चना करते हैं। यह एक प्रकार से उन दिवंगत महान् आत्माओं का आभार प्रदर्शन है जिनके उत्तराधिकारी बनकर वे लोग संसार में सन्मानके साथ जीवन यापन कर रहे हैं। पितृवंदना के अतिरिक्त इस दिन रात्रि भर जागरण का कार्य चलता है और स्त्रियों को इस जागरण से आमोद प्रमोद का पर्याप्त अवसर मिल जाता है।

बान (तेल)

यह क्रिया एक तरह से वर या कन्या के शरीरिक सौन्दर्याधान के उद्देश्य से की जाती है। पहिले ही की तरह सात सौभाग्यवती स्त्रियां जौ हल्दी आदि पीसकर स्वयं उससे उबटन तैय्यार करती हैं। दही तेल दूर्बा इन तीनों वस्तुओं से वे वर कन्या का सातबार

अभिषेक करती हैं अर्थात् यह तीनों पदार्थ उसके शरीर पर लगाये जाते हैं। दही, शीतल हृद्य और शान्तिकारक है; तेल स्निग्ध और कान्तिप्रद है। दही के साथ मिलकर वह प्रत्येक रोम २ में प्रवेश करके खुश्की ताप अथवा त्वचा सम्बन्धी सभी दोषों के लिये रामबाण औषधि का कार्य करता है। जिस हरी दूर्वा से यह वस्तुएं उसके शरीर पर लगाई जाती हैं, वह स्मृति-शक्तिप्रद और नेत्र-ज्योति-वर्धक है; तेल मे सयुक्त करने से उसके गुण तेल में आजाते है। इस प्रकार दही आदि के द्वारा उनके शरीरों को तरो-ताजा बनाने के बाद शारीरिक स्वच्छता के लिये उबटन का प्रयोग करते हैं। यह उबटन शरीर में निर्मलता कोमलता तथा स्निग्ध कान्ति के लिये अपूर्व वस्तु है। साबुन की तरह खुश्की तथा रूक्षता से कोसों दूर है। वर वधू के शरीर मे स्थायी कान्ति (नूर) लाने के लिये इससे बढ़कर अन्य कोई पदार्थ नहीं।

स्नान के अनन्तर वर वधू के पांव मे रखडी अथवा रक्षासूत्र पहिनाने की प्रथा प्राय सभी प्रान्तों मे है। यह रक्षासूत्र कौडी सुपारी, पीली सरसों, लोहे का छल्ला आदि वस्तुओं से निर्मित होता है। वस्तु विज्ञान के अनुसार यह सब वस्तुएं अदृश्य वातावरण जन्य हानियों से भावि-दम्पतियों की रक्षा के साथ उनकी विशेष स्थिति की परिचायक होती है। इसमें अवद्ध होने के बाद उन्हें कठिन परिश्रम साध्य कार्यों से छुट्टी दे दी जानी चाहिये, जिससे उनके शरीर मे अचानक कोई रोग या कष्ट न उत्पन्न हो जाय और व्यर्थ ही 'विवाह मे बीज का लेखा' खड़ा हो। ज्योतिः शास्त्रोक्त रीति से ५, ७ बार बान—सौन्दर्याधान, के सम्पन्न हो जाने पर एक अपूर्व सौन्दर्य से उनका शरीर चमक उठता है। इस स्नान की अन्तिम क्रिया विशेष महत्त्व की है, बान का अन्तिम स्नान

जिस जल से होता है वह साधारण जल नहीं होता। यद्यपि इस अवसर पर घर में पानी की कोई कमी नहीं होती, परन्तु फिर भी वर वधू के भाई एवं भावज दोनों स्वयं उनके स्नानार्थ जल खींचकर लाते हैं और तब स्त्रियें एक छलनी में से उस जल को छानती हुई उन्हें स्नान कराती हैं।

स्पष्ट है कि यह जलाहरण-क्रिया छोटे भाई बहिनों के प्रति ज्येष्ठ भ्राता के प्रेम, कष्ट सहन एवं सद्भावना का प्रतीक है, किन्तु अभी लाये हुए जल को पुन छानने का क्या तात्पर्य ? वास्तव मे यह क्रिया भाई भावज के लिये एक शिक्षा है। आजतक बड़े भाई के साथ वह कुमार या कुमारी जिस प्रकार रहते रहे हैं उसने चाहे उन्हें प्रेम से रक्खा है या उपेक्षा से, अच्छा खिलाया या बुरा इस बात को किसी ने नहीं छाना। किन्तु इस समय वे कुमार कुमारी अपने पावों पर खड़े होने जा रहे हैं; गृहराज्य में अब वे बराबर के भागीदार बनने जा रहे हैं ऐसी दशा में बड़े भाई द्वारा कष्ट उठाकर लाये हुए विशुद्ध जल को भी छलनी द्वारा छानकर मानों समाज उसे चेतावनी दे रहा है कि भविष्य में उसका प्रत्येक व्यवहार लोगों की बौद्धिक छलनी द्वारा छनकर ही पवित्र समझा जायेगा। छोटे भाई बहिन के प्रति आज से उसका जो विशेष उत्तरदायित्व बढ़ गया है उसका उसे सदैव ध्यान रखना चाहिये।

मंडप पूजन (मंढा)

मंढा या मण्डप पूजन की प्रथा थोड़े बहुत भेद से प्रायः सभी प्रान्तों में पाई जाती है, कहीं काष्ठ स्तम्भ निर्माण के रूप में, कहीं शामियाना आदि लगाकर मण्डप निर्माण के रूप में, और कहीं केले आदि से मण्डप निर्माण के रूप में। परन्तु इन सबसे अधिक

वैदिक विज्ञानपूर्ण एव भावनाभरित प्रथा का प्रचलन भारत के आर्यावर्त ब्रह्मावर्तादि भाग मे पाया जाता है जहां मंढे का निर्माण चार सछिद्र शकोरों (मिट्टी के बरवों) द्वारा होता है। ये चारों पात्र एक विशेष विधि से एक सूत्र में पिरोये जाते हैं और वे विवाह वेदी स्थान के ठीक ऊपर लटका दिये जाते है। इनका क्रम है— प्रथम पात्र अधोमुख, दूसरा ऊर्ध्वमुख— मिष्ठान्न, दूर्वा, अक्षत तथा द्रव्य प्रपूर्ण। तीसरा अधोमुख उसे ढकता हुआ, और चौथा ऊर्ध्व मुख। तीन दिशाओं में बधी हुई तीन रस्सियों के सहारे ये वेदी पर लटके रहते हैं।

आज भी प्राय: प्रत्येक विवाह में मढा होता है और पाधा जी इसे पूर्वोक्त रीति से वधवा भी देते हैं किन्तु इसका क्या रहस्य है इसे बहुत कम व्यक्ति जान पाते हैं। रस्मी तौर पर यह सब क्रिया समाप्त कर दी जाती है। वास्तव में यह चारों मृण्मय पात्र चारों आश्रमों के प्रतीक हैं जिनको मानव जीवन रूपी एक सूत्र मे पिरोया जाता है। अधोमुखी प्रथम पात्र ब्रह्मचर्य का प्रतीक है जिसमें ब्रह्मचारी की संसार से विविक्तावस्था, ज्ञान प्राप्ति के लिये उसका नम्री-भाव आदि का सुन्दर निदर्शन है। उसके ऊपर ऊर्ध्वा-धोमुख रूप से संयुक्त रक्खे हुए दोनों पात्र उन गृहस्थ और वानप्रस्थ के प्रतीक हैं जिनमे दम्पति ने संयुक्तावस्था में रहना है, किन्तु सावधान। उनकी यह संयुक्तावस्था खोखली =सार विहीन न होनी चाहिये; अन्यथा गृहस्थ जीवन नितान्त दु:खमय हो जाएगा, उसमें अन्न धन की पूर्णता होनी चाहिये, यह बात उसमे डाले जानेवाले खाद्य पदार्थ और द्रव्यसे प्रदर्शित की जाती है, और अन्त मे होता है चौथा पात्र— ऊर्ध्वाभिमुख, शून्य, संन्यास का प्रतीक !—जिसमें कि पुरुष ससार की ओर पीठकर ऊर्ध्वाभिमुख, अपरिग्रहशील और

एकाकी वनकर ब्रह्म प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है। इन चारों आश्रमों के समूह रूप मानव जीवन का सम्बन्ध जिन रश्मियों—डोरों से होता है वे हैं ऋग् यजु साम लक्षण डोरे-जो वेद-त्रयी के नाम से मानव जीवन मे अभिव्याप्त है।

मण्डप स्थापना के बाद कुमार कुमारी के हाथ मे उपाध्याय, कगना—रक्षा ककण पहनाता है और सात स्त्रिये इसमें एक एक ग्रन्थी लगाकर इसे और भी दृढ बना देती हैं। एक व्यक्ति भी सात गाठ लगा सकता था, परन्तु ऐसा न करके सात भिन्न २ स्त्रियों द्वारा ग्रन्थी बन्धन सूचित करता है कि वे उनकी रक्षा, देखभाल का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रही है। इन सात ग्रन्थियों द्वारा वर कन्या को भी सावधान किया जाता है कि वे गर्भाधान सस्कार से पूर्व तक अपने शरीर की सातों धातुओं का बलपूर्वक निग्रह करें एक २ ग्रन्थी एक एक धातु के संयम=बन्धन की प्रदर्शक है।

घुड़चढ़ी

मातुल गृह से समागत वैवाहिक वस्त्रों से सुसज्जित वर शिर पर एक विलक्षण मुकुट धारण करता है जिसमे लोहे की एक सुई भी रक्खी जाती है, पर यह क्यों ? इस मुकुट मे यह सुई! हा सचमुच लोहे की सुई ही तो है कितनी तीखी और बींधनेवाली। हा भई, यह भी आवश्यक है, यह फूलों का सेहरा और यह रंग-विरंगा आभामय मुकुट केवल सुख और आह्लाद से भरा हुआ ही नहीं है। गृहस्थ की जो जुम्मेवारी, जो भार इस मुकुट द्वारा युवक के शिर पर रखा जा रहा है उसके अन्तर में तो न जाने ऐसी कितनी सुइये छिपी हुई हैं, इसी दायित्व का प्रतीक यह कण्टकाकीर्ण ताज है। यह बात उस तीखी सुई द्वारा ही तो ज्ञात होती है।

घुड़चढ़ी का प्रस्थान करने से पूर्व कई प्रान्तों मे घोड़े की बाग बहनोई के हाथ में पकडाने की प्रथा है यह शायद इसलिये कि इस अनुभवहीन सवार के लिये उनसे अधिक उपयुक्त पथ प्रदर्शक कोई नहीं मिल सकता। बहनोई और साले का सम्बन्ध स्वभावत ही मधुरतापूर्ण होता है। इस रस्म से मानों वे कुमार को गार्हस्थ्य के इस नवीन मार्ग पर सुखेन चलने की उपयुक्त शिक्षा देने का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हे।

प्रस्थान काल मे बहिनें अपने आंचल की हवा से भाई के ऊपर आनेवाली समस्त भावि बाधाओं को उडा देना चाहती हैं, अक्षतों की वर्षा द्वारा उसकी मंगल कामना करती हैं और इस प्रकार मंगलगान के बीच युवक अपनी मातृभूमि की परिक्रमा करता है. मन्दिरमें इष्टदेव की बन्दना करने जाता है और ग्राम देवता की अभ्यर्चना कर विवाह यात्रा के लिये प्रस्थान करता है। यही घुड़चढ़ी है।

द्वाराचार (ढुकाव)

आज रात मे ही विवाह होना है किन्तु उससे पूर्व वर को अभी कई परीक्षाओं में से गुजरना है। ढुकाव या द्वाराचार इसी परीक्षा का ही दूसरा रूप है। वाग्दान से पहिले पिता या भाई ने ही तो वर को देखा था, लड़की के परिवार वालों ने–गली मुहल्लेवालों ने भी तो अभी उसे देखना है। बिना उनके देखे और परखे पाणिग्रहण नहीं हो सकता। विवाह जीवन भर का सौदा है इस–लिये इसे बड़ी परीक्षा के बाद ही तय करना पडता है।

घोड़ी आगई, वर महाशय इसी पर चढ़ कर श्वसुर गृह जायेंगे। आज तो नाई या दूसरे लोग वर को गोदी में भरकर घोड़ी

पर बैठा देते हैं, जिसका परिणाम स्पष्ट है कि शारीरिक दृष्टि से अयोग्य और निर्बल युवकों की कौन कहे अबोध बालकों और खूसट बूढोंतक की भी शादियें कर दी जाती हैं। इससे एक ओर तो व्यभिचार को बढावा मिलता है दूसरी ओर उनसे होनेवाली निर्बल सन्तान निर्बलता का कारण बनती है। जिस समय इस प्रथा की सूत्र-पात हुआ था उस वक्त ऐसा न था। इस अवसर के लिये रथ, पालकी, बग्घी तांगा या अन्य कोई सवारी बखूबी मिल सकती थी लेकिन नहीं, वर को घोड़ी पर ही जाना चाहिये। पूर्व काल में प्रत्येक नगर गांव मे पचायत की ओर से ऐसी घोड़िये पाली जाती थीं, जो सदा तो किसी अन्धकारपूर्ण स्थानमे बन्धी रहती थी केवल ढुकाव के समय वर की परीक्षा करने के लिये ही उस चंचल घोड़ी का प्रयोग होता था। कुछ तो स्वभावत ही घोड़े की चंचलता प्रख्यात है इतने पर भी नानाविध बाजे गाजे बजाकर उसे अधिकाधिक चमका दिया जाता था और तब उस घोडी पर बैठकर वर को श्वसुर गृह जाना होता था। इस प्रथा से वर की वैवाहिक अवस्था का परीक्षण हो जाता था। वह पूर्ण युवा हो चुका है? अभी बालक या निर्बल तो नहीं है? यदि वह उस घोड़ी के उठते हुए वेग को, उसके अवस्थाजनित मद को, अपने पुरुषत्व से दबाकर उसे अपने नियंत्रण मे रख सका तो वह उत्तीर्ण हो गया। तब देखनेवालों को निश्चय होगया कि इसके घर जाकर लड़की गृहस्थ का सच्चा सुखोपभोग कर सकेगी। अस्तु

घोडी पर चढ़कर वर ने वधू-गृह की ओर प्रस्थान किया, इस अवसर पर वह अकेला नहीं जाता सभी वरयात्री उसके साथ होते हैं, अच्छा खासा जलूस बन जाता है और नगर के प्रधान २ मार्गों से होता हुआ यह जुलूस आगे बढ़ता है। इस प्रकार की यात्रा का

उद्देश्य जहां शोभा की अभिवृद्धि है वहां आगत महानुभावों और वर को नगर के उत्तमोत्तम बाजारों, सड़कों एवं दर्शनीय स्थानों को दिखला देना भी है।

अब द्वाराचार की रस्म शुरू हुई। द्वार पर पहिले से ही एक चौकी रखी हुई है वर के खड़े होने के लिये, जिससे वह ऊंचाई पर होने के कारण सब को दीख सके। चौकी पर चढ़ने के बाद उसके मुख पर पड़ा हुआ सेहरा हटा दिया गया। स्त्रियें बड़ी उत्सुकता से उसके रूप को देखने लगी। एक सुभगा आगे बढ़ी उसके हाथ में एक थाल है जिसमे प्रज्वलित दीप रक्खा हुआ है। स्त्रियों के मगलगान के बीच उसने वर की आरती की, कदाचित् अन्धकारके कारण सबने वरको अच्छी तरह न देखा हो तो वह इस प्रकाश में अच्छी तरह दीख गया। उसके मस्तक पर तिलक किया उसे कुछ खाने को दिया और अन्त मे सात सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा तैय्यार किये गये एक रंग विरंगे सूत्र (सतनाले) से कन्या पक्ष की निकटतम सम्बन्धिनी सुभगा ने वर को मिनना अर्थात् उसकी नाप तौल शुरू की। आज के विवाहों मे तो यह क्रिया भी रूढ़िमात्र ही रह गई है और उस सतनाले को सातवार वर के शरीर से स्पर्शमात्र कराके इसे पूरा कर दिया जाता है। किन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य था वर की वक्षःस्थल की चौड़ाई, उसके परिणाह और कन्धों के उन्नतत्व आदि का विधिवत् नाप लेना, जिससे उसकी गार्हस्थ्य योग्यता का ठीक ज्ञान हो सके। कहना न होगा कि इस सतनाले मे कन्याके नाप तौल के अनुसार सात ग्रन्थी पहिले से बान्धी जाती थी, जिससे वर कन्या के नाप तौल का साम्य करके इस जुगल जोड़ी का सामंजस्य स्थिर किया जा सके। आज के युग मे जो ठिगने वरों के साथ उन्नत शरीर वाली

कन्याओं का, या अत्युन्नत वरों के साथ—छोटे छोटे कद की कन्याओं का विवाह करके 'ऊंटके गले में टल्ली' वाली कहावत को चरितार्थ किया जाता है उसी वैषम्य का परिणाम दम्पति को जीवन भर भुगतना पड़ता है।

ढुकाव या द्वाराचार की यह प्रथा विवाह का अत्यन्त आवश्यक अग है। यदि वर मे कोई ऐसा दोष हो जिसके कारण लड़की के जीवन नष्ट हो जाने का खतरा हो तो विवाह रोक दिया जा सकता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं कि बारात लड़की के नगर मे पहुंच जाने पर द्वाराचार के परीक्षण के समय वर के असफल होने के कारण वापिस लौट आई।

विवाह-संस्कार

विवाह संस्कार के मुख्यतया ४ अग हैं (१) वर पूजन (२) कन्यादान, (३) लाजा होम भावरें और (४) सप्तपदी।

श्रोत्रिय उपाध्याय द्वारा मढे के ठीक नीचे विवाह संस्कारार्थ दो वेदियों का निर्माण होता है—एक ग्रहवेदी और दूसरी यज्ञवेदी। उनके समीप ही पूर्वाभिमुख वरादि के लिये स्थान कल्पित होता है। पूर्वादि दिशा के सम्बन्ध मे हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। प्रारम्भिक पूजनादि के अनन्तर प्रथम वर का समन्त्रक पूजन किया जाता है। वधू-पिता वर के चरण प्रक्षालन करता है, बैठने के लिये आसन देता है अर्घ्य प्रदान करता है और तब दही मक्खन तथा मधु को सयुक्त कर तैय्यार किया हुआ पदार्थ—जिसे वैदिकी भाषा भाषा मे 'मधु-पर्क' कहा जाता है—उसे पीने को दिया जाता है। यह सब क्रियाएं युक्ति सगत ही हैं और किसी अभ्या-

गत के आने पर उसके सत्कार के लिये की ही जाया करती है इसलिये इनके विषय में कुछ वक्तव्य नहीं है।

कन्यादान

कन्यादान का ऊंचा आदर्श केवल भारतवर्ष मे ही है अन्यत्र नहीं. भारतेतर देशों मे या तो कन्या विक्रय होता है या फिर स्वयं वरण। कन्यादान मे पिता या अन्य अभिभावक एक शङ्ख मे दूर्वा जल अक्षत पुष्पादि डालकर सङ्कल्प करता है। दोनों ओर के उपाध्याय उपस्थित जन समुदाय के सामने वर एवं कन्या के गोत्र प्रवर शाखा एवं तीन पीढ़ियों के क्रमिक व्यक्तियों का तारस्वरेण नामोच्चारण करते हुवे परिचय देते हैं। इस प्रकार का परिचय वे एक बार नहीं किन्तु तीन बार दोहराते हैं जिसका अभिप्राय यही है कि यदि उन दोनों के कुल गोत्रादि के सम्बन्ध में किसी को कोई सन्देह हो तो वह व्यक्ति अब भी आपत्ति कर सकता है और विवाह रोका जा सकता है।

इस शाखोच्चार के अनन्तर सकल्प पूरा हो गया। प्रदाता ने कन्या का दक्षिण अंगूठा वर के हाथ में अर्पित करते हुए शङ्खस्थ जलादि की धारा उसके ऊपर डाल दी मानों इस क्रिया के द्वारा उसने उस पाणि-पीड़न को और भी दृढ़ कर दिया। शंखादि सभी पदार्थ मांगलिक होने के साथ वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से अपनी २ विशेषताओं से भरपूर हैं। शंख के सम्बन्ध मे हमने अगले अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला है, यहा इतना ही समझ लेना चाहिये कि वह असंक्रमणशील परमाणुओं से बना हुआ पदार्थ है। उसमें डाली वस्तु उसी रूप में विद्यमान रहती है और वस्त्वन्तर से प्रभावित नहीं होती। कन्यादान के जिस पवित्र भाव से

उसमे जल डाला गया है उसका प्रभाव वर वधू के भावि-दाम्पत्य जीवन पर पडेगा और उनका प्रेम उसी शङ्खस्थ जल की धारा के समान सर्वदा निर्मल रहेगा। वनस्पति की दृष्टि से दूर्वा की अपनी कुछ विशेषताएं है। एक स्थान पर उत्पन्न होने पर वह निरन्तर फैलती ही चली जाती है, उसे कितना भी काटो फिर हरी हो जाती है। उन दम्पतियों के प्रेम मे भी यही विशेषता होनी चाहिये। वह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो और सदा हरे-भरे ही रहें—इस विचार दृढ़ता के लिये उसका सान्निध्य नितान्त उपयोगी है। जल का तो कार्य ही वियुक्त वस्तुओं का एकीकरण है। बिखरे हुए मिट्टी के भिन्न २ परमाणुओं को संयुक्त कर जल विशाल भवनों का रूप दे देता है। शरीर मे विद्यमान मन जलीय अंश से ही उत्पन्न है अतः जल के माध्यम से ही कन्याप्रदाता अपनी हृद्गत भावना को वर के मन मे दृढ़ करता है।

लाजा होम, भांवरें

कन्यादान के अनन्तर वर द्वारा साधारण होम होता है और तब कन्या अपने भाई की सहायता से शमी के पत्तों से मिली हुई खीलों से हवन करती है। इस अवसर पर पढ़े जानेवाले सभी मंत्र और सभी क्रियाए अतिशय भावात्मक और अर्थपूर्ण हैं। कन्या जब अंजलि मे चरु लेकर पवित्र मन से अग्नि से प्रार्थना करती है कि--

"हे अग्ने आप मुझे पितृगृह से वियुक्त होने की शक्ति प्रदान करें और पति गृह में दृढ़ बनाएं।" एवं जब वह--

आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा।

--कहकर अपने पति के दीर्घ जीवन की मंगल कामना के साथ

अपने माता पिता भ्राता आदि की वृद्धि के लिये आशीर्वाद मांगती है तो वहां एक स्वर्गीय दृश्य उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार वर जब अग्नि के समक्ष उसका पाणिग्रहण करते हुए कहता है--

(१) सौभाग्य हित पाणि-ग्रहण करता तुम्हारा मैं यहां,
तुम मुझ दयित के साथ हो, जैसे बने वैसे यहां ॥
वृद्धत्व तक संसार-सुख, भोगो सदा मम साथ हो।
भग अर्यमा सविता पुरन्दर साक्ष्य यहां यथार्थ हो ॥
गार्हस्थ्य धर्मों की यहां नित पालना के हेतु वे।
तुझको मुझे हैं सौंपते सब सुखों के सेतु वे ॥
(२) पति मैं तुम्हारा हूँ शुभे! पत्नी हुई तुम मम यहां।
मैं प्रेम पूर्वक हूँ तुझे स्वीकार करता तुम वहां ॥
कर प्रेम से स्वीकार मुझको प्रीति का आगार हो।
मैं साम हूँ, ऋक् तू हुई, गृह धर्म का आधार हो ॥
तुम हो धरा आकाश हूँ मैं, हम करें परिणय विमल।
फिर साथ मिलकर वीर्य भी धारण करें अति ही अमल
उत्तम प्रजा उत्पन्न कर निज राष्ट्र को करदें सुखी।
वृद्धत्व तक साथी रहें होवें सुखी नहि हों दुःखी ॥
हम हों परस्पर प्रेमयुत रुचियुक्त फिर मन से भले।
सौ वर्ष तक देखें सुनें जीवें सुखी हो निर्मले ॥

मूल मन्त्र—गृभ्णामिते सौभगत्वाय ... शृणुयाम शरदः शतम।

--तो उपस्थित सभ्य मण्डल के सामने भारतीय विवाह के ऊंचे आदर्श की प्रेममयी मूर्ति आलोकित हो उठती है।

शमि पत्र मिश्रित लाजाओं से हवन भी विशेषाभिप्राय से ही किया जाता है। शमी के गुणों का विचार करते हुए भावप्रकाश-कार ने लिखा है—

शमी तिक्ता कटु शीता काषाया रोचनी लघु।
कफकासभ्रमिश्वासकुष्ठार्शकृमिजित्स्मृता॥

अर्थात्--शमी--कटु, चरपरा, शीतल कषैला, रुचिकारक हल्की होती है और कफ, खासी, श्वास, कोढ़, बवासीर के कृमियों का विनाशक है। इसी प्रकार खील, मधुर शीतल अग्नि दीपक और रूक्ष है। पित्त, कफ, अतिसार, रुधिर विकार, प्रमेह, मेद रोग और प्यास को दूर करनेवाली है। हम पीछे हवन के प्रकरण में सिद्ध कर आये हैं कि अग्नि में हुत होने पर प्रत्येक वस्तु का गुण लक्षगुणा हो जाता है। महर्षियों ने इसी अभिप्राय से इनको इस यज्ञ में स्थान दिया है कि कदाचित् वर कन्या मे से किसी को इनमें से कोई रोग हो तो वह इसकी धूनि से अच्छा हो सके और वातावरण में फैले हुए रोगों के कीटाणु भी सर्वथा नष्ट होजाएं।

इसी के अतिरिक्त वनस्पति विज्ञान की दृष्टि से शमी में स्वभाव से अग्नितत्त्व प्रबल होता है। कविकुल गुरु कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में 'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्'--कहकर इसी तथ्य का काव्य भाषा में वर्णन किया है। इसलिये प्राचीन काल मे यज्ञ यागादि में अश्वत्थ-रूढ़-शमी निर्मित अरणी से अग्नि उत्पन्न की जाती थी। सो चूंकि विवाह-संस्कार अग्नि के समक्ष हो रहा है इसलिये शमी की सहायता से उस अग्नि को

सुचारु रूप से प्रज्वलित रखना भी इसका प्रयोजन कहा जा सकता है।

लाजाहुति के अनन्तर वर वधू को एक सुस्थापित पत्थर के टुकड़े पर पांव रखने के लिये कहता है और वह उस पर अपना दाहिना पांव रखती है। इस क्रिया का अभिप्राय इस काल में पढ़े जानेवाले मन्त्र में ही सुस्पष्ट कर दिया गया है कि -'भद्रे। तुम इस पाषाण की ही भांति गृहस्थाश्रम में दृढ़ रहना, विचलित न होना आदि।'

तदनन्तर वधू को आगे करके तीन बार इसी प्रकार लाजा होम सहित अग्नि प्रदक्षिणा करना है इसी को भांवरे या फेरे कहा जाता है, चूंकि शास्त्रीय दृष्टि से विवाह का उद्देश्य धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति है, अतः विवाह के समय चार ही प्रदक्षिणायें की जाती हैं। इनमे धर्म अर्थ एव काम की पूर्ति का मुख्य साधन चूकि स्त्री ही होती है, अतः उसे ही आगे करके यह प्रदक्षिणाएं सम्पन्न होती हैं। किसी भी कार्य के निर्माण के लिये साधन पहिले प्रस्तुत किये जाते है और कार्य बाद मे। गृहस्थाश्रम में किये जानेवाले यज्ञ याग, अतिथि सुश्रूषा, तीर्थ व्रतादि गृह धर्मों मे स्त्री की उपस्थिति अनिवार्य होती है। विज्ञ पाठकों से भगवान् राम का वह उपाख्यान छिपा हुआ नहीं है जब कि जनकनन्दिनी भगवती सीता के अभाव में भगवान् राम ने उनकी सुवर्ण प्रतिमा को साथ लेकर ही यज्ञ सम्पन्न किया था। तात्पर्य यह है कि स्त्री गृहधर्म का अनिवार्य साधन है।

अर्थ प्राप्तिका साधन भी स्त्री है, यदि पुरुष हजारों रुपये रोजभी कमावे किन्तु उसे सम्भालने वाली स्त्री न हो तो वह सब धन शीघ्र ही दुर्व्यसनों या प्रकारान्तर से नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि

घर में सुघड गृहिणी हो तो परिमित आय को भी इस रूप में व्यय करती है कि मनुष्य को कभी अर्थ कष्ट नहीं भोगना पडता इसलिये अर्थ प्राप्ति का साधन भी स्त्री हुई।

काम के विषय में तो कहना ही व्यर्थ है, उसका प्रमुख साधन तो स्त्री है ही। अत शास्त्रकारों ने स्त्री को आगे करके धर्मार्थ काम सम्बन्धिनी तीन प्रदक्षिणाये करने का विधान किया है, अर्थात् इन विषयों में स्त्री को पुरुष का नेता स्वीकार किया है। वैसे भी स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक धार्मिक भावना श्रद्धादि. अधिक अर्थ-तृष्णा एवं 'कामश्चाष्टगुण स्मृत' के अनुसार अधिक कामशक्ति होती है।

चौथी प्रदक्षिणा मोक्ष सम्बन्धी है। इस विषय में स्त्री पुरुष का मार्ग प्रदर्शन नहीं कर सकती किन्तु वह तो इस मार्ग मे पुरुष के लिये यत्किंचित् विघ्नकर ही है। मोक्ष मार्ग के पथिक बडे बड़े ऋषि महर्षि उसकी मनोहर छवि अनुपम रूप लावण्य और मोह-मयी मूर्ति को देखकर ऐसे भूले कि अपने लक्ष्य से कोसों दूर जा गिरे, इसीलिये मोक्षमार्गी के लिये कहा गया है—

पदापि युवतीं भिक्षुर्नस्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥

मुमुक्षु भिक्षुक का कर्तव्य है, कि चरण से भी काष्ठमयी भी युवति का स्पर्श न करे। हाथी जिस प्रकार हथिनी के अङ्ग ससर्ग मात्र से बन्धन को प्राप्त करता है, मुमुक्षु भी इसी प्रकार स्पर्श करने से सांसारिक बन्धनों मे फिर जकड़ा जायगा। फलत. चतुर्थ प्रदक्षिणा मे अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रस्थान के समय पुरुष स्वयं नेता बनता है और स्त्री उसके पद चिन्हों का अनुगमन करती

है और इस प्रकार हिन्दू विवाह की परिणति मोक्ष में ही होती है। इन चारों प्रदक्षिणाओं द्वारा मानों स्त्री पुरुष अग्नि के समक्ष उपरोक्त पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर प्रस्थान करने का व्रत ग्रहण करते हैं।

सप्तपदी

विवाह सस्कार का चतुर्थ अंग सप्तपदी है। सप्तपदी का अर्थ है सात कदम तक चलना, अथवा स्त्री को सात पद = स्थानों की अधिकारिणी बनाना। 'वह ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित है' वाक्य मे जिस प्रकार पद शब्द व्यक्ति विशेष के स्थान का सूचक है इसी प्रकार यहां भी पद शब्द का अर्थ गृहस्थ के साधनभूत उन स्थानों से है जिनकी रक्षा एवं उत्तरदायित्व स्त्री ने वहन करना है।

यों तो अन्न सम्पूर्ण ससार के ही जीवन का साधन है किन्तु गृहस्थका तो वह मुख्य अंग है। गृहस्थीको जहां अपना और बाल-बच्चों का पेट भरना है वहां अतिथि अभ्यागत साधु ब्रह्मचारी सभी उसकी अन्न की मुट्ठी के सहारे ही तो संसार यात्रा निर्वाह करते हैं। इन सब का पालन भी तो गृहस्थी का कर्तव्य ही है। इसलिये वर वधू को सर्व प्रथम अन्न की रक्षा, उसके सग्रहादि के लिये गृहस्थ की ओर चलने को प्रस्तुत करता है। शास्त्र कहता है—

'एकमिषे विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—हे सुभगे। विष्णु भगवान् तुझे अन्न (की रक्षादि) के लिये (गृहस्थ के) प्रथम स्थानको प्राप्त कराये। वधू इस कर्तव्य भार को सहर्ष स्वीकार करती है किन्तु वह स्पष्ट कर देना चाहती है कि इस भार को वह तभी स्वीकार कर सकती है जब कि वह

(पुरुष) उसे अपने घरके अन्न धनादि का एकाधिपत्य दे इसलिये वह कहती है:—

धनधान्यञ्च मिष्ठान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद्गृहे।
मदधीनञ्च कर्तव्यं वधूराद्ये पदेऽब्रवीत्॥

अर्थात्—आपके घर मे जो धनधान्य शाक व्यञ्जनादि विविध खाद्य पदार्थ हैं उन्हें आप यदि मेरे आधीन करना स्वीकार करें तो मैं इस भार को ग्रहण करने को तैय्यार हूं, अस्तु,

(२) गृहस्थ का दूसरा साधन बल है। बल-वीर्य सम्पन्न दम्पती ही गृहस्थ का सच्चा आनन्द उठा सकते हैं और राष्ट्र को स्वस्थ सन्तान देकर उसे बलशाली बना सकते हैं। इसलिये गृहस्थ की ओर दूसरा कदम बढाने की प्रेरणा देता हुआ वर कहता है—

'द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—हे सुभगे! विष्णु तुझे बल प्राप्ति के लिये गृहस्थ के दूसरे स्थान को प्राप्त करावे। इस पर कन्या अपनी स्वीकृति देती हुई कहती है—

कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद्वचः॥

अर्थात्—मैं आपके कुटुम्ब की रक्षा करूंगी। सर्वदा मीठी वाणी बोलूंगी दुःख में धैर्यशीला और आपके सुख मे सुखी हूंगी।

(३) गृहस्थ का तीसरा साधन धन है जिसके बिना गृह-जीवन बिलकुल फीका हो जाता है और मनुष्य उससे उद्विग्न हो उठता है। हम पीछे कह चुके हैं कि स्त्री के बिना पुरुष के कमाये हुए धन का उचित उपयोग नहीं हो सकता इसीलिये शास्त्रकारों ने

स्त्री को साक्षात् लक्ष्मी रूपा ही समझा है। तदनुसार गृहस्थ के तीसरे साधन धन की ओर स्त्री को प्रेरित करता हुआ वर कहता है

'त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—विष्णु भगवान् तुम्हें धन के लिये तृतीय स्थान को प्राप्त करायें, इस पर भी वधू अपनी स्वीकृति देती है और उसके धन का सदुपयोग करते हुए पति-भक्त रहने का आश्वासन देती है।

(४) चतुर्थ पदाक्रमण का उद्देश्य गृहस्थ सम्बन्धी सुख प्राप्ति है। संसार के सभी प्राणियों का उद्देश्य सुख ही है, इसी सुख के लिये नाना प्रकार के दु:ख उठाये जाते हैं। किन्तु गृहस्थ का सुख विलक्षण है और प्राकृतिक प्रेरणा से उचित समय पर उस सुख की अभिलाषा का जागृत होना अनिवार्य है इसलिये शास्त्र कहता है—

'चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—सांसारिक सुख प्राप्ति के लिये विष्णु तुम्हें गृहस्थ के चतुर्थ स्थान को प्राप्त करायें। इस पर वर वधू एक पाव और आगे रखती हुई अपनी स्वीकृति प्रदान करती है और विश्वास दिलाती है कि—

लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदेऽवदत्॥

अर्थात्—मैं गन्ध माल्य, विविध प्रकार के वस्त्राभूषणादि द्वारा समुचित शृङ्गार करके आपका ही आराधन करूंगी।

(५) वधू के पांचवे पदाक्रमण का उद्देश्य पशु-रक्षा है। गाय

भैंस, घोडा आदि पशु किसानों के तो परमोपकारक है ही किन्तु गोपालन तो प्रत्येक गृहस्थ के लिये अत्यन्त आवश्यक है। भारत का आज का गृहस्थ गाय के ही अभाव के कारण सर्वथा निर्बल क्षीण और सन्तप्त है। विशुद्ध घृत दुग्ध के सर्वथा अभाव से भारत की वर्तमान सन्तति कितनी निर्बल हो रही है यह किसी से छुपा नहीं है। इसलिये शास्त्र ने गृहस्थ के इस पशु रूप साधन की ओर भी ध्यान दिया है। वर कहता है--

'पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात् -पशुओं की रक्षा के लिये विष्णु तुझे गृहस्थ के पांचवे स्थान को प्राप्त कराये। वधू पांचवे पग को आगे बढ़ाती हुई इसे स्वीकार करती है।

(६) प्रत्येक ऋतु का विभिन्न प्रकार का आहार विहार होता है। उस सब को समझकर तदनुकूल आचरण करने से ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है, यह ऋतुज्ञान ही स्वास्थ्य की कुंजी है। अपने सम्बन्ध में तो मनुष्य सावधान रह सकता है किन्तु बच्चों आदि के स्वास्थ्य के लिये ऋतुचर्या का भार स्त्री पर ही होता है। अतएव गृहस्थ के छठे साधन-ऋतुचर्या की ओर वधू को अग्रेसर करता हुआ वर कहता है।

षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु।

अर्थात्— छहों ऋतुओं की अनुकूल चर्या की प्राप्ति के लिये विष्णु तुझे गृह धर्म के ६ ठे स्थान को प्राप्त कराये। स्त्री इसके लिये भी अपनी स्वीकृति प्रदान करती है।

(७) इस प्रकार गृहधर्म के छहों स्थानों की अधिकारिणी हो जाने पर स्त्री पुरुष की पूर्ण रूप से अर्धाङ्गिनी बन जाती है— घर में

बराबर की अधिकारिणी और पुरुष की श्रेष्ठतम सखा, दासी नहीं। जो लोग हिन्दू धर्म में स्त्री की स्थिति के बारे में तरह २ के आक्षेप करते हैं और समझते हैं कि हिन्दू धर्म मे स्त्री का पद दासी या पुरुष की वशवर्तिनी निकृष्ट नौकरानी का सा है उन्हें वेद के इस मन्त्र को आंख खोलकर पढ़ना चाहिये। सातवे पदाक्रमण के लिये प्रेरित करता हुआ वर कहता है --

सखे ! सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु

अर्थात्--हे सखे। अब तुम सखित्व की प्राप्ति के लिये सातवा पग आगे बढाओ तुम सर्वदा मेरे अनुकूल रहो। विष्णु तुम्हे इस मित्र रूप सातवें स्थान को प्राप्त करायें। और तब वधू अपना सातवां कदम आगे बढाती हुई पुरुष की सहधर्मिणी सहचारिणी एवं अभिन्न आत्मा बन जाती है।

विवाह संस्कार का अन्त वधू की सिन्दूर से मांग भरने और उसे पुरुष के वामाग में बैठाने की क्रिया द्वारा होता है। स्त्री अब पुरुष की अर्धाङ्गिनी बन चुकी है। मस्तकमें भाग्यसूचक मांगलिक सिन्दूर की रेखा डालता हुआ वर, उपस्थित देवताओं विद्वानों एवं गुरुजनों से उसके सौभाग्य के लिये आशीर्वाद याचना करता है. और वे सब हृदय से उसे आशीर्वाद देते हैं।

पति पत्नी दोनों खूब प्रेमपूर्वक गृहस्थाश्रम में स्थिर रह सके अत. इस अवसर पर उन्हें विशेष रूप से ध्रुव दर्शन कराया जाता है। ध्रुव ससार मे स्थिरता का प्रतीक है-- अपने कर्त्तव्य और निश्चय पर सर्वदा अडिग रहनेवाला। वर वधू इस समय ध्रुव दर्शन करते हुए अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ़ रहने का पावन सन्देश प्राप्त करते हैं।

छन

संस्कार पूर्ण हो चुका है। अब वर को छन कहने के लिये अन्दर जाना है। यह 'छन' क्या है? क्यों है? यह सब प्रश्न प्रत्येक जिज्ञासु के मन में उठते हैं। वास्तव में 'छन' छन्द शब्द का अपभ्रंश है जिसका तात्पर्य कविता या पद्य से है। इस प्रथा का श्री गणेश वर के साथ पारम्परिक परिचय के उद्देश्य से हुआ है। पारिवारिक नवयुवतियें कुमारियें आदि हास्य का द्वार खोलने से पूर्व वर की झिझक को मिटाने के लिये एवं सबके साथ उसके परिचय के लिये छन्द श्रवण की रीति का आश्रय लेतीं हैं और उसे 'छन' सुनाने के लिये विवश करती हैं। यह एक प्रकार से वर की वाणी और ज्ञान की परीक्षा है। यदि वह शिक्षित है तो उसे कुछ कविताएं सूक्तियें अथवा छन्द तो अवश्य ही स्मरण होंगे? इस धारणा पर इसका जन्म हुआ था। आज उसका रूढ़ी रूप है और इस अवसर पर कुछ न कुछ सुनाने के लिये सभी लोग एक दो दोहे आदि कण्ठस्त कर लेते हैं। अतः रूढ़ि रूप में भी यह लाभप्रद ही है और पारस्परिक परिचय का अच्छा साधन कहा जा सकता है। इसी प्रकार वधू गृह पर वर के लिये और भी कई अवसर ऐसे आते हैं जिनमें हास्य के साथ उसके बुद्धि कौशल ज्ञान एवं स्वभाव की परख की जाती है। उदाहरणतया--वधू का कंकण मोचन करने के समय उस एक ही हाथ से कंगना खोलना पड़ता है। यह कोई शास्त्रीय विधान नहीं है किन्तु उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिये ही ऐसा किया जाता है।

धान्य वर्षण-

वधू-गृह पर विवाह संस्कार की अन्तिम क्रिया धान्यवर्षण है।

इसके साथ ही लगभग विवाह समाप्त हो जाता है और कन्या पति-गृह के लिये विदा हो जाती है। यह विवाह का उपसंहारात्मक दृश्य है और दर्शकके हृदय को प्रेम, करुणा, आह्लाद और दुःखकी विचित्र भाव भंगियों से आपूर कर देता है। वर्षों तक जिस घर में पाली पोसी गई, बड़ी हुई, जिन गलियों में सहेलियों के साथ खेलते २ बचपन बीता और यौवन आया आज उन सब को सदा के लिये छोड़कर लड़की आज पराई बनकर एक अपरिचित देश में जारही है यह दृश्य किसके हृदय का द्रवित नही कर देता। उमड़ते हुए आंसुओं को रोककर उपस्थित जन समूह रुधे हुए कंठ से विदाई के गीतों के बीच धान्य वर्षण की रीति को पूरा करता है। यह शास्त्रीय प्रथा है और इसका उद्देश्य है उपस्थित गुरुजनों और अभिभावकों की ओर से वर वधू के प्रति मंगल-कामना और शुभाशीर्वाद का प्रदर्शन। भारत कृषि प्रधान देश है इसलिये यहां की प्रथाओं में धान्य आदि का सुन्दर समावेश मिलता है। किसी राजा महाराजा का अत्यन्त स्वागत एवं सत्कार करने के अवसर पर धान और खीलों का वर्षण यहां की पुरानी और शास्त्रीय प्रथा है। चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप के वन मे प्रस्थान करने पर लताओं से हुई पुष्प-वृष्टि को महाकवि कालिदास ने '—

'आचारलाजैरिव पौरकन्या'

—कहकर भारत की इसी प्रथा की ओर संकेत किया है। चूंकि प्राणि मात्र का जीवन अन्न पर ही निर्भर है इसलिये ऐसे अवसरों पर धान्य वर्षण करके यह शुभ कामना प्रकट की जाती है कि इन दोनों का गृहस्थ सदा अन्न धन से भरपूर रहे और सदा इसी भांति धान्य वृष्टि होती रहे। यह भाव वाणी मात्र से प्रकट किया

जाने पर इतना प्रभाव-पूर्ण कभी न हो सकता था जितना कि क्रियात्मक रूप में जनता के समक्ष प्रदर्शित करने पर होता है।

इसके अतिरिक्त शास्त्र दृष्टि से यह वर वधू का पूजन है, सभी उपस्थित जन परिक्रमा के साथ धान्य वृष्टि करते हुए उनके चरणों में मस्तक झुकाकर इस शास्त्र रीति का पालन करते हैं। प्रत्येक बड़ा छोटा यहां तक कि कन्या के माता पिता भी--इस अवसर पर इन दोनों की चरण वन्दना करना अपना अहोभाग्य समझते हैं। क्यों न हो इस संस्कार के समय वे दोनों साधारण मानव प्राणी नहीं किन्तु लक्ष्मी एवं नारायण की युगल मूर्ति हैं, प्रकृति एवं पुरुष की सजीव प्रतिमा, विशुद्ध एवं निष्पाप। तब क्यों न उनका अभि-वादन किया जाय। इस प्रकार हम देखते हैं धान्य वर्षण उपरोक्त दोनों ही दृष्टिकोणों से विवाह का आवश्यक अंग है और उपस्थित समाज के मनोभावों के प्रदर्शन का सुन्दर तरीका है।

गृह प्रवेश

बारात सकुशल वापिस लौट आई, नव वधू ने पति के नगर में पदार्पण किया और उसके स्वागत का समारोह होने लगा। स्त्रियों ने मिलकर वधू को गाड़ी से उतारा और अपने हृदय में उमडने वाले आनन्द को गीतों में प्रकट करती हुई उसे घर ले चलीं। उसके शिर पर पीपल की हरी टहनी और नेता (बिलौनी की रस्सी) से युक्त जलपूर्ण कलश रखकर द्वार पर लाया जाता है जहां उसका स्वागत एवं अभिनन्दन होता है। द्वार पर प्रथम स्था पित ऊंची चौकी पर खड़ाकर मां अपने वस्त्र के आंचल से उसे मिनती है शिर पर स्थित कलश के जल को उसकें ऊपर वारकर स्वयं पान करती है। कुछ जल पी चुकने के बाद लाड़ला बेटा मा

सम्पूर्ण जल पीने से रोकता है। इस रस्म के अनन्तर वधू घर में प्रवेश करना ही चाहती है, किन्तु बहिन आगे आकर उनका द्वार रोक लेती है। समुचित दक्षिणा मिलने पर उन्हें घर में प्रवेश करने की अनुमति मिलती है। यह सब प्रथाए यद्यपि आज देखने सुनने में हमें गोरखधन्धा सी मालूम होती हैं, परन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी समय ये बड़े महत्व की रही होंगी।

वधू शिरस्थ कलश, स्वास्थ्य, प्रेम, समृद्धि और मर्यादा का प्रतीक (Symbol) है। सभी परिजनों की यह कामना होती है कि नवागत-वधू जो कि प्रथम बार इस घर में प्रवेश कर रही है अपने साथ स्वास्थ्य प्रेम आदि को लेकर आये। आक्सीजन या प्राण-प्रद तत्त्वों से परिपूर्ण पीपल की हरी डाली स्वास्थ्य एवं बल की प्रतीक है। जल स्निग्ध पदार्थ है, बिखरे हुए कणों को एक रूप कर देना उसका कार्य है। यह वधू के उस प्रेम का प्रतीक है जिसके द्वारा उसने बिखरे परिवार को सयुक्त कर रखना है। नत्ता, पारि-वारिक समृद्धि का सूचक है क्योंकि वह उसी घर में होता जो दूध दही से भरपूर हो और वह पात्र जिसने प्रेमरूपी जल को धारण किया है मर्यादा का सूचक है। एक आदर्श भारतीय गृहस्थ को स्वास्थ्य प्रेम समृद्धि और मर्यादा इन्हीं चार वस्तुओं की आवश्य-कता होती है, सो प्रतीकवाद का आश्रय लेकर परिजनादि, वधू से इन्हीं चार वस्तुओं की कामना करते है और वधू भी मस्तक पर इन्हें धारण कर प्रवेश करती हुई इस शुभ कामना का अभिनन्दन करती है। इस अवसर पर बहिन द्वारा द्वारावरोध ननद और भौजाई के पारस्परिक परिचय का साधन है अनेकों स्त्रियों में मिली हुई ननद का इस रस्म द्वारा सब से भिन्न रूप में परिचय हो जाता है तथा वह दाय भाग भी प्राप्त कर लेती है।

ग्राम परिक्रमादि

विवाहान्त में वर, वधू को साथ लेकर देव दर्शनार्थ सम्पूर्ण मन्दिरों की यात्रा करता है। इस प्रथा का उद्देश्य देवदर्शन के साथ २ ग्राम के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थानों का निरीक्षण तथा समस्त ग्राम-समाज में विवाह विज्ञापन भी है। इसी प्रकार इस समय मे सम्पन्न होनेवाली शिरगुन्दी आदि प्रथा का अभिप्राय भी वधू-गुण परीक्षण ही है। अड़ौस पड़ौस से एकत्र हुआ स्त्री-समाज शिर गुन्दी के बहाने वधू के गुणों की परीक्षा करता है। उसके संगीत तथा नृत्य को देखकर ललित कलाओं के प्रति उसकी रुचि तथा योग्यता को जांचा जाता है। इस रीति के साथ आनन्द और उल्लासपूर्ण यह सस्कार समाप्त हो जाता है।

वानप्रस्थ विचार

मनुष्य का जन्म केवल कोल्हू के बैल की भांति सदैव घर गृहस्थी में जुते २ मर जाने के लिये नहीं हुवा है, किन्तु आयु को चार भागों में बाटकर यथा समय सभो मानव कर्तव्यों के पालन का आदेश करता है। आयु का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य पूर्वक पठन--पाठन मे व्यतीत होना चाहिये और पूर्ण युवा हो जाने पर गृहस्थ बनकर आदर्श सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये—यह दूसरा भाग घर में रहते हुए भी विषयों से ग्लानि प्राप्त करने का साधन है। इन दोनों आश्रमों का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं, अब क्रम प्राप्त आयु का तीसरा भाग देश सेवा, जाति सेवा और आत्म-कल्याण साधना में व्यतीत होना चाहिये इसे ही 'वानप्रस्थ' कहते हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

(क) भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्ने।
(अथर्व० १६। ४१। १)

(ख) गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्। मनु० ६। २)

अर्थात्—(क) स्वर्ग सुख के वेत्ता तत्वज्ञ ऋषि, आत्मकल्याण की इच्छा करते हुवे अनादिकाल से तपश्चर्या की दीक्षा में निरत हुए। (ख) गृहस्थ पुरुष जब अपने देह की चमडी ढीली हुई तथा सफेद बाल देखे और घर में पुत्र का भी पुत्र अर्थात् पौत्र उत्पन्न हो जाए तब वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे।

वानप्रस्थ क्यों ?

आज का मानव जीवन इलाहाबादी कवि अकबर के शब्दों में-

बी० ए० किया, नौकर हुवे, पैन्शन मिली और मर गये

--केवल इतनाही शेष रह गया है। पाश्चात्य देशोंमें तो इससे भी कहीं अधिक दयनीय दशा है, जहां होस्टल, होटल और होस्पिटल इन तीन स्थानों को छोड़कर चौथे स्थान की कल्पना भी नहीं की जा सकती। धनी, रंक सभी होटल मे खाते हैं और होस्पिटल मे मर जाते हैं। परन्तु हमारे पूर्व पुरुषों ने केवल पेट भरने मात्र की पाशविक प्रवृत्ति से ऊपर उठकर मानव जीवन के चरम लक्ष्य भगवत् प्राप्ति की साधना का भी स्वर्णिम पुरोगम बनाया था। यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश आज हम लोग भी इस आश्रम के महत्व को भूलकर अनेक दुःखों के भाजन बन रहे हैं, संसार की भेड़ों के

के गल्ले में सम्मिलित होकर 'भै भै' करने लगे हैं तथापि अन्य देशों की अपेक्षा इस गए बीते समय में भी प्राचीन मुनियों का स्मरण दिलानेवाले कुछ न कुछ आदर्श वानप्रस्थियों के भी दर्शन किये जा सकते हैं। मानव जीवन को सफल बनाने की साधना के निमित्त एकान्त वास कितना उपयोगी है यह बात अनवरत जनसंघट्ट संकुल संकीर्ण नगरों में रहनेवाले, विषकृमि-न्याय से तथैव जीवन बिताने के अभ्यासी लोगों की समझ मे नहीं आ सकती परन्तु संसार के कटु अनुभवों के तमाचों से आकुलित अनेक धनी मानी सम्राटों तक को—पाश्चात्य देशों के भौतिक साधन सम्पन्न अनेक धन कुबेरों को गृहस्थ की विषम वागुरा के बन्धन से उन्मुक्त होकर हिमालय की गुफाओं की ओर भागते हुए देखते हैं तो वानप्रस्थ आश्रम की महत्ता का कुछ धुंधला आभास अवश्य मिलता है। इसलिये बन प्रस्थान की प्रवृत्ति मनुष्य की व्याकुलित आत्मा की अन्तर्ध्वनि है उसे अनसुनी करके आमरण गृहपङ्क में ही धंसे रहना जीवन की विडबना है।

संन्यास आश्रम विचार

आयुष्य का चौथा भाग सब झंझटों को छोड़कर आत्मकल्याण और केवल आत्मकल्याण की साधना में व्ययित करना ही संन्यास आश्रम का आदर्श है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

(ख) चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्। (मनु०)

अर्थात्—(क) जिसदिन भी वैराग्य हो जाए, उसी दिन संन्यास ग्रहण करे (ख) आयु का चौथा भाग—सब कुछ छोड़कर संन्यास में बिताना चाहिये।

संन्यास क्यों ?

वानप्रस्थ आश्रम की विवेचना करते हुवे गत पंक्तियों में हम बतला चुके है कि संसार से ग्लान्त होकर सब कुछ छोड़ एकान्त सेवन की भावना मनुष्य की स्वाभाविकी अन्तर्ध्वनि है, वानप्रस्थ और संन्यास में केवल इतना ही अन्तर है कि वानप्रस्थ जहां कुछ छोड़ने के आदर्श को अपनाता है वहां संन्यास सर्वस्व त्याग की पुनीत शिक्षा देता है। वास्तव में दीर्घकाल तक सग्रहमय जीवन बितानेवाले गृहस्थ का एकदम सर्वथा त्यागी बन जाना मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं हो सकता अत सर्वसग्रही को सर्व त्यागी बनाने के लिए वानप्रस्थ का माध्यस्थ आवश्यक है, उसके सम्पन्न हो जाने पर सन्यास का विधान सर्वथा युक्तियुक्त है।

मृत्यु-मज्जा-विचार

हमें यह कहने में तनिक भी सकोच नहीं आज के संसार में मनुष्यों को जीना तो आता ही नहीं, परन्तु शोक तो यह है कि उन्हें मरना भी नही आता, जीते हैं तो—पशुओं की भांति हीन दीन दशा में, और मरते हैं तो रोते झीखते, करुणा क्रन्दन करते, और अपने किये अकृत्यों पर पश्चात्ताप करते। न जीते चैन न मरे चैन ! परन्तु हमारे पूर्वज आज से सर्वथा विपरीत जीते थे तो आन और शान के साथ प्रज्वलित अग्नि की भाति चमकते हुए जीते थे, और मरते थे तो सर्वथा तैय्यार होकर सजधज और हंसी

खुशी के साथ। जीवन में अभ्युदय उनके चरण चूमता था और मरने पर निःश्रेयस हाथ बांधे आगे खड़ा मिलता था।

हमने इस ग्रन्थ में जीवन को सार्थक बनाने के कुछ नियमों का दिग्दर्शन यत्र तत्र लिखा है परन्तु इस प्रघट्ट में हम उस मृत्यु विधि विधान को क्यों की कसौटी पर कसकर खरा २ दिखा देना चाहते हैं जिसका कि खरीदार चाहते या न चाहते प्रत्येक प्राणी को बनना ही पड़ता है।

शास्त्रीय स्वरूप

(१) गोमयोदकेन भूमि मुपलिप्य, कुशैराछाद्य, कृष्ण-तिलान् विकीर्य उत्तराशाशिरस्कं भूमौ उत्तानशायिनं महाप्रयाणपथिकं विदध्यात्। शनैः गङ्गोदकसतुलसीदलमाचामयेत्। यथाशक्ति आतुरदान दीपदानञ्च कारयेत्। समुपस्थिताः हरिस्मरणं हरिनामकीर्तनञ्च कुर्युः।

अर्थात्—गोमय जल से भूमि को लीपकर कुशाओं से अच्छादित करे, और काले तिलोंको विकीर्ण करदे। उस भूमि पर मुमूर्षु मनुष्य को उत्तर की ओर शिर करके सीधा लिटा दे। गङ्गाजल तुलसीपत्र सहित शनैः मुख मे डाले यथाशक्ति आतुरकालीन दान और दीपक दान करवाया जाए। उपस्थित कुटुम्बी हरिस्मरण और हरिनाम कीर्तन करें।

गोवर से लेपन क्यों?

'मरना कैसे चाहिये ?'—इस प्रश्न को सीधा और संक्षिप्त उत्तर यह है कि मनुष्य के शरीर में जो—गुदा, लिङ्ग, मुख दो

कर्ण दो नासिका, और दो नेत्र, ये नौ छिद्र प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं इनके अतिरिक्त कपाल में एक गुप्त दशम द्वार भी है। इनमें उत्तरोत्तर ऊपर के द्वार से प्राणों का उत्क्रमण हो—यही एक प्रयत्न मृत्युकालीन समस्त विधियों का मूलभूत उद्देश्य है। मरने के बाद जीव की क्या दशा होगी, अर्थात् उसकी सद्गति होगी या दुर्गति ? इस परोक्ष रहस्य को इदमित्थं तो स्वयं भगवान् या त्रिकालदर्शी महात्मा ही जान सकते हैं, परन्तु मरण कालीन प्राणों के उत्क्रमण का मनन करने से इस विषय में प्रत्येक शास्त्र व्यसनी बुद्धिमान् को कुछ आभास अवश्य मिल जाता है।

यदि किसी भाग्यशाली मनुष्य के प्राण स्वयमेव कपाल का भेदन करके प्रयाण करते हैं तो वह सर्वोत्तम मोक्ष गति को प्राप्त हुआ है--चौरासी के चक्कर से छूट गया है अब वह 'न स पुनरावर्तते' का अधिकारी बन गया है।

उत्तरोत्तर ऊंचे द्वार से प्राण प्रयाण से सद्गति क्यों होती है ? यह बात अनुपद आगे की पंक्तियों में प्रकट की जायगी, परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि मृत्यु कालीन सब विधियें केवल इसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये की जाती हैं। सो भूमिपर चित्त लिटाने की दशा में मनुष्य के मलद्वार का भूमि से स्पृष्ट रहना अनिवार्य है और भूमि का आकर्षण सर्वथा अशक्त हुवे प्राणों को चुम्बक की भांति खींचकर गुदाद्वार से निकलने के लिये बाध्य करे यह स्वाभाविक है, अतः इस दुर्गतिसे बचनेके लिये मुमूर्षु मनुष्यके शरीर और भूमि दोनों के मध्य में कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिये जो कि—'शुचि' असंक्रामक =नानकैन्डक्टर (Non conductor) हो। सो सभी वैज्ञानिक गोवर को शुचि द्रव्यों में अन्यतम स्वीकार करते है, अर्थात्--बिजली का करण्ट उसे पार करके दूसरे द्रव्य

में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः हमारे शास्त्रों में गरीब अमीर सबको सर्वत्र सुलभ गोवर को ही भूमि लेपन के लिये उपयुक्त माना गया है। गोवर की विद्युत् निरोध कारिणी शक्ति लोक में प्राय प्रसिद्ध है, अनेक स्थानों में आकाश से गरनेवाली बिजली गोबर के ढेर पर गिरने की दशा मे वहीं समा जाती है--यह लोक प्रवाह प्रत्यक्षदर्शी अनेक व्यक्तियों द्वारा समर्थित है। गोवर के ढेर में से मिलनेवाला लोह धातु के मूसले जैसा तैजस् पदार्थ अग्नि के सयोग से पुनरपि उड़जाता है यह किवदन्ती भी निर्मूल नहीं।

इसके अतिरिक्त रोगी के स्थान मे कई दिनों तक अनेक विध मलों का सपर्क रहना स्वाभाविक है कई प्रकार के सक्रामक रागों के कीटाणुओं का विद्यमान होना भी अनिवार्य है, इसलिये मृत्यु समय उपस्थित रहनेवाले कुटुम्बी जनों की स्वास्थ्य सरक्षता के विचार से भी नानाविध कीटाणुओं को विनाश कर सकने की क्षमता रखनेवाले तैजस् (फासफोरस) जैसे तत्वों से परिपूर्ण गाय के गोवर से चौंका लगाना बहुत आवश्यक है।

कुशा आस्तरण क्यों ?

पूर्वोक्त स्थापना के अनुसार मुमूर्षु मनुष्य के शरीर और भूमि के मध्य में शुचि पदार्थों का अन्तर होना चाहिये। इसके निमित्त जैसे गोवर का चौंका आवश्यक है, इसी प्रकार 'द्विर्बद्ध सुबद्ध भवति' के न्यायानुसार सर्वजन सुलभ 'दर्भ' नामक घास को भी शुचि असक्रामक= नान कैन्डैक्टर होने के कारण विस्तर के नीचे बिछाने का प्रयोग पूर्वोक्त भूमि आकर्षण की आशङ्का को सर्वथा निर्मूल करके अनेक लाभों को प्राप्त करना ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अथर्व वेद (१६।३२।१-१०) में दर्भ के विशिष्ट गुणों का प्रतिपादन करने वाला पूरा का पूरा सूक्त विद्यमान है जिसका कुछ दिग्दर्शन इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २०६ पर किया जा चुका है। तदनुसार दर्भ को दैवी गुणों से संयुक्त एक प्रकार का मणि स्वीकार किया गया है जैसे सुवर्ण अपनी भास्वर तैजस्विता के कारण संक्रामक कीटाणुओं का विनाशक माना गयाहै परन्तु सर्व-जन सुलभ न होने के कारण बहु संख्यक रंक उससे कुछ लाभ नहीं उठा सकते वैसे ही दर्भ कुशा नामक घास भी तादृश दिव्य तैजस गुणों का आगार होने के कारण और संक्रामक कीटाणुओं की समूल संहारक होने के कारण रोगी के नीचे बिछाने का सर्व सुलभ लाभ दायक पदार्थ है।

कर्म विपाक के तारतम्य से रंक तो सम्राट् नहीं बनाए जा सकते परन्तु बडे से बड़े धनी मानी सम्राटों को भी धार्मिक विधान में सर्व साधारण की भांति धर्मानुष्ठान करने के लिये बाध्य किया गया है जिससे कल्पित वैषम्य को मिटा कर स्वाभाविक साम्य का संरक्षण किया जासके यही कारण है कि धार्मिक अनुष्ठानों में सोने के सिंहासन के स्थान में कुशासन और सुवर्ण निर्मित अंगूठियों के धारण के स्थान में दर्भ निमित पवित्रियों के पहिनने का विधान किया गया है। मृत्यु के समय भी स्वर्ण निर्मित तख्त को त्याग कर कुशास्तरण का उल्लेख किया गया है कहना न होगा यह दर्भ नामक घास सर्व साधारण गरीबों की स्वर्ण राशि है धर्मानुष्ठानों के समय बड़े से बड़े धन कुबेरों को भी जीवन में अनन्त बार इसे वनों से ढूंढ २ कर लाना पड़ा है और आज मरते समय भी इसी के विस्तर पर पांव फैलाने पड़ रहे हैं।

भूमि पर बिस्तर क्यों ?

कई अहिन्दू लोगों का कहना है कि "रोगी पुरुष निरन्तर कई दिन और महीनों तक मृत्यु शय्या पर पड़े २ वैसे ही निढाल हो जाता है, उस का एक २ अङ्ग दुखने लगता है मांस चर्बी सूखजाने के कारण गुदगुदा बिछौना भी उसकी उभरी हड्डियों में चुभने लगता है परन्तु ऐसी दशा में जब कि उसे अधिक से अधिक आराम पहुंचाने की आवश्यकता होती है हिन्दू लोग जमीन पर लिटा कर मुमूर्षु पर घोर अत्याचार करते है।" वास्तव में यह आक्षेप वही लोग करते हैं जो कि यह भी नहीं जानते कि दर असल मौत किस बला का नाम है। कहना न होगा आस्तिकों की दृष्टि में जड़ देह से चेतन अंश जीव = रूह का जुदा होना ही मृत्यु है, जीव की सत्ता न मानने वाले नास्तिक लोग भी कम से कम स्वास प्रस्वास की प्रगति बन्द होजाने का नाम तो 'मृत्यु' अवश्य स्वीकार करेंगे। सो मृत्यु के समय अन्य सब गौण कष्टों को छोड़ कर स्वाससंचार के सौविध्य पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है यदि क्षणमात्र भी नासिका और मुख को बन्द कर दिया जाए तो जितनी वेदना इस से अनुभव होगी उतनी अन्य किसी अंगकी पीडा से नहीं होसकती। यही कारण है कि अङ्गों की पीड़ा को यथेच्छ सहन करता हुवा भी मनुष्य यथा तथा जीता रहता है परन्तु स्वास नलिका के बन्द होते ही तत्काल मर जाता है। स्वास क्रिया के निरोध से कितना महा कष्ट होता है इस का अनुमान इसी से लगाया जासकता है कि संसार में सब से बड़ा दण्ड फांसी पर झुला देना माना जाता है। सो नवार के पलंगों और गुदगुदे गदैलों पर प्राण प्रयाण के समय मुमूर्षु

को लेटाए रखना उसे फांसी के तख्ते पर चढ़ा देने के बराबर है क्यों कि मृत्यु के समय सर्वथा निढाल हुवे मनुष्य की रीढ़ की हड्डी जब तक सीधी तनी न रहेगी तब तक स्वास क्रिया के निरोध के कारण मुमूर्षु को असह्य वेदना का सामना करना पड़ेगा। समतल भूमि ही उस समय एक ऐसा विस्तर हो सकता है कि जिस के आश्रय से उत्तानशायी मनुष्य की रीढ़ की हड्डी सर्वथा सीधी तनी रहसकती है। इस लिये बिना कष्ट उठाए प्राणोत्क्रमण संभव बनाने के लिये सद्यः मुमूर्षु मनुष्य को भूमिमाता की गोद में लेटा देना ही उसकी अन्तिम सेवा करना है। यही कारण है कि आर्य सस्कृति के पुजारी लोग रातों जागकर पहिरा देकर भी अपने बन्धु को चारपाई पर नहीं मरने देते, यदि किसी भी कारणवश ऐसा हो ही जाए तो इस पाप को दूर करने के लिये विशिष्ट धर्मानुष्ठान द्वारा प्रायश्चित्त करते हैं। इसलिये भूमिके बिस्तर पर ही प्राणोत्सर्ग होना चाहिये।

चौंकी तख्त क्यों नहीं ?

यदि रीढ़ की हड्डी को सीधी रखने के लिये ही भूमि का बिस्तर आवश्यक है तो यह लाभ तो चौंकी और तख्त पर लेटा देने से भी प्राप्त हो सकता है। बडे लोगों के यहां ऐसी ही व्यवस्था क्यों न रहे ?

हम पीछे कह चुके हैं हमारे समस्त धर्मानुष्ठान मुष्टिमेय धनी मानियों को सामने रखकर नहीं निश्चित किय गए किन्तु बहुसंख्यक सर्व साधारण गरीबों की स्थिति को लक्ष्य में रखकर लिखे गऐ है, सो यदि शास्त्रों मे चौंकी या तख्त पर लेटाने की विधि होती तो सर्व साधारण गरीबों को उन के जुटा-

ने में बड़ी परेशानी उठानी पड़ती, फिर मृत्यु का कौन ठिकाना कब कहां आ जाय? सो चौबीसों घन्टे घर, वन, रण-क्षेत्र सभी स्थानों मे चौकी तख्त पीठ को बांधे मनुष्य घूमा करे यह कहा तक सभव है। महामारी आदि विपत्तियों के समय तो चौकी तख्त वाली विधि पर आचरण ही नहीं होसकता अत शास्त्र ऐसी अधूरी विधिये लिखने की भूल नहीं कर सकते। सो सर्वत्र सर्व-जन-सुलभ पृथ्वीमाता की पवित्र गोद को छोड़ कर मरने के समय भी कृत्रिम बडप्पन की शेखी बघारना मानवता का घोर अपमान करना है।

इस के अतिरिक्त कई बार यह भी देखा जाता है कि कुटुम्बी जन मुमूर्षु का पहरा देते हुवे भी ठीक मृत्यु के समय असावधान होजाते हैं तब मुमूर्षु ही किसी तरह स्वयमेव चारपाई से नीचे उतर कर भूमाता की गोद में सदा के लिये सो जाता है अतः प्राकृतिक रीति से जमीन का बिस्तर ही अन्त मे काम दे सकता है, चौकी तख्त आदि कृत्रिम साधन तो केवल विडम्बना मात्र है।

उत्तर दिशा को शिर क्यों?

हम इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २६४ पर अहोरात्रचर्या अध्याय के शयन प्रकरण में यह सिद्ध कर चुके हैं कि 'जीवन काल में मनुष्य को दक्षिण दिशा को पांव करके कभी नहीं सोना चाहिये'- परन्तु मृत्यु के समय इस के विपरीत दक्षिण दिशा की ओर पांव कर के ही मुमूर्षु को लेटने की शास्त्रविधि है, और प्राय. ऐसा ही किया भी जाता है, इस का क्या हेतु है यह यहां प्रकट करते हैं।

हम पीछे कह आए हैं कि मरणकालीन सब विधियों का मूल सिद्धान्त यही है कि 'प्राणों का प्रयाण उपरितन दशम द्वार से हो—और यदि ऐसा न हो सके तो कम से कम नाभि से नीचे के भाग में होने वाले गुदा और लिङ्ग के द्वार से तो न होने पाए। सो इसी बात की सिद्धि के लिये जहा पूर्वोक्त अन्यान्य प्रयत्न किये जाते हैं उन्ही में से एक यह भी प्राकृत प्रयत्न है।

कहना न होगा कि उत्तर को शिर और दक्षिण को पांव कर के मुमूर्षु को लेटाने की दशा में ध्रुवाकर्षण के कारण दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर निरन्तर चलने वाला विद्युत् प्रवाह कम्पास यन्त्र की सूई की भान्ति मनुष्य के निकलते हुवे प्राणों को नीचे के छिद्रों की ओर खींच जाने मे सहायक सिद्ध होता है, इस तरह हम प्रकृति प्रवाह को मरण काल में अपना सहायक बनाने में सफल होते है,। ध्रुवाकर्षण के दिव्य प्रवाह से लाभान्वित होते हैं यही मुमूर्षु के उत्तर दिशा को शिर और दक्षिण दिशा की ओर पांव करने का अन्यतम हेतु है।

चित क्यों लेटाएं ?

मुमूर्षु को बांई दांई किसी करवट न लिटा कर उत्तान-शायी सीधा चित लेटाने का यह रहस्य तो जल्दी ही समझ मे आसकता है कि सीधा चित लेटने की दशा में रीढ़ की हड्डी सीधी तनी रहती है और इस तरह श्वास नलिका भी अन्त तक खुली रहती है, यह दोनों बाते प्राणोत्क्रम के समय मुमूर्षु को बिना किसी कष्ट के मरने में सहायक सिद्ध होती हैं, बांई करवट लेटने से दांई नासिका से और दांई करवट लेटाने से बांई नासिका से श्वॉस प्रश्वास का संचार होता है यह कोई

भी जिज्ञासु स्वयं लेट कर अनुभव कर सकता है इस तरह किसी भी करवट लेटने से चन्द्र या सूर्य दोनों स्वरों में से केवल एक स्वर ही चल पाता है दूसरे का निरोध रहता है। स्वर विज्ञान अनुसार चन्द्र से शीतता और सूर्य से उष्णता का संचार होता है यह बात हम इसी ग्रन्थ के पृष्ट २८६ पर लिख आए हैं। सो मृत्यु काल में किसी एक स्वर का निरोध अथवा गर्मी या ठण्डक इन दोनों में से किसी एक का होना मुमूर्षु के लिये लाभदायक नहीं उल्टा कष्ट-कारक है, परन्तु सीधा चित लेटाने की दशा मे दोनों स्वरों से स्वास चलने की स्वतन्त्रता तथा शीतोष्णसमता का अवकाश रहता है जोकि उस समय सापेक्ष्य है इस लिये मुमूर्षु को उत्तान शायन-सीधा चित्त लेटाना ही उचित है।

शिर के नीचे घुटना क्यों ?

प्रायः सभी देशों में मुमूर्षु के शिर के नीचे उस का पुत्र और कारणवशात् उस के अनुपस्थित होने की दशा मे अन्य कोई निकट सम्बन्धी बांया घुटना उपवर्ह—सिरहाने- तकिये की भांति रखता है इस प्रथा का आधार वेद का-'आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य' [यजु १६-६२] अर्थात् बांया घुटना झुका कर दाईं ओर बैठे। यह मन्त्र होसकता है। इस से मुमूर्षु के प्रति जहां सम्मान और श्रद्धाका भाव व्यक्त होता है वहां अन्तिम समय में स्वांस के वेग के साथ बढता हुवा कफ का जो वेग कण्ठ में पहुंच कर घुरघुरायमान होने लगता है और स्वांस की स्वा- भाविक गति में रुकावट होने लगती है—वह भी घुटने पर ऊंचे उठे शिर के कारण कुछ न कुछ शान्त होने लगता है, साथ ही

जब कण्ठवर्ती उदान वायु की शक्ति के प्राय: क्षीण होजाने के कारण मुमूर्षु स्वयं अपने कफ को बाहिर निकाल सकने की क्षमता नहीं रखता तब अनन्यमनस्क समुपस्थित घुटने की टेक देने वाला व्यक्ति अपने हाथ से मुमूर्षु के मुख में पहुंच जाने वाले कफ को निकाल डालने की आवश्यक सेवा भी कर सकता है। जब मुमूर्षु की मृत्युकालीन करुणा पूर्ण दशा को बार बार देखता हुआ सहृदय पुत्र एकमात्र अवलम्ब सर्वार्तिहरणक्षम भगवान् के पवित्र नाम को उस समय अनन्यमनस्क होकर स्वय कहता है तब बुझते हुवे दीपक की भान्ति मृत्यु से पहिले एक बार सर्वथा स्मृति सम्पन्नता —जिसे लौकिक भाषा में 'संभाला लेना' कहते हैं—की दशा में मुमूर्षु को भी हरिस्मरण दिलाने का कल्याणमय कार्य करता है। यह सब बाते कार्यान्तर व्यापृत व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं किन्तु सब काम काज भूलकर मुमूर्षु संपृक्त व्यक्ति द्वारा ही सुसम्भव हैं। इस लिये शिर के नीचे घुटना देने की प्राचीन प्रथा अनेक विध लाभों से परिपूर्ण है। ससार में यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'क्या अमुक व्यक्ति मरने के समय मेरे शिर के नीचे गोड़ा देगा जो मैं उसके लिये इतना मरूं खपूं ? कहना न होगा मुमूर्षु व्यक्ति शिर के नीचे घुटना देने वाले व्यक्ति को अतीव प्रियतम मानता है और एकमात्र इसी आशा से वह सौ अकृत्य कर के भी सन्तान का पालन पोषण करना अपना कर्तव्य बना लेता है। दुर्भाग्यवश मुमूर्षु की यह अन्तिम साध भी यदि पूरी न हो सके तो यह 'हतोऽपि निहतः पुनः'।

मुमूर्षु स्वयं अपना भला कर सकता है ?

अब तक प्रयाण कालीन जिन शास्त्रीय विधि विधानों का उल्लेख किया गया है वे सब के सब प्राय. कुटुम्बी जनों द्वारा सम्पादनीय ही हो सकते है, अर्थात्-भूमिलेपन, कुशास्तरण उत्तरशिरस्क उत्तान शयन और जानुप्रदान, आदि कृत्य मुमूर्षु स्वय अपने लिये नहीं कर सकता ये सब बाते कुटुम्बी जनों की कृपा पर ही आश्रित हैं, दुर्भाग्यवश यदि वे न करना चाहें तो मुमूर्षु लाचार है। विवश है। दूसरों के हाथों में बिका है परन्तु शास्त्र जब किसी को विवशता पूर्ण जीवन विताने का आदेश नहीं करता तो वह विवशतापूर्ण—मरने देने को भी बाध्य नहीं कर सकता। अत शास्त्र मे कुछ ऐसे विधि विधान भी विद्यमान हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन की भान्ति अपने मरण को भी स्वयमेव सुतरां सुधार सकता है।

मृत्यु का मूल सिद्धान्त 'उपरितन द्वार से प्राणोत्सर्ग करना' हम कहते आरहे हैं। इस एक मात्र उद्देश्य को पूर्ति के लिये जो कृत्य किये जाते हैं उनका भी किंचित् दिग्दर्शन हो चुका है परन्तु अपनी मृत्यु को स्वयं मनुष्य किन विधियों के आचरण से सुधार सकता है, अब प्रसग प्राप्त इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है। हम इसी ग्रन्थ के 'सन्ध्या से पारलौकिक लाभ' प्रकरण पृष्ठ २१६ में लिख आये हैं कि सन्ध्या वन्दन प्राणायाम से जहां आयु बढती है वहां इससे मरण काल में दशम द्वार से प्राण निकाल सकने का भी अभ्यास बढता है। इसीलिये वेद शास्त्र की आज्ञा है कि मृत्यु कालीन उस कठिन घड़ी को सरल बनाने के लिये बाल्य काल से ही हमें दशम द्वार का भेद जानने के लिये नित्य अधि-कारानुसार सन्ध्या वन्दन प्राणायाम, और राम नाम जाप करना

चाहिये। जो व्यक्ति नित्य विधिवत् प्राणों का नियमन करता रहेगा बढ़ते २ उसका अभ्यास इतना परिपक्व हो जाएगा कि प्राण प्रयाण के समय भी बिना किसी भौतिक साधन के अपने प्राणों को सुगमता से खींच कर ब्रह्मरन्ध्र की ओर उत्क्रमण करने में समर्थ हो जाएगा। यह नित्य कर्म वैसा ही कृत्य समझना चाहिये जैसा कि प्रत्येक सैनिक असली युद्ध की तैय्यारी के लिये घर में नित्य प्रति कवायद परेड, (कृत्रिम युद्ध) करता है। जो योद्धा नित्य परेड में मनोयोग नहीं देगा और इसे व्यर्थ समय अपव्यय समझेगा, वह वास्तविक संग्राम में विजयी नहीं हो सकेगा, सतत अभ्यास के बिना समय पर चौकड़ी चूक जाएगा। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रणायामादि नित्य कर्म निरन्तर न करेगा, इसे कोरा ढकोसला बता कर उपेक्षा करेगा वही मृत्यु के समय दूसरों की कृपा का मोहताज अवश्य बनेगा। इसलिये अपनी मृत्यु को स्वय सुधारने का अमोघ उपाय अधिकारानुसार नित्य प्रति सन्ध्या वन्दनादि कर्मों का विधिवत सम्पादन करना समझना चाहिये।

गंगाजल और तुलसीदल क्यों ?

जब रोगों का उपचार कर २ थक जाते हैं, और यह भान होने लगता है कि अब रोगी का शरीर न रहेगा तब सब बुद्धिमान् एक स्वर से यही कहने लगते हैं कि अब मुख में 'गङ्गाजल, और तुलसीदल डालो'।

गगाजल और तुलसीदल का यह अन्तिम उपचार धार्मिक और आयुर्वैदिक दोनों ही दृष्टियों से लाभप्रद है, आयुर्वैदिक दृष्टिकोण से तुलसीदल त्रिदोषघ्न महौषधि है। इस में पारद

और सौवर्ण तत्त्वों का समावेश है, किसी भी रोग के शमन म इसका प्रयोग लाभदायक ही सिद्ध हो सकता है। गङ्गोदक के गुणों पर तो आज पाश्चात्य वैज्ञानिक आश्चर्य चकित हैं, वह चाहे अभी तक यह समझने में समर्थ नहीं हो सके कि आखिर समस्त रोगों के कीटाणुवों का सद्यः विनाश कर सकने की क्षमता गङ्गोदक मे क्यों है ? परन्तु वे अनेक वार प्रत्यक्ष अनुभव कर के इतनी बात मुक्तकण्ठ से कहने को तैय्यार हैं कि कारण चाहे कुछ भी हो परन्तु गङ्गोदक में सर्व-रोग-कीटाणु संहारिणी दिव्य शक्ति अवश्य है। अब तो फ्रांस आदि अनेक देशों के विशिष्ट हॉस्पिटलों में फिल्टर किया गङ्गोदक अनेक नामों से औषधियों की भांति वर्ता जाता है। सो उभय-दृष्टि से ही तुलसीदल और गङ्गाजल मुमूर्षु का परम कल्याण कारक है। यदि रोगी को अच्छा होना है तो इन दोनों वस्तुवों से बढ़कर अन्य कोई औषधि नहीं हो सकती और यदि आयु परिसमाप्त हो चुकी है तब भी इन दोनों वस्तुवों से बढकर अन्य कोई कल्याण कारिणी महौषधि नहीं होसकती।

नाम स्मरण क्यों ?

श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों मे प्राण प्रयाण के समय ॐकार के जाप की बड़ी महिमा लिखी है यथा —

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् —ॐ यह एक अक्षर ब्रह्म है। जो इस का जाप करता हुवा तथा मेरा स्मरण करता हुवा देह त्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

गोस्वामी तुलसी आदि सन्तों ने तो नाम को नामी से भी बड़ा माना है। वस्तुतः नाम है भी ऐसा ही—यह बात कहने सुनने और ऊहापोह द्वारा सिद्ध करने की नहीं किन्तु एक बार स्वयं करके देखने की है। हमारा अनुभव है कि जब अन्य सब लौकिक उपाय छूछे पड़ जाते है और मनुष्य अपने आपको अनाथ, विवश निराश्रित सा पाता है, उस समय यदि सौभाग्य-वश भगवन्नाम स्मरण की सुबुद्धि आजाए तो डूबते को थाह सी मिल जाती है। मृत्यु के समय भी मनुष्य अपने आप को सर्वथा अनाथ और विवश सा ही अनुभव करता है। पसीना गिरने की जगह खून बहाने वाले इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी सभी उस समय लाचार और निराश से दीख पड़ते हैं। ऐसे वक्त मे सिवा भगवन्नाम स्मरण के और क्या अवलम्ब हो सकता है ? निः सन्देह वे मनुष्य धन्य है जो उस समय असीम शोक सागर की उत्ताल तरङ्गों के थपेड़ों से मझधार में डूबती हुई अपनी जीर्ण शीर्ण जीवन नैय्या को चतुर खिवैय्या बलदेव के भैय्या कन्हैया के हाथ में सौंप कर उसी के पवित्र नाम की रट लगाते हुवे हंसते २ प्रस्थान करते हैं।

ॐ—या राम नाम ?

कुछ लोग यह भी जिज्ञासा किया करते हैं कि गीता में ॐकार के जाप का विधान है परन्तु आज कल तो अधिकांश लोग राम नाम का ही जाप करते हैं इसका क्या रहस्य है ?

ॐकार की बहुत बड़ी महिमा है। इसका दिग्दर्शन हमारे 'ॐकार और शिवलिङ्ग' नामक पुस्तक में हुवा है, यह वेदों का बीज भूत

महामन्त्र है, साक्षात् ब्रह्म है, परन्तु शास्त्र-रीत्या इस के जाप में अधिकारी अनधिकारी का भी विचार परमावश्यक है। शास्त्र मे श्रद्धा रखने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसी तो कल्पना भी नहीं कर सकता है कि वह ॐकार की महिमा-सूचक श्रुतियों पर तो विश्वास करे और अधिकार विशेष प्रतिपादक वाक्यों की उपेक्षा करने लगे। अतः मृत्युकालीन स्थिति में मुमूर्षु पवित्र न रह सकेगा यह ध्यान में रख कर शास्त्रों ने सर्व साधारण के कल्याणार्थ ॐकार के समान फल दायक किन्तु अधिकार विशेष बन्धन से सर्वथा निर्मुक्त 'राम' नाम को अधिक महत्व दिया है।

कहना न होगा कि प्रयाण काल में ओंकार के उपांसु जाप का विधान इसलिये है कि 'ॐ ॐ' ऐसा उच्चारण करने मात्र से प्राणों की ऊर्ध्वगति स्वयमेव होने लगती है। इस तरह इस मन्त्र के जाप से भी उपरितन द्वार से प्राण प्रयाण के मूल सिद्धान्त का ही संरक्षण होता है, सो जैसे ओंकार का उच्चारण प्राणों की ऊर्ध्वगति करने की क्षमता रखता है वैसी ही बल्कि उससे भी कुछ अधिक तारक मन्त्र 'राम' नाम रखता है। शब्द स्फोट के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक अक्षर के उच्चारण से एक खास प्रकार का वातावरण उत्पन्न होता है। त्रिकालज्ञ महर्षियों ने अपनी 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा जब इस तत्व को अनुभव किया तो उन्होंने अधिकार विशेष की सीमा में आवद्ध ओंकार के स्थान में सर्व-जन-सुलभ, राम नाम का प्रचार किया।

दीप दान क्यों ?

मृत्युकालीन दानों में दीप दान का बहुत महत्त्व है, अनेक देशों में बड़ी तत्परता पूर्वक इस के करने की भी परिपाटी पाई जाती है यह क्यों ? इसका रहस्य बड़ा ही मननीय है।

विज्ञान का यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है कि प्रत्येक अंश अपने अंशी के पास पहुंच कर ही विश्राम लेता है। जैसे ऊपर को फेंका मिट्टी का ढेला पुनः भूमाता की गोद में बैठ जाता है और पानी का रेला अनवरत गति से प्रवाहित हो कर अपने उत्पत्ति स्थान समुद्र में पहुंच कर ही विश्राम लेता है, इसी प्रकार अग्नि का शोला भी अवाध गति से चलता चलता अग्नि तत्त्व के एक मात्र उद्गम केन्द्र सूर्य पिण्ड तक पहुंच कर ही रुकता है। सो मरने वाले प्राणी का जीवात्मा वाग् आदि सत्रह तत्त्वों के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो कर अपने सद्य' त्यक्त शरीर से निराश हो कर जब लोकान्तर जाने को उद्यत हो जाता है, उस समय उस में मार्ग खोजाने को प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। किधर जाऊं? कहां जाऊ?—बार २ ऐसा सोचता है। सो उसकी इस प्रवृत्ति को कार्यान्वित करने के लिये तात्कालिक दीपदान बहुत सहायक सिद्ध होता है दीपक मे होने वाला पार्थिव तत्त्व वत्ती की भस्म या काजल के रूप में अवशिष्ट पड़ा रहता है और जलीय तत्त्व धूमशिखा बन कर बादलों में विलीन हो जाता है, परन्तु विशुद्ध आग्नेय तत्त्व मुमूर्षु के स्थान से चल कर सूर्य मण्डल पर्य्यन्त पहुंच कर ही शान्त होता है। इस तरह दीप-दान से जीवात्मा को अर्चिमय प्रशस्त मार्ग की उपलब्धि होती है कर्मानुसार उसे जिस लोक में भी पहुंचना है यह अर्चिमार्ग ब्रह्माण्डवर्ती उन सब लोक लोकान्तरों को लांघता हुवा सर्वोत्कृष्ट उपरिवर्ती द्युलोक पर्य्यन्त पहुंचता है। जीवात्मा इस के द्वारा कर्म्मानुसार यथेष्ट लोक को पहुंच जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में अर्चिमार्ग की बहुत प्रशंसा की है, हमारे शास्त्रों

में सब साधारण व्यक्ति के लिये भी केवल टका भर गोघृत के व्यय से अपने घर से लेकर उदिष्ट स्थान पर्य्यन्त 'अचिमार्ग' बना देने की यह दीपदान-विधि कितनी सस्ती, कितनी सरल एवं कितनी महत्व-पूर्ण है-यह मनन किये ही बनती है।

अन्त्येष्टि संस्कार विचार

अन्यान्य अहिंदू मतों में जहां मृत शरीर को जमीन में दफना देने = गाड़ देने मात्र की प्रथा पाई जाती है वहां आर्य शास्त्रों में भूमि में गाड़ना, अग्नि मे फूंकना, जल में बहाना और निर्जन बन में छोड देना - ये चार प्रकार की विधियें पाई जाती हैं। 'किस दशा में कौन विधि वर्ती जाए एतदर्थ भी शास्त्रों मे सूक्ष्म विचार किया गया है। जैसे अजात-दन्त बालकों, कुष्टियों और वैखानस सन्यासियों के देह भूमि में दबा देने चाहिये। शीतला आदि सक्रामक रोगों से मरने वाले व्यक्तियों के देह को जल में प्रवाहित कर देना चाहिये। परम हंस वर्णाश्रमातीत महात्माओं के देह को बन मे विसर्जित कर देना चाहिये और सर्व साधारण के देह को अग्नि में भस्म कर देना चाहिये। वनों में विसर्जित करने वाली प्रथा तो केवल पारसी मत मे दीख पड़ती है, अन्यान्य सभी प्रथाएं नियमानुसार आज भी हिंदू जाति में यत्र तत्र सर्वत्र प्राय देखने में आती हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

(क) भस्मान्तꣳ शरीरम् (यजु. ४०।१५)

(ख) ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता (यजुः)

अर्थात्--(क) अन्त में भस्म हो जाने वाला यह शरीर है। (ख) जिन पितरों के देह गाड़े, बन में फैंके, आग में जलाए, और जल में बहाए गए हैं।

शव को जलाना ही क्यों चाहिये ?

मुसलमान सज्जन आक्षेप किया करते हैं कि हिंदू लोग अपने प्यारे कुटुम्बियों के देह को बड़ी बेरहमी के साथ आग में फूंक डालते हैं, इस्लाम ऐसी बेवफाई की इजाजत नहीं देता। मालूम होता है मौलाना साहिब को अपनी दफनाई हुई लाशों की अन्तिम दुर्गति का राज मालूम नहीं। हिन्दू तो शुद्ध पवित्र अग्नि की चिता मे एक बार ही अपने सम्बन्धियों के देह को भस्मसात् कर डालता है, परन्तु मुसलमान तो मिट्टी में दबे, गले, सड़े अगणित कीड़े पडे देहों को कण कण करके भयङ्कर कीड़ों की जाठराग्नि में—दोज़ख की आग में—जलाता है। कहना न होगा कि अन्त मे हिन्दु और मुसलमान दोनों को अग्नि की ही शरण लेनी पड़ती है अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू विशुद्ध अग्नि में और मुसलमान कीड़ों की जाठराग्नि में अपने सम्बन्धियों के कलेवरों को स्वाहा करता है। इसलिये सर्व साधारण व्यक्ति के देहों को गाड़ने के बजाए जलाना ही अधिक अच्छा है।

जलाने की प्रथा को अब तो दूसरे देशों के अहिन्दु विचारक भी महत्त्व देने लगे हैं, कई आधुनिक परलोक विद्या विशारदों का तो यहां तक कहना है, कि "जब तक मृत शरीर अवशिष्ट रहेगा तब तक उस में से निकलने वाला जीवात्मा व्यामोह में वहीं

भटकता रहेगा--उसे तिल तिल गलता सड़ता देख देर तक असह्य कष्ट अनुभव करता रहेगा और लोकान्तर गमन का अपना भावि पुरोगम निश्चित न कर पाएगा। परन्तु जलाने की दशा मे कुछ घन्टा मिनटों के अन्दर ही शरीर के भस्मसात् हो जाने पर एक बारगी ही 'आंख फूटी पीड भागी' के अनुसार निर्द्वन्द्व होकर लोकान्तर गमन का अगला प्रोग्राम निश्चित कर सकेगा। इसलिये मृतशरीर को ठिकाने लगाने वाली सब क्रियाओं में दाहकर्म ही सब से सस्ता, सरल और कल्याण कारी है।

लन्दन के सुप्रसिद्ध विचारक सर टोम्पसन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माडर्न क्रीमेशन-इटस हिस्ट्री एण्ड प्रैक्टिस' मे यह सिद्ध किया है, कि इटली आदि देशों में प्राचीन काल मे शवदाह की प्रथा विद्यमान थी। इङ्गलैण्ड के एक दूसरे महा-विद्वान् सर हर्बर्ट स्पेसर ने तो मृत्यु से पूर्व अपने सम्बन्धियों को वसीहत की थी कि उनके मृत देह को जलाया जाए, ऐसा ही किया गया, जिस का भारी प्रभाव समस्त पाश्चात्य जगत् पर पड़ा। अब तो यह प्रथा यूरोपीय देशों मे इतनी अधिक प्रचलित हो गई है कि खास लण्डन मे ही कई सरकारी श्मशान बनाने पड़े हैं। इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध नाटककार महा कवि बर्नार्ड शा ने-जिन का कि गत वर्ष देहान्त हुवा था—अपनी वसीहत में अपने शव का दाह करने की हिदायत की थी।

कब्रों के कारण संसार की कितनी उपयोगी भूमि आज व्यर्थ हो रही है इस ओर यदि प्रगतिशील लोग ध्यान दें तो इस से मानव समाज का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। अकेले भारत की ही लाखों बीघा जमीन मुर्दे मियांओं के कलेवरों ने काबू कर

रखी है यदि इस गाड़ने की कुप्रथा का अति शीघ्र अन्त न किया गया तो एक दिन समस्त ससार ही कबरिस्तान के रूप में परिणत हो जाएगा। हर एक मरने वाले के लिये कम से कम तीन गज जमीन व्यर्थ बना डाले तो इसका अन्तिम परिणाम खेतों के अभाव में ससार का भूखों मरना और बेघर-बार हो कर समुद्र में डूब मरना ही हो सकता है।

कपाल क्रिया क्यों ?

मृतक शरीर के इस हद तक जल जाने पर कि उसकी कपालास्थि परिपक्व होने लगे तब अर्थी के लम्बे डन्डे से कपाल स्थान को तीन बार स्पर्श करते हुये ब्रह्मरन्ध्र स्थान को अति चोट से फोड़ दिया जाता है जिसे 'कपाल क्रिया' कहते हैं। कई लोग इस में भी निष्ठुरता की गन्ध सूघने का प्रयास करते हैं। परन्तु वास्तव मे यह प्रथा पिता के सस्मरणीय वात्सल्य और पुत्र के अवश्य करणीय भावि कर्तव्य कर्मोंका प्रणवद्ध निदर्शन है।

हम अन्यत्र यह सङ्केत कर आए है कि मुमूर्षु मनुष्य अपने जीवन काल में स्वयमपि अपनी सद्गति की साधना मे सफल प्रयत्न कर सकता है। उन प्रयत्नों मे सर्वोत्तम और सवथा अमोघ प्रयत्न यह है कि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर अपना समस्त जीवन समाप्त करदे। नि सन्देह यह व्रत अन्त तक निभाना है तो बहुत कठिन। परन्तु जो भाग्यशाली निभाने मे कृतकार्य हो जाय वह बिना किसी उपायान्तर क, एक मात्र साधना के बल से मोक्ष का अधिकारी हो जाएगा। प्रायः दशवर्ष की अवस्था के बाद स्त्री शरीर में, सोलह-वर्ष की अवस्था के बाद पुरुष शरीर मे रजः और वीर्य का प्रादुर्भाव होने लगता है स्वाभाविक मासिक

ऋतुस्राव को छोड़कर) यदि सोहलवें वर्ष तक स्त्री और चौबीसवें वर्ष तक पुरुष अष्टविध मैथुन से बचकर उसे नष्ट न होने दे, तो वही वीर्य समस्त शरीर की पोली हड्डियों में भरपूर हो जाएगा। मलेरिया टी० बी० आदि घातक रोगों के जो कीटाणु आज वीर्य्य हीन खाली अस्थियों में अपने घोंसले बनाकर सदा के लिये डट जाते हैं, वही नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के वज्रसन्निभ शरीर में कहीं अणु मात्र भी खाली स्थान न मिलने पर निराश होकर लौट जाते हैं। कदाचित् यही अखण्ड ब्रह्मचर्य्य यदि जीवन भर बना रहे तो शरीरान्तर्वर्ती वह सातवीं धातु=शुक्र नामक पदार्थ 'ओजः' रूप में परिणत हो जाता है, जो ब्रह्मचारी की वाणी, नेत्र आकृति सब से अभिव्यक्त होने लगता है। इसी के बल से महात्माओं की वाणी से निकला हुआ एक साधारण शब्द भी अपनी ओजस्विता के कारण श्रोताओं में जीवन फूंक देता है। नेत्रों की तेजस्विता के सामने सिंह व्याघ्रादि हिंसक जंगली जानवरों की कौन कहे—यदि मूर्खतावश कोई हत्यारा मनुष्य भी प्राण लेने के इरादे से सामने आए तो वह भी स्वयमेव परास्त होकर पानी २ हो जाता है। अनेक संतप्त प्राणी केवल दर्शनमात्र करने से शान्ति अनुभव करने लगते हैं। इसी ओजः को अहिन्दू लोग 'जलाल' 'नूर' आदि नामों से स्मरण करते हैं। चित्रकार दिव्य चित्रों के मुख के चारों ओर कुण्डलाकृति प्रभा बनाकर इस तत्त्व को अभिव्यक्त करते हैं। सो ये ओजः सम्पन्न व्यक्ति प्राण प्रयाण के समय बिना किसी अन्य साधना के अपने प्राणों को कपाल फोड़कर ब्रह्म-रन्ध्र द्वारा निकालने में समर्थ होते हैं और अपने ही पुरुषार्थ द्वारा मोक्षभागी बन जाते हैं।

परन्तु साधारण घर गृहस्थी लोग 'पुत्रेण लोकाञ्जयति' इत्यादि शास्त्राज्ञाओं पर विश्वास रखते हुवे अपने उस अमूल्य रत्न वीर्य को सन्तानोत्पादन कृत्य में व्ययित कर देते हैं जिससे कि अन्त काल में कपाल फोड़कर प्राण निकाल डालने की वह योग्यता अपने हाथों खो बैठते हैं। अब जब पिता का देहान्त होता है तो पुत्र पिता के उस वात्सल्य भाव को स्मरण करके—जो कि उसने अपने मोक्ष को भी न्यौछावर करके पुत्र के उत्पादन में दिखाया था--बार २ विह्वल हो उठता है, इस असीम वात्सल्य का आना पाई कुछ भी मूल्य चुकाने लिये श्रद्धा का समुद्र ठाठें मारने लगता है। तब वह हाथ में बांस उठाकर समागत समस्त बान्धवों के सामने पिता के कपाल को तीन बार छूता हुवा प्रतिज्ञा करता है कि—"पूज्य पितृदेव! यदि आप मुझसे अयोग्य पुत्र के उत्पादन में अपना वीर्य्य न बहाकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते तो आज उस ब्रह्मचर्य्य के बल से तुम्हारे कपाल को स्वयं भेदनकर प्राण निकलते और आप मुक्त हो जाते। परन्तु वात्सल्य वश आपने मेरे उत्पादन के लिये अपनी मुक्ति को भी न्योछावर कर दिया, अब मै भरी जनता में यह तीन वार प्रतिज्ञा करता हूं कि शास्त्र विहित और्ध्व-दैहिक कर्म्म कलाप द्वारा इस कमी को पूरा करूंगा! पूरा करूंगा!! पूरा करूंगा!!! यही कपाल क्रिया का वास्तविक भाव है।

सचैल स्नान क्यों ?

मृतक के साथ श्मशान भूमि तक जानेवाले सम्बन्धियों को वस्त्र प्रक्षालन पूर्वक स्नान अवश्य करना चाहिये। शास्त्र कहता है कि—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्नि घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥
(मनु० ५-१०३)

अर्थात्--स्वजातीय अथवा विजातीय मृत व्यक्ति के साथ इच्छा से श्मशान तक जाकर पुरुष सचैल स्नान, अग्नि स्पर्श और घृत के प्राशन से विशुद्ध होता है।

मृतक को न जाने किन २ रोगों से क्लिष्ट होकर शरीर त्यागने के लिये विवश होना पड़ा है। उन अनेक संक्रामक रोगोंके कीटाणु सर्वथा शरीर दग्ध हो जाने से पूर्व शव में संश्लिष्ट ही रहते हैं, अतः शव वहन करनेवाले व्यक्तियों को खासकर, तथा संसर्ग में आनेवाले शवानुगामी सम्बधियों को भी सचैल स्नान करना ही चाहिये। देहली जैसे बड़े नगरों में कुछ दिन से ऐसी कुप्रथा पड़ गई है कि कुछ कार्य व्यस्त सम्बन्धी अपनापन प्रकट करने के लिये थोड़ी दूर तक मृतक को कन्धा देकर पुनः कार्य में पूर्ववत् संलग्न हो जाते हैं। वस्त्र प्रक्षालन की कौन कहे स्नान करना भी आवश्यक नहीं समझते, तथा कुछ व्यसनी शवानुगमन करते हुवे और श्मशान भूमि तक में भी बीड़ी सिगरेट पीते रहते हैं। ये दोनों कुप्रथाएं अनेक संक्रामक रोगों के कीटाणुओं को निमन्त्रित करने के बराबर हैं जिनका परिहार होना नितान्त आवश्यक है।

अग्निस्पर्श और निम्बपत्र चर्वण क्यों ?

मनु के उपरोक्त आदेशानुसार कुरुक्षेत्रादि धार्मिक प्रदेशों में श्मशान तक जानेवाले समस्त सम्बन्धी सचैल स्नान के अनन्तर घर लौटने से पूर्व अग्निस्पर्श करते हैं। इस प्रथाके महत्त्व पर अधिक

लिखने की आवश्यकता नहीं, प्रत्येक बुद्धिमान् स्वय अनुमान कर सकता है कि अग्नि स्पर्श से समस्त संक्रामक बीमारियों के कीटाणु भस्मसात् हो जाते हैं अतः इसका संस्पर्श बहुत ही लाभप्रद है। निम्ब परमोत्तम संशोधक पदार्थ है। जब कभी किसी शव को किसी विशेष घटना के कारण देर तक रखना अनिवार्य होता है तो उसे निम्बपत्रों से ढांप रखते हैं, इस क्रिया से उसके सड़ जाने का भय नहीं रहता। ऐसी स्थिति मे निम्बपत्र चर्वण और घृत-प्राशन रहे सहे संक्रामक रोगों के कीटाणुओं के खतरे से सर्वथा उन्मुक्त हो जाने का वैज्ञानिक साधन है।

अस्थियों को गङ्गा में क्यों डालें ?

शास्त्र में वर्णन आता है, कि मृतक की पञ्चाङ्ग अस्थियें गङ्गा में प्रवाहित करनी चाहियें। यथा :—

यावदस्थीनि गङ्गायां तिष्ठन्ति पुरुषस्य च।
तावद्वर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ॥ (शख० ७)

अर्थात्--मृतक की अस्थिएं जबतक गङ्गा में रहती हैं तब तक मृतात्मा शुभ लोकों में निवास करता हुआ आनन्दोपभोग करता है।

मां गङ्गा के सम्बन्ध में तो हम तीर्थ महिमा के प्रसंग में आगे यथा स्थान लिखेंगे, परन्तु यहां इतना जान लेना परमावश्यक है कि मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा अपने शरीर की भस्मी में भी मोह रखता है। जब तक सम्बन्धी उस भस्म को ठिकाने नहीं लगाते तब तक मृतात्मा इसी चक्कर में पड़ा रहता है और अपनी परलोक यात्रा को आरम्भ नहीं करता। इसीलिये हिन्दू शास्त्रों मे तत्काल शव का दाह कर दिया जाता है और ज्योंही चौथे दिन

भस्म हाथ छूने लायक ठंडी हो पाई कि उसे उठाकर किसी निकटस्थ नदी नद मे प्रवाहित कर दिया जाता है। इस इस तरह मृतात्मा की धूल भी अवशिष्ट नहीं रहने दी जाती। केवल पचांग अस्थियें जिन्हें कि धार्मिक परिभाषा मे 'फूल' कहा जाता हैं—गङ्गा माता के प्रवाह मे स्थापित करदी जाती हैं, जिनके कारण मृतात्मा को ऐसे विलक्षण आनन्द का अनुभव होने लगता है कि मानो मैं स्वयं ही मां गङ्गा की पवित्र गोद में बैठा हुआ कल्लोल कर रहा हूं।

इसके अतिरिक्त गगादि नदियों में अस्थियों के डालने का एक अन्य स्थूल तथा प्रत्यक्ष लाभ भी है जिसे सभी वैज्ञानिकों ने एक मत से स्वीकार किया है। अस्थियों के वैज्ञानिक परीक्षण से यह सिद्ध हुआ है कि उनमें फास्फोरस अत्यधिक मात्रा में होता है जो खाद के रूप में भूमि को अत्यन्त उपजाऊ बनानेकी क्षमता रखता है। आज तो इससे काफी मात्रा में खाद तैय्यार भी किया जाने लगा है। निरन्तर बहते रहने से नदियोंका जल और विशेषतः गगा जैसी महा नदी का जल—जिसे कैलाश से लेकर बंगाल की खाडी तक लगभग १५०० वर्ग मील का मार्ग तय करना पड़ता है और सहस्रों वर्ग मील भूमि को सींचकर उपजाऊ तथा हरा भरा बनाता है—अपनी फास्फोरस शक्ति को खो देता है। वह भूमि को उतना अधिक उपजाऊ बनाने मे समर्थ नहीं रहता। इसमें प्रचुर मात्रा मे अस्थि डाल देने से अस्थिगत फास्फोरस जल में सम्मिश्रित हो जाता है और वह भूमि को उर्वरा करने में सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार के अस्थि विसर्जन के कृत्य से एक भारतीय संस्कृतिका पुजारी जहां जीवन दशामें अपने तन को मातृभूमि की सेवामें एवं समृद्धि में लगाता है, वहां मरने पर अपनी अस्थियों

को भी मातृभूमि की समृद्धि के लिए समर्पित कर सत्पुत्र का कर्तव्य पालन करता है।

कहना न होगा कि पिता माता की अस्थियों को फूल नाम से स्मरण करना जहां मृतात्माओं के प्रति अगाध श्रद्धा और समादर का सूचक है वहां वैज्ञानिक हेतुसे भी समर्थित है। सभी जानते हैं कि प्रत्येक वृक्षमें पुष्पोद्गम होने के अनन्तर ही फलोदय होता है। सो हिन्दू परम्परा में चूंकि सन्तान को फल नाम से स्मरण करते हैं अतः सन्तान रूप फल, माता पिता की जिन अस्थियों के सार से समुद्भूत हैं उन्हें 'फूल' नाम से स्मरण करना युक्तिसगत ही है।

राष्ट्रपिता गांधीजी की भस्म का राष्ट्र-धन-व्यय से भारत के समस्त तीर्थों में बहाया जाना इस बात का प्रबल संकेत है कि जीवन काल में भले ही कुछ लोग धार्मिक भावनाओं की, पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा के दूषित प्रभाव से उपेक्षा करने की भूल कर देते हों, परन्तु रोम २ में रमी हुई आर्य परम्पराओं की आस्था अन्त में अपना अमिट प्रभाव प्रकट किये बिना नहीं रहती। इस प्रकार गर्भाधान से अन्त्येष्ठि पर्यन्त समस्त वैदिक संस्कारों का संक्षिप्त निरूपण करने के अनन्तर हम इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं।

गर्भाधान कर्म से लेकर मृत्युकाल तक सकल विधान।
क्या ? कब करना ? धर्म-रीति से शास्त्रविहित धर्मानुष्ठान।
यद्यपि हैं अदृष्ट-फल-मूलक तो भी दृष्ट-लाभ-विस्तार।
हेतु पुरस्सर सिद्ध किया अध्याय तीसरे में यह सार॥



संकीर्णाध्यायः

(चौथा अध्याय)

वैदिका या मुहूर्ताद्या, नाना शास्त्रमताः क्रियाः ।
हेतुवादैः परिष्कृत्य, प्रदर्श्यन्तेऽत्र सप्रमाः ॥

विगत अध्यायोंमें वे सिद्धान्त—जो ध्रुव की भाति सदैव अटल हैं तथा प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की समस्त शास्त्रीय विधियों का और गर्भाधान से लेकर और्ध्वदैहिक क्रिया पर्यन्त उसके समस्त सस्कारों का सप्रमाण और सयौक्तिक वर्णन किया जा चुका है। ध्यान पूर्वक मनन करने पर तत्तत् क्रियाओं की इति कर्तव्यता का सहैतुक 'क्यों' तत्त्व सम्यक् विदित हो जाएगा; सम्प्रति इस अध्याय में अवशिष्ट समस्त विशेष क्रियाओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा। हम इस अध्याय का श्रीगणेश तो मुहूर्तके वर्णन से कर रहे हैं परन्तु विषय संकीर्णता के कारण इसकी परिसमाप्ति होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसलिये ग्रन्थ का कलेवर, भगवत्कृपा और हमारी शक्ति जहां तक अनुकूल रहेगी वहां तक 'जस जस सुरसा वदन बढ़ावा, तासु दुगुण कपि रूप दिखावा' के न्यायानुसार न 'क्यों' का अन्त है और नांही उसके समाधान का परला किनारा है। सो बहुत कुछ लिखने पर भी आखीर यह अध्याय अपूर्ण ही रहेगा, आशा है यह अपूर्णता भी महा महिम

अनन्त भगवान के साक्षात् मूर्तरूप सनातन धर्म की अनन्तता की ही परिचायक सिद्ध होगी। जिसे अनुभव करते हुवे विज्ञ पाठक भी हमारे साथ—'असितगिरिसमं०' से आरम्भ करके 'तदपि तव गुणानामीश ! पारं न याति' तक के पुण्य पाठ में सहर्ष सम्मिलित होंगे।

मुहूर्त विज्ञान

वेदादि शास्त्रों में—सूत्र ग्रन्थों में और तदुपजीवी ज्यौतिष शास्त्रों में प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के लिये तदनुकूल काल साधन विज्ञानके आधार पर मुहूर्त साधने का विस्तृत विधान विद्यमान है। तदनुसार प्रत्येक हिन्दू गर्भाधान आदि संस्कारों की कौन कहे—नूतन वस्त्र पहिनने जैसी छोटी २ क्रियाओं से लेकर मरण तक के लिये सर्व प्रथम बड़ी सावधानी से मुहूर्त सधाना है। आज के इस नास्तिकता पूर्ण वातावरण में भी मुहूर्त—साधने की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। विवाह आदिका मुहूर्त न सधने पर, घरमें सब सामग्री तैय्यार रहते भी—वह न हो सकेगा यह मर्यादा अभी तक भी यथा कथञ्चित सुरक्षित है।

अन्यान्य मतों में मुहूर्त साधना

मुहूर्त साधने की भावना अन्यान्य मतों में भी पाई जाती है, वे भी अमुक दिन अमुक समय में ही अमुक कार्य करने को महत्व देते हैं। ईसाई रविवार को पवित्र मानते हैं—बाईबिल के लेखानुसार छ: दिन में खुदा ने सृष्टि रचना कर डाली, सातवें दिन थककर विश्राम किया, उनका विश्वास है कि वह दिन रविवार

यानी 'सन्डे' था। इसलिये ईसाई सम्प्रदाय में यह दिन, खेल कूद विश्राम, ईश्वर प्रार्थना और रङ्गरलियां मनाने का दिन ही समझा जाता है। गुड् फ्राइडे=शुभ शुक्रवार और ईस्टर के दिनों के अतिरिक्त वे २४ दिसम्बर से १ जनवरी तक के दिनों को भी पवित्र मानते हैं, पहिली अप्रैल को तो हमारी होली की भांति सधा सधाया माङ्गलिक दिन मानते हैं।

इसी प्रकार मुसलमानों मे भी शुक्रवार को पवित्र दिन माना जाता है, इसकी पवित्रता की थ्यूरी भी ईसाइयों के समान ही है, परन्तु इनकी मान्यता में विश्राम का दिन (जुम्मा) अर्थात् शुक्रवार था। 'अकरम' के अढ़ाई दिनों में ये लोग नकाह=खतना आदि कोई शुभ संस्कार नहीं करते। हमने 'अकरम' के दिनों का अनुसन्धान करके देखा तो वे दिन हमारे गणित के अनुसार वृश्चिक राशि पर चन्द्रमा की स्थिति के दिन हैं। अर्थात्—विशाखा नक्षत्र का अन्तिम चरण तथा अनुराधा और ज्येष्ठा नक्षत्र सम्पूर्ण—यही 'अकरम' है। अकरम शब्द भी सीधा अकर्म का ही रूपान्तर है जो इबरानी भाषाओं की खरोष्ट्री लिपि में हल अक्षर के उच्चारण की व्यवस्था न होने के कारण स्वाभाविक है। यहां यह भी जान लेना अनावश्यक न होगा कि मुसलमान चान्द्र सम्प्रदायके अनुयायी हैं, इसीलिये इनका वर्ष, सब त्यौहार चन्द्रमा पर अवलम्बित हैं; इसीलिये आधे चान्द का चिन्ह इनका सर्वप्रिय 'मार्का' है। सो वृश्चिक का चन्द्रमा नीच राशि का चन्द्रमा होता है इसलिये वह वर्जित है। मौलाना साहिब के फरीस्ते भी चाहे अकरम के मनहूस होने का रहस्य न जानते हों परन्तु हम उन्हें भी इसका कारण बतला देते हैं। नीच उच्च क्या है ?—इसका तत्त्व यहां नहीं

बतलाया जा सकता; यह ज्योतिष ग्रन्थों से जानना चाहिये। सो मुसलमान भी 'मुहूर्त'–जिसे वे 'स्मायत' कहते हैं–सुतरां मानते हैं।

आर्य्य समाज के स्वामी दयानन्द ने तो संस्कार विधि में प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में अमुक नक्षत्र अमुक दिन होना आवश्यक स्वीकार किया है और उसके लिये सूत्र ग्रन्थों के अनेक प्रमाण भी उद्धृत किये हैं। हम स्वामी दयानन्द के ही शब्दों को यहां उद्धृत करते हैं—

(क) शुक्ल पक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे।

(संस्कार विधि पृष्ठ ५२)

(ख) उत्तरायण शुक्ल पक्ष में जिस दिन आनन्दमङ्गल हो उस दिन यह (चूड़ाकर्म) संस्कार करे। (सं० वि० पृष्ठ ७३)

(ग) यज्ञोपवीत का समय–उत्तरायण पूर्व्य–ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म, वैश्य का शरद ऋतु में-- (सं० वि० पृ० ८०)

जैन बौद्ध तो मुहूर्तों में हमारी भांति ही आस्था रखते हैं। इससे सिद्ध होगया कि मुहूर्त साधने की परिपाटी न्यूनाधिक प्रायः सभी सम्प्रदायों में पाई जाती है। यद्यपि ऐसी स्थितिमें कोई भी मुहज्जब हमसे 'क्यों' पूछनेका मिजाज नहीं रखता, क्योंकि--'ययोरेव समो दोषः परिहारस्तयोः समः' इस न्याय के अनुसार इसका उत्तरदायित्व उन पर भी हमारी तरह ही आयद होता है। तथापि वे विचारे अपने कल्पित एवं अवैज्ञानिक मुहूर्तों का क्या रहस्य बतला सकते हैं! अतः हम उपर्युक्त न्याय के बहाने से अपने पाठकों को निराश नहीं कर सकते सो 'शृणुध्वं मुनयः सर्वे'—

शास्त्रीय स्वरूप

वेद में नव ग्रहों और अट्ठाइस नक्षत्रों से शुभ होने की (नाम निर्देश पूर्वक) प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के [१६वें काण्ड के ७, ८, ६, पूरे के पूरे] सूक्त इस रहस्य से भरे हैं। हम दिङ्मात्र यहां दिखाते हैं यथा--

(क) सुहवमग्ने ! कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा। ... आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु। (अथर्व० १६।७।२-५)

(ख) शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।

(अथर्व० १६।६।१०)

अर्थात्--(क) हे अग्निदेव ! कृतिका नक्षत्र हमारे लिये कल्याण कारक हो, तथा रोहिणी, मृगशिरः आर्द्रा भी शुभ हों। (ख) चन्द्रमा और उससे सम्बद्ध समस्त ग्रह तथा राहु सहित सब सौर ग्रह कल्याणप्रद हों।

वैज्ञानिक विवेचन

हम पीछे 'अण्ड-पिण्ड-वाद' की व्याख्या में यह सिद्ध कर चुके हैं कि हमारा यह मानव पिण्ड वस्तुत. ब्रह्माण्ड का ही संक्षिप्त संस्करण है तदनुसार पिण्डको सबल बनानेके निमित्त जितने संस्कार किं वा पौष्टिक शान्ति कृत्य किये जाते हैं उनके लिये ब्रह्माण्डगत मूल स्रोतों की अनुकूलता भी सर्वथा अनिवार्य है। जैसे नगर के प्रत्येक घर में बिजली फिट हो परन्तु यदि पावर हाउस की मूल

लाइन बन्द हो तो बत्ती के स्विच को सौ बार दबाने पर भी प्रकाश न होगा, अतः हमारी बत्ती जगने के लिये पावर हाउस की लाइन की अनुकूलता आवश्यक है।

बडे बडे नगरों में जहां पानी के नल लगे रहते हैं कभी २ जल संकोच के समय मानुपपालती की ओर से नल खुलने का समय नियत हो जाता है। सो सब जलार्थी अपने २ बर्तन लिये जल खुलने के समय की प्रतीक्षा में घडी की ओर ताकते रहते हैं कि कब वह मुहूत आए जब बर्तन टूंटी के नीचे रक्खा जाए, क्योंकि असमय में टूंटी के नीचे बर्तन रखने से कुछ लाभ नहीं। एक देहाती की दृष्टि में बिजली की बत्ती मे प्रकाश है परन्तु नागरिक जानता है कि प्रकाश का खजाना तो पावर हाउस है, इसी के करन्ट से बत्ती जल सकती है, पंखा चल सकता है, और अमुक २ यन्त्र में प्रगति आ सकती है। इसी प्रकार वाटर वर्क्स (पानी की प्रधान टंकी) का भेद न जानने वाला मूर्ख ही यह मान सकता है कि दीवार में लगा यह भूतनाथ कान मरोड़ते ही पानी की धारा बहा देता है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं है। बिजली के लिये शक्ति भंडार (पावर हाउस) और जल के लिये जल भंडार (वाटर वर्क्स) ही सब कुछ हैं। यद्यपि कई बार हमारी बत्ती का फ्यूज जल जाने पर या लाट्टू के विकृत हो जाने पर भी पावर हाउस का करन्ट हमें लाभ नहीं पहुंचा सकता। हमारे अपने यन्त्र का भी ठीक रहना परमावश्यक है, परन्तु उपजीव्य और उपजीवी भाव से पावर हाउस उपजीव्य है और हमारी बत्ती तदुपजीविनी है; उपजीव्य सदा मुख्य होता है। ठीक इसी प्रकार हमारे मानव पिण्ड में शरीर इन्द्रिय, मनः, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण

जीव, आदि जितनी वस्तुएं हैं ये उपजीवी की भांति किसी विशेष शक्ति द्वारा सञ्चालित यन्त्र मात्र हैं। उनका संचालन करनेवाली शक्तियें ब्रह्माण्ड मे जहा तहां व्याप्त हैं वे ही सब हमारी उपजीव्य है, वैदिक विज्ञान परिभाषा में उन्हीं का नाम देवता है।

मुहूर्त इन्हीं ब्रह्माण्ड व्याप्त देवताओं की सानुकूलता परीक्षण की एक विधि मात्र है। जिसके ज्ञान से हम तत्तत् कार्य से सम्बन्ध रखने वाली दैवी शक्ति का अपने साथ सामञ्जस्य प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं।

मिस मियो की मरम्मत

हम 'अण्ड पिण्डवाद' मे यह सिद्ध कर आए है कि हमारे शरीर का सब कुछ इन्हीं देवताओं की देन है। यदि गंवारू भाषा में सीधा कहना चाहें तो यूं कह सकते हैं कि जो शक्तियें हमें सब कुछ देती हैं वे ही 'देवता' हैं और हम लेनेवाले हैं इसलिये हम 'लेवता' हैं। सो मनुष्य पदे २ उन देनेवाली शक्तियों का मोहताज है। मिस मेयो के शब्दोंमें हम 'देवताओं के गुलाम' हैं। अमेरिका की यह उच्छृंखल छोकरी जो कई बच्चों की जननी हो जाने पर भी आयु भर मिस=कुमारी ही बनी रहने का दावा करती है— किसी दिन मुझे मिल जाए तो फिर मैं उसे बताऊं कि बाप की बिटिया! तू स्वयं बता कि तू देवताओं की गुलाम है या नहीं है? मेरा दावा है कि तू तब तक देख भी नहीं सकती जब तक देवता कृपापूर्वक तुझे दृष्टि प्रदान न करें। यदि तुझे अभिमान हो कि तू अपनी ही आंखोंसे देखती है तो आ अमावस की रातमें तुझे जंगल की सैर कराऊं।'

'माई लार्ड! उई री मैय्या!'–'है २ यह क्या? अभी सो दश

कद्म ही चल पाई थी ! क्या हुआ ? मेयो मिस्ट्रस ! बोलती क्यों नहीं । ओहो । सूखे लक्कड़से टकरा गई ! खोपड़ी फूट गई । तुमने देखा क्यों नहीं, तुम तो अपनी आंखों से देखा करती हो ! तुम सूर्य चांद और टिमटिमाते तारों की या लालटेन टौर्च=अग्नि देवता को गुलाम थोड़े ही हो । सच बताओ ! क्या वे अपनी बिल्ली जैसी पीली पीली चमकीली आँखे घर भूल आई । ठण्डा, गरम, दूर का निकट का कोई तो चश्मा लगाकर देखो !'

हमारा दावा है कि मनुष्य अपनी आंख से नहीं देखता, किन्तु वह मेरे त्र्यबम्क भगवान् के ही अग्नि सूर्य चन्द्र रूप तीनों नेत्रों मे से किसी एक की सहायता से देख पाता है । भाद्रपद की सघन मेघाच्छन्न इस अमावस की आधी रात में जब कि सूर्य, चन्द्र, तारे और अग्नि प्रकाश इनमें से कोई भी मेरे नेत्रों को सहायता नहीं दे रहा है, तब आंख का चमड़ा और पांव की तली का चमड़ा दोनों निर्विशेष चमड़े ही हैं । क्या अब भी अपनी आंखोंसे देखनेका अभिमान दूर नहीं हुआ ? क्या अब भी केवल भारतीय हिन्दुओं को ही देवताओं के –'गुलाम' बताकर अपनी इस नाम की पुस्तक में अपनी मूर्खता का परिचय दोगी ? अरी अमेरिका की खरी छोकरी ! यदि अब भी तू न समझी तो कल तुझे एक बक्से में बद करूंगा—फिर देखना कि वायु देवता की कृपा के बिना थोड़े समय में ही तेरे प्राण पखेरू उड़ते हैं कि नहीं ? तू तो चौबीस घण्टे में अन्यून, इक्कीस हजार छः सौ वार वायु देवता की दासता स्वीकार करने के लिये विवश है तब कहीं इतने स्वास ले पाती है ।

मानव पिण्ड–शामिल बाजा

कहा जाता है कि एक वार किसी महाराजा के दरबार में गाना

बजाना हो रहा था, परन्तु महाराज किसी शासन सम्बन्धी अड़चन की उधेड़ बुन मे पड़े आज इस आनन्द में भी गम्भीर मुद्रा बनाये सुस्त बैठे थे। चतुर मन्त्री ने राजा को आनन्द विभोर करने के लिये विनोदार्थ चारपाई का एक पावा कन्धे पर रखकर, एक डण्डे से सरङ्गी की भांति बजाना आरम्भ किया। ज्योंही राजा का ध्यान इधर गया वह इस चेष्टा पर खिलखिला उठे और सब गाने बजाने वालों से बोले कि आप लोग अपने २ बाजे बन्द करो, हम यह नया बाजा सुनना चाहते है। बजन्त्री बन्द हो गए, मन्त्री भी अपने पांवे, सेरवे को रोककर बैठ गये! राजा ने जब आग्रह किया कि तुम्हारा बाजा सुनने के लिये ही तो सब बाजे बन्द किये हैं, तुम क्यों बन्द करते हो ? बजाओ! मन्त्री ने विनोद पूर्वक कहा—श्रीमान जी! इस बाजे का नाम 'शामिल बाजा' है. इसकी यह तारीफ है कि जब अन्य सब बाजे बजते हैं तभी यह बजता है अकेले नहीं बजता, राजा इस उत्तर पर और भी हंसा।

दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि वह 'पांवा सेरवा' तो नाम मात्र का ही बाजा था, सब बाजों की ध्वनि मे ही इसकी भी प्रतिष्ठा बनी रहती थी, स्वतन्त्र इसकी कुछ भी सत्ता नहीं थी। ठीक इसी प्रकार यह मानवपिण्ड भी शामिल बाजे की भाति अपनी कुछ भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता किन्तु सूर्य चन्द्र आदि ब्रह्माण्ड के बाजे जब बजते हैं, तभी यह भी इनकी छाया में यथा तथा सिकवता रहता है। यदि एक क्षण के लिये भी वे बंद हो जायें तो यह भी कोरा खट्वांग ही शेष रह जाता है, तभी तो शिव भगवान् हर वक्त इसे अपने हाथ में संभाले रहते हैं। कदाचित् क्षणमात्र के लिये भी यह उनके हाथ के आश्रय से छूट जाए तो फिर शस्त्र नहीं रह

सकता, खट्वांग को शस्त्र (कार्य साधक) बनाने की शक्ति त्रिशूली में ही है।

अथर्व वेद के १६वे काण्ड का ४३ वां पूरा सूक्त का सूक्त इस रहस्य से भरा है। यथा :—

(१) अग्निमेधा दधातु मे, (२) वायुः प्राणान् दधातु मे, (३)......चक्षुः सूर्य्यो दधातु मे, (४) ......मनश्चन्द्रो दधातु मे, (५) बलमिन्द्रो दधातु मे, (६)......ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। (अथर्व० १६।४३।१ =)

अर्थात्—अग्निदेव मुझे मेधा = धारणा शक्ति प्रदान करें, वायु प्राण, सूर्य नेत्र, चन्द्रमा मन, इन्द्र बल, और ब्रह्मा ब्रह्म, प्रदान करें।

गुरु शुक्रास्त वर्जित क्यों ?

गुरु और शुक्र के अस्त हो जाने पर प्राय सभी शुभ कर्म खासकर विवाहादि स्त्री सम्बन्धी कृत्य वर्जित है, क्यों ?—इसलिये कि 'अण्डपिण्ड सिद्धान्त' के अनुसार मानव पिण्ड में 'ज्ञान' गुरु की देन है और 'वीर्य' (काम = स्त्री सम्बन्धी सब चेष्टाएं) शुक्र की देन है, सो जब ये दोनों महा-ग्रह अस्त हों तो 'ज्ञान दुर्बल' और 'हीन वीर्य' मनुष्य जो कुछ भी करेगा वे सब कृत्य अज्ञान विजृम्भित तथा क्लैब्यपूर्ण होंगे। सही मस्तिष्क वाला बलवान्, मनुष्य ही सब कृत्यों को औचित्य की भित्ति पर स्थिर करने में समर्थ हो सकता है। इसीलिये आज के कानून में भी किसी रहन व, बसीहत-नामे के परिलेख मे कानूनन यह लिखना अनिवार्य है कि—'मुझ लिखनेवाले का मस्तिष्क सही है और अपनी होश

हवाश में यह में यह परिलेख लिख रहा हूं'--कहना न होगा कि हमारे ऋषियों ने केवल वाचिक प्रतिज्ञा मात्र से यह स्वीकार करना पर्य्याप्त नहीं समझा किन्तु उन्होंने तत्तत् ग्रहों के अस्त कालीन समय में किये हुए कार्यों को धर्म शास्त्रीय कानून के अनुसार अकृत्य समझा क्योंकि ऐसे समय में मनुष्य के मस्तिष्क के सही न होने में ब्रह्माण्डीय वातावरण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

कदाचित् कोई अक्ल का कोल्हू यह शंका कर बैठे कि सूर्य और चन्द्र के अस्त हो जाने पर तो रात में धड़ाधड़ विवाह होते हैं परन्तु इन छोटे २ तारों के अस्त हो जाने पर अमुक कृत्य करने से आफत का पहाड़ पड़ेगा। क्या पोप लीला है॥

हम यहा यह बता देना चाहते हैं कि अस्त से तात्पर्य यहां आखों से ओझल हो जाना नहीं है, किन्तु सूर्य पिण्ड के अत्यन्त सन्निधान में जाकर उसके मण्डल में विलीन हो जाना है, सूर्य कभी अस्त नहीं होता, वह तो रात में केवल आंखों से ओझल मात्र हो जाता है। उसे उपचारात् अस्त कह देते हैं इस प्रकार का अस्त तो गुरु शुक्रादि का भी वर्जित नहीं। चन्द्रमा भी अमावस्या के दिनों में ही 'अस्त' रहता है, तब भी विवाहादि शुभ कृत्य नहीं होते। मङ्गल बुध और शनि का किसी आध्यात्मिक तत्त्व से सम्बन्ध नहीं किन्तु उनका स्थूल मानव पिण्ड से सम्बन्ध है। यह 'अण्ड पिण्ड' में सिद्ध कर आये हैं। उनका मनः बुद्धि=अन्त-करण पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

सिंह गत गुरु में विवाह क्यों न हो ?

तेरह वर्ष के बाद जब बृहस्पति सिंह राशि में आता है तब विवाह नहीं होते, क्यों ?—इसलिये कि—'अण्ड पिण्ड वाद' के

अनुसार सूर्य्य पिण्ड से पचास कोटि योजन सब ओर परिधि वाले आकाश प्रदेश को एक ब्रह्माण्ड कहते हैं और उपरितन कटाह को 'द्यौ' कहते हैं। इन दोनों कटाहों को ज्योतिः शास्त्र के अनुसार ३६० विभागों (अंशों) में बांटा जाता है सो उनमें से आधे १८० अंश भूमण्डल द्वारा दृश्य रहते हैं और आधे अदृश्य। यही कारण है कि हम एक मैदान मे जब खड़े होते है तो क्षितिज से बनने वाले आधे कटाह को अपने शिर पर छतरी की तरह देखा करते हैं। यही तीन सौ साठ अंशों वाला आकाश, नक्षत्र गणना के अनुसार २७ भागों मे विभक्त है। सवा दो नक्षत्रों के एक समुदाय का नाम ज्योतिः शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'राशि' है अर्थात्—एक अर्ब योजन प्रमाण वाले ब्रह्माण्ड के तीन सौ साठ अंशात्मक गोल के तीस अंश परिमित प्रदेश को एक राशि कहते हैं। इस तरह कुल ब्रह्माण्ड बारह राशियोंमे विभक्त है, उनमें से केवल छः राशि ही पृथ्वी मण्डल पर दृश्य रहती है और छः अदृश्य रहती हैं। एक अहोरात्र मे क्रमशः बदलती हुई ये बारह राशिये एक चक्र में सब दृश्य और सब अदृश्य हो जाती हैं। क्षितिज पर प्रथम ही जब सूर्य दीख पड़ता है उस स्थान को उदया-चल मानकर सूर्य राशि के अनुसार उस समय वही लग्न माना जाता है। इस तरह सूर्यास्त के समय सातवां और आधी रात के समय दशवां लग्न आता है। 'प्रत्यक्ष और परोक्षवाद' की विवेचना के प्रसंग में हम ग्रहों का पश्चिम से पूर्व की ओर जाना सिद्ध कर आये हैं, तदनुसार उदयाचल पर यदि मेष राशि है तो वृष निश्चित ही उसके अधोभाग में अवस्थित है। तभी सूर्य आदि ग्रहों का पश्चिम से पूर्व की ओर जाना सम्भव है इस तरह क्रमशः मेष वृष आदि द्वादश राशियों का चक्र है।

इस प्रसङ्ग में यह प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि अश्विनी भरणी कृत्तिका रोहिणी आदि सत्ताइस नक्षत्रों और मेष वृष आदि द्वादश राशियों के जो नाम नियत किये गए हैं वे भी भारतीय ऋषियों के अलौकिक वेद विज्ञान के ज्वलन्त उदाहरण हैं। अकारण ही इन्हें वसा नहीं कहा जाता किन्तु जिसका जैसा नाम है आकाश में उसका वैसा ही तारागण निर्मित स्वरूप भी प्रत्यक्ष देखा जासकता है। मृगशिर नक्षत्र को प्रायः किसान भी जानते हैं, वे उसे हिरणी नाम से स्मरण करते हैं। कहना न होगा कि मृगी और हरिणी दोनों समान शब्द हैं। वे प्रायः कहा करते हैं कि आगे २ हिरणी दौड़ती है पीछे २ कुत्ता और शिकारी। निःसन्देह मृगशिर के तीन तारे और उसके पीछे मृग व्याध (जिसे अमरकोश' कार ने 'इल्वलास्तच्छिरोदेशे तारका निवसन्ति याः' ऐसा कहते हुवे 'इल्वला' के नाम से स्मरण किया है) इसी प्रकार के जान पड़ते हैं। इन की स्थिति को व्यक्त करने के लिये इस से उत्तम अन्य कोई नाम नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस हिरणी से पश्चिम की ओर कुछ ऊपर 'रोहिणी' नक्षत्र दीख पड़ता है। रोहिणी का अक्षरार्थ है, 'यान'=गाड़ी। सो यह नक्षत्र भी पांच तारों का एक समूह है जो ठीक गाड़ी के ढांचे की भान्ति अंग्रेजी के अक्षर V के समान है। इसी प्रकार अन्यान्य सब नाम सार्थक हैं।

हमारी इस सब विवेचना का तात्पर्य यह है कि पाठक द्वादश राशियों से परिचित हो जाएं। अब द्वादश राशियों की स्थिति समझ में आजाने पर यह भी जान लेना चाहिये कि सूर्यादि ग्रहों की क्रमिक अवस्थिति पृथ्वी से दूरी के अनुपात से इस प्रकार मानी जाती है—

भूमेः पिण्डः शशाङ्कोज्ञ कविरविकुजेज्याकिनक्षत्रकक्षाः।

अर्थात्—भूमि, चन्द्र, बुध शुक्र, सूर्य मंगल, बृहस्पति, शनि और नक्षत्र इस क्रम से सब ग्रहों की कक्षा है।

राहु केतु स्वतन्त्र ग्रह नहीं छाया ग्रह हैं इसलिये हमारी इस स्थापना में उनका नाम नहीं आता है। यही कारण है कि उनको वार गणना मे अधिकार नहीं मिला। सो जैसे सात मुख्य ग्रहों के नामों पर सात ही वार नियत हुए हैं--जिनका रहस्य आगे प्रकट किया जायगा—इसी प्रकार उक्त द्वादश राशियों में भी सूर्य और चन्द्रमा को एक २ राशि का अधिपत्य मिला है और मङ्गल बुध गुरु शुक्र और शनि इन पांचों को दो दो राशियों का स्वामित्व प्राप्त है। राशि चक्रको एक किले की भांति समझ लेना चाहिये जिसके द्वार के पूर्व पार्श्व में सिह राशि अवस्थित है, और माला की भांति क्रमशः कन्या, तुल, वृश्चिक आदि राशिये मण्डलाकार में कोट बनाती हुई अन्त में द्वार के पश्चिम पार्श्व में कर्क अवस्थित है। इन दोनों राशियोंको सम्भाले तो ये दोनों वीर (सूर्य चन्द्र) खड़े हैं। सिह के पीछे कन्या और कर्क के पीछे विलोम क्रम से मिथुन अवस्थित है; अपनी कक्षा के अनुसार यहां बुध की स्थिति है अतः वही इन दोनों का सरक्षक है। कन्या के पीछे तुल है और उधर मिथुन के पीछे विलोम क्रम से वृष है। बुध के बाद शुक्र की कक्षा अतः यहां वह विराजमान है और इन दोनों राशियों की वह रक्षा करता है। तुल के पीछे वृश्चिक और दूसरी ओर वृष के पीछे मेष की स्थिति है, इन दोनों की रक्षा अपनी कक्षाके अनुसार मंगल करता है। वृश्चिक के पीछे धन और दूसरी ओर मेष के पीछे मीन अवस्थित है अपनी कक्षा के अनुसार इन दोनों का अधिष्ठाता

गुरु है, धन के पीछे मकर और दूसरी ओर मीन के पीछे कुम्भ का होना स्वाभाविक है अत पृथिवी से सुदूर ब्रह्माण्ड की अन्तिम कक्षा में शनि महाराज विराजमान हैं, इन दोनों का स्वामित्व आपके सपुर्द है। बस। यही राशि और उनके स्वामियों का विवेचन है। एतावता मेष का स्वामी मङ्गल ही क्यों ? बुध क्यों नहीं ? इत्यादि समस्त क्योओं' का भी यहां समाधान हो जाता है।

हां, तो प्रश्न है कि सिंह के बृहस्पति में विवाहादि शुभ कृत्य क्यों नहीं होते ? हम कह चुके हैं कि सिंह राशि का पति सूर्य्य है जब सूर्य की राशि में गुरु आएगा तो उस समय आधिभौतिक दृष्टि से मानवपिण्ड की सूर्य सम्बद्ध आत्मा मे ज्ञान के केन्द्र गुरु का प्रवेश होगा। ऐसे ज्ञान साधना के अपूर्व अवसर से लाभ न उठाकर उसे विवाह आदि सांसारिक प्रवृत्तिवर्धक रजोगुणी कृत्यों मे अपव्ययित करना वैसा ही है जैसा कि सन्ध्या वन्दन के समय मे गप्प शप्प हांकना और ब्रह्म मुहूर्त में नींद लेना। शास्त्र मे ये दोनों कृत्य समय से लाभ न उठाने के कारण पाप ही कहे गये हैं। इसी प्रकार पूरे तेरह वर्ष के बाद सिंह गत गुरु का सुयोग आता है आयु भर में गिनती के ही ऐसे अवसर आ सकते हैं। विवाहादि लौकिक प्रपञ्च तो आयुभर ही बराबर चलते रहेंगे, अत· आत्मा और ज्ञान के इस अपूर्व संगम को सब प्रपञ्च छोड़कर परमार्थ साधना में ही बिताना चाहिये [इसीलिये सिंह गत बृहस्पति मे गोदावरी का कुम्भ पर्व नियत है] सिंह गत गुरु का यह एक आधिभौतिक कारण बताया जा सकता है।

आधिदैविक दृष्टि से—

आधिदैविक दृष्टि से गुरु समस्त देवताओं का गुरु होने के

नाते सूर्य्यदेव का भी पूज्य गुरु है। जब शिष्य के घर में गुरु का आगमन हो तो शिष्य को गुरु सेवा से अवकाश कहां ? हमारे ब्रह्माण्ड का नियन्ता सूर्य है, उसकी साक्षी में हमारे सब कर्म्म सम्पन्न होते हैं। इसीलिये सूर्य का अन्यतम नाम 'कर्मसाक्षी' भी है। सब कम करने के अनन्तर सूर्य को अर्घ्य अञ्जलि देते हुए — 'कर्मसाक्षिणे नमः' कहकर ही आस्तिक जगत् प्रणाम करता है। सूर्य के घर सिंह राशि में गुरुदेव के पधारने पर सुयोग्य शिष्य को साक्षी देने की फ़ुरसत कहां ? जैसे जज साहिब के यहां अमुक आवश्यक कृत्य होने के कारण उस दिन मुकद्दमे न हो सकेंगे किन्तु आगे की तारीख पड़ जायगी। ठीक इसी भांति जब सूर्य्य भगवान् गुरुसेवा रूप अपने घरेलू आवश्यक कार्य में व्यस्त है तब वे साक्षी देने की स्थिति में नहीं हैं। वेद भगवान् ने सूर्य भगवान् की छुट्टी की दरख्वास्त पर सदा के लिये लिख दिया कि जब कभी गुरु-देव पधारें आप उनकी सेवा के लिये स्वतन्त्र हैं, यदि पाधाजी हजार वार भी आवाहन करें तो बेशक न जाएं। उसी दिन से शास्त्र मे भी इस भगवदाज्ञा का उल्लेख हो गया।

धन मीन के सूर्य में मलमास क्यों ?

धन और मीन राशि के सूर्य में भी विवाहादि कृत्य नहीं होते। पौष और चैत्र को इसी कारण से मलमास कहने की प्रथा प्रसिद्ध है। यहां भी सिंह गत बृहस्पति वाला विज्ञान ही पूरा का पूरा घटता है। अन्तर केवल इतना है कि सिंह गत बृहस्पति में शिष्य के घर मे गुरु पधारता है और धन मीन राशि के सूर्य में गुरुदेव के घर में शिष्य पहुंच जाता है। हम पीछे सिद्ध कर आए हैं कि धन और मीन ये दोनों राशि बृहस्पति

का घर हैं । सो बात बराबर है, शिष्य के घर में गुरु पहुंच जाए तब भी शिष्य सेवा में व्यस्त रहता है, और जब शिष्य स्वयं गृह में पहुंच जाए तब तो कान खुजलाने की भी उसे फुरसत नहीं हो सकती । गुरुजी तो पूरे वर्ष भर शिष्य के घर में रहते हैं, अतः शनै २ खूब सेवा करने का लम्बा अवसर है । अत गङ्गा और गोदावरी आदि नदी के तट पर रहने वाले सज्जन ऐसे समय में विवाहादि कृत्य करें तो कुंभ पर पधारे हुवे गुरु-देव के अनुगामी सूर्य भगवान् यथा तथा साक्षी देने का समय निकाल भी लेते हैं इसी आशय से गङ्गा और गोदावरी के मध्यभाग को छोडकर अन्यत्र सिंह गत गुरु मे भी विवाह हो जाने का शास्त्र में अपवाद पाया जाता है । जिस की क्यों 'देश-वैचित्र्यवाद' से समाहित हो सकती है । परन्तु धन और मीन में तो सूर्य केवल एक मास ही ठहरता है । जब कि देव वर्ष की गणना से हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन ही होता है तब हमारा एक मास तो पलक झमक में ही बीत जाएगा ऐसी स्थिति में सूर्य का साक्ष्य कथमपि सम्भव नहीं ।

मीन के सूर्य में उपनयन क्यों ?

मीन के सूर्य में अन्य सब कृत्य जहां वर्जित हैं वहां ब्राह्मण कुमारके उपनयन संस्कार के लिये मीन बहुत प्रशस्त है, यह क्यों ? इसलिये कि 'उपनयन' का तात्पर्य है शिष्य का गुरु के उप=समीप नयन=प्रापण । यही इस संस्कार का प्रधान लक्ष्य है। जब गुरुदेव के घर मे स्वयं शिष्य पधारे हों ऐसे अवसर पर यदि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः' के अनुसार संसार के अन्यान्य

शिष्य भी गुरु के समीप जाए तो यह 'यथा राजा तथा प्रजाः' का ही उदाहरण होगा।

परन्तु यह आज्ञा केवल ब्राह्मण बालक के लिये ही है- यह क्यों ?—इसलिये कि 'देश वैचित्र्यवाद' और 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानके अधिष्ठाता बृहस्पति पिण्ड का, ज्ञान के मुख्य अध्यक्ष ब्राह्मण वर्ण पर विशेष प्रभाव पड़ता है, मीन गुरुदेव का घर है, सूर्य की मीन राशि में स्थिति उसके भावि उच्चतम पद की सूचक है। जिस प्रकार सूर्य आदि ग्रह अमुक राशि के स्वामी माने जाते हैं इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि—क्रमशः मेष, बृष, मकर, कन्या, कर्क, मीन और तुला राशि में आजाने पर 'उच्चस्थ' माने जाते है। इनकी यह उच्चता भी 'देश वैचित्र्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार आकाश के तत्तत् प्रदेश के वैलक्षण्य पर आधारित है। जब कोई ग्रह अपनी उच्च कही जानेवाली राशि से पहिली राशि में अवस्थित हो जाता है तो उच्चाभिलाषी कहा जाता हैं। जैसे मेष का सूर्य उच्च का होता है तो मीन का उच्चाभिलाषी कहा जाएगा। इसी प्रकार चन्द्रमा बृष का उच्च का होता है तो मेष राशि का उच्चाधिकारी कहा जाएगा। सो मीन का सूर्य उच्चाभिलाषी है अर्थात् वह अपने उच्चतम स्थान मेष राशि पर आरूढ़ होने का उम्मीदवार होगया है इसलिये मीन के सूर्य में ब्राह्मण कुमार का उपनयन भी उसको ज्ञान के उच्च पद पर आरूढ़ करने का द्योतक है। परन्तु क्षत्रिय और वैश्य का परम ज्ञानी बन जाना उन्नति सूचक नहीं, किन्तु क्षत्रिय का वीर बनना और वैश्य का व्यवसायी बनना ही उसके वर्ण धर्म की दृष्टि से परम उन्नतिका आदर्श है। क्योंकि क्षत्रिय और वैश्य तो ज्ञानी बन

जाने पर अर्जुन और समाधि वैश्य की भाँति युद्ध व्यवहार से उप-रत होकर 'भैक्ष्यमपीह लोके' कहने पर उतारू हो जाएंगे। जिसे उनकी उन्नति नहीं पतन ही समझा जाएगा, अतः मीन राशिस्थ सूर्य का केवल ब्राह्मण कुमार पर ही अनुकूल प्रभाव पड़ेगा अन्य वर्णों के बालक पर नहीं। इसलिये मीनस्थ सूर्य में केवल ब्राह्मण कुमार का ही उपनयन विज्ञान संगत है अन्य का नहीं। एतावता धनस्थ सूर्य, गुरु भवनस्थ होता हुआ भी उच्चाभिलाषी न होने के कारण ग्राह्य नहीं हुआ, 'क्यों' का यह छोटा सा पुछल्ला भी इससे समाहित हो जायगा।

आर्यसमाज में विचित्र विवाह मुहूर्त

आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने प्राय. सब सस्कारों में बिना सींग पूंछ हिलाए गृह्य सूत्रों में लिखे तत्तत् मुहूर्तों को ही स्वीकार किया है, परतु विवाह मुहूर्त जहां—'उदगयन आपूर्यमाण पक्षे पुण्यनक्षत्रे'—यह प्रमाण देकर उत्तरायण शुक्ल पक्ष और पुण्य नक्षत्र में माना है वहां अनुपदं ही 'संस्कार विधि' पृष्ठ १२६ में—'जब कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो जाए, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उसमें विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये'—यह भी लिखा है। स्वामीजी की इस दूसरी आज्ञा के अनुसार आर्य समाज में विवाह का शुभ मुहूर्त (रजस्वला होकर चौथे दिन ऋतुस्नाता कन्या के विचार से) ऋतुकाल की पांचवी रात निश्चित ही प्रशस्त है, परन्तु यहां कोई भी विद्वान् यह भली प्रकार समझ सकता है कि यह मुहूर्त साधना कन्या के माता पिता या संस्कार कराने वाले

आर्योपदेशक एवं स्वयं कन्या के भी अपने हाथ की बात नहीं। प्रकृति के ही नियन्त्रण से ऋतुस्राव होता है, वह ठीक किस दिन होता है यह पहिले से निश्चित नहीं किया जा सकता। कई वार खान पान और गर्मी सर्दी के तारतम्य से दो दिन आगे दो दिन पीछे भी हो सकता है और होता है—यह प्रत्येक गृहस्थ अपने २ घर में स्वयं अनुभव कर सकता है। ऐसी स्थिति मे आर्य समाजी पिता पहिले से ही अपनी कन्या के विवाह का दिन निश्चय करने में सर्वथा असमर्थ है। सब जानते हैं कि विवाह संस्कार का दिन महीनों पहिले निश्चित करना अनिवार्य है, क्योंकि प्राय दूर देशस्थ वरपक्ष वालों को सूचना देना, एतदर्थ सगे सम्बन्धियों को निमन्त्रण पहुंचाना, यह सब व्यवस्था लम्बे समय की अपेक्षा रखती है। और जब तक विवाह की कोई निश्चित तिथि ही न हो, तो निमन्त्रण क्या दिया जाएगा। इसलिये आर्य समाज के सामने चौथे दिन का मुहूर्त साधना सर्वथा असाध्य है, क्योंकि वह चौथा दिन आगे पीछे कभी आ सकता है।

व्यावहारिक रूप में जब समाजी विवाह साधने बैठे तो उसे सर्व प्रथम घरवाली या स्वय कन्या से ही यह पूछना होगा कि अनुमानतः वह चौथा दिन कब पड़ेगा। कन्या भी ऋतुधर्म का दिन ही जानती है भावीके लिये वह बेचारी क्या गारन्टी दे सकती है। कल्पना करो, अगत्या पिछले अनुभव के आधार पर भावी दिन भी अमुक फर्ज किया और तदनुसार सब को निमन्त्रण दिया गया। अब यदि खान पान के वैषम्य में तीन दिन पूर्व ही ऋतु आगये तो बारात आने से पहिले ही मुहूर्त टल जाएगा अर्थात् ऋतु स्नान की चौथी रात्रि तीन दिन पूर्व ही हो चुकेगी। क्या ऐसी दशा में बारात को कहा जायगा कि महाशयो! बैरङ्ग लौट जाइये! इस वार तो

'चांस' टल चुका है आगे कृपा कीजिये। उस समय वर और उसके निजी अभिभावकों को तो जाने दीजिये, परन्तु केवल मिठाई उड़ाने के लिये दफ्तर से 'विदाउट पे' छुट्टी लेनेवाले बाराती महाशयों पर क्या बीतेगी ? इसका अनुमान स्वामी दयानन्द ने भी न किया होगा। अब इसके दूसरे पहलू पर विचार कीजिये ! कल्पना करो पूर्व ऋतु के आधार पर निर्धारित चौथा दिन, दो चार दिन आगे बढ़ जाए, तब बारातको पूरे एक सप्ताह तक रोकना अनिवार्य होगा। इस राशनिग के महर्घतापूर्ण समय में दर्जनों आदमियों को भोजन खिलाने में कन्या के पिता का साल भर का वेतन चट हो जाएगा। यहां यह समाधान कुछ अर्थ नहीं रखता कि नगर का नगर में ही वर निश्चय कर लिया जाए, जिस दिन कन्या रजस्वला हो जाए उसी दिन तत्काल वर पक्ष को सूचना दे दी जावे। इस तरह बारात वापिस जाने या अधिक दिन ठहरने का कोई खतरा नहीं होगा। परन्तु समाधाता महाशय को यह मालूम नहीं कि स्वामी दयानन्दजी के मतानुसार तो भारतीय कन्या का काबुल, कन्धार, अमेरिका आदि दूर देशों में ही विवाह करना प्रशस्त है, वे एक ही नगरस्थ वर कन्या के विवाह के समर्थक नहीं हमने बड़े शान्त चित्त से और बिना किसी पक्षपात के स्वामीजी के इस चौथे दिन वाले मुहूर्त की इति कर्तव्यता पर खूब विचार किया कि बेचारे महाशयों के लिये कोई रास्ता निकल ही आए, परन्तु हम सोचते २ थक गए इस अनोखी पहेली का कुछ भी हल न मिल सका अन्त में—यही निश्चय करना पड़ा कि स्वामीजी का न विवाह हुआ और नांही वे संन्यासी होने के कारण कभी बारात गए। ऐसे शास्त्र और लोक-व्यवहारानभिज्ञ व्यक्ति की व्यवस्था विवाह प्रसंग में मानना निरे ठल्ले का ही काम है।

यात्रा विज्ञान

वेदादि शास्त्रों में यात्रा कालीन मुहूर्त साधने का उल्लेख विद्य-मान है, प्रत्येक मनुष्यको यात्रा करनी पड़ती है, इसलिये इस प्रसङ्ग मे भी सर्व साधारण को उचित परामर्श देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

वेद कहता है कि--

(क) यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे...ममैतानि शिवानि सन्तु।

(ख) स्वस्ति तं मे सुप्रातः सुसायं सुदिव सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु। सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्तं गत्वा पुनरायाभिनन्दन्।

(ग) अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम्। सर्वै मे रिक्तकुम्भान् परातान् परितसुव। (अथर्व० १६। ८। १-३)

(घ) उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षा शन्नोदिविचरा ग्रहाः।

(ङ) नक्षत्रमुल्काभिहितं शमस्तु। (अथर्व० १६। ६। ७-६)

(च) शं नोभगः...अर्यमा...धाता...अग्निः...इन्द्रः रुद्रः सोम...शन्नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। आदितिः विष्णुः...पूषा...वायुः...सविता शन्नः पर्जन्यः।

(अथर्व० १६। १०। २-१०)

(छ) इन्द्रः प्राच्या दिशः पातुः, धात दक्षिणायाः, अदितिः प्रतीच्याः सोमारुदीच्याः दिशः पातु।

(अथर्व० १८। ३। २५-२८)

(ज) ये ते पन्थानो बहवोजनायना, रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैस्सञ्चरन्ति उभये भद्रपापास्तं पन्थानं जये तानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड।

(अथर्व० १२। १। ४७)

अर्थात्—[क] अन्तरिक्ष और द्युः स्थान में जो नक्षत्र विद्यमान हैं वे सब मेरे लिये शुभ हों। [ख] प्रातःकाल, सायं, दिन शुभ हो। सुन्दर मृगमाला नीलकण्ठ आदि पक्षी शकुन प्रद हों। हे अग्निदेव जाकर यात्रा से प्रसन्नता पूर्वक पुनः लौट आऊं। [ग] पीछे से चारों ओर से रोक टोक का वचन, निन्दा क्लेश, छींक (सामने आते हुए) खाली घड़े यात्रा के समय दूर हों। [घ] पृथ्वी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी (भूकम्प, अन्धड़, दुर्दिन, विद्युत्पात आदि) उत्पात दूर हों। आकाशस्थ ग्रह मण्डल अनुकूल हो। [ङ] तारे टूटना, उल्कापात शान्त हों। [च] (पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र का अधिष्ठाता) भग देवता, (उत्तरा फाल्गुनी का पति) अर्यमा, (रोहिणी का) धाता, (कृतिका का) अग्नि, (ज्येष्ठा का) इन्द्र; (आर्द्रा) का रुद्र, (मृगशीर्ष का) सोम, (पुनर्वसु का) अदिति, (श्रवण) का विष्णु, (रेवती का) पूषा, (स्वाति का) वायु, (हस्त का) सविता, (शतभिषज् का) वरुण=पर्जन्य, ये सब नक्षत्र देवता चारों दिशाओं में मेरे लिये शुभप्रद हों। (उक्त नक्षत्रों के स्वामियों का यह उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य समाज प्रवर्तक द्वारा

रचित 'संस्कार विधि' के नामकरण संस्कार से लिया गया है) (छ) इन्द्र पूर्व दिशा में, धाता दक्षिण में, अदिति पश्चिम में, और सोम उत्तर दिशामें रक्षा करे। (ज) जो बहुतसे मनुष्यों द्वारा चलने योग्य मार्ग हैं, और जो रथ गाड़ी आदि के चलने योग्य रास्ते हैं, जिन मार्गों से भले बुरे सभी तरह के लोग यात्रा करते हैं हम, वे सब रास्ते शत्रु और चोर डाकुओं से रहित एव कल्याणकारी हों--यह चाहते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों में किस प्रकार सुस्पष्ट रीति से यात्रा के समय ग्रह नक्षत्र, तिथि और तत्तत् दिशाओं के स्वामियों का उल्लेख करते हुए महूर्त चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में लिखी मुहूर्त व्यवस्था का समर्थन किया है यह कोई भी हृदय रखने वाला व्यक्ति सम्यक् समझ सकता है। प्रसङ्गोपान्त मृगमाला, शकुनादि का, तथा 'टोक' छींक, खाली घड़ा मिलने का भी सुस्पष्ट उल्लेख होने से इन सब शकुनों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

वैज्ञानिक विवेचन

हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि 'अण्ड-पिण्ड-वाद' सिद्धान्त केअनुसार तत्तत् ग्रह नक्षत्र पिण्डों का मानव पिण्ड पर किस प्रकार प्रभाव पडता है और यात्रा के समय भी उन सब की अनुकूलता सापेक्ष्य है। अपनी २ कक्षा में जिस प्रकार ग्रहों की अवस्थिति है, इसी प्रकार शनि कक्षा से ऊपर नक्षत्र कक्षा का स्थान है। ग्रहों की भांति नक्षत्रों में भी अनेक वैचित्र्य विद्यमान हैं, जिन्हें 'देश वैचित्र्यवाद और वस्तु वैचित्र्यवाद' के अनुसार भली भांति मनन किया जा सकता है, जो नक्षत्र जैसा विशेष गुण रखता है और मानव पिण्ड पर उसका जैसा प्रभाव पड़ता है तदनुसार ही उस २

नक्षत्र के देवता के नाम की कल्पना की गई है। यह कल्पना कोरी कल्पना नहीं बल्कि 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार जिस देवता का जैसा नाम है वह वैसा ही फलदायक है। जैसे कृतिका नक्षत्रका अधिष्ठाता अग्नि है तो, उक्त नक्षत्र की कक्षा आग्नेय परमाणुओं से व्याप्त रहती है। भरणी नक्षत्र का देवता यम=मृत्यु है तो आकाश का यह प्रदेश संहारक गैस से उपलुप्त रहता है। इसी प्रकार शत भिषज् का देवता वरुण=पर्जन्य है, तो उक्त नक्षत्र के चारों ओर जलीय परमाणुओं के सघन पटल सदैव परिव्याप्त रहते हैं। हम 'अण्ड पिण्ड वाद' में सिद्ध कर आए हैं कि मानव पिण्ड का सब कुछ उक्त ब्रह्माण्डवर्ती तत्तत् पिण्डों की ही देन है, हमारी अमुक शक्ति का मूल स्रोत उक्त ग्रह नक्षत्रात्मक पिण्ड ही है। जैसे 'पावर' हाउस' की खराबी से समस्त नगर में अन्धेरा छा सकता है और 'वाटर वर्क्स' की खराबी से शहर भर प्यासा मर सकता है ठीक इसी प्रकार उक्त पिण्डों की अनुकूलता किंवा प्रतिकूलता से मानव पिण्ड परिपुष्ट और उपद्रुत हो सकता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में सामने का सूर्य यात्री को चकाचौंध करता है, शिरदर्द आदि अनेक व्याधियों का कारण बन सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य अमुक ग्रह और नक्षत्र भी अपने से सम्बद्ध तत्त्व पर बुरा या भला प्रभाव अवश्य डालता है। हम उसे सूक्ष्म होने के कारण चाहे सहसा अनुभव न कर पाते हों, परन्तु कोई भी सिद्धान्तवादी हमारी इस स्थापन=मान्यता से इन्कार नहीं कर सकता। अन्तर केवल इतना है कि सूर्य शारीरिक दृष्टि से दायें नेत्र पर प्रभाव डालेगा तो चांद बायें पर डालेगा, वह आत्मा को प्रभावित करेगा तो चांद मन को उद्वेलित करेगा। मंगल रक्त संचार='ब्लैड प्रसर' को उत्तेजित

करेगा, बुध बोलती बन्द कर देगा—कई वार प्रत्यक्ष देखने में आता है कि बड़ प्रगल्भ वक्ता अमुक समय मूक हो जाते हैं, समय पर उचित बात भी कहना भूल जाते हैं। अपनी इस अतर्कित मूकता के कारण वे कई प्रकार की हानि भी उठा लेते हैं, समय निकल जाने पर जब दूसरे लोग कहते हैं कि आज तुम चुप क्यों हो गए ? तब वक्ता स्वय भी अपनी इस भूल पर बहुत पश्चात्ताप करता है, परन्तु—'समय चूकि पुनि का पछिताने'। कहना न होगा उसकी इस प्रवृत्ति में 'दैव' ही हेतु है। वैज्ञानिकों की दृष्टि मे कोई भी कार्य निर्हेतुक नहीं होता हमारे महर्षि भी 'सति मूले तद् विपाकः' सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। समस्त अज्ञात कारणों का ही एक समष्टि नाम 'दैव' है। आस्तिक समुदाय सक्षेप मे किसी भी अज्ञात हेतु को दैव कहकर सन्तोष करते हैं। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से जब उस अनेकता का विश्लेषण किया जाता है तो वह एक ही 'दैव' अनेक नामों से सामने आता है। इसी व्यष्टि के अनेक नाम ग्रह, नक्षत्र, पञ्च महाभूत आदि कहे जा सकते हैं।

अहिन्दुओं पर प्रभाव क्यों नहीं ?

यहां एक आशङ्का यह भी की जा सकती है कि अहिन्दू लोग यात्रा मुहूर्त के बखेड़े में नहीं पड़ते, उन पर कुछ भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ता हम ऐसी आशङ्का करने वालों से पूछना चाहते हैं कि हमने 'अण्ड पिण्ड' व्यवस्था के अनुसार जिस सिद्धान्त की स्थापना की है तुम पहिले उसका खण्डन करो, और यह सिद्ध करो कि सूर्यादिका मानव पिण्ड पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, तब हम तुम्हारी क्यों का उत्तर देने के लिये बाध्य हैं। यह बात कोई भी भौतिक विज्ञान वेत्ता सात जन्म में सिद्ध नहीं कर सकता। फिर

जब विवश हो कर यह स्वीकार कर लिया जाता है, कि मानव पिण्ड पर ब्रह्माण्ड की तत्तद् वस्तुओं का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है तब अहिन्दू उस प्रभाव से कैसे बरी माने जा सकते हैं। अतः हम उच्चैस्तराम कहेंगे कि प्रभाव तो यवन म्लेछ नास्तिक और आस्तिक सभी पर समान रूप से पड़ता है, परन्तु मुसलमान उसे 'खुदा की मर्जी' कह कर, ईसाई 'आरडर आफ गाड' कह कर और नास्तिक इत्तिफाकिया = बाई चांस 'ऐक्सीडैण्ट' बता कर, सन्तोष कर लेते हैं। इन में नास्तिकों का उत्तर एक दम-'अवैधानिक, अनेचरल और मूर्खता पूर्ण है। अर्थात् उन्होंने विना कारण ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हुवे अपनी बुद्धिका स्वयं दिवाला पीट डाला है। ईसाई मुसलमान आदि ईश्वरवादी लोगों ने खुदा का नाम लेकर कुछ कारण तो बताने की चेष्टा की है, परन्तु वे यह जानने में असमर्थ हैं कि आखिर-'खुदा की मर्जी' भी विना कारण ही किसी पर गजब कैसे डहा सकती है। यदि इतना अन्धेर हो तो फिर खुदा की न्यायशीलता में अन्तर पड़ता है।

ऐसी स्थिति में भारतीय ऋषियों की ईश्वरवादिता इस प्रकार की अन्याय मूलक नहीं, किन्तु वे तो यह मानते हैं कि ईश्वर 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं' प्रभु होते हुवे भी 'कर्म फल दाता' है। मुसलमान ईसाई आदि पुनर्जन्म में विश्वास न रखने वाले मतवादियों से जब भी हमारा 'पुनर्जन्म = जिसे वे 'मसला तनासुक' कहते हैं शास्त्रार्थ = मनाजरा हुवा, तो हमारे यह प्रश्न करने पर कि अमुक बालक जन्म से ही अन्धा पैदा हुवा देखा गया, सनातन धर्म की रीति से तो उस की यह अन्धता पूर्वजन्म-कृत पाप का परिणाम है, परन्तु पुनर्जन्म न मानने वालों के यहां केवल खुदा की गल्ती या गैर इन्साफी के सिवा इसे और क्या कहा जा सकता

है, बस । यह सुनते ही बडे २ मौलाना और पादरी बगले झांकने लग जाते हैं। हमारे भारतीय वैदिक विज्ञान में ईश्वर की इच्छा भी हमारे कर्म के अनुसार ही होनी है। वह 'इत्तिफाकिया' और 'बाई चांस' नही होती। जैसे नास्तिकों ने पहिले ही उत्तर में दिवालियापन प्रकट कर दिया तो इन खुदा-परस्त मोमिनों ने भी जिरह करने पर दूसरे ही प्रश्न का उत्तर देते हुवे 'मूल कारण' अन्वेषण की अपनी अक्षमता स्वीकार करली। हम पुनः डंके की चोट उद्घोषित कर देना चाहते हैं कि यात्रा का मुहूर्त न साधने पर अमुक बुराई के शिकार तो सभी होते है, परन्तु अपनी अज्ञता वश उस बुराई को अकारण समझ लेना या असली मूलकारण को छोड़ कर एक मात्र बेचारे ईश्वर पर सब भार लाद देना यह बात दूसरी है। हम सिद्धान्त रूप से मानने के लिये सब मतवालों को वाध्य कर सकते है। अस्तु। हम कतिपय यात्रा कालीन प्रसिद्ध बातों पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं।

दिक् शूल क्यों ?

शनौ चन्द्रे त्यजेत्पूर्वां, दक्षिणां च दिशं गुरौ।
सूर्ये शुक्रे पश्चिमाञ्च, बुधे भौमे तथोत्तराम् ॥

अर्थात्--शनि सोम को पूर्व में, गुरु दक्षिण में, सूर्य शुक्र को पश्चिम में, और बुध मङ्गल को उत्तर दिशा में जाना निषिद्ध है। इन वारों को उक्त दिशा में दिक् शूल होती है।

वार क्रम विज्ञान

वार क्या हैं ? वे सात ही क्यों हैं ? और इन का यही क्रम क्यों है ?—इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि

हमारे ब्रह्माण्ड का प्रधान अवलम्ब सूर्य्य भगवान् हैं इसी भांति अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के भिन्न सूर्य हैं जिन पर तत्तत् ब्रह्माण्डों की अवस्थिति होती है। जैसे शासन तन्त्र को चलाने के लिये प्रधान शासक के साथ अनेक सहयोगियों का मन्त्रीमण्डल भी रहता है, इसी प्रकार सूर्य के साथ चन्द्र आदि छः ग्रह भी हमारे ब्रह्माण्ड के अन्यतम संरक्षक हैं। इन्हीं सात प्रधान ग्रहों के नाम पर सात वार नियत किये गये हैं। यह हम पूर्व कह चुके हैं कि राहु केतु छायाग्रह होने के कारण इस गणना में नहीं आते। नक्षत्रों के नाम पर सत्ताईस नक्षत्र नियत हैं। इनका यह क्रम क्यों है ? अर्थात् सूर्य के बाद चन्द्र और चन्द्र के बाद मङ्गल क्यों है ? यह भी एक रहस्यपूर्ण विज्ञान है। मौलाना से यदि पूछा जाए कि पहिले इतवार क्यों ? फिर पांचवां जुम्मेरात क्यों ? और फिर तुम्हारा सर्व प्रधान वार जुम्मा—विचारा छठे नम्बर पर अपमानित क्यों ? बस ! वे मिमयाते नौ दो ग्यारह हो जाएंगे।

इसी तरह पादरी साहिब भी 'सन्डे' के बाद 'मण्डे' और मण्डे के बाद 'ट्यूजडे' के क्रम पर कुछ नहीं कह सकेंगे। शङ्काऽऽतङ्क-पङ्काब्धि-मयङ्क, दयानन्दी और 'माई ओपीनियन' के प्रबल पुजारी नास्तिक भी इस सम्बन्ध में 'मौनावलम्बन' के सिवा कुछ न कह सकेंगे।

परन्तु भारतीय ऋषियों ने वार क्रम के सम्बन्ध में लिखा है कि—

(क) मन्दामरेज्यभूपुत्रः सूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः।
परिभ्रामन्त्यधोऽधस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः॥
(सूर्य सिद्धान्त १२-३१)

(ख) मन्दादधः क्रमेणस्युश्चतुर्थादिवसाधिपाः ।
वर्षाधिपतयस्तावत् तृतीयाश्च प्रकीर्तिताः ॥
ऊर्ध्वक्रमेण शशिनो मासानामधिपाः स्मृताः ।
होरेशाः सूर्यतनयाद् अधोऽधः क्रमशस्तथा ॥

(सूर्य सिद्धान्त १२ । ७८ । ७६)

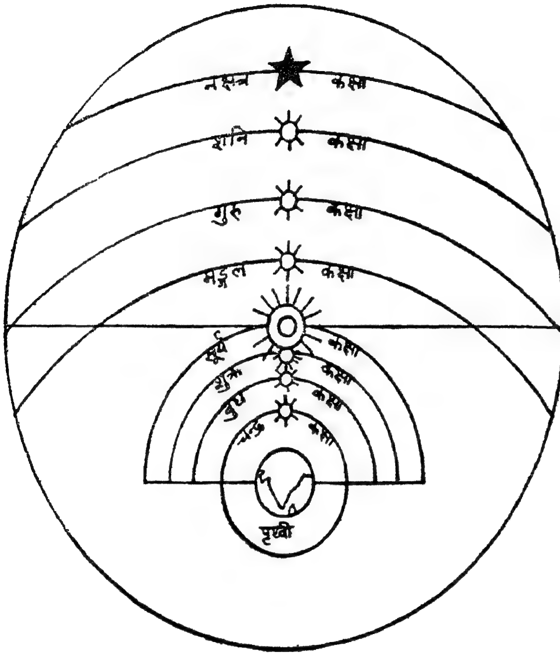
अर्थात्—(क) शनि, बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्र इस क्रम से एक दूसरेके नीचे २ ये सब ग्रह पृथ्वी से दूर अवस्थित हैं। अर्थात चाद पृथ्वी से सबसे निकट है और शनि सबसे दूर है। चन्द्र और पृथ्वी के बीच क्रमश मेघ, विद्याधर और सिद्ध विचरते हैं। (ख) शनि से नीचे २ क्रमशः प्रत्येक चौथा ग्रह दिन का अधिपति होता है, (अर्थात्—शनि कक्षा से नीचे चौथी कक्षा में सूर्य है, सो शनि के बाद सूर्यवार होगा और सूर्य से चौथी कक्षा में चन्द्रमा अवस्थित है, तीसरा वार चन्द्र होगा। पुनः चन्द्र से चौथी कक्षा में भौम आता है, यही चौथा वार होगा, भौम से चौथा बुध आता है, अत क्रम प्राप्त यही पांचवां वार होगा, और बुध से चौथा पुनः बृहस्पति और उससे चौथा शुक्र, बस। सातों वारों का क्रम आगया।) इसी क्रम से नीचे २ तीसरा ग्रह वर्ष का अधिपति होगा, और चन्द्र के ऊर्ध्व क्रम से अर्थात् ऊंचे २ क्रम से महीनों के अधिपति होंगे, और शनि से नीचे २ क्रम से 'होरा' के अधिपति होंगे।

प्रस्तुत चित्र से यह तत्त्व भली भांति समझ में आजाएगा—

चौथा ग्रह ही वाराधिपति क्यों?

जिस वार में सूर्योदय होता है उस समय 'होरा' भी उसी ग्रह

क्यों?—



शनि, बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध, और चन्द्र, इस क्रम से ग्रहकक्षा है। [पृष्ठ—६५२]

की रहती है। एक अहोरात्र मे बारह लग्न होते हैं और आधे लग्न को खगौलिक परिभाषा में 'होरा' कहते हैं। इस तरह अहोरात्र में चौबीस 'होरा' होती हैं। नवीन गणना के अनुसार होरा को ही घण्टा भी कह सकते हैं। एक घण्टा पूरी अढ़ाई घड़ी का कल्पना किया गया है परन्तु हमारे गणित मे तो बाल की भी खाल उतारने की परिपाटी है, क्योंकि हम गणित जैसे विषय में भी 'फरज' करनेकी प्रवृत्तिको कोरी मूर्खता समझते हैं। अत: 'होरा' पूरी अढ़ाई घढ़ी की न होकर वह लग्न के परिमाण के अनुसार न्यून किवा अधिक भी होती है। सो जिस वार में सूर्योदय हुआ हो उस समय तो उस ही ग्रह की होरा होगी। आगे फिर ऊपर से नीचे ग्रह कक्षा के अनुसार होराए होंगी। इस तरह सात ग्रहों के तीन चक्र होजाने पर २१ होराए समाप्त हो जाएगी। चौथे चक्र में तीन ग्रहों की होरा बीतते २ चौबीस घंटे का अहोरात्र समाप्त हो जाएगा। अत: पुन: नये अहोरात्र के सूर्योदय के समय क्रम प्राप्त चौथे ग्रह की होरा का अवसर है अतः वही वाराधिपति बनेगा, इसीलिये यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि ऊपर से नीचे क्रम से चौथा ग्रह आगामी दिन का वार माना जाएगा। यही सूर्य, चन्द्र, भौम, आदि वारों के क्रम का वैज्ञानिक हेतु है।

वर्ष और मासाधिपति की विवेचना का दिक्शूल से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः हम यहां अनावश्यक और अप्रासङ्गिक विस्तार से पराङ्मुख होते हुवे पुन: प्रकृत विषय पर आते हैं। हां। तो वार क्रम जान लेने पर यह भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ये प्रधान चार दिशाएं हैं। पूर्व की अग्नेय, दक्षिण की नैऋत्य, पश्चिम की

वायव्य और उत्तर की ऐशान्य, ये चार विदिशाएं हैं। सब मिलकर साधारणतया आठ दिशाएं कही जाती हैं। अपनी २ कक्षा की विशेषता के कारण उक्त आठों दिशाओं के अधिपति माने गये हैं, जैसे पूर्व का अधिपति सूर्य, आग्नेय का शुक्र, दक्षिण का मंगल, नैऋत्य का राहु, (जो छायाग्रह होने के कारण स्थान और अपनी उच्चता के सम्बन्ध से बुध का प्रतिनिधि है) पश्चिम का शनि, वायव्य का चन्द्रमा, उत्तर का बुध और ऐशान्य का वृहस्पति।

अब दिक्शूल का यह रहस्य है कि अमुक दिशा को जाते हुए जो वार पड़े, यदि वही वार पीठ की दिशा किंवा विदिशा का स्वामी हो तो उस वार को उस दिशामें दिक्शूल समझना चाहिये। अर्थात् दिशा किंवा विदिशा के अधिपति को पीठ देकर यात्रा करना वैसा ही है जैसा कि किसी प्रार्थी का राजा के सामने, किंवा भक्त का प्रतिमा के सामने पीठ देकर खड़े होना। निःसन्देह यह चेष्टा एक प्रकार का अपमान ही है। अब जरा उदाहरण पूर्वक समझिये— यदि हम शनिवार को पूर्व दिशा को जाएं तो शनि महाराज की अधिष्ठित पश्चिम दिशा हमारी पीठ में पड़ेगी, इसलिये शनिवार को पूर्व में दिक्शूल हुआ। इसी प्रकार गुरुवार को दक्षिण को प्रस्थान करे तो गुरुकी दिशा ऐशान्य हमारी पीठ में रहेगी। रविवार को पश्चिम में जाते हुए सूर्याधिष्ठित दिशा पूर्व, हमारी पीठ मे होगी और भौमवार को उत्तर में जाने पर भौम की अधिष्ठित दक्षिण दिशा हमारी पीठ में रहेगी। इसी प्रकार आग्नेयी के स्वामी शुक्र को पश्चिम मे जाना, नैऋत्य के स्वामी राहु=तत्प्रतिनिधि बुध को उत्तर मे जाना, वायव्य के स्वामी चन्द्र को पूर्व में जाना और ऐशान्य के स्वामी गुरु को दक्षिण में जाना वर्जित है। राहु के

प्रतिनिधि भूत बुध के कारण जहां इस दिन उत्तर मे जाना वर्जित है, वहां उत्तर का स्वामी होने के कारण इस दिन दक्षिण को भी जाना निषिद्ध है। इस तरह यह दोनों ओर जाने मे त्याज्य होने के कारण (सर्वत्र निन्द्यो बुधवारदोपः) इस प्रवाद का पात्र बना है। कहना न होगा दिक्शूल की भांति यात्रा कालीन विधि निषेध भी जहा प्रमाण मूलक है वहा किसी न किसी वैज्ञानिक हेतु से भी परिपूर्ण है। 'ग्रन्थ विस्तार भयात्' हम इस प्रसङ्ग मे अधिक बातों पर प्रकाश डालने मे असमर्थ हैं। अत पाठक, अण्ड पिण्ड,—देश वैचित्र्य और वस्तु वैचित्र्य आदि वादों के अनुसार स्वय तत्तत् विषयों के विज्ञान की कल्पना करके श्रीमती 'क्यों' का विसर्जन करे।

क्या मरना भी मुहूर्त में ही ?

मुहूर्त विज्ञान के उपक्रम में हमने यह भी चर्चा की थी, कि न केवल विवाहादि शुभ कृत्यों के लिये ही हम मुहूर्त साधते हैं अपितु हमारे पूर्व पुरुष तो आज की भाति बिना मुहूर्त मरने तक के लिये भी प्रस्तुत नहीं थे। अर्थात् मरने का भी मुहूर्त साध कर तभी मरते थे और यदि कदाचित् मुहूर्त नही बनता था तो वे मरना भी स्थगित कर देते थे। आर्य जाति के गौरवपूर्ण इतिहास महाभारत में वर्णन आता है कि महाभारत संग्राम के समय जब नौ दिन में ही भीष्म पितामह द्वारा कौरव सेना का संचालन करते हुवे पाण्डवों की आधी से अधिक सेना वीर गति को प्राप्त हो चुकी तो पाण्डवों ने मिलकर मन्त्रणा की कि जब तक भीष्म नहीं मरते तब तक पाण्डवों की विजय असम्भव है। श्री कृष्ण भगवान् ने प्रस्ताव किया कि भीष्म के मरने का उपाय महाराजा युधिष्ठिर व भीष्म पितामह से

ही पूछें। सदा की भांति रात में जब युधिष्ठर भीष्म जी के चरण चापने गए तो—सकोचवश पूछ न सके। भीष्मजी ने स्वयं उनको उन्मना सा देखकर कारण पूछा और आखीर युधिष्ठिर जी ने कडा हृदय करके कह ही डाला कि पितामह आपके जीते हमारी विजय असम्भव है सो यदि आप धर्म की जीत चाहते हैं तो शीघ्राति-शीघ्र निर्वाण प्राप्त कीजिये। भीष्म जी बहुत हंसे और बोले कि अच्छा पुत्र, ज्योतिषियों को बुलाकर मुहूर्त दिखाइये, मुझे मरने में कुछ आपत्ति नहीं। अन्यतम पाण्डव सहदेव महा ज्योतिविद् थे, तत्काल मुहूर्त साधने बैठे, परन्तु दक्षिणायन के कारण मुहूर्त अभी महीनों नहीं बनता था। सहदेव जी ने सत्य बात प्रकट की तो युधिष्ठिर निराश होकर युद्ध से उपरत होने की बात सोचने लगे। अन्त में नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्म जी ने कहा कि पुत्र! यद्यपि तुम्हारी जल्दी में मैं बिना मुहूर्त प्राण त्यागने क लिये तय्यार नहीं, तथापि जिससे तुम्हारा काम बन जाए ऐसा उपाय बता देता हूं। कल रणस्थल में मेरे सामने 'शिखण्डी' को खड़ा कर देना, मैं उसे भूतपूर्व स्त्री समझकर पीठ मोड़ लूंगा, तब तुम यथा तथा मुझे गिरा देना, इस तरह तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाएगा और मैं मुहूर्त की प्रतीक्षा करूंगा। अगले दिन ऐसा ही किया गया, यह कथा सभी जानते हैं कि उत्तरायण काल की प्रतीक्षा में भीष्म जी शर-शय्या पर बहुत समय तक पड़े रहे, और अनेक धर्मोपदेश देते रहे। जब गीताप्रोक्त प्राण त्याग का सुमुहूर्त आया तभी प्राण छोड़े।

इसी प्रकार आर्य जाति में अनेक महापुरुष 'स्वच्छन्द मृत्यु' हुए हैं। मरने के मुहूर्त के सम्वन्ध में श्रीमद्भगवद् गीता में सुस्पष्ट लिखा है कि—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
(ख) धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति योगी प्राप्य निवर्तते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ६ । २४-२५)

अर्थात्—(क) अग्नि, ज्योतिः दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छ' मास—इस मुहूर्त में जो ब्रह्मवेत्ता परलोक को प्रयाण करते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (ख) धूम रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छ. मास--इस मुहूर्त में जो योगी शरीर छोड़ते हैं वे चन्द्रलोक तक जाकर पुनः मृत्युलोक में जन्म लेते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों मे उत्तरायण शुक्लपक्ष और दिन को मृत्यु के लिये उपयुक्त समय बतलाया है, दक्षिणायन, कृष्णपक्ष और रात को अनुपयुक्त बतलाया है। पहिले मुहूर्त में शरीर त्याग से मोक्ष और दूसरे में मरण से 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का वही जटिल जाल। यद्यपि कुछ भाष्यकारों ने उक्त श्लोकों की व्याख्या में अर्थान्तर करने का भी प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसे सुस्पष्ट शब्दों की विद्यमानता में तथा श्री भीष्मजी द्वारा उत्तरायण की प्रतीक्षा में शरशय्या पर पड़े रहने की प्रत्यक्ष गाथा की उपलब्धि में अर्थान्तर कल्पना केवल बुद्धि की अजीर्णता का ही परिपाक कहा जा सकता है।

वैज्ञानिक विवेचन

उत्तरायण शुक्लपक्ष और दिन मे मरने से मोक्ष क्यों मिलता

है, इसका कारण 'अण्डपिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार भली प्रकार मनन किया जा सकता है। मृत्यु के समय यदि प्राण शक्ति का प्राबल्य हो तो वह जीवन उन्मुक्त हो जाता है, क्योंकि प्राण शक्ति का सम्बन्ध सूर्य पिण्ड से है। अतः उत्तरायणादि के समय सूर्य के आकर्षण से जीव ब्रह्माण्ड पिण्ड से पार निकल जाता है। सूर्य के आकर्षण के सामने अन्य किसी ग्रह नक्षत्र का आकर्षण उसे पुनः पृथ्वी की ओर खींचने में समर्थ नहीं है, यही मुक्ति है। इसी प्रकार दक्षिणायन कृष्णपक्ष और रात के समय मनोमय चान्द्र शक्ति का प्राबल्य रहता है, अतः उस समय मरनेवाला प्राणी ब्रह्माण्ड परिधि से पार नहीं जाता। चन्द्र पिण्ड तक पहुंचकर पुनः पृथ्वी पर जन्म लेता है, क्योंकि चन्द्र पिण्ड भूपिण्ड के अत्यन्त निकट है।

इस प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि भला! यात्रा विवाह आदि कृत्यों में तो मुहूर्त साधना का कथित फल सानन्द पुनः घर लौटना, दम्पति में सौमनस्य रहना—आदि यथा कथञ्चित् स्वीकार भी किये जा सकते हैं, परन्तु जब मरना ही पड़ रहा है अर्थात् सब कुछ छोड़कर जीवन लीला ही परिसमाप्त हो रही हो, ऐसी स्थिति में—'अमुक समय मरना और अमुक समय नहीं मरना'--इस प्रकार की पोपलीला का क्या फल हो सकता है? और फिर मृत्यु तो कोई काम्यकर्म भी नहीं है कि जब चाहो मरो! और जब चाहो न मरो—चलते फिरते हार्ट फेल हो जाए, मिनटों में लीला समाप्त!!

कहना न होगा कि ऐसे प्रश्न करनेवाला सज्जन इस भ्रम में हैं कि शायद शरीर परित्याग के साथ मनुष्य जीवन सर्वथा और

सर्वदा परिसमाप्त हो जाता है। परन्तु उसे यह विदित नहीं कि जिसका नाम मृत्यु है वह तो केवल स्थूल शरीर मात्र के वियोग का नाम है--'वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च पुर्य्यष्टक सूक्ष्म-शरीरमाहु'' के अनुसार मर जाने के बाद भी सत्रह तत्त्वों से बना सूक्ष्म शरीर और तदवच्छिन्न जीव आमुक्ति तथैव बना रहता है। ऐसी स्थिति में जीवन काल में मुहूर्त साधने से जो लाभ हो सकते हैं, उससे कहीं अधिक लाभ उपयुक्त मृत्यु से हो सकते हैं। अथच मुहूर्त साधने पर जीवन में जो हानियें हो सकती हैं, उससे कही अधिक मृत्युकालीन असमय के कारण हो सकती हैं। भारतीय शास्त्रों के अनुसार जीवन काल का प्रमाद इतना भयावह नहीं जितना कि मृत्युकालीन हो सकता है।

वास्तव में मृत्यु एक ऐसा प्रसङ्ग है कि जिससे हमारा भावि जीवन बनना या बिगड़ना दोनों सम्भव हैं। यदि कोई पुरुष विधि-वत् मर जाता है तो वह गीता के पूर्वोक्त शब्दों मे मुक्त हो जाता है। सदा के लिये जीवन मरण के बन्धन से छूट जाता है। और यदि जीवन भर ठीक रहते हुए भी प्रारब्ध वश मृत्यु के समय चौकड़ी चूक जाए, तो मृत्युकालीन भावना के अनुसार ही उसे दानव, मानव, शूकर, कूकर बनने के लिये वाध्य होना पड़ता है। इसीलिये—'यं यं वापिस्मरन् भावम्' 'अन्तमता सो मता' 'वार २ मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कही आवत नाहीं' आदि २।

अभिवादन विज्ञान

प्राय: सभी देशों सभी जातियों और सभी वर्ग लोगों में एक दूसरे का सम्मान सत्कार अभिवादन करने की परिपाटी अभीतक प्रचलित है। मुसलमान इसे दुवा, सलाम और ताजीम के नाम से

स्मरण करते हैं, ईसाई (गुडलक) बोलते हैं अन्यान्य भाषाओं में अन्यान्य नाम हो सकते हैं। यद्यपि इस की अवश्यकरणीयता में किसी भी सभ्य व्यक्ति को विप्रतिपत्ति नहीं है, सभी इस को समान रूप से स्वीकार करते हैं, परन्तु इस की अनुष्ठान पद्धति एक दूसरे से बहुत विभिन्न देखी जाती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसके वास्तविक वैज्ञानिक स्वरूप को बिना समझे स्वभावत. लाघवतावादी मानव समाज ने अभिवादन में क्रमश इतना लाघव कर डाला है कि जिस से इसका असली उद्देश्य ही विलुप्त हो गया है। यदि हम अभिवादन प्रथा के क्रमिक ह्रास का अध्ययन करें तो यह निश्चित हो जाएगा कि अभिवादन का आज का विकृत रूप लाभप्रद न हो कर उल्टा अनेक हानियों का प्रसारक बनगया है। कहना न होगा कि समस्त सभ्यता और संस्कृतियों की प्रसव भूमि एक मात्र भारतवर्ष है, यह तथ्य सभी ऐतिहासिक मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी प्रथा का विशुद्ध रूप भारतीय शास्त्रों में ही ढूंढा जा सकता है। अन्यान्य लोगों में भले ही अभिवादन को केवल परम्परागत शिष्टाचार मात्र माना जाता हो, परन्तु भारतीय शास्त्रों में तो इसे एक आवश्यक धर्मानुष्ठान स्वीकार किया गया है। इसी लिये हमारे शास्त्रों में इसका स्वरूप, विधि और इतिकर्तव्यता का विस्तृत वर्णन विद्यमान है। यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) अग्निमीडे। (ऋग्वेद १।१।१)

ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम। (अथर्व)

नमस्ते भक्तवत्सल! (वाल्मीकीय रामायण)

(ख) उरसा शिरसा दृष्ट्या, मनसा वचसा तथा ।
पद्भ्यां कराभ्यां जानूभ्यां, प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते ॥
(आह्निक सूत्रावलि)

(ग) प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ (रणवीर भक्त रत्नाकर-पाद्मे)

(घ) ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥
(मनु० २।७१-७२)

(ङ) उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत् । (पैठीनसि कुल्लूकभट्टीये)

(च) ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥
(मनु० २।१२०-१२१)

अर्थात्—[क] मैं अग्निदेव की वन्दना करता हूं। सब से महान् ब्रह्म को नमस्कार करती हूं। [ख] (देव प्रतिमा के सामने) छाती, शिर, नेत्र, मन, वचन, हाथ, पांव और घुटने इन आठों अङ्गों द्वारा किये गये प्रणाम को साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। [ग] दण्ड की भांति भूमि में पड़कर प्रणाम करे। [घ] वेद के स्वाध्याय के आरम्भ में और अन्त में सदैव गुरु के दोनों चरण ग्रहण करने चाहियें। अपने बायें हाथ से गुरु का बांया चरण और अपने दायें हाथ से गुरु का दायां चरण स्पर्श करना चाहिये। [ङ] अपने

दोनों हाथों को उत्तान = ऊपर की ओर सीधा रखते हु दक्षिण से दक्षिण और वाम से वाम पाद का स्पर्शपूर्वक अभिवादन करना चाहिये। [च] क्योंकि सामने आते हुवे वृद्ध पुरुष को देखकर युवकोंके प्राण स्वभावतः ऊपर को उत्क्रान्त होते हैं। अतः जब युवा उठकर अभिवादन करता है तभी वे प्राण पूर्ववत् प्रतिष्ठित होते हैं। (आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्दकृत अर्थ) अभिवादन करने का जिसका स्वभाव है, और विद्या वा अवस्था मे वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है, उसकी अवस्था, विद्या, कीर्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है। इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य माता पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे।

उपर्युक्त अभिवादन और प्रत्यभिवादन व्यवस्था को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१—ईश्वर का अभिवादन—यज्ञ वेदपाठ स्तोत्र पाठ आदि साधनों से होना चाहिये, और तत्प्रतिमाओं को साष्टांग प्रणाम करना चाहिये।

२—आयु ज्ञान-यश और बल-वृद्ध गुरुजनों को पाद स्पर्श पूर्वक प्रणाम करना चाहिये, (यदि प्रणम्यजन साक्षर हैं तो स्वनाम उच्चारण आदि सब विधान करणीय है अन्यथा नहीं (वयः प्राप्त ब्रह्मचारियों के लिये वन्दनीय युवतियों का चरण स्पर्श वर्जित है)।

३—समान गुण वयस्कों को परस्पर अपने इष्ट देवता की 'जय' क्रियान्वित नाम ग्रहणपूर्वक सम्मान करना चाहिये। जैसे जय गोपाल, जय हिन्द।

४—गुरुजनों को प्रत्यभिवादन मे आशीर्वाद देना चाहिये।

अभिवादन क्यों करे ?

अब प्रश्न उपस्थित होता है आखीर अभिवादन करना ही क्यों चाहिये ? इससे क्या लाभ होता है ? क्यों व्यर्थ कवायद परेड की जाए ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिये सर्व प्रथम हमे सभी मत मतान्तरों की प्रणाम विधियों पर तुलनात्मक ढंग से विचार करना होगा, तभी हम वास्तविक तथ्य पर पहुंच पाएंगे।

ईसाई प्रथा अव्यवहार्य

सर्व प्रथम शिष्टाचार की पुतली मिस मेयो के भाई बान्धवों की ही प्रणाम विधि पर विचार करते हैं। ईसाइयों मे—प्रातःकाल परस्पर 'गुड मार्निङ्ग' मध्यान्हमें 'गुड नून' दिन ढले 'गुड ईवनिङ्ग' और रात मे 'गुड नाइट' करते हैं। इन सब वाक्यों मे प्रथम 'गुड' शब्द के माने है अच्छा =सुन्दर और शेष शब्दों के अर्थ हैं क्रमश: प्रात., मध्यान्ह, अपराह्ण और रात। यदि एक दूसरे को 'गुड मार्निङ्ग' कहता है तो, इसका सीधा अभिप्राय है कि 'प्रातःकाल मुबारिक !' दूसरा भी उसे कहता है, तुझे भी प्रातःकाल मुबारिक। इस तरह जिह्वा मात्र हिलाने से लाभ दोनों में से किसी को कुछ नहीं हुआ। कदाचित वे 'ईसा' 'गाड्' कुछ भी कहते तो खुदा का नाम मुख से निकलने के कारण मुख ही पवित्र होता। परन्तु गुड मार्निङ्ग' और 'गुड नाइट' में तो सार ही कुछ नहीं। अब जरा इसकी व्यावहारिकता पर भी विचार कीजिए। मान लीजिए कि रात में हमारे किसी मित्र के यहां किसी प्रियजन की मृत्यु हो गई, अथवा डाका पड़ गया, चोरी हो गई या मोटर ऐक्सीडैन्ट में हमारा मित्र मरणासन्न हो गया। हमें प्रात काल जब इस अनर्थकारी

काण्ड की सूचना मिली तो मानवता के नाते हम उनके कष्ट में सहानुभूति प्रकट करने पहुंचे, और जाते ही 'शिष्टाचारानुरोधात्' तपाक से बोले 'गुड मार्निङ्ग' अर्थात् आज का यह प्रभात तुम्हारे लिये मुबारिक = सुहावना है। अब सोचिये, हमारी यह उक्ति जले पर नमक छिड़कने से क्या कम होगी ? मैं सच कहता हूं कि यदि किसी दुःखित पुरुष को कोई मनुष्य ढाढस न देकर, उसके कष्ट में स्वयं भी चार आंसू न गिराकर—उल्टा उसे कहे कि इस कष्ट प्राप्ति पर तुम्हें 'बधाई', तो यदि वह दुःखित पुरुष चिढ़कर वक्ता का शिर तोड़ डाले. तो कानून उसे उचित ही समझेगा। क्योंकि कानून की दृष्टि में किसी के जजबात भड़काना, मानों उसको अमुक अपराध करने के लिये विवश करना है। इसलिये ईसाइयों की सत्कार पद्धति जहां निष्प्रयोजन व्यर्थ और अविचार विजृम्भित है, वहां व्यवहारवाद के अनुसार अव्यवहार्य भी है।

मुस्लिम प्रथा रोगों का घर

मुसलमान एक दूसरे को 'अज् सलाम्मालेकम' कहता है, तो उत्तर में दूसरा बोलता है 'वालेकम सलाम।' इनके शब्दों पर हमें इतनी आपत्ति नहीं, जितनी कि--उपर्युक्त शब्द बोलते हुए एक दूसरे के हाथ को अपने हाथ में थामकर घर्षण करने में है। इस मुसलमानी प्रथा को ईसाइयों ने तो अपनाया ही था, अब देखा देखी हिन्दुओं ने भी परस्पर हाथ मिलाना आरम्भ कर दिया है। निःसन्देह यह प्रथा एक दूसरे की संक्रामक बीमारियों के आदान प्रत्यादान मे बड़ी खतरनाक सिद्ध हुई है। कल तक हमारी चिल्लाहट की परवाह नहीं की गई थी, परन्तु अब तो पाश्चात्य देशों के अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने घण्टा घोष के साथ यह

घोषणा की है कि 'एक बार सेक हैण्ड = अर्थात्—हाथ से हाथ मिलाने में हम क्षण मात्र में दूसरे के शरीर में व्याप्त संक्रामक बीमारियों के कितने कीटाणुओं को अपने शरीर में ग्रहण कर लेते हैं और अपने कितने ऐसे कीटाणुवों को दूसरे के शरीर में पहुंचा देते हैं इसका लेखा जोखा करके ठीक संख्या, अधिक से अधिक शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र भी बताने में असमर्थ है। पाश्चात्य देशों में अब यह प्रथा घटने लगी है। समझदार लोग प्रायः रुमाल में हाथ लपेट कर मिलाने लगे हैं, परन्तु प्रश्न तो यह है कि जिह्वा से 'अज सलामालेकुम और 'वालेकुम सलाम' कहने से लाभ क्या हुआ ? इससे अच्छा तो अल्लाताला, रहीम और करीम आदि खुदा के नाम ही बोल दिये जाते तो कुछ तो फायदा होता !

आर्य समाजी गए बीते !

अभिवादन प्रथा के सम्बन्ध में सब से गए बीते आर्य समाजी हैं। कहने को तो वे अपने आपको बड़े तर्कतोमर तीसमारखां समझते हैं, परन्तु वास्तव मे वे सुस्पष्ट असत्य पर भी आमरण हठ ठानने वाले जटिल जन्तु हैं, जो सौ बार कहने सुनने और समझ लेने पर भी अपने दुराग्रह को छोड़ने के लिये प्रस्तुत नहीं होते। फिर चाहे उनकी इस प्रवृत्ति से आर्य समाज के चौथे नियम का भले ही दिवाला पिट जाए ! और स्वयं उनको भी कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़े !! हां ! स्वामी दयानन्दजी ने तो 'संस्कार विधि' में प्रमाण पुरस्सर पदे २ अभिवादन नमस्कार पांव छूना लिखा है, परन्तु एक आध स्थान में श्रीमती 'नमस्ते' भी कहीं से आ टपकी है—जो स्वामी दयानन्द जी की मृत्यु के पश्चात् उनके चतुर चेलों की चञ्चल चञ्चु का चमत्कार जान पड़ता है। हम कतिपय

उदाहरण देकर अपनी इस स्थापना को प्रमाणित करना चाहते है। यथा :—

१—यह वामदेव्य-गान होने के पश्चात नमस्कार सत्कार करे।
(सं० वि० सामान्य प्रकरण पृष्ठ ३१)

२—वधू... 'भवन्तं अभिवादयामि' ऐसा वाक्य बोलकर पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे। (स० वि० गर्भाधान पृष्ठ ४३)

३—बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड़ के कहे।
(स० वि० वेदारम्भ पृष्ठ ६४)

४—...'भवन्तं अभिवादये'—ऐसा वाक्य बोल कर आचार्य का वन्दन करे, आचार्य—'आयुष्मान विद्यावान भव सौम्य !' ऐसा आशीर्वाद दे। (स० वि० वेदारम्भ पृष्ठ ६५)

५—बड़ों को नित्य नमस्कार ...। (सं० वि० वेदारम्भ पृ० १०५)

६—आचार्य को अनेक धन्यवाद दे नमस्कार करता हूं।
(सं० वि० समावर्तन पृ० ११३)

७—'अहं भो अभिवादयामि' इस वाक्य को बोल के दोनों वधू वर वृद्धों को नमस्कार करें। (स० वि० विवाह पृ० १६६)

८—वे [संस्कार में पधारे वृद्ध जन] 'सर्वे भवन्तोऽत्रानन्दिता सदा भूयासु" इस प्रकार आशीर्वाद दे।
(सं० वि० गृहाश्रम पृ० २१२)

इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रबल प्रमाण स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा छपाया गया स्वामी दयानन्द जी का पत्र व्यवहार संग्रह है, जिसमे उनके लिखे सैकड़ों पत्र हैं। हमने सब पत्र पढ़े, परन्तु स्वामी दयानन्द जी ने अपने किसी पत्र मे भी कभी किसी व्यक्ति को 'नमस्ते' नहीं लिखा, किन्तु सब में प्रायः 'आनन्दित रहो' ऐसा ही लिखा है। अब पाठक स्वयं विचार करें कि इतने प्रबल प्रमाणों

की विद्यमानता में भी आर्यसमाजियों का 'नमस्ते' चिल्लाने का दुराग्रह कितना हठपूर्ण है। यहां यह पूछा जा सकता है कि आखिर नमस्ते में वह क्या इतना बड़ा दोष है जो सनातनधर्मी सदा से इसके प्रति बगावत करते चले आए हैं—आइये हम समझाते हैं।

'नमस्ते', 'नमः' और 'ते' इन दो शब्दोंके सम्मेलन से बना है। 'नमः' का अर्थ है नमना = झुकना = शिर नीचा करना, और 'ते' का अर्थ है 'तेरे लिये'। 'नम' अव्यय है और 'ते' युष्मत् शब्दकी चतुर्थी का एक वचन है। अब कोई बुद्धिमान स्वयं सोच सकता है कि गुरुजन यदि अपने से छोटे को 'नमस्ते' कहें तो इसमें नमः शब्द बाधक है। क्योंकि ससार की सभ्यता मे पुत्र के सामने माता पिता का, गुरु के सामने शिष्य का और पत्नी के सामने पति का शिर झुकाना = नमना न केवल शास्त्र के अपितु व्यवहारवाद के भी सर्वथा विपरीत है। अब इसके दूसरे पहलू पर विचार करें, यदि छोटा पुरुष अपने गुरुजनों को 'नमस्ते' कहने चले तो इसमें एक वचन 'ते' शब्द बाधक है, अर्थात् अपने वृद्ध जनों को तू कहना सभ्यता का दिवाला पीटना है। किसी देश या जाति की सभ्यता बड़ों को तू कहने की आज्ञा नही दे सकती। ऐसी स्थिति में 'नमस्ते' यह वाक्य न छोटे को बड़ा कह सकता है, न बडे को छोटा बोल सकता है, दोनों रीतियों से यह हेय है।

हमारी इस स्थापना को पूरी सुने बिना ही प्राय. महाशय बीच में ही चट से बोल उठा करते हैं कि वेद में बार २ 'नमस्ते' आता है और 'नमो ज्येष्ठाय, कनिष्ठाय च नम.' आदि मन्त्रों मे तो छोटे बड़े सबको 'नमः कहने का सुस्पष्ट विधान है, कौशल्या जी ने अपने

पुत्र राम को 'नमस्ते' की है--इत्यादि २ अनेक उदाहरण देकर स्वामी दयानन्द जी के पूर्वोक्त लेखों की कपालक्रिया करना चाहा करते हैं। इन सब उक्तियों के उत्तर में हमारा एक जवाब है कि--भारतीय साहित्य में ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं हो सकता कि जहां मानव कोटि के माता पिता गुरुजनों को कभी किसी ने 'नमस्ते' अर्थात्–तू कहकर स्मरण किया हो। आप जितने उदाहरण दे रहे हैं या दे सकते हैं वे केवल ईश्वर को लक्ष्य कर के ही कहे गये हैं। एकेश्वरवादी की दृष्टि में जब ईश्वर भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं है, तब ज्येष्ठ कनिष्ठ की कौन कहे--जड चेतन सभी कुछ तो उसका ही विराट् रूप है। ऐसी स्थिति में किसी मनुष्य विशेष की ज्येष्ठता कनिष्ठता का अप्रासङ्गिक राग आलापा जायेगा तो आगे 'नमः श्वभ्यः' तस्कराणां पतये नमः' आदि मन्त्रों में महाशय कुतुबुद्दीन को और चोरों के चौधरी को भी तो नमस्कार की गई है। क्या दयानन्दी इसका अनुकरण करके रास्ते में मिले महाशय गधे कुत्तों को भी 'नमस्ते' कहा करेंगे ? श्री कौशल्या माता का वह वचन तो हमने स्वयं ही अपने प्रमाणों में उद्धृत किया है, उसमें विद्यमान 'भक्त वत्सल !' शब्द ही महाशयों की तसल्ली के लिये पर्य्याप्त है अर्थात् वह पुत्र समझकर नहीं बल्कि भगवान् समझ कर ही वहां 'ते' शब्द का प्रयोग कर रही हैं।

शायद ! पाठक अभी तक यह समस्या न सुलझा पाए हों कि यदि अपने से बड़े को 'नमस्ते' कहना अपमान जनक है तब बड़ों से भी बड़े भगवान् को वेद में बार २ 'नमस्ते' आता है, जिसे आप भी स्वीकार करते हैं—इसका तात्पर्य ? वास्तविक बात यह है कि जैसे गुरुजनों से 'तू' कहना शोभा नहीं देता, ठीक इसी प्रकार

ईश्वर को आप = भवान्–अर्थात् बहुवचन से सम्बोधित करना भी शोभास्पद नहीं। क्योंकि ईश्वर एक है = अद्वितीय है। उर्दू वाले भी 'तू खालिक है तू सर्जनहार है' इत्यादि शब्दों में उसे तू तू कहकर ही पुकारते हैं। अंग्रेजी में ईश्वर को ही 'दाऊ लार्ड' कहा जाता है, एवं भारतीय साहित्य में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' ऐसा ही कहा जाता है। सो जहां हम यह नियम बना रहे हैं कि अपने से बडों को तू बोलना पाप जनक है वहां—ईश्वर इस नियम का अपवाद है। अर्थात–ईश्वर को 'तू' बोलना ही शोभास्पद है। एतावता ईश्वर कोटि में आया हुआ 'नमस्ते' का प्रयोग पुरुष कोटि के प्रश्न का समाधान नहीं कर सकता।

'तू' शब्द कहां बोला जा सकता है इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य का एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक चला आता है। यथा :—

बाल्ये सुतानां सुरतेऽङ्गनानां स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम्।
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः ·····················॥

अर्थात्—बाल्यावस्था में अबोध पुत्रों द्वारा, सुरत कालीन बेतकल्लुफी के समय स्त्रियों द्वारा, स्तुति पाठ मे कवियों द्वारा और रणाङ्गण में योद्धाओं द्वारा 'तू' कहा जाना ही प्रशस्त है।

नमस्ते कहना पाप !

अपने से बड़े को 'तू' कहने पर जो पाप होता है धर्मशास्त्र मे उसका सुस्पष्ट प्रायश्चित लिखा है, यथा :—

(क) हुँकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।
स्नात्वानश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥
(मनु० ११। २०४)

(ख) गुरुं हुँकृत्य त्वंकृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षो गृध्रकङ्कादिसेवितः॥

(स्मृत्यन्तर)

अर्थात्--(क) ब्राह्मण को 'हुं' कहे जाने पर और किसी गुरुजन को 'त्व' कहे जाने पर वक्ता को स्नान करके दिन भर भोजन नहीं करना चाहिये, और चरण स्पर्श पूर्वक अभिवादन करके उससे क्षमा मागनी चाहिये। (ख) [यदि यह प्रायश्चित न किया जाएगा तो] गुरुजनों को हु तू बोलने वाला व्यक्ति, श्मशान भूमि में वृक्ष योनि को प्राप्त होगा, जिस पर गीध, चील, कव्वे बैठा करेंगे।

महाभारत मे भी एक ऐसी गाथा आती है कि जिसमे 'तू' शब्द को मृत्युदण्ड के समान माना है। प्रसङ्ग यह है कि महाभारत संग्राम मे एक दिन अर्जुन दूसरे मोर्चे पर युद्ध कर रहे थे और युधिष्ठिरादि दूसरे मोर्चे पर। इस दिन कौरवों ने अर्जुन की अनुपस्थिति मे युधिष्ठिरादि की बहुत दुर्गति की। सायकाल जब अर्जुन वापिस लौटे तो दिन भर के प्रहारों से तग हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन को निहोरा देते हुए कहा कि तेरे जीते जी हमारी यह दुर्गति। तेरे 'गाण्डीव' को धिक्कार है। यह सुनते ही अर्जुन बहुत खिन्न हुवा, क्यों कि अर्जुन की यह अटल प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे गाण्डीव धनुष का अपमान करेगा मै उस का वध कर डालूंगा। प्रतिज्ञा पालन के लिये अर्जुन पिता के समान ज्येष्ठ भ्राता का वध करने के लिये उद्यत हो गया! और स्वयं भी प्रायश्चित्तार्थ जलने को चिता पर चढनेकी तैय्यारी करली। बड़ा अनर्थ होने लगा तब अनेक ऋषि मुनि और स्वयं भगवान कृष्ण, धर्मशास्त्र की कोई ऐसी व्यवस्था ढू ढने लगे कि जिससे अर्जुन की प्रतिज्ञा भी पूरी

हो जाए और दोनों के प्राण भी बच जाए। अन्त में सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि 'वध' केवल शिर काटने से ही नहीं होता बल्कि शास्त्र दृष्टि से विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों का विभिन्न रीति से वध होता है। जैसे राजा का वध करना हो तो—

'आज्ञाभङ्गोनरेन्द्राणाम्'

अर्थात्-राजा की आज्ञा न मानना ही उस का वध है। यदि स्त्री का वध करना हो तो--

'पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते'

अर्थात्--स्त्री से पत्नी का सम्बन्ध न रखना ही बिना शस्त्र उसका वध करना है। ब्राह्मण का वध भी—

'वपनं द्रविणादानम्'

—के अनुसार का शिर मूंड कर धन छीन कर अपमान पूर्वक देश से निकाल देने मात्र से सम्पन्न हो जाता है। बस! ठीक इसी प्रकार गुरु पिता माता ज्येष्ठ भ्राता आदि गुरुजनों का वध भी—

'त्वकारञ्च गरीयसः'

—के अनुसार उन का 'तू' कह देने मात्र से सम्पन्न हो जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार तब अर्जुन ने युधिष्ठिर को कहा—सर्व अनर्थों का मूल तू ही है। तू ने ही जूवा खेला, तूने ही द्रौपदी को हारा, इत्यादि २। कहना न होगा कि इस ऐतिहासिक तथ्य से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि बड़ों के प्रति 'तू' शब्द का प्रयोग उनका वध करने के बराबर होता है। ऐसी दशा में 'नमस्ते' कहने वाले महाशय स्वयं तो श्मशान के वृक्ष बनेंगे ही, साथ ही वह गुरुजनों का भी तो वध करते हैं।

प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जब लड़ाई झगड़ा आरम्भ होता है तब :—

'रंज की जब गुफ्तगू होने लगी,
आप से तुम, तुम से तू होने लगी ।

अर्थात्—पहिले आप २ बोलते हैं, फिर तुम २ बोलने लगते हैं फिर एक वचन तू तू पर ही उतर आते हैं, और तू तू के बाद क्रम प्राप्त डन्डे सोटे का ही अवसर है। इसलिये 'नमस्ते' कहना भो वह अक्षम्य अपराध है कि जिसके उत्तर में यदि डन्डा चल जाए तो वह निर्हेतुक न होगा। 'नमस्ते' के उत्तर में ऐसे काण्ड न होने का एक ही कारण है कि महाशयों के सौभाग्य से सर्व साधारण सस्कृत व्याकरण से अपरिचित हैं, वे नहीं जानते कि 'ते' क्या बला है। क्या हम आशा करें कि महाशय लोग ठण्डे दिलसे हमारे इस लेख पर ध्यान देकर (यदि वे 'नमस्ते' से चिपके ही रहना पसन्द करते हैं, और इस पुरानी बीमारी से किसी प्रकार पिण्ड छुड़ा ही नहीं सकते तो) कम से कम 'नमस्ते' से पूर्व 'ओं' शब्द और अधिक सयुक्त कर लिया करें। जिससे यह गुरुजनों के प्रति न होकर ईश्वर के लिए हो जाए, और इस तरह वे इस अक्षम्य पाप से बच सकें।

अन्यान्य मतों और नास्तिक समाज की प्रथाओं का विभिन्न विवेचन करने से यह एक ही विषय—'बाढ़े कथा पार नहि लहऊं' का निदर्शन बन जाएगा। इसलिये यही कहना पर्य्याप्त होगा कि साष्टांग प्रणाम और चरण स्पर्श से क्रमशः घटते २ यह प्रथा आज कहां जा पहुंची है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि हिन्दू तो अब भी कम से कम दोनों हाथ जोड़ कर शिर झुकाना आवश्यक समझते हैं, परन्तु मुसलमानों ने दोनों हाथों के स्थान में

केवल एक हाथ ही मस्तक की ओर करना आरम्भ किया। फौजी लोगों ने केवल डेढ़ अंगुली मात्र को ही बड़े अन्दाज के साथ मस्तक की ओर उठाना काफी समझा। अब कुछ दिन से सब कुछ छोड़कर केवल जाति या पेशे का नाम मात्र ग्रहण करना ही चल पड़ा है—जैसे ब्राह्मण को आते देखकर 'पडित जी ३ !' उत्तर में लालाजी ३ ! या वैद्यजी ३ । और मुनीम साहिब ! का बोल बाला है। ससार उत्तरोत्तर संक्षेप की बढ रहा है। परन्तु इस सक्षेप से मानव समाज किन २ अलभ्य लाभों से दिनों दिन वञ्चित होता जा रहा है यह सर्व साधारण को कानों कान खबर नहीं।

सनातन धर्मी प्रथा

समस्त मतवालों की अभिवादन प्रथाओं का निरूपण करने के अनन्तर अब हम क्रम प्राप्त सनातनधर्मी प्रथा और उससे होनेवाले वैज्ञानिक लाभों का दिग्दर्शन कराते हैं।

साष्टांग प्रणाम क्यों ?

हम पीछे कह आये हैं कि मन्दिरों मे देव प्रतिमाओं के सामने साष्टांग प्रणाम करने का विधान है। इससे सर्व प्रथम तो यह लाभ है कि मन्दिर में जानेवाले राजा, रङ्क सबका अहङ्कार समूल नष्ट हो जायगा। क्योंकि जब तक हमे अपने किसी प्रकार के भी बड़प्पन का अभिमान बना रहता है तब तक साष्टांग प्रणाम करने की श्रद्धा ही नहीं होती ! साथ ही दर्शक लोग खास कर स्त्रियें बड़ी सज धजके साथ वेष भूषा बनाकर मन्दिर में जाती हैं इससे सर्व-साधारण के मन में विकार उत्पन्न होता है। देव स्थानों और धार्मिक उत्सवों में जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सीधे सादे किन्तु शुद्ध और स्वच्छ वस्त्र पहिन कर जाना चाहिये। यदि साष्टांग

प्रणाम करने की परिपाटी को तत्परता पूर्वक प्रोत्साहन दिया जावे तो स्वभावतः ही तड़क भड़क वाले चमकीले विदेशी वस्त्रों के मलिन हो जाने के भय से भक्त जन साधारण वस्त्र पहिन कर ही मन्दिरों में आने लगेंगे जिससे विकारमय वातावरण का मूल ही समाप्त हो जाएगा।

इससे एक लाभ और होगा, आज हम जिस समता या साम्यवाद के स्वप्न देख रहे हैं—परन्तु हमारी मनमानी कार्य प्रणाली के दोष से समता के स्थान में अवाञ्छित 'एकाधिनायकत्व' =
का बोल बाला होता जा रहा है—उस समता की उर्वरा प्रसव भूमि ये मन्दिर ही हैं। जिस भगवान् ने राजा रङ्क दोनों को ही समान मूत्र की नाली से उत्पन्न किया और अन्त में भी समान अग्नि जल मिट्टी में मिला देने की व्यवस्था की, उस 'समोऽहं सर्वभूतेषु' कहने वाले प्रभु के द्वार में भी स्व स्व अधिकारानुसार सबको समान रीति से ही साष्टांग प्रणाम करना चाहिये। साष्टांग प्रणाम में हमारे शरीर का प्रत्येक अङ्ग, दृष्टि और मन सब कुछ ही प्रभु के सामने सुतरां झुक जाता है, अर्थात्—हम सर्वात्मना आत्म निवेदन कर देते हैं। कहना न होगा कि नवधा भक्ति का अन्तिम उज्वल रूप 'आत्म निवेदन' ही है। जिसकी प्राप्ति का उच्चतम ध्येय उक्त साष्टांग प्रणाम में निहित है।

हम पीछे सिद्ध कर आये हैं कि पार्थिव आकर्षणका मानव पिण्ड पर समधिक प्रभाव पड़ता है। जब हम साष्टांग प्रणाम करेंगे तो हमारा पिण्ड एक बारगी नीचे से ऊपर तक पृथ्वी पिण्ड से स्पृष्ट होने के कारण पार्थिव विद्युत् से भरपूर हो जाएगा। अब हम जब खड़े होकर प्रभु प्रतिमा को सस्पृह दृष्टि से देखेंगे तो वैज्ञानिक पूजा विधान के द्वारा प्रतिमा में व्याप्त हुए दैवी गुण हमारे पिण्ड में भी

विकसित हो जाएंगे। हमारी इस स्थापना को यों समझना चाहिये कि जैसे सूर्य की किरणों में सर्वत्र व्याप्त अग्निस्फुलिङ्ग, सूर्य-कान्त = आतशी शीशे के सान्निध्य से अपने निकटवर्ती द्रव्यों को भी प्रज्वलित कर देते हैं, ठीक इसी प्रकार सर्व व्यापक प्रभु की विश्व में परिव्याप्त अनन्त शक्तियें प्रतिमा पीठ के सान्निध्य से भक्तों के हृदयों को भी सशक्त बना देती है। परन्तु सूर्यकान्त के सम्पर्क में आनेवाले वे ही पदार्थ प्रज्वलित हो पाते हैं जो कि स्वय भी अग्नि स्फुलिङ्ग ग्रहण कर सकने की योग्यता रखते हों। पाषाण जल लोह जैसे सघन ठूस पदार्थों पर झटिति आतशी शीशे की किरणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु रूई, घास, फूंस जैसे ज्वलनशील पदार्थों पर ही हो सकेगी। ठीक इसी प्रकार भक्तों को भी प्रतिमा के दैवी गुणों को अपने पिण्ड में प्रस्फुरित करने के लिये प्रथम तादृश योग्यता सम्पादन करने की आवश्यकता है। साष्टांग प्रणाम इस योग्यता सम्पादन का अन्यतम साधन है।

चरण छूकर क्यों ?

अब गुरुजनों की चरण स्पर्श पूर्वक की गई वन्दना का रहस्य समझिये। हमारे यहां प्रणाम करना अन्यान्य पन्थों की भांति एक निरर्थक व्यापार नहीं है। किन्तु मनु आदि महर्षियों ने इसके चार लाभ प्रकट किये हैं। यथा- प्रथम आयुवृद्धि। दूसरा—विद्या वृद्धि, तीसरा—यशोवृद्धि और चौथा—बल वृद्धि,। ये चार पदार्थ कैसे मिलेंगे, इसका वैज्ञानिक हेतु हमारे प्रणाम करने की विधि में सुरक्षित है। हम 'अण्ड पिण्ड' सिद्धान्त मे और विद्युत् आकर्षण प्रघट्ट में यह सिद्ध कर आये हैं कि प्रत्येक मानव पिण्ड में 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' के अनुसार विभिन्न प्रकार की शक्तियों का समावेश

रहता है। वह वैद्युत् शक्ति ऋणात्मक और धनात्मक अर्थात् नैगिटिव और पौजिटिव नाम से दो प्रकार की है जिसका निरूपण भी पीछे हो चुका है। मानव पिण्ड के बाये अङ्ग में नैगिटिव का आधिक्य और दाये अङ्ग मे पौजिटिव का बाहुल्य पाया जाता है। यह बात सभी जानते हैं कि अर्धाङ्ग पक्षाघात रोग में मनुष्य का ऊपर से नीचे तक का बराबर आधा आधा अङ्ग शिथिल हो जाता है। अर्थात् एक पांव, एक हाथ और एक आंख आदि २ सर्वथा जड़ प्रायः हो जाते हैं, और दूसरी ओर का पांव हाथ नेत्र पूर्ववत् प्रगतिशील बने रहते है। इस से यह सिद्ध होता है कि मानव शरीर में आधो आध दो धाराएं विद्यमान है। जब हम किसी गुरुजन को प्रणाम करने चलें तो स्वभावतः सामने वाले व्यक्ति के दायें और बायें अङ्ग हमारे दाये और बाये अङ्गों से ठीक विपरीत होंगे, ऐसी स्थिति में हमारे ऋषियों ने हाथ घुमा कर दाये हाथ से दाये पांव का और बाये हाथ से बाये पांव का स्पर्श करने का विधान किया है। जिस से प्रणाम कर्ता और प्रणम्य दोनों पिण्डों की नैगिटिव और पाजिटिव दोनों धाराएं समान रूप से सम्मिलित हो सकें।

गुरुजन—आयुः, ज्ञान, यशः और बल इन चारों गुणों से अथवा किसी एक या अधिक गुण से परिपूर्ण हैं, और प्रणाम करने वाला निश्चित ही आयुः ज्ञान यशः और बल की पूर्णता का सुपात्र इच्छुक है। जैसे विद्युत् उत्पादक यन्त्र=डैनुमा में सञ्चित विद्युत् प्रवाह अपने सम्पर्क में आने वाले सुस्पृष्ट दूसरे यन्त्र में प्रवाहित हो उठता है, अथवा 'पावर हाउस' से स्विच मिला देने पर हमारी बत्ती जल उठती है, पंखा चलने लगता है, ठीक इसी प्रकार प्रणम्य गुरुजन में जो भी विशिष्ट गुण होंगे वे चरण स्पर्श

के कारण प्रणाम करने वाले में संक्रमण कर जाएंगे। उधर गुरु जन भी शास्त्र विधि के अनुसार प्रणाम करने वाले के मस्तक पर अपना दाया हाथ रखकर आशीर्वाद देंगे जिससे प्रणम्य और प्रणामकर्ता दोनों में अमुक गुणों से परिपूर्ण वैद्युत् प्रवाह एक आवर्त = सरकल के रूप में सञ्चालित हो उठेगा।

जैसे दीपक से जला दीपक पूर्व दीपक के प्रकाश आदि समस्त गुणों का आधार बन जाता है, परन्तु इस से पूर्व दीपक में कुछ न्यूनता नहीं पड़ती; ठीक इसी प्रकार गुरुजनोंके समस्त गुण हमारी प्रणाम पद्धति के अनुसार प्रणाम कर्ता में विकसित हो जाते हैं, और इस से प्रणाम्य गुरुजनों की शक्ति में कोई न्यूनता नहीं पड़ती। हां। वाचिक आशीर्वाद में शक्ति अवश्य व्ययित होती है इसी लिये शापानुग्रह करते हुवे हमारे पूर्वज बहुत फूंक२ कर पांव रखते थे। अब भी शास्त्र विश्वासी विद्वान् किसी को दीक्षित शिष्य बनाने में पात्रापात्र के विचारसे आनाकानी अवश्य करते हैं।

दाये हाथ के संस्पर्श से, स्पृष्ट मनुष्य के अनेक दोषों का मार्जन किया जा सकता है, और स्पर्श करने वाला व्यक्ति अपने ओज का उस में आधान कर सकता है। यह वैदिक सिद्धान्त है और वर्तमान युग के शारीरिक विज्ञान निष्णात विद्वान् इस का सर्वात्मना समर्थन करते हैं यथा--

(क) अयं मे हस्तः भगवानयं भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ (अ ४। १३। ६)

अर्थात्—यह हाथ अधिक गुणकारी है, मेरा यह हाथ सब रोगों की दवा ही है, और यह मेरा हाथ स्पर्श से शुभ= आरोग्य करने वाला है।

आशा है पाठक गण तुलनात्मक दृष्टि से सभी पन्थों की अभिवादन पद्धतियों पर विचार करते हुवे गुण दोष विश्लेषण पूर्वक भारतीय वैदिक पद्धति की सार्थकता, वैज्ञानिकता और अवश्य करणीयता का भली प्रकार मनन करेंगे। हमारी इस प्रणाम पद्धति की वैज्ञानिकता में यही एक प्रबल प्रमाण पर्याप्त है कि, ऋषियों ने दायें हाथ से दाया पांव और वाये हाथ से वांयां पांव छूने की जो व्यवस्था दी है वह अहैतुकी नहीं हो सकती ?

गो महिमा

वैदिक वाङ्मय मे गाय की लोकोत्तर महिमा का विस्तृत उल्लेख विद्यमान है तदनुसार सभी सम्प्रदायों के हिन्दु अन्यान्य विषयों मे मतभेद रखते हुवे भी गो का सामान आदर करते है। यह आदर केवल परम्परागत अन्ध विश्वास पर अवलम्बित हो सा बात नही किन्तु गाय की उन लोकोत्तर विशेषताओं पर अवलम्बित है जो कि भगवान् ने अपनी अनन्त सृष्टि में एक मात्र इसी जीव को प्रदान की हैं। यद्यपि गाय के विषय में 'हमारा गोधन' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं तथापि (क्यों ?) मे गोमाता का सर्वथा उल्लेख ही न होना जहां ग्रन्थ के गौरव को घटाने का कारण बनता है वहां पाठकों को भी गो महिमा के पुण्यपाठ से प्राप्त होने वाले असीम लाभों से वञ्चित रखने का हेतु बनता है। एतदर्थ हम यहां गोमहिमा का संक्षिप्त दिग्दर्शन करते है यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) गोस्तुमात्रा न विद्यते (ऋग्वेद)

(ख) यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरंचित्
कृणुथा सुप्रतीकम् (अर्थव ४।२१।६)

(ग) सर्वे देवाः स्थित देहे (बृहत्पाराशरस्मृति ३।३२)

(घ) मातरः सर्वभूतानां गोषु पाप्मा न विद्यते। (महाभारत)

(ङ) गावोनो परमा मित्ता (ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १३। १४)

अर्थात्—(क) गाय द्वारा होने वाले लाभों की कोई गणना ही नहीं है। (ख) गाय का दूध वलिष्ठ बनाता है, और बेडोल मुटापे को हटा कर सहनाङ्ग बना देता है। (ग) गाय के देह में सब देवताओं का निवास है। (घ) गाय सब प्राणियों की माता है, गव्य पदार्थों में यक्ष्मा बीमारियों के कीटाणुवों को दूर कर ने की शक्ति विद्यमानहै (ङ) गाय मानव समाज की परम मित्र है।

वेदों में गाय को माता कहा गया है यह श्रद्धातिरेक के कारण नहीं किन्तु वस्तुतः ही गाय मानव समाज की माता है, क्यों कि यदि चद महीने या वर्ष दो वर्ष स्तन पिलानेवाली जननी मां है तो फिर आजीवन दूध पिलाने वाली और मरने पर पावों की रक्षार्थ अपना चर्म प्रदान करने वाली करुणामयी पुत्र वत्सला गौ, माता नहीं तो और क्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ जीव मनुष्य योनि में उत्पन्न होने से पूर्व गो जाति मे ही जन्म लेता है, क्योकि तमोगुण और रजोगुण प्रधान सर्प, सिह आदि योनियों के अनन्तर पशुओं में सर्वाधिक सत्व प्रधान जन्तु केवल गाय ही है इसलिये भो गौ मानव समाजकी जननी है।

पञ्चगव्य-पान क्यों ?

मत्स्य, कुक्कुट, सूकर जैसे मलभोजी जानवरों के मलाशयों तक

का मांस भक्षण करनेवाले कई अहिन्दू गाय के दूध, दही, घृत; गोमूत्र और गोमय द्वारा वैज्ञानिक विधि से निर्मित पञ्च गव्य के पान पर कटु आक्षेप किया करते हैं। परन्तु वे स्वयं नित्य मधु मक्खियों की वमन=शहद और बारहसिंगे की भस्म तथा हिमालय के वानरों की विष्ठा=शिलाजीत तथा मनुष्य की विष्ठा से निर्मित नौसादर को तोलों के भाव से खरीद २ कर खाते हैं।

वास्तव में वस्तु विशेष की पवित्रता और अपवित्रता उसके तत्तत् गुणों पर ही निर्भर है। यकृत और प्लीहा की खराबी को दूर करने के लिये 'गोमूत्र' के गुणों का परीक्षण हमने स्वय किया है। वैद्य और डाक्टरों की बहुमूल्य औषधियें जिस रोग को चार वर्ष तक सेवन करने पर भी दूर न कर सकीं, वही रोग गोमूत्र सेवन से चन्द दिनों मे काफूर होगया। गोमय मक्खी, मच्छर, रोग कीटाणुओं तथा सील सीमक आदि दोषोंको दूर करनेमें अमोघ है। इसमें गन्धक और पारद के तात्त्विक अंश प्रचुर मात्रा में होते हैं।

प्रभुके अनन्त धन्यवादके साथ इस भागको यहीं समाप्त करते हैं।

सुकवि तुलसी की विदित भणन्त,
अमित हरि औ, हरि कथा अनन्त।
सहैतुक कतिपय कहे सुकर्म्म,
यही अध्याय तुर्य्य का मर्म ॥



शुद्धि पत्र

भरसक प्रयास करने पर भी छपने में मानव सुलभ अशुद्धियें रह गई हैं। प्राय वर्णों के ऊपर के अनुस्वार और रेफ तथा ए की मात्राए कई प्रतियों मे छपते २ टूट गई हैं पाठक उन्हें स्वयं ठीक करके प८ें। कुछ भ्रामक अशुद्धियें नीचे लिखे अनुसार शुद्ध करलें जिस से अर्थ सगति में सौकर्य्य हो—

पृष्टाङ्क	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३	१३	प्रणाम्य	प्रणम्य
३४	१०	कृतिमेमैषा	कृतिमेमैषा
३५	३	सङ्कलम्	सङ्कुलम्
५३	२२	द्वर	द्वार
५८	२०	श्रतियों	श्रुतियों
५९	११	एकमर्त्यः	मत्य एकः
६४	२२	पंक्ति के बाद इतना पाठ और अधिक आना चाहिये–	

लोक परलोकसंस्थानात् ॥ २६ ॥

अर्थात्--भूलोक के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक लोकों की सत्ता होने के कारण—

६४	२३	सूत्राङ्क २७	होना चाहिये।
६८	१२	उसलिये	इसलिये
६९	८	वालो	वाला
६९	१७	परिणाम	परिमाण
६९	१८	स्थूल और	स्थूल और सूक्ष्म
७०	७	रासायनिक	रासनिक
७५	२४	कमलिय	कमलिया
८२	२३	श्रोत	स्रोत
१०७	२	नहीं—व्यर्थ छपा है	

११२	७	मिठाना	मिटाना
११८	६	वल	बॅल
१२५	११	पहच	पहुंच
१२७	२	होव्वा	हौव्वा
१३२	१६	लच्चण	लक्षणा
१३७	१५	चीर	चिर
१४५	१३	द्वित्रिभि	द्वित्रिभिः
१४७	८	दस	दश
१४७	६	विट	विट्
१६०	६	सकुल	संकुल
२१६	१६	कहना	कहें तो
२१८	१५	अनुमान	अनुपात
२२५	५	परम्परी	परम्पराओं
२३१	१३	अभ्यार	अभ्यास
२३६	२	मिलता है-से आगे-और वे	
२४८	७	वोध	वाध
२४६	२०	सत्तत्	तत्तत्
२५८	३	बुद्धिरेवाच	बुद्धिरेव च
२५८	६	स्त्वत्यां	स्त्वन्यां
२५८	२३	मवाप्नति	मवाप्नोति
२६१	१७	सूर्य्य का	सूर्य्य को
२६४	८	पायः	प्रायः
२७०	४	भोजन करे	भोजन न करे
२८१	१०	अतिथेय	आतिथेय
२८७	६	खाने समय	खाने के समय

२६४	४	अभ्यशून	अभ्यशान
२६७	४	निरुप्यन्ते	निरूप्यन्ते
३००	२५	फर्म	धर्म
३००	२५	आता होना	आता होगा
३१३	११	देश कालाद्धि	देशकालार्ह
३१६	१६	लल्लेख	उल्लेख
३२१	१६	परमात्मा का	परमात्मा को
३३१	२४	देख सकना है	देखता है
३४०	१७	कीमती	श्रीमती
३६८	२५	गङ्गा से	गङ्गोत्तरी से
३७०	१६	वनकर	बनाकर
३७६	११	यजुर्वेद	आयुर्वेद
३६६	२१	रात्र्य:	रात्रय.
४००	१८	परिक्षण	परीक्षण
४३०	५	अभिलाषित	अभिलषित
४३३	२	जन भी	तब भी
४३३	३	जनदि	जुम्भू
४३४	२	द्योष	घोष
४४०	१४	नामधिष्ठातृ	नमोधिष्ठातृ
४५२	१०	फोस	फोर्स
४७५	५	पकार	यकार
४८०	२२	शिक्षाय	शिक्षायें
४८१	१७	महत्त्व	महत्त्व का
४६०	४	३४ बर्ष	२४ वर्ष
५०४	१३	तिसरी पर	तीसरी बार

५१५	५	लक्षण से	लक्षणा से
५१८	१०	मया	मया वरदा
५२६	६	षडज	षड्ज
५३६	१०	जन्मापार्जित	जन्मौपार्जित
५३७	५	स्वाध्यो	स्वाध्यायो
५४८	२०	पुरोहित	पुरोहित ने
५७०	२०	अवद्ध	आवद्ध
५७५	७	की	का
५८१	११	का	की
५८६	१६	कण्ठस्त	कण्ठस्थ
५६७	८	बननादी	बनना ही
५६७	१०	मुपलित्य	मुपलिप्य
५६७	१२	गङ्गोदक	गङ्गोदकं
५६६	७	प्रवाह	प्रवाद
६३६	२	कुजेज्याकि	कुजेज्यार्कि
६३६	१०	अधिपत्य	आधिपत्य
६५६	५	शरीरमाहः	शरीरमाहुः
६५६	६	साधने	न साधने
६७१	१३	का	आततायी का
६७८	१२	सामान	समान
६७६	६	सहनाङ्ग	सहननाङ्ग

